

ATLOCHENVA HINDI

079582

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय



विषय संख्या

पुस्तक संख्या

आगत पंजिका संख्या

R

८४
दि ३६ आ

आं-३६

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना
वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय
तक पुस्तक अपने पास न रखें।

079582

विशेषांक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग : ४

COMPILED

सम्पादक शिवटनसिंह चौहान

079582



079582

५

आदिपर्व



संश्रान्त

हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

ग

त्रै मा सिक आ लो च ना

कि ३६

नवांक १०

अप्रैल, १९६६

पक मूल्य १२)

अंक का ४)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री
से पाने के लिए १४)

सम्पादकीय

- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य :
नया मोड़—नये सन्दर्भ—नये
प्रश्न १
साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप
विजयकुमार शुबल ६
स्वातन्त्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा
मानवतावादी चिन्तनधारा और
नया साहित्य
देवीप्रसाद गुप्त २४
स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-
साहित्य
—अस्तित्ववाद और नई कविता
डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ३०
—नई कविता : क्षणवाद के संदर्भ में
डॉ० छोटेलाल दीक्षित ३८
—नये कवि का दृष्टिकोण
विजय बहादुरसिंह ४४
—नयी कविता और सामाजिक
चेतना
डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ५०
—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक :
एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण
डॉ० सिद्धनाथ कुमार ५६
—आंचलिक उपन्यास :
स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य
की नवीन उपलब्धि
विश्वनाथप्रसाद तिवारी ७०
—हिन्दी में रेखाचित्र और रिपोर्टाज
डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ७७
—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान :
सीमाएँ और संभावनाएँ
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ८६

- हिन्दी में भारतीय साहित्य
—हिन्दी में मराठी साहित्य
डॉ० प्रभाकर माचवे ६८
● हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं
का स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य
—निमाड़ी का प्राचीन तथा आधु-
निक साहित्य.
रामनारायण उपाध्याय १०३
● व्यक्तित्व और कृति
—बाबू गुलाबराय
डॉ० सत्येन्द्र १११
—माखनलाल चतुर्वेदी : एक
राष्ट्रीय कवि
डॉ० रामाधार शर्मा १३३
—सियारामशरण गुप्त के उपन्यास :
एक समाजशास्त्रीय अध्ययन
डॉ० सियारामशरण प्रसाद १४३
—डॉ० रामकुमार वर्मा
डॉ० केदारनाथ लाभ १४६
—इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से
'जहाज का पंछी' तक
नवलकिशोर १५५
—डॉ० रामविलास शर्मा—
कवि-आलोचक
श्री कृष्णबिहारी मिश्र १६३
—गिरिजाकुमार माथुर और
नयी कविता
राजकुमार शर्मा १७१
—मुक्तिबोध का आलोचना-दर्शन
डॉ० नरेन्द्रदेव वर्मा १७६
—भारती का काव्य
चन्द्रदेवसिंह १८०
(शेष कवर ३ पर)

मानस

५७०/५५०
 मने गालाव मुक्ति
 पुस्तक सं. २
 प्राप्ति अ. दि. ३७/३६
 ज-३६

मुद्रण २००० ई. १०/१०/१०

स्वातंत्र्यात्तर हिन्दी साहित्य : नया मोड़—नये सन्दर्भ —नये प्रश्न

: १ :

सन् १९४७ में भारत ने अंग्रेजों की राजनीतिक गुलामी से मुक्ति प्राप्त की। यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास की एक महती घटना है और एक महत्वपूर्ण मोड़ भी। अनेक आलोचकों और स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के तरुण रचनाकारों का तो प्रायः यह मत है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय साहित्य ने नयी दिशाओं और नये आयामों में विकास किया है, जिससे हम कह सकते हैं कि सन् '४७ भारतीय साहित्य में एक नये मोड़ का सूचक है। 'आलोचना' के 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक' की योजना बनाते समय हमारे सामने यही विचार था कि हिन्दी के सभी प्रबुद्ध और विचारशील आलोचक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का जायजा लें, उन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करें जो इस बीच साहित्यकारों को उद्बलित करते रहे हैं या जो दार्शनिक और राजनीतिक क्षेत्र के होकर भी साहित्यिक चिन्तन और सर्जन को प्रभावित करते रहे हैं ताकि हिन्दी लेखक और पाठक अपने साहित्य के विकास को व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और वर्तमान के जटिल सन्दर्भों में देख सकें। हम आभारी हैं उन सभी आलोचकों और विद्वानों के, जिन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य

में मुक्त हृदय से योग दिया, जिससे हम बहुत थोड़े परिवर्तनों के साथ विशेषांक की अधिकांश योजना को पूरा कर सके। इससे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस योजना के अन्तर्गत सभी विचारों और दृष्टिकोणों के आलोचकों ने अपने मत और अध्ययन पेश किए। जरूरी नहीं है कि हर पाठक विशेषांक में प्रकाशित हर निबन्ध की हर बात से सहमत हो—ऐसा कभी होता ही नहीं। दरअसल ऐसे आयोजनों का उद्देश्य ही यह होता है कि पाठक विभिन्न दृष्टिकोणों और मतों को समझें और स्वयं अपने मत का निर्णय करें। अपनी सारी खामियों के बावजूद, यह विशेषांक हिन्दी साहित्य के स्वातंत्र्योत्तर विकास के बारे में पाठकों की जानकारी में वृद्धि कर सकेगा और इसके अनेक निबन्ध विचारोत्तेजक सिद्ध होंगे। वर्तमान जीवन के सन्दर्भ में जो प्रश्न इस बीच उठे हैं, विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में, उनको समझने में इनसे मदद मिलेगी और उन प्रश्नों को नये सिरे से, अधिक व्यापक सन्दर्भों में रखकर देखने और विचारने की प्रेरणा जमेगी, ऐसा हमारा अनुमान है।

: २ :

फिर भी कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गए हैं या उनका समुचित उत्तर नहीं दिया गया।

२ : **आलोचना**

हमारा अभिप्राय नये सिरे से उत्तर पेश करना नहीं है, बल्कि यह संकेत देना मात्र है कि कितन सन्दर्भों में उनका उत्तर खोजना चाहिए। मिसाल के लिए स्वतन्त्रता के बाद जब कुछ मित्रों के मतवादी संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन बढनाम होने लगा और प्रयोगवाद, नई कविता और नई कहानी के आन्दोलन उठे तो इनके प्रवक्ताओं ने परम्परा से विद्रोह के नाम पर यह दावा भी किया कि वे साहित्य में जिस शिल्प और तकनीक का प्रयोग कर रहे हैं, केवल वही नवीन नहीं है, बल्कि उनकी जीवन-दृष्टि, उनका भाव-बोध और युग-बोध भी पहले से भिन्न है। इस प्रकार यह दावा किया गया कि स्वतन्त्रता से बाद का साहित्य ही 'आधुनिक' है, नया है और वर्तमान जीवन को सही अर्थ में रूपायित करता है। यह सब कैसे घटित हुआ, इसकी व्याख्याएँ लगातार बदलती रही हैं। युद्ध के बाद पाश्चात्य साहित्य में सार्त्र, कामू, फॉकनर और 'एंग्री यंग मैन' की पीढ़ी ने या उनके दृष्टिकोणों की वकालत करने वाले आलोचकों ने इस 'नयेपन' के बारे में जब-जब नये विचार-सूत्र गढ़े, हमारे वहाँ भी अपनी या अपने समानधर्मा कवियों और कथाकारों की रचनाओं और साहित्य-प्रवृत्ति पर उनका आरोपण करके, नयी व्याख्याएँ पेश की गईं। एक समय साहित्य में 'गत्यवरोध' की दुहाई मचायी गई, एक समय पुराने साहित्य की 'आदर्श-वादिता' के विरुद्ध आवाज़ उठायी गई, एक समय 'अस्तित्ववादी' दर्शन के स्तोत्र पढ़े गए, एक समय साहित्य में कथ्य से कथन को ही सब-कुछ समझा गया, एक समय युद्ध की विभीषिका और अणु-अस्त्रों के त्रास से पीड़ित मानवता की सहानुभूति में नये साहित्यकारों ने अनास्था, कुण्ठा और निराशा की मुद्रा बनाकर मानव-मूल्यों के लिए लड़ना व्यर्थ घोषित किया

और पुराने साहित्य की एपिक कल्पनाओं को कोरी वक्तास कहकर दावा किया कि आज का मनुष्य चरित्रहीन लघु मानव है, इसलिए साहित्य में हीरो, उदात्त वीर-पुरुष का चित्रण आधुनिक साहित्य का अभीष्ट नहीं हो सकता, आज के पात्र केवल ऐसे निरीह, लघु-मानव ही हो सकते हैं, जो पैदा होते हैं केवल अन्त में पीड़ा झलते हुए मरने की खातिर, न कि किसी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए—इन लक्ष्य-हीन, पीड़ित मनुष्यों का कोई उदात्त जीवनादर्श नहीं हो सकता और अब कुछ दिनों से नीचे की इस घोषणा का नगाड़ा पीटा जा रहा है कि 'ईश्वर मर गया है,' और जब ईश्वर ही मर गया तो आस्था का संबल कहाँ रहा ?

ये सब नारे नये भी हैं और घिसे-पिटे पुराने भी। एक सीमा तक हिन्दी साहित्य की परम्परा के सन्दर्भ में ये नयी बातें लगती हैं, क्योंकि प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पंत ने ऐसी घोषणाएँ कभी नहीं की थीं। लेकिन विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में देखें तो इन नारों में कोई नवीनता नहीं है। कई पीढ़ियों से, दरअसल उस समय से ही जब भारतेन्दु हिन्दी (खड़ी बोली) में आधुनिक गद्य लिखने का अभ्यास कर रहे थे और हिन्दी को काव्य-रचना के लिए अयोग्य समझा जाता था, पाश्चात्य साहित्य में इन प्रश्नों को लेकर विचार-मंथन और शिल्पगत प्रयोग होने लगे थे। इसीलिए पाठकों को अक्सर यह भ्रम हो जाता है कि हमारा नया साहित्य पाश्चात्य की नकल है और विश्व-साहित्य में हिन्दी फ़िल्मों की तरह उसको कोई स्थान प्राप्त नहीं हो पाता (यद्यपि यह एक अलग प्रश्न है, जिस पर हम यथा-स्थान विचार करेंगे)।

हमने कहा कि नये साहित्य के नारे हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भी एक सीमा

तक ही नये हैं। अगर इतिहास को विस्मृत न करें तो निश्चय ही परम्परा से विद्रोह आज के 'नये साहित्य' की ही विशेषता नहीं है। छायावादियों ने भी परम्परा से विद्रोह किया था और डंके की चोट पर। उसके बाद प्रगतिवादियों का विद्रोह भी परम्परा से विद्रोह था। हर नये विद्रोह के आरम्भ में 'गत्यवरोध' दिखाई देता ही है और पुराने की जड़ीभूत मान्यताओं पर इस गत्यवरोध को तोड़ने के लिए ही प्रहार किया जाता है। रही पुरानी आदर्शवादिता से मोह-भंग की बात, तो प्रगतिवाद तो पूंजीवादी समाज की वर्ग-व्यवस्था और वर्ग-नैतिकता के प्रति प्रबुद्ध लेखक की आत्मचेतना के परिणामस्वरूप ही पैदा हुआ था। युद्धों की विभीषिका और फ्रांसिज्म के उदय से मानव-सभ्यता के ह्रास और विनाश का त्रास भी प्रगतिवादियों को भरपूर था। अपनी रचनाओं से प्रगतिवादियों ने ही प्राचीन काव्य-शास्त्र की मान्यता के उच्चवर्गीय धीरोदात्त-धीर ललित नायक का बहिष्कार कर आमतौर पर उन गरीब, असभ्य, अशिक्षित मजदूर-किसानों को नायक की भूमिका प्रदान की थी, जिन्हें कुछ लोग मध्यवर्गीय समवेदना की झोंक में 'लघु-मानव' कहना पसन्द करते हैं, लेकिन प्रगतिवादियों ने इन 'लघु मानवों' को सामाजिक संघर्ष के बीच जब अंकित किया तो उनमें, समूह के रूप में ही नहीं व्यक्तिगत रूप में भी उन नैतिक गुणों, उन सामर्थ्यों और उन मानव-संवेदनता का अजस्र स्रोत पाया जो अनेक इतिहास-प्रसिद्ध 'धीरोदात्त-धीरललितों' में नहीं था। 'ईश्वर मर गया है' यह खोज नयी नहीं है, चाहे हठात चौंकाने वाले अन्दाज में इसे एक घोषणा का रूप वयों न दे दिया गया हो। ईश्वर और धर्म पर आक्रमण तो पहले प्रगतिवादियों ने ही किया था, लेकिन ऐसा करते समय हमारा विचार यह नहीं था कि मानव-मूल्यों और सामाजिक दायित्वों से सर्वथा मुक्ति मिल

जाएगी।

आप कहेंगे, जब ये सब बातें पहले ही हो चुकी थीं, तो स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में क्या कुछ भी नया नहीं है, क्या छायावाद और प्रगतिवाद के बाद हमारे साहित्य में कोई नया मोड़ नहीं आया ?

लेकिन हमारे कहने का आशय यह नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद कुछ तो बाह्य प्रभावों से, कुछ हमारे अपने राष्ट्रीय जीवन की आन्तरिक विसंगतियों के परिणाम-स्वरूप हमारे यहाँ हर पीढ़ी के लोगों के चिन्तन और भाव-बोध में एक जबर्दस्त परिवर्तन आया है, जिसका व्यक्त और अव्यक्त प्रभाव साहित्य के विकास पर भी पड़ रहा है। निश्चय ही नई कविता या नई कहानी आदि के नाम पर जो नये ढंग का साहित्य रचा जा रहा है, वह शिल्प और तकनीक के नये प्रयोगों का ही परिणाम नहीं है, न 'नयेपन' की व्याप्ति केवल अभिव्यक्ति की नवीनता तक ही सीमित है। यह सामान्य तथ्य है कि जब जीवन को देखने और समझने की दृष्टि बदल जाती है या जब किसी नये सत्य की खोज की जाती है तो अभिव्यक्ति के ढंग भी बदल जाते हैं। छायावाद को नारी के शरीर-सौन्दर्य तक ही सीमित पुराने रीति-काव्य की दृष्टि संकीर्ण लगी और उसने काव्य के माध्यम से एक नये मानववाद की खोज आरम्भ की। प्रगतिवाद ने छायावादी (रोमाण्टिक) मानववाद को संकीर्ण माना, क्योंकि उसे लगा कि वास्तविक जीवन की विषम स्थितियों की व्यापक चेतना का उसमें अभाव था, जबकि जरूरत ऐसे मानववाद की थी जो वर्ग-वैषम्य से पीड़ित अपार जन-समूह की पीड़ा और वेदना के प्रति संवेदनशील हो और उन वैषम्यों के प्रति आधुनिक मानवको सचेतन बना सके। स्वातन्त्र्योत्तर नई कविता और नई कहानी का 'मोह-भंग'

४ : आलोचना

दरअसल एक नये किस्म के मानववाद की आन्तरिक माँग से उत्पन्न मनःस्थिति है, जिसका प्रभाव शैली और शिल्प पर दिखाई दे रहा है। छायावाद में रोमाण्टिक उदात्त भावना का शिशुवत् सारल्य था, प्रगतिवाद में क्लासिकी यथार्थवाद की प्रौढ़ बौद्धिक चेतना व्यक्त हुई, लेकिन नई कविता और नई कहानी में उस कैशोर औद्धत्य की भावना प्रमुख है जो पश्चिमी साहित्य में इस बीच एक 'आधुनिक मिथ' का दर्जा पा चुकी है। कैशोर औद्धत्य इसलिए कि आज के बिपम समाज में, जहाँ सभी मूल्यों का विघटन तेज़ी से हो रहा है और अन्याय के साथ, स्वार्थपरता ही सर्वोच्च मूल्य बन गया है, विशेषकर अघेड़ पीढ़ी के लोग आदर्शों की बातें तो करते हैं लेकिन हर कदम पर अन्याय से समझौता करते चलते हैं, केवल किशोर वय के लोग ही ईमानदार हो सकते हैं, उनकी आत्मा ही पवित्र हो सकती है और वे ही साहसपूर्वक पुरानी नैतिकता को चुनौती दे सकते हैं, और चूँकि उनकी आत्मा शुद्ध और पवित्र है, इसलिए झूठ पर आधारित इस समाज में वे बेगाने हैं, अजनबी हैं और आवागमन ही उनकी नियति है। कामू और ऑसवर्न, जॉन वेन आदि 'एंग्री यंग मैन' पश्चिम में या नई कविता, नई कहानी से लेकर 'भूखी पीढ़ी' के तरुण लेखक इन्सानियत के प्रतीक 'उद्धत किशोर' के उद्देश्यहीन विद्रोह को रूपायित करके किसी नये उच्चतर मानववाद को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके हैं, यह सन्दिग्ध है, लेकिन खोज जारी है, इसमें सन्देह नहीं। हमारे यहाँ साहित्य की प्रगतिवादी धारा से, जिसमें यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन और 'रेणु' की कृतियाँ मिसाल हैं, स्वातंत्र्योत्तर नया साहित्य इसी अर्थ में 'नया' है।

इस प्रसंग में विचारणीय केवल इतनी बात है कि पश्चिम में भी 'उद्धत किशोर'

की 'मिथ' का आश्रय लेकर साहित्य में नये मानववाद की खोज एक 'डेड एण्ड' पर पहुँच चुकी है, क्योंकि प्रतिभाशाली कथाकारों के अलावा इस री में बहने वाले सामान्य लेखक अपने 'उद्धत किशोर' पात्रों के अनियंत्रित सेक्स के अनुभवों के विवरण ही पेश करते हैं, जो सस्ते किस्म के सेक्स-थिलर्स से सिर्फ इस हद तक ही भिन्न होते हैं कि उनमें सेक्स के साथ हत्या और जुर्म का संयोग नहीं होता। हमारे यहाँ अभी कामू और सार्त्र जैसी प्रतिभाओं का अभाव है, इसलिए सामान्य रचनाकारों की दृष्टि 'परम्परा से विद्रोह' को अक्सर ओछे स्तर के अनियंत्रित सेक्स चित्रण में ही सीमित कर देती है, कोई बड़ा सार्वजनीन आशय उसमें निहित नहीं रहता।

प्रश्न उठता है कि क्या इतने संकीर्ण क्षेत्र के विद्रोह से मानव-जीवन की स्थितियों में कोई व्यापक परिवर्तन आ सकेगा? आज मनुष्य इतना व्रस्त, दुखी, संतप्त, पीड़ित और अभाव-ग्रस्त है, तो इसका मूल कारण क्या उस समाज व्यवस्था में नहीं खोजना चाहिए, जो इन स्थितियों को पैदा करने के लिए जिम्मेदार है? लेकिन इस दशा में खोज का परिणाम शायद पुनः प्रगतिवादी विचारधारा तक नये मार्ग से पहुँचना हो-किन्तु उस 'डेड एण्ड' से टकराते रहने से तो यह यात्रा साहित्य के लिए ज्यादा फलवती हो सकती है। पुनः व्यापक सामाजिक सन्दर्भों की स्वीकृति रचनात्मक प्रेरणा के नये क्षितिज खोल सकेगी।

: ३ :

एक और प्रश्न है जो सामयिक महत्त्व का है, किन्तु जिस पर विशेषांक में विचार नहीं हो सका। हम यहाँ पर उस प्रश्न को पेश करके साहित्यकारों से अपेक्षा करेंगे कि वे उस पर अगले अंकों में विचार प्रकट करें।

साहित्य में
डिड एण्ड'
भाषाशाली
वहने वाले
'पत्रों'
विवरण
के सेवस-
'भिन्न
हत्या और
हमारे यहाँ
भाषाओं का
रचनाकारों
को अक्सर
चित्रण
कोई बड़ा
हेत नहीं

ने संकीर्ण
वर्तन की
वर्तन आ
त, दुखी,
न है, तो
व्यवस्था
स्थितियों
? लेकिन
गायद पुनः
मार्ग से
टकराते
ए जयादा
क सामा-
क प्रेरणा

सामयिक
विशेषांक
यहाँ पर
प्रकारों से
ले अंकों

प्रश्न यह है कि क्या 'भारतीय-साहित्य' जैसी कोई चीज है, यदि नहीं है तो उसका विकास क्या और कैसे सम्भव है? कई साल पहले, जहाँ तक याद आता है, श्री बालकृष्ण राव ने किसी अन्य प्रसंग में यह प्रश्न उठाया था। दरअसल उन्होंने कहा था कि अभी तक 'भारतीय-साहित्य' जैसी कोई चीज नहीं है और न 'भारतीय लेखक' जैसा कोई 'जन्तु' ही। हमारा प्रश्न इस वक्तव्य में ही निहित है। पश्चिम में अंग्रेजी, स्पैनिश, फ्रांसीसी, जर्मन, अमरीकी, इतालवी आदि भाषाओं के अलग-अलग अत्यन्त समृद्ध साहित्य हैं, लेकिन हम उनको सामान्य रूप से 'पाश्चात्य साहित्य' के अन्तर्गत रखकर भी पुकारते हैं। सोवियत यूनियन में दर्जनों भाषाओं का अपना-अपना साहित्य विकसित हो रहा है, लेकिन दुनिया के लिए वह रूसी या उज़बेक साहित्य के अलावा 'सोवियत साहित्य' भी है।

इसके विपरीत हमारे यहाँ बंगाली, तमिल, गुजराती, पंजाबी, असमिया, हिन्दी आदि अलग-अलग साहित्य तो हैं लेकिन उन्हें हम 'भारतीय साहित्य' जैसी किसी परिकल्पना में नहीं बाँध सकते। इसी तरह हम किसी को बंगाली, तमिल या हिन्दी लेखक तो कह सकते हैं लेकिन 'भारतीय लेखक' नहीं, जैसे सोवियत लेखक या पाश्चात्य लेखक सामान्यतः कहे जाते हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों है? क्यों हमारी विभिन्न भाषाओं के साहित्य इतने दीर्घकालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता-विधायक प्रेरणाओं के बावजूद परस्पर ऐसी सामान्य परम्पराओं का विकास नहीं कर सके कि वे अपनी-अपनी अलग हैसियत रखकर भी एक व्यापक समष्टि के अंग बन सकते? क्यों विभिन्न भाषाओं के साहित्य अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर प्रभावशाली नहीं हो पाते? क्या कारण है कि रवीन्द्रनाथ, शरत्, बंकिमचन्द्र,

गालिव और इक़बाल को छोड़कर अन्य भाषाओं के बड़े लेखक सार्वदेशिक महत्ता नहीं प्राप्त कर सके? ये और इनसे सम्बन्धित अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिन पर समुचित विचार होना चाहिए।

: ४ :

अन्त में एक प्रश्न राजनीतिक है; किन्तु जिसका उत्तर व्यक्तिगत रूप में हर लेखक को स्वयं अपने-आप देना होगा। साहित्यिक शब्दावली में पिछले कई वर्षों से हमारे यहाँ लेखक और उसकी प्रति-बद्धता का प्रश्न उठाया जाता रहा है। लेखक एक व्यक्ति नागरिक या एक रचना-कार के रूप में किसीके प्रति उत्तरदायी है या नहीं—इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और सर्वमान्य उत्तर इस बीच नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले इस प्रश्न में कोई जटिलता नहीं थी। लेखन का एक सामाजिक उद्देश्य है और लेखक नागरिक की हैसियत से ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के चितरे के रूप में भी अपने देश और काल की केन्द्रीय समस्याओं और संघर्षों में भाग लेना अपना नैतिक दायित्व समझे, यह उस समय की सामान्य धारणा थी और प्रगतिवादियों ने जब 'लेखक और समाज' का प्रश्न उठाया तो केवल इस सामान्य धारणा को अधिक मूर्त सामाजिक सन्दर्भ देने की खातिर। देश और काल के प्रति यह लेखक की जागरूकता का नया आयाम था, राजनीतिक चेतना जिसका अभिन्न अंग थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक समस्याओं को नई पीढ़ी के लेखकों ने एक साहित्येतर चेतना माना। इसके कई कारण थे। यद्यपि पूँजीवादी समाज की विषमताओं और अनैतिकता के प्रति वे देखबर नहीं थे लेकिन स्तालिन कालीन अतिवादों का पर्दाफाश होने से साम्यवाद के प्रति उनकी आस्था अडिग नहीं रह सकी और हर प्रकार की राजनीतिक विचारधाराओं,

६ : आलोचना

पाटियों और आन्दोलनों के प्रति उनमें एक अनास्थापूर्ण अविश्वास का भाव पैदा हो गया। पूँजीवाद और समाजवाद का संघर्ष वर्तमान युग का केन्द्रीय संघर्ष है और दोनों तरफ के अतिवादों के बावजूद हर व्यक्ति को इस संघर्ष में भाग लेने के लिए कूदना पड़ेगा—इस बात की सामान्यतः उपेक्षा की गई। लेखक किसी बाह्य सत्ता, वर्ग, विचार, दल या आन्दोलन के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, बल्कि उसकी प्रतिबद्धता केवल अपनी भावनाओं, अपने अनुभवों और अपनी रचना के प्रति ही है—इस धारणा को पहले की धारणा के मुकाबले में रखकर जैसे दोनों परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी धारणाएँ हों, स्वीकारा गया। लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, यह एक नारा बन गया जिसमें हर प्रकार की सामाजिक प्रतिबद्धता और दायित्व को नकारने का भाव जैसे अन्तर्निहित था। पिछले तीन दशकों के अपने साहित्यिक जीवन में हमने ऐसे अनेक एकांगी मतवादों को साहित्य में उभरते और गिरते देखा है। उनमें सत्य का एक अंश ही रहता है, जो उनकी शक्ति का स्रोत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की प्रतिबद्धता सम्बन्धी ये दोनों धारणाएँ परस्पर-विरोधी नहीं हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं और एक जागरूक लेखक की शक्ति इसमें है कि दोनों ही उसके भावबोध और विश्वबोध का अभिन्न अंग हों। उसकी सम्पूर्ण चेतना का अन्तःसंस्कार हों। लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, और अपने देश और काल के प्रति ईमानदार हो, एक समर्थ रचनाकार से यह अपेक्षा ही नहीं की जाती, यह उसकी बौद्धिक चेतना का सहज गुण भी होता है।

यह माना कि विश्व पर युद्ध और आणविक अस्त्रों का आतंक छाया है और किसी समय भी सभ्यता और संस्कृति को हमारे देश में नष्ट होना संदर्भ प्रदान

उनकी ज्वाला में भस्म हो सकती है लेकिन इस आतंक के आगे अपनी सामाजिक चेतना को मूर्छित करके तटस्थ हो जाना या अपने मन की कन्दराओं में घुसकर केवल क्षणों में जीना ही आदमी की नियति नहीं है। दरअसल यह न तो एक दार्शनिक प्रश्न है न नैतिक, बल्कि एक सीधा-सादा व्यावहारिक प्रश्न है। अगर आँख खोलकर दुनिया को देखें तो मालूम होगा कि आज के अनेक सन्दर्भों में इस तरह का तटस्थतावादी-अनास्थावादी दृष्टिकोण एकांगी ही नहीं, एक हास्यास्पद भंगिमा-मात्र है जिसके वगैर भी लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार रहता हुआ उस साहित्य का सृजन कर सकता है जो युग की समस्त वेदना को अभिव्यक्ति देता है और जो युग के संघर्षों में मनुष्य-मात्र की प्रेरणा भी बनता है। युद्ध से मनुष्य-जाति का सर्वनाश आज सम्भव है और यह चेतना ही कर्म की प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे सर्वनाशी युद्ध के खतरे के बावजूद साम्राज्यवादी दूसरे देशों में हस्तक्षेप करके या वहाँ नए-से-नए युद्धास्त्रों का प्रयोग करके लाखों निरीह और निरस्त्र लोगों को मारने और तबाह करने से बाध नहीं आ रहे। वियतनाम इसकी मिसाल है। अगर वियतनाम के लोग भी उसी अन्दाज में युग के भावबोध और युद्ध के त्रास और आतंक की बातें करके तटस्थ बैठ जाते जिस अन्दाज में इन धारणाओं का प्रचार हमारे यहाँ किया गया है, तो वे अब तक न केवल अपनी आजादी से हाथ धो बैठे होते, बल्कि अमरीकी साम्राज्यवाद के कब्जे में सारा दक्षिण-पूर्वी एशिया होता और शायद तीसरे महा-युद्ध की आग में हम सब भी भस्म हो चुके होते। वियतनाम की जनता आज अपनी आजादी और विश्वशान्ति दोनों के लिए एक साथ ही अपना खून बहा रही है, यह बात लेखक की प्रतिबद्धता के प्रश्न को हमारे देश में नष्ट होना संदर्भ प्रदान

है लेकिन सामाजिक हो जाना घुसकर की नियति दार्शनिक धा-सादा खोलकर कि आज तरह का दृष्टिकोण र भंगिमा- अपने और रहता सकता है भिव्यक्ति में मनुष्य- । युद्ध से सम्भव है प्रेरणा का खतरे के में हस्त- युद्धास्वों र निरस्त्र ने से बाढ़ की मिसाल भी उसी और युद्ध के के तटस्थ धारणाओं या है, तो राजादी से अमरीकी दक्षिण- सोरे महा- भस्म हो नता आज त दोनों के बहा रही ता के प्रश्न दर्भ प्रदान

करती है और इस पर बहुत गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है ।

जापान एशियाई देशों में सबसे उन्नत और समृद्ध देश है । उसकी उन्नति और समृद्धि अमरीका के समकक्ष है । पिछले युद्ध के बाद से जापान में अमरीकी प्रभाव जितना प्रबल रहा है उतना अन्यत्र नहीं । अमरीकी साहित्य, अमरीकी जीवन-पद्धति, अमरीकी संगीत और कला का जैसा अन्धानुकरण जापान में हुआ है वैसा एशिया में और कहीं नहीं हुआ । कुछ समय पहले तक वहाँ के तरुण लेखक और बुद्धिजीवी प्रगतिशील राजनीति और सामाजिक दायित्वों की बात पर उसी तरह नाक-भौं सिकोड़ते थे जिस तरह हमारे यहाँ अब एक फ्रैशन बनता जा रहा है । जापानियों के मुकाबले में हमारे देश का जीवन, यहाँ तक कि दिल्ली, कलकत्ता जैसे महानगरों का जीवन भी देहाती है और वहाँ के लेखकों के रहन-सहन, सोचने और विचारने के मुकाबले में हमारे तरुण लेखकों के रहन-सहन और सोचने-विचारने का स्तर ठेठ गँवारू है । यह बात मैंने इस बार जापान जाकर महसूस की । लेकिन आधुनिक जीवन तथा अमरीकी दबावों के बावजूद वियतनाम के युद्ध ने जापान के नए-पुराने लेखकों और बुद्धिजीवियों को इतने जोर से झकझोरा है कि उन्होंने आज प्रगतिशील राजनीतिज्ञों से भी एक कदम आगे बढ़कर समस्त जापानी जनता का बौद्धिक नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया है और अमरीकी साम्राज्यवाद और वियतनाम में उसके बर्बर कारनामों के विरुद्ध जापानी जनता को उभारने में वे एक सशक्त भूमिका अदा कर रहे हैं ।

हीरोशीमा और नागासाकी में एटम और हाइड्रोजन बम के विरुद्ध विश्व सम्मेलन में भाग लेने के बाद जब मैं

टोकियो पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि वहाँ के लेखकों और बुद्धिजीवियों ने 'वेहरिन' नाम की एक संस्था बनाई है, जिसका अर्थ है 'वियतनाम में शान्ति के लिए दो देशों का सम्मेलन'—अर्थात् जापान और अमरीका के बुद्धिजीवियों का सम्मेलन । दो देशों का सम्मेलन इसलिए कि अमरीका वियतनाम में हमलावर है और जापान उसका एशिया में सबसे बड़ा हवाई और समुद्री अड्डा है जहाँ से वियतनाम के लोगों की हत्या के लिए फ़ौजी कुमक भेजी जाती है । इसलिए अगर वियतनाम का युद्ध विश्वयुद्ध में परिणत हुआ तो अमरीका के साथ-साथ जापान भी एटम बमों का शिकार बनेगा और तबाह होगा । यह चेतना हर जापानी के मन में जागृत हो रही है और इसीलिए जापान में वियतनाम युद्ध के विरुद्ध और ओकीनावा तथा अन्य स्थानों से अमरीकी फ़ौजी अड्डों को हटाने के लिए इतना प्रबल आन्दोलन है । जापानी इक्कीस साल पहले हीरोशीमा और नागासाकी में अमरीकी एटम बमों की तबाहकारी देख चुके हैं और नहीं चाहते कि दुनिया के किसी भी हिस्से में फिर कोई हीरोशीमा और नागासाकी बने । इसीलिए अमरीकी हमले के विरुद्ध वियतनाम की जनता के संघर्ष को वे अपनी आजादी का संघर्ष मानते हैं । यह भावना नई नहीं है । वहाँ का समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन इसके लिए वर्षों से संघर्ष करता आ रहा है, लेकिन पिछले दो साल से इस संघर्ष में लेखकों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, कलाकारों आदि का आगे बढ़कर हिस्सा लेना और अपनी सरकार को चुनौती देना वहाँ के बौद्धिक जीवन में एक नया मोड़ है जो आधुनिक जापानी साहित्य और कला के लिए भी एक मुक्तिदायी विकास है । वेहरिन की कान्फ़रेन्स में मैंने अन्य देशों से निमन्त्रित किये गए दर्शक प्रतिनिधियों के रूप में भाग लिया और जब पन्द्रह अगस्त को

८ : आलोचना

बेहरिन की ओर से टोक्यो में एक विशाल पब्लिक रैली हुई जिसमें कान्फ्रेन्स के निर्णय जनता को बताये गए तो मैंने अपने भाषण में भारत की ओर से उन्हें आश्वासन दिया कि भारत की जनता और बुद्धि-जीवी भी वियतनाम युद्ध के विरुद्ध हैं और उन्हीं की तरह चाहते हैं कि अमरीकी वहाँ से अपनी फ़ोर्जे हटाकर वियतनाम के लोगों को अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करने दें।

कहने का तात्पर्य यह है कि उन राजनीतिक प्रश्नों से तटस्थता, जिन पर विश्वशान्ति का प्रश्न निर्भर करता है, लेखक के लिए आज की स्थिति में उचित नहीं है। स्वयं लेखक के अपने साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी क्योंकि वह उसके जीवन बोध को संकीर्ण बनाता है। युद्ध के आतंक से संसार को मुक्ति दिलाने का एक ही रास्ता है और वह यह कि जहाँ कहीं की जनता बाह्य हस्तक्षेप और आक्रमण के विरुद्ध अपनी आजादी के लिए

संघर्ष कर रही हो उसका मुक्त हृदय से साथ दें, उसके संघर्ष को अपना संघर्ष समझें। विश्व की जनता के साथ जब तक लेखक के रूप में हम ऐसा अटूट और अभिन्न सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तब तक साहित्य और कला को भी उन मानव-द्रोही संकीर्ण भावनाओं से निकालकर विश्वजनीन साहित्य की रचना नहीं कर सकते जो कुण्ठा और अनास्था के वर्तमान वातावरण में ही सार्थक न लगे बल्कि आगे भी जिसकी सार्थकता रहे। वियतनाम का प्रश्न ऐसा है जिस पर लेखकों को व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक रूप से भी अपने अन्तःकरण को कुरेदकर अपनी मान्यताओं की घोषणा करनी चाहिए ताकि भारतीय जन-मानस उद्वुद्ध हो सके और अमरीकियों द्वारा किए जाने वाले उस हत्याकाण्ड को बन्द कराया जा सके, जिसके प्रति तटस्थ रहना हर व्यक्ति को असंवेदनशील, अमानवीय और बर्बर बनाता है।

शिवशक्ति चौराग

स्वातन्त्र्योत्तर सिद्धान्त-चर्चा

विजयकुमार शुक्ल

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप

आज हिन्दी-भाषा-साहित्य में 'साहित्येतिहास' के प्रकाशन का स्तर गिरता जा रहा है। नयी कविताओं व कहानियों द्वारा नवलेखन के सन्दर्भ में 'आधुनिकता-बोध' को पारि-भाषिक अर्थ-बोध मिलता जा रहा है। और वहीं साहित्येतिहास के माध्यम से मूल्यों का ह्रास हो किन्तु चिन्तकों को इस दिशा में चिन्तना न हो, आश्चर्य की बात है। मैं समझता हूँ कि छायावाद के पश्चात् साहित्येतिहास-लेखन या तो पूर्वग्रहमूलक है या दल-प्रभावित है या आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास का अनुकरण व मात्र नकल है। मूल प्रवृत्ति की गहराइयों में पैठ करने की मानो क्षमता रही नहीं, इसका दोषी कौन? दोषी वह प्राध्यापक समाज है जिसके पास पाठक के रूप में विद्यार्थी वर्ग है, वे उनकी सामग्री के ग्राहक हैं और छपास की पूर्ति के लिये उनके पास उक्त कारण से प्रकाशन संस्थाएँ भी हैं। साधन व सुविधा से सम्पन्न होने पर भी विश्वविद्यालयीन स्तर पर अभी तक ठीकठिकाने के साहित्येतिहास ग्रन्थ नहीं हैं, प्रायः बुर्जुआ प्राध्यापकों के मुख से सुना जाता है कि आचार्य शुक्ल का इतिहास ही श्रेष्ठ है और वैसा इतिहास लिखा नहीं जा सकता। साहित्येतिहास का श्रेष्ठ होना केवल काल-निर्धारण पर मात्र अवलम्बित नहीं, न उसके मूल्य-बोध के समाविष्ट पर ही। श्रेष्ठ साहित्येतिहास के गुण उसके अनेक समाविष्ट गुणों व तत्त्वों की सम्पूर्णता पर निर्भर करते हैं।

आचार्य शुक्ल कृत साहित्येतिहास हिन्दी में प्रथम बार ऐसा प्रयास माना जायगा जिसमें वैज्ञानिक काल-निर्धारण करके प्रवृत्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में कृतियों के मूल्य-बोध को प्रस्तुत किया गया है। उक्त गुण-वैशिष्ट्य के कारण अपने पूर्व साहित्येतिहासों से पृथक् माना गया आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास। जहाँ एक ओर आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास में गुण-सम्पन्नता है, वहाँ काल-निर्धारण करने में प्रवृत्ति एवं समय के बीच साम्य नहीं है बल्कि पृथक्ता है। कवि-क्रम के प्रस्तुत करने की परिचयात्मक पद्धति, पूर्व साहित्येतिहासों की भाँति, सूची पेश करने का जैसा टाँकने का कार्य भी आचार्य शुक्ल ने भी सम्पादित किया। दूसरे शब्दों में, आचार्य शुक्ल ने काल-निर्धारण का वैज्ञानिक आधार अवश्य स्वीकार किया लेकिन कहीं प्रवृत्ति प्रमुख है, कहीं कवि का व्यक्तित्व अथवा मात्र कृतित्व। आज शोध-मूल्यों का परिप्रेक्ष्य अधिक व्यापक हो गया है जिन्हें समाविष्ट करना उनके बाद के साहित्येतिहासकारों के धर्म में था। यह अधिक उचित होता, यदि समस्त मान्यताओं को समाविष्ट करके आचार्य शुक्ल की अशोधित सामग्री के पठन से हिन्दी पाठकों को बचा लिया जाता।

१० : आलोचना

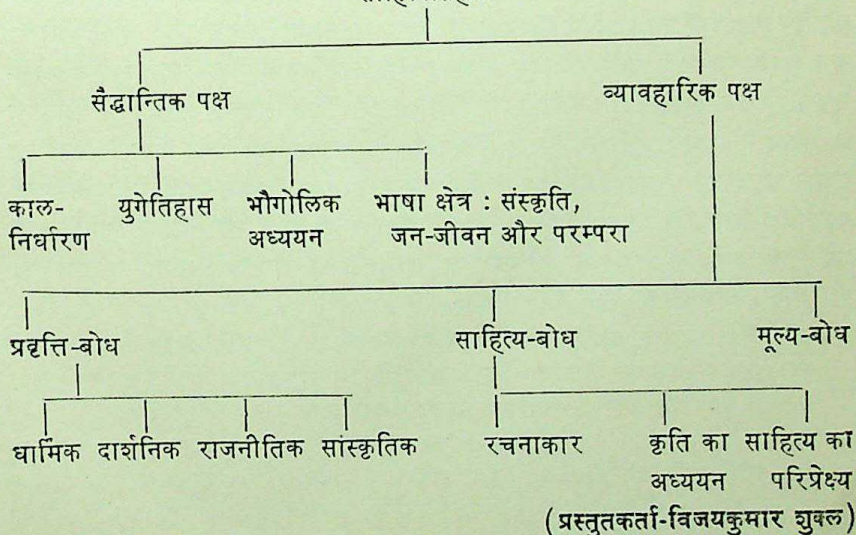
आचार्य शुक्ल का काल-निर्धारण आउट ऑफ डेट है, उसमें वैज्ञानिकता आचार्य शुक्ल की समय-दृष्टि से अवश्य रही होगी। आचार्य शुक्ल के मूल्य-बोध का स्तर आज तो एकांगी कहा ही जाता है, उनके वर्तमान रहने पर ही अनेक उनके समकालीन लोगों ने उक्त आरोप किया था, चुनौती दी थी। मूल्य-बोध का स्वरूप सदैव आलोचक की निजी मान्यताओं के अनुसार निर्धारित होता है। 'मूल्य', प्रतिमान आलोचक व रचनाकार के अनुसार अनुदृष्टि-प्रधान हुआ करता है। आचार्य शुक्ल के काव्यगत प्रतिमान उनके तर्क पर आधारित हैं, उनका दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्त्व रखता है, यही कारण है कि कबीरदास व सूरदास तथा छायावाद के कवि आचार्य शुक्ल के प्रतिमान के सम्मुख उतना महत्त्व नहीं रखते जितना तुलसीदास या बाबू मैथिलीशरण गुप्त। सत्य तो यह है कि आलोचना व मूल्यांकन साहित्येतिहास का अनिवार्य गुण-तत्त्व नहीं है, यदि वह न भी हो तो भी साहित्येतिहास को कोई क्षति न होगी। यदि हो, तो प्रतिमान की स्थिति-बोध उसके आलोचक-व्यक्तित्व का बोध माना जायगा।

आचार्य शुक्ल का इतिहास ठीक से देखा जाय तो उनके पूर्व के इतिहास-परम्परा में भी वह व्यवस्थित हो जाता है और उससे हटकर भी दिशा-बोध देने में समर्थ है क्योंकि वह आज भी मूल्य-बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संकलन की प्रवृत्ति कवियों को काल-क्रम के अनुसार या कवि की कविता के उदाहरण पेश करने की शैली आदि वास्तव में शुक्लजी पर पूर्व-परम्परा का ही प्रभाव कहा जायगा। मूल्य-बोध को स्थिर करने का पक्ष वहाँ है जहाँ आचार्य शुक्ल अपनी आदर्शवादी काव्य-मान्यता या सिद्धान्त का व्यवहार आरम्भ से अन्त तक एक अविरल धारा के रूप में प्रवाहित करते हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत इतिहास समसामयिक राजनीति, सामाजिक, धार्मिक स्थिति की व्याख्या में रचित 'प्रकार' की स्थूलता मात्र नहीं है, बल्कि यह तो है ही, उसमें उनकी काव्यगत मान्यताओं का स्थिर संस्कार भी संयोजित है। वे यदि स्वयं में स्थिर न होते तो कबीर, सूर और छायावादी कवियों की आलोचना करने के लिए उद्यत न होते। छायावाद अल्पायु हो गया, कारण था—उनका इतिहास जिसमें सतर्क था उनका आलोचक या कहिए उनकी काव्य-मान्यताएँ। यदि आचार्य शुक्ल ने जीवन-मूल्यों के विकास के लिए आदर्शवादी, समाजोपयोगी, लोकसंग्रहमूलक भावना प्रधान प्रबन्ध-काव्य की मान्यता को उसकी व्यापकता और गहराई के आयाम (डाइमेंशन) में सेट करके पेश न किया होता तो उनका आलोचक व्यक्तित्व छायावाद को क्षत-विक्षत न कर सका होता। जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही काव्य की गहराई में पाठक डूबता है और उसका विस्तार ही समाज के पक्षों का उद्घाटन करता है। जीवन के परिवेश में व्यष्टिगत तत्त्वों का संयोजन आचार्य शुक्ल नहीं चाहते बल्कि समष्टिगत संयोजन चाहते हैं ताकि समाज-बोध के साथ साहित्य-बोध भी सम्भव हो। उनकी प्रबन्ध-काव्य या कहिए लोकसंग्रह-भावना की माँग स्थूल व्यापकता मात्र नहीं है, बल्कि विचारों की सूक्ष्म गहराई लिये हुए है। उनके प्रबन्ध में समाज की जीवन-गत आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान है और काव्य-मान्यताओं में जीवन की लघु-लघु

अनुभूतियों का संकलन है। आचार्य शुक्ल समुद्र के विस्तार में जल-राशि की एक बूंद भी उपेक्षित नहीं होने देना चाहते। प्रबन्ध-शिल्प के फ्रेम में काव्य-चित्रों का अलवम कलात्मक रूप से सज्जित हो, उनका यही अभीष्ट है। इस प्रकार शुक्लजी में कण्ठपूर्व इतिहासकारों की परम्परा है और 'फार्म' के अन्तर्गत उनकी मान्यताएँ सुस्थिर होकर इतिहास-काया को प्राणान्वित करती हैं। जहाँ तक प्रश्न 'औसतवाद' का है, वह इतिहास में लेकर चलना ही पड़ता है। इसी औसत से दूर होने के कारण आज भी आचार्य शुक्ल के बाद कोई ठीक-ठिकाने का साहित्येतिहास सामने नहीं आया।

साहित्येतिहास को विधा-रूप दिया जाना चाहिए अन्यथा साहित्य-जगत् में संकट उत्पन्न हो सकने की सम्भावना है। विधा ललित व रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अंग-रूप में स्वीकृत होती आई है। निःसन्देह, विधा-बोध रचनात्मकता व कृतित्व में है किन्तु विवेचन, आलोचन, समीक्षा में भी है, क्या उसके मूल उत्स में रचना का मूल्य ही विकसित होता है? विधा की परिभाषा होगी—वह साहित्य का अंग-विशेष जिसकी पूर्णता में अनेक सहायक तत्त्वों का समावेश हो और वह अपनी प्रेषणीयता में अथवा अभिव्यक्ति शैली में मौलिक भिन्नता व अस्तित्व रखता हो। साहित्येतिहास का उद्देश्य मूलतः अपनी अभिव्यक्ति में समूचे देश या प्रदेश की भाषा के साहित्य-दर्शन द्वारा विभिन्न युग व काल की संस्कृति व सभ्यता, मानवता व जाति-गत गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करना है। साहित्येतिहास-लेखन प्रबन्धात्मक है। साहित्येतिहास विधा इसलिए भी मैं मानता हूँ कि उसके अन्तर्गत निश्चित नियम, सिद्धान्त मान्यता व कसीटियाँ हैं, और उक्त शर्तों की पूर्ति के लिए साहित्येतिहास-लेखन बाध्य हैं और शर्तों के अभाव में वह विधा-रूप में पारिभाषित नहीं होगा।

साहित्येतिहास



साहित्येतिहास साहित्य और इतिहास दोनों की सन्धि से बना एक शब्द-रूप

है। स्वर्गीय पंडित नलिन विलोचन शर्मा ने इस शब्द का प्रयोग किया है, लेखक उनका आभारी है। किन्तु उन्होंने विभ्रमित होकर 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' में उक्त शब्द का प्रयोग करके भी साहित्येतिहास को कहीं साहित्य का इतिहास और कहीं साहित्यिक इतिहास लिखा है। उन्होंने पश्चिमी भाषाओं के साहित्येतिहासों से सामग्री लेकर केवल अनुवाद करने का कार्य सम्पादित किया है। उन्होंने साहित्येतिहास को विधा रूप में व्याख्या कर उसके मौलिक पक्ष को उद्घाटित नहीं किया। हाँ, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं 'विधा' का रूप प्रकट करने के उद्देश्य को अस्पष्ट रूप में व्यक्त अवश्य किया है। मैंने 'साहित्येतिहास' शब्द को एक 'टर्मनोलॉजी' रूप में अनेक आंग्ल कोशों में देखने की व्यर्थ चेष्टा की। साहित्येतिहास शब्द की आंग्ल टर्म क्या हो? मैंने उसे पहले 'हिस्ट्री ऑफ़ लिटरेचर' मानकर सन्तोष किया था। किन्तु हिस्ट्री व लिटरेचर की सन्धि से क्या आंग्ल टर्म नहीं बनायी जा सकती। दुस्साहस ही है कि मैंने हिस्ट्री (History) से हिस्टो (Histo) और लिटरेचर (Literature) से लिट् लेकर सन्धि-रूप में हिस्टॉलिट् (Histolit) कहना उचित समझा। मैं समझता था कि आंग्ल-भाषा में दुनिया की हर बात मौजूद है।

साहित्येतिहास के अन्तर्गत 'विकास' प्रस्तुत करनेवाली कृतियाँ भी स्वीकृत हैं। इतिहास और विकास में शाब्दिक अन्तर के साथ ही साहित्येतिहास सन्दर्भ में भी भिन्न अर्थ होगा। इतिहास में विकास अन्तर्भूत होता है और नहीं भी, किन्तु विकास में इतिहास पूर्णतः अन्तर्भूत रहता है। इतिहास में विकास का उतना ही आग्रह है जितना पतन का। अतएव साहित्येतिहास विधा के दो पक्ष स्वाभाविक रूप में स्पष्ट हो जाते हैं—(१) इतिहास-पक्ष^१ और (२) विकास-पक्ष^२।

साहित्येतिहास में इतिहास की परिभाषा में यथातथ्य रूप में स्वीकृत भूत-कालीन घटनाओं का विवरण निश्चय ही मान्य है किन्तु इतिहास के अपने यथारूप व रूढ़ रूप से भिन्न साहित्येतिहास में होगा। साहित्येतिहास में इतिहास गुण व तत्त्व-रूप में है। साहित्येतिहास में इतिहास की घटना गौण है किन्तु प्रवृत्ति की प्रधानता अनिवार्य है। जहाँ साहित्येतिहास में घटना की प्रधानता उसे स्थल बना दे, वहाँ वह वृत्त संकलन बन जायगा और वह साहित्येतिहास न कहा जाकर 'साहित्येतिहासाभास' कहा जायगा। यही कारण है कि शुक्ल पूर्व इतिहास-सामग्री साहित्येतिहास नहीं कही गयी, उसे वृत्त-संकलन मात्र कहा गया या साहित्येतिहासाभास कहा जा सकता है।

१. "साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर, युग-विशेष के लेखक-समूह की कृति-समाष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुँथी आलोचना का रूप ग्रहण करता रहा है।"

—नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', भूमिका।

२. "साहित्य का इतिहास सामाजिक अथवा साहित्य में व्यक्त तथा उदाहृत विचारों का इतिहास अथवा काल-क्रम से उल्लिखित विशिष्ट कृतियों के सम्बन्ध में भावनाओं तथा निर्णयों का इतिहास-मात्र होता है।"

नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', पृ० ३४।

साहित्येतिहास में प्रवृत्ति की प्रमुखता होने से आचार्य शुक्ल को विशेष गौरव प्रदान किया गया। प्रवृत्तियों के संश्लेषण व विश्लेषण के अभाववश कृतियों का व्यापक रूप में मूल्य-निर्धारण भी नहीं हो पाता और साहित्येतिहास का इस अभाव में हृदय की गति-जैसा बन्द होने का परिणाम होता है। वृत्त के घटनामूलक रूप में प्रस्तुत होने से क्या प्रवृत्ति उसमें अन्तर्भूत होने की स्थिति को खो बैठती है? प्रवृत्तियों के स्थूल व्यापार घटनाप्रधान तो होते ही हैं, इसी प्रकार साहित्येतिहास में वृत्त को उपेक्षित रखकर मात्र प्रवृत्ति-व्याख्या से क्या वह सोद्देश्य हो सकेगा? ऐसे प्रश्न के लिये मेरा कहना है कि किसी शासन या राज्य के इतिहास में^१ प्रवृत्ति के स्थान पर घटनाओं का साक्ष्य प्रस्तुत करना उसे सोद्देश्य बना सकता है किन्तु साहित्येतिहास में प्रवृत्ति-विश्लेषण की और उसके तथातथ्य प्रस्तुत दर्शन की महत्ता रहती है। प्रवृत्ति-विश्लेषण में घटनाएँ या तो साम्य दिखाने के लिए या पुष्टिकरण की निमित्त बनती हैं। साहित्येतिहासकार युग-प्रवृत्ति-बोध को रचना व साहित्य की निर्माणोन्मुख दिशाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने में यदि सफलता पा जाय तो निश्चय ही उसके ऐसे कृतित्व को कलात्मक प्रयास माना जायगा।

विकास (डेवलपमेंट या ग्रोथ) में इतिहास का अस्तित्व प्रधान होता है। सामान्यतः जब कोई साहित्येतिहास-लेखक किसी विधा के उद्भव को ध्यान में रखते हुए 'विकास' लेखन-कार्य सम्पादित करता है तो उसके दो उद्देश्यों पर दृष्टि जाती है प्रथम, क्या वह विधा-विशेष के माध्यम से प्रवृत्ति-बोध का विकास दे रहा है अथवा द्वितीय, विधा के शैलीगत बाह्य-रूप का विकास दे रहा है। प्रवृत्तियों का विकास दर्शाना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रवृत्तियाँ विकासमान नहीं होतीं बल्कि वे व्यापक गहराई के बीच जाकर प्रसरित होती हैं। 'विकास' (Growth) ऊँचाई का बोध अधिक देता है। 'विकास' शब्द-प्रयोग का औचित्य विधा के बाह्य अंग-रूप में अधिक है। आज शोध-प्रबन्ध-लेखन में 'उद्भव और विकास' की जो परम्परा रुढ़ हो चली है, उसे देखते हुए शोध-कर्त्ताओं पर दया अधिक आती है कि वे 'विकास' को प्रवृत्तियों के अर्थ में भी ले लेते हैं। प्रवृत्ति अर्थ का सन्दर्भ फैलने तक ही लिया जा सकता है। विधा-विशेष के बाह्य-रूप प्रचलन को 'विकास' किसी सीमा तक स्वीकारा जा सकता है।

साहित्येतिहास के इतिहास पक्ष की स्थिति-निर्दर्शन से जानना चाहिये कि इतिहास के अन्तर्गत विवेचन प्रवृत्ति-दर्शन का स्वरूप क्या होगा? मैं समझता हूँ कि साहित्य के माध्यम से जो युग-समाज में फैली प्रवृत्ति है, वही यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करना साहित्येतिहास-लेखन-धर्म में स्वीकृत होगा। विचारणीय है कि साहित्येतिहास

१. इतिहास (हिस्ट्री) का ++ लौकिक और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'गवेषणा या गवेषणा से प्राप्त जानकारी या गवेषणा की किसी प्रक्रिया से उपलब्ध ज्ञान।' ++ यह अन्वेषण की प्रणाली है, ++ उदाहरणार्थ, राजनीतिक इतिहास में राज्य की अतीत घटनाओं का विवेचन रहता है। ++ विज्ञान के रूप में इतिहास की प्रक्रियाएँ क्या हैं। इसका प्रथम कार्य है प्रामाणिक तथ्यों का संकलन।

नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', पृ० ७-८।

१४ : आलोचना

में इतिहास पर साहित्य प्रवृत्तियाँ आच्छादित होती हैं या साहित्य पर इतिहास प्रभाव-शाली होता है? इतिहास स्वयं में साहित्य से उतना ही निर्मित होता है जितना मूर्तिकला, चित्रकला या शासन-प्रबन्ध से। युग-बोध जो साहित्य द्वारा हो, वह इतिहास में स्वीकृत होगा ही। इतिहास की सम्पूर्णता में साहित्य सहायक व पूरक तत्त्व है। इसीलिए साहित्य में युग-सत्य को प्रधानता देते हुए उसे इतिहास-रूप मान लेने में मैं पीछे हटने के लिए विवश होता हूँ, क्योंकि साहित्य तो इतिहास देता है और इतिहास-क्रम में साहित्य-विवेचन होने से साहित्य इतिहास से कहीं भी हीन नहीं है। साहित्य का इतिहास, साहित्य-इतिहास, साहित्येतिहास नामकरण में साहित्य-निर्माण का स्थूल-क्रम-निर्धारण, 'सूचीपत्र' प्रधान हो जाता है। दोनों के बीच एक सन्धि की खोज होनी चाहिए। केवल 'लिटरेरी हिस्ट्री' को साहित्येतिहास मान लेने से किसी भी अभीष्ट की पूर्ति नहीं होगी। 'लिटरेरी हिस्ट्री' को अनेक आंग्ल विद्वान साहित्येतिहास-सन्दर्भ में पारिभाषिक अर्थ-बोध देते हैं, किन्तु 'लिटरेरी' शब्द 'हिस्ट्री' का विशेषण है। इतिहास से साहित्य-निर्माण-क्रम और साहित्य से प्रवृत्ति-दर्शन का सत्य-बोध, दोनों का समन्वय होना चाहिये।

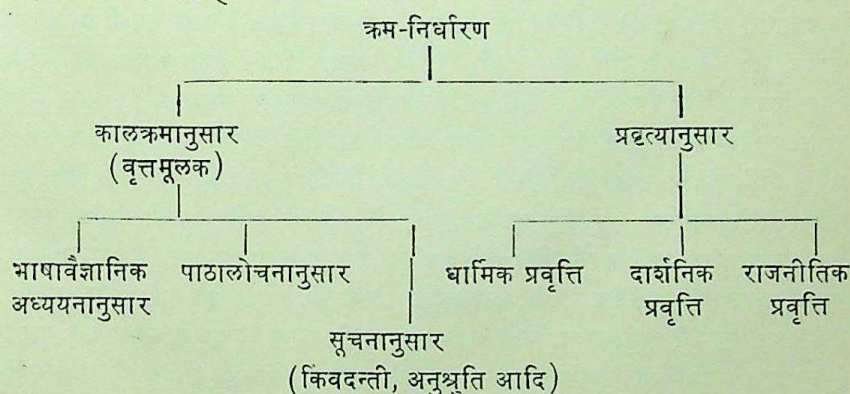
काल-निर्धारण : साहित्येतिहास में काल-निर्धारण इतिहास के स्थूल आधार पर किया जाना चाहिए। मैं समझता हूँ कि क्रम-निर्धारण के दो मुख्य भेद होंगे— (१) साहित्य-निर्माण तिथि-क्रम और (२) साहित्य-प्रवृत्ति-क्रम। उक्त दो के बीच मूल भेद स्पष्ट करना चाहिए। साहित्य-निर्माण तिथि-क्रम में वृत्तमूलकता की प्रधानता होगी। कहने का तात्पर्य है कि इस प्रकार रचना-तिथि-क्रम, क्रमशः रचना-निर्माण का समय व उसके अंग-उपांगों का वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया विवरण और लेखक की जीवनी (Biography) के कारण, वह मात्र संकलन (Collection) बन जाता है। इसे इतिहास का 'कंकाल' मात्र कहा जायगा। प्रवृत्ति-क्रम में साहित्य को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक प्रवाह की गति को प्रधानता दी जायगी। समस्या है कि उक्त दोनों के मध्य वह मूलकेन्द्र-बिन्दु कहाँ होगा जिस पर अध्ययन की वैज्ञानिकता को टिका सकें? प्रवृत्ति-क्रम मात्र को महत्ता देने से साहित्येतिहास कंकाल-रहित हो जायगा और साहित्य-रचना के निर्माण-क्रममात्र को महत्ता देने से (वृत्त-संकलन प्रधान हो जाने से) कंकाल तो रहेगा किन्तु प्रवृत्ति के अभाव में प्राण का स्पन्दन होगा नहीं, अतएव दोनों के सामंजस्य में साहित्येतिहास का काल-निर्धारण स्वयं में पूर्ण होगा। साथ ही एक-दूसरे की अनुपूरकता के परिप्रेक्ष्य में सोद्देश्यता की प्रधान शर्त को पूरा किया जा सकेगा। आचार्य शुक्ल ने उदाहरण के लिए केशवदास को भक्तिकाल के फुटकल कवियों के खाते में रखा है, दूसरी ओर रीतिवद्ध प्रवृत्ति का उन्हें प्रवर्तक कवि माना है। किन्तु समय व प्रवृत्ति में अन्तराल है।^२

१. मेरे अनुसार क्रम-निर्धारण के वर्गीकरण की रूपरेखा है। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि मात्र कालक्रमानुसार साहित्येतिहास लेखन नितान्त स्थूल व वृत्तमूलक होगा इसलिए उक्त लेखन में प्रवृत्ति-बोध का सामंजस्य भी होना चाहिये। —लेखक

२. देखिए—हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ एवं काल-निर्धारण। भाषा, सितम्बर, ६४।

काल-विभाजन की वैज्ञानिकता वर्गीकरण (Classification) में है। वर्गीकरण किसी प्रवृत्ति का अथवा रचना-निर्माण या कवि के जीवन-वृत्त के आधार पर करना सम्भव है। मेरा मत है कि यदि काल-विभाजन की साहित्येतिहास में वैज्ञानिक आधार-भूमि होगी तो यही कि एक कोण (Angle) से समय (काल) क्रम को अनु-दृष्टि में रखकर प्रवृत्तियों को देखा जाय और दूसरे कोण से प्रवृत्तियों को परिप्रेक्ष्य में रखकर समय (काल) की संस्थितियों को देखा जाय। सांस्कृतिक वाद-विवादों की पृष्ठभूमि इसलिए हो कि सम्पूर्ण कृतित्व वस्तुतः युग-सत्य का परिणाम है, यह भी परिलक्षित हो। काल-विशेष में प्रवृत्तियाँ पृथक् व भिन्न न बनें तभी साहित्येतिहास का यह पक्ष पूर्ण माना जायगा। काल-निर्धारण में समय व प्रवृत्ति में सामंजस्य होना चाहिए।

‘काल-निर्धारण’ के अव्यवस्थित होने के कारण भी शुक्ल-पूर्व साहित्येतिहास लेखक किञ्चित् साहित्येतिहासकार कहे गये, कारण कि उनमें वस्तु संकलन, वृत्त संकलन और जीवनी प्रस्तुत करने का आग्रह अधिक रहा। उनमें कवि अथवा रचना-क्रम प्रस्तुत करने के अतिरिक्त देश-काल का समसामयिक प्रवृत्ति-निरूपण या उसके प्रभाव की स्थिति को अध्ययन-पृष्ठभूमि में अवस्थित करने की अतिरिक्त योजना का अभाव रहा। काल-निर्धारण साहित्येतिहास में अध्ययन के पक्ष मात्र की स्थूल आवश्यकता है। किसी भी अध्ययन को व्यवस्थित रूप देने में वर्गीकरण का महत्त्व होता ही है, अतएव काल-निर्धारण के लिए कवि-रचना-क्रम की समन्वित आवश्यक है। यह भी विचारणीय है कि कृतियों के सृजन के परोक्ष में प्रवृत्ति-धारा का प्रवाह होता है, इसलिए परिवर्तित प्रतिमान सृजन के माध्यम से विदित होंगे, अतएव कृतियों का मूल्य परोक्ष रूप में प्रवृत्तियों का मूल्य-बोध बन जाता है। काल-क्रम-निर्धारण का निम्नलिखित स्वरूप है—



तत्त्व प्रकार (Content) एवं स्वरूप बोध (Form), ये दो पक्ष साहित्येतिहास में आन्तरिक एवं बाह्य सन्दर्भों में अर्थ रखते हैं। बाह्य पक्ष मात्र शिल्प या अस्थि-कंकाल या ढाँचा तथा आन्तरिक पक्ष उक्त अस्थि-कंकाल में स्थित मांसल व आत्मागत चेतना-गुणों की सम्पन्नता का भावाशय रखेगा। स्वरूप-बोधक (फार्म)

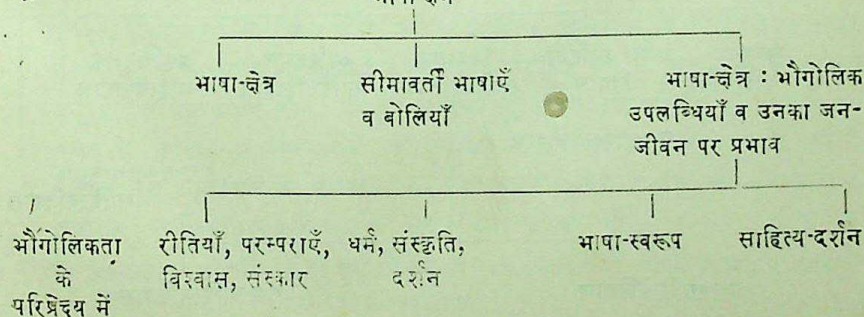
के अन्तर्गत रचना-क्रम, कवि-जीवनी-पक्ष, वंशावली अथवा वहिर्साध्य से प्राप्त सूचनाएँ, वर्गीकरण, काल-विभाजन या युग-विभाजन आदि स्वीकृत होंगे। तत्त्व प्रकार के अन्तर्गत साहित्य की मूल संवेदनशीलता, भावनागत चेतना, प्रवृत्ति, जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-बोध, संस्कृति, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग-बोध, सभ्यता, धर्म, विश्वास, परम्परा, प्रकृति-चित्रण-सन्दर्भ में भौगोलिक ज्ञान आदि स्वीकृत होंगे। सामान्यतः जीवनी, वंशावली-परिचय, रचना-परिचय के प्रस्तुतीकरण से साहित्येतिहास की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। 'स्वरूप' (फार्म) से केवल कंकाल की सृष्टि ही सम्भव है, केवल साहित्येतिहास को आकार दिया जा सकता है किन्तु इतने मात्र संयोजन से किसी भी विधा में चेतना या गति नहीं उत्पन्न की जा सकती। दूसरे शब्दों में, तत्त्व-प्रकार (कंटेन्ट) किसी भी विधा के आन्तरिक चेतना-शक्ति के बोध देने में समर्थ होता है। परिणामस्वरूप तत्त्व-प्रकार (कंटेन्ट) और स्वरूप-बोध (फार्म) के परस्पर अनुपूरक तादात्म्य से ही वह पूर्ण बनता है। तत्त्व-प्रकार के स्थापन का कार्य (संस्कृति-दर्शन, प्रवृत्ति-दर्शन, युग-दर्शन, मानव-दर्शन) वस्तुतः साहित्येतिहास के प्रबन्धत्व में निहित औदात्य जैसी अपेक्षा का महत् कार्य है। साहित्येतिहास में इतिहास-क्रम या क्रम (क्रानॉलाजिकल ऑर्डर) और उसके वर्गीकरण द्वारा प्रस्तुत काल-निर्धारण स्थूल अंग-प्रत्यंग बोधक कार्य मात्र हैं।

'साहित्येतिहास' विधा में अतिरिक्त आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए—भाषा, भाषा-क्षेत्र, भाषा-क्षेत्र का भौगोलिक अध्ययन आदि। इसके पश्चात् साहित्य-अध्ययन का पक्ष स्वीकार होना चाहिए। मैं हिन्दी को 'भाषा' नहीं मानता क्योंकि हिन्दी वस्तुतः उत्तर भारत की बोलियों की सामूहिक एकता का प्रतीक मात्र है। दूसरे शब्दों में, उत्तर भारत की बोलियों का साहित्येतिहास ही हिन्दी का साहित्येतिहास है। जिस प्रकार वादों का उद्भव होता है और उसके माध्यम से प्रवृत्ति-दर्शनों का घटाटोप किसी एक युग-विशेष को प्रभावित करता है, उसी प्रकार हिन्दी के अन्तर्गत बोलियों को विभिन्न युगों में महत्त्व मिलता रहा, जैसे आरम्भ में अपभ्रंश, मैथिल, ब्रज, अवधी और आज खड़ी-बोली। अन्य बोलियाँ केवल लोक-वार्त्ताओं में केवल वक्तास बनकर जीवित रहीं इसलिए साहित्येतिहास में उनका कोई महत्त्व नहीं रहा। प्रत्येक भाषा व बोलियों का अपना भौगोलिक क्षेत्र होता है। भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ एवं उपबोलियाँ होती हैं। किन्तु हिन्दी के साथ ऐसी मान्यता व्यवहृत करना असंगत होगा। यह कहा जा सकता है कि 'हिन्दी' संस्कृति को जीवित रखने के लिए बोलियाँ साहित्य-बोध देने में सक्षम होकर 'भाषा' ही थीं। जब उनका उपयोग या व्यवहार सभ्य साहित्य समाज से उठ गया तो वे पुनः 'बोली' हो गयीं। मेरा कहना है कि साहित्य की समृद्धता पा जाने के कारण बोली भाषा के रूप में मान्य हो जाती है। प्रश्न उठ सकता है कि 'संस्कृत' आज व्यवहार में नहीं तो 'बोली' क्यों नहीं मानी गयी? इसका मात्र उत्तर है कि हिन्दी बोलियाँ अपने भौगोलिक क्षेत्र सीमा में आज भी जीवित हैं, किन्तु सभ्यता के आवरण में उनके भाषा-गुण को ढँक लिया गया है। संस्कृत जीवन में भी नहीं है किन्तु जीवित साहित्य के कोश के कारण एवं अपनी प्राच्यता के कारण 'क्लासिकल' भाषा के रूप में मान्य है।

भाषा-क्षेत्र-सीमा^१ का निर्धारण-कार्य भौगोलिक प्रतिमानों पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए, 'अवधी' का अध्ययन भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में यदि किया जाय तो बस्ती, गोंडा, बहराइच, फैजाबाद, सुल्तानपुर, पूर्व इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, जौनपुर (आजमगढ़ मार्ग पर १० मील छोड़कर) आदि के माध्यम से एक क्षेत्र-सीमा-रेखा तैयार की जा सकती है और उसकी सीमावर्ती बोलियों (जैसे भोजपुरी, बैसवाड़ी, खड़ी-बोली) के प्रभाव आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है। इसके पश्चात् ही उस क्षेत्र की भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में रीति-रिवाज, परम्परा, विश्वास-धर्म, संस्कृति, साहित्य का अध्ययन करना न्याय-संगत होगा। भौगोलिक विशेषताओं के ज्ञापन से ध्वनि, उच्चारण आदि का भी महत्व सहज ही बोधगम्य हो सकता है। साहित्येतिहास के विधागत गुण को स्पष्ट करने की उद्देश्य-पूर्ति में बोली या भाषा की भौगोलिक सीमान्तर्गत प्रकृति-वैभव और उससे उद्भूत व विकसित परम्पराओं व धारणाओं का ज्ञान व बोध करना नितान्त आवश्यक है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई रचनाकार अपने भूगोल व प्रकृति से पोषित जीवन-परम्पराओं से पृथक् रहता है। वह अपने भाषा या बोली-क्षेत्र की वनस्थली, प्राकृतिक सुषमा, पादप-पुष्प, पशु-पक्षी एवं जलवायु से भिन्न दिशा में यदि जाता है तो वह अपने जीवित रहने के धर्म से विपरीत जायगा। क्षेत्रीय संस्कृति का निर्माण भौगोलिक परिवेश में भाषा व बोली-साहित्य के माध्यम से होता है। जैसा मैं कह चुका हूँ कि हिन्दी के स्वरूप-निर्माण में बोलियों के साहित्य-सृजन का ही अस्तित्व है। 'हिन्दी' भाववाचक एकता-बोधक संज्ञा है। यदि पूर्णतः शास्त्रीय दृष्टि को रखकर भौगोलिक क्षेत्र-सीमा की मान्यता को व्यवहृत कर दिया जाय तो विघटन की प्रवृत्ति अधिक उभर सकती है। उस दशा में बोलियों के साहित्येतिहास की बात आ जायगी, सभी बोली इकाइयाँ स्वतन्त्र सत्ता रखने लगेंगी। उर्दू खड़ी-बोली की शैली मात्र है तो उसे हिन्दी साहित्येतिहास में स्वीकृति न देने से उसकी स्वायत्तता को मान बैठने के लिए कभी-कभी विद्वान विवश हो जाते हैं। भौगोलिक परिवेश केवल साहित्य के अध्ययन की पृष्ठभूमि होनी चाहिए ताकि प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन साहित्येतिहास में गुणात्मकता उत्पन्न करने की दृष्टि से हो और भाषा व बोली क्षेत्र की संस्कृति व जन-जीवन में भौगोलिक प्रभाव किन रूपों में उपलब्ध है, यह भी जाना जा सके।

१.

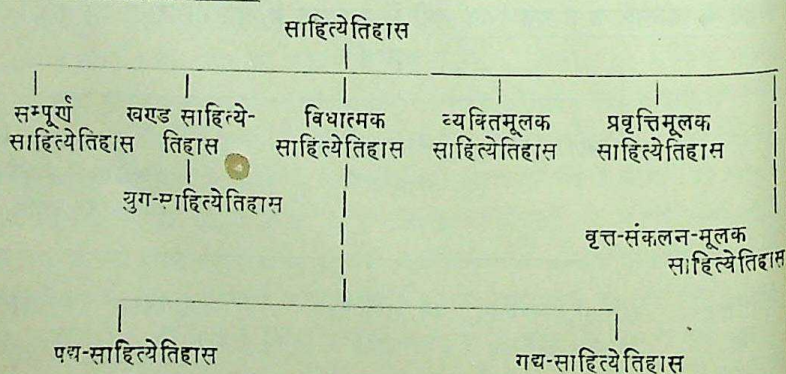
भाषा-क्षेत्र



युगेतिहास—प्रत्येक युग की भाषा व बोलियाँ युग-बोध देने में तथा इतिहास-बोध देने में समर्थ होती हैं। हिन्दी-साहित्येतिहास साक्षी है कि उत्तर भारत के मध्य-युगीन धार्मिक आन्दोलन को हिन्दी बोलियाँ-ब्रज एवं अवधी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। साहित्य के मान्य स्तर को बुन्देली या अन्य बोलियाँ नहीं स्पर्श कर सकी थीं, इसलिए उनका युग आया ही नहीं, जबकि मैथिल का युग हिन्दी साहित्येतिहास में ब्रज व अवधी से पूर्व विद्यापति के माध्यम से आ चुका था। युगेतिहास साहित्येतिहास का एक अविभूत गुण है। प्रत्येक साहित्य-कृति अपने युगेतिहास को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। युग-बोध, युग-समाज, साहित्य-समाज का दर्पण आदि शब्दों व वाच्यों का प्रयोग वस्तुतः युगेतिहास के लिए सन्दर्भ रूप में होता है। युगेतिहास एक एलिमेंट है जिसके अभाव में रचना का जीवन नहीं होता। सामयिकता युगेतिहास का गुण-बिन्दु-क्षण है। युगेतिहास स्थानीयता, देश-काल, वातावरण की प्रधानता, युगीन जीवन-दर्शन, युग-विशेष की सामाजिक परम्पराओं व विश्वासों की सम्पूर्णता को कहेंगे। इसी प्रकार युगेतिहास का सम्बन्ध रचना की कथानक रूढ़ियों से भी है।

वर्गीकरण : साहित्येतिहास का वर्गीकरण युगेतिहास, विधा, प्रवृत्ति, युग-बोधक व्यक्ति-विशेष, शैलियों के आधार पर ही सम्भव है। आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास 'सम्पूर्ण' (१) के अन्तर्गत स्वीकृत होगा क्योंकि उसमें सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन हुआ है। 'खण्ड' (२) साहित्येतिहास एवं युग-साहित्येतिहास (३) में क्रमशः डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' एवं डॉ० शम्भूनाथ सिंह कृत 'छायावाद युग' स्वीकृत होगा। 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', 'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास' आदि कृतियाँ विधात्मक (४) साहित्येतिहास के अन्तर्गत स्वीकृत होंगी। व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास की कोटि या श्रेणी भी हो सकती है? मैं समझता हूँ कि व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास उस श्रेणी में स्थान रखेगा, जिसमें किसी महान् व्यक्तित्व व उसके कृतित्व दोनों का प्रभाव सम्पूर्ण युग पर पड़ता हो या युग अपने अस्तित्व को उक्त प्रकार के व्यक्तित्व व कृतित्व में समाविष्ट कर लेता हो। व्यक्तित्व व युग-विशेष की प्रवृत्ति, विचारधारा, मान्यताएँ आन्दोलन, जब एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर लें तो निश्चय ही वह

१.



व्यक्तित्व अपने कृतित्व के माध्यम से साहित्येतिहास दे सकने के कारण एक कोटि या श्रेणी बन जाता है। जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व उनके जीवन व जीवन के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिन्दी-भाषी जन-जीवन पर समकालीन कृतिकारों के माध्यम से छाया हुआ था, यदि भारतेन्दु के नाम पर ही उन्हें उनके युग में, केन्द्रीय रूप में देखने की चेष्टा की जाय तो साहित्येतिहास की पूर्ति होगी ही। हिन्दी में कतिपय ऐसी कृतियाँ हैं, जो साहित्येतिहास के व्यक्तित्वमूलक श्रेणी के अन्तर्गत मान्य होंगी, जैसे—स्व० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'महाकवि हरिऔध'; गंगाप्रसाद पाण्डेय कृत 'महाप्राण निराला' आदि। उक्त कृतियाँ कृतिकार के माध्यम से साहित्येतिहास की पर्याप्त प्रवृत्तिमूलक एवं वृत्तमूलक सामग्री प्रदान करती हैं।^१

प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास उसी प्रकार एकांगी है जिस प्रकार वृत्तसंकलन प्रधान साहित्येतिहास। वृत्त-संकलन में रचनाकार की जीवनी, उसके जीवन से सम्बन्धित प्राप्त किंवदंतियाँ, अनुश्रुतियाँ (घटनामूलक), कृतियाँ व उसके सम्बन्ध, समय आदि पर उठाये गए तर्क-वितर्क, रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से कृतियों का अवलोकन मात्र रहता है। दूसरे शब्दों में, 'सूची-पत्र' ही साहित्येतिहास नहीं है और उसी प्रकार मात्र प्रवृत्तिमूलकता को प्राधान्य मानकर किया गया कार्य भी साहित्येतिहास नहीं है। प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास की, इसीलिए वर्गीकरण में, एक कोटि या श्रेणी निर्धारित कर देना उचित है। प्रवृत्ति-विश्लेषण साहित्येतिहास का विशिष्टतम गुण है। प्रवृत्तियों के निरूपण करने में ही विभिन्न युगों के धार्मिक आन्दोलन, जन-जीवन, रहन-सहन, उपासना-पद्धति, संस्कृति, सभ्यता के रूप, आचार-विचार, दार्शनिक प्रवाह-गति, राजनीतिक गतिविधि और उससे प्रभावित जीवन व समाज आदि के दिग्दर्शन को लेखक अपना मूल-धर्म मान बैठता है। यह प्रधान हो जाने के कारण कृति, कृतिकार व उसके माध्यम से प्रस्तुत साहित्य गौण हो जाता है। इसके साथ ही घटनाएँ भी प्रवृत्तियों का निर्माण करती हैं, उनकी उपेक्षा हो जाती है। प्रवृत्तियों के साथ घटनाएँ व कृतियों के सामंजस्य प्रस्तुत करने की चेष्टा होनी चाहिए। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' कुछ इसी प्रकार का प्रवृत्ति-मूलक साहित्येतिहास है। संस्कृति के इतिहास से अधिक भिन्न नहीं होता प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास।

साहित्य-बोध : साहित्येतिहास में साहित्य-बोध न हो तो निश्चय ही वह साहित्येतिहासकार के लिए दोष माना जाएगा। आलोचक के लिए जेम्स स्कॉट ने जैसा कहा है कि उसमें आलोचना के गुण में, परिष्कृत रूप में आलोचना की कलात्मक अनुदृष्टि व अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए अन्यथा वह रचना की आत्मा का संस्पर्श न कर सकने के कारण, आलोचक-धर्म का निर्वाह न कर सकेगा। जेम्स स्कॉट की उक्त मान्यता कि आलोचक में कलाकार या रचनाकार के गुण व धर्म की सम्पन्नता होनी चाहिए, साहित्येतिहास-लेखन में मूल्य-निर्धारण की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रस्तुत

१. उक्त दोनों कृतियाँ हिन्दी समालोचना में चरितमूलक या जीवन-वृत्तान्तीय समालोचना (Biographical Criticism) कही जाती हैं। —लेखक

साहित्य के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से कलात्मकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। साहित्येतिहास केवल क्रमानुसार रचना-नामावली मात्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, यह सहायक तत्त्व ही हो सकता है। साहित्येतिहास का आवेष्टक ही है, प्रस्तुत करना—साहित्य-बोध। साहित्य-बोध द्वारा साहित्येतिहास अपने अर्थ को पाता है और अभीष्ट की पूर्ति करता है। एक प्रश्न उठ सकता है कि साहित्य-बोध व प्रवृत्ति-बोध की क्या साहित्येतिहास में भिन्न सत्ताएँ होंगी? मैं समझता हूँ कि प्रवृत्ति-बोध साहित्य-बोध के भीतर अवस्थित है। किन्तु बाह्य जीवन-विधान में उसका व्यवहार भिन्न होता है। दूसरे शब्दों में, यों कहें कि साहित्य-बोध की भूमिका है—प्रवृत्ति बोध। प्रवृत्ति-बोध के परिप्रेक्ष्य में साहित्य-बोध देखना-परखना चाहिए। साहित्य-बोध की क्या कसौटी होगी? इस प्रश्न पर विचारने पर यही स्पष्ट होता है कि साहित्य में अवस्थित मात्र रस व प्राकृतिक-छटा को ही आधार नहीं बनाया जा सकता बल्कि उसके सौन्दर्य-बोध पक्ष को, मानवीय-पक्ष को, जीवन-दर्शन पक्ष को, रचना-दर्शन पक्ष को, संवेदन व भावना पक्ष को, विचार-बोध पक्ष को युग-बोध, युगेतिहास की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। उसे देखने में, साहित्येतिहासकार में अन्तः को स्पर्श करने के निमित्त स्वयं में कलात्मकता होनी चाहिए अन्यथा वह यदि अपने साहित्यिक ठूठपन का परिचय देगा तो निश्चित ही साहित्येतिहास का 'आवेष्टक' श्रृंखलीन हो जायगा।

साहित्येतिहासों में साहित्य-बोध की सदैव उपेक्षा होती रही है। उसे या तो रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से देखा गया या प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से। यही कारण है कि रचना-दर्शन से अपरिचित होकर हिन्दी साहित्येतिहास यह सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो सका कि कृति-विशेष का युग-परिधि में केन्द्र-बिन्दु कहाँ है? हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक मनीषी आँकड़ों का ही झमेला बना, अपनी प्रतिभा-प्रकाश को एक क्षण देकर बुझ गये। यदि साहित्येतिहास में युग-प्रवृत्ति व रचना-दर्शन का सम्यक-बोध दिया जाना अभीष्ट मान लिया जाय तो निश्चय ही 'मूल्य' पक्ष भी ऊँचा होगा। आलोचनात्मक अध्ययन-शैली की वर्तमान स्थिति में साहित्येतिहास भी जकड़ा हुआ है। चाहे कबीर हों, चाहे तुलसी, चाहे जायसी या पन्त, निराला, प्रसाद हों, उनके रचना-दर्शन को प्रस्तुत करने की एक सामान्य प्रचलित शैली है। भाषा, शैली, भाव-प्रवणता, कथानक, पात्र, उद्देश्य, अलंकार, रस, छन्द की दृष्टि से, जैसे बाजारू आलोचनात्मक अध्ययनों में साहित्य को समझा व समझाया जा रहा है, वही साहित्येतिहासों में। यह केवल प्रचलित साहित्येतिहासों मात्र की दशा नहीं है, बल्कि सामान्यतः उद्भव और विकास वाले विधात्मक साहित्येतिहासों व खण्ड-साहित्येतिहासों की भी दशा है जिनके सम्बन्ध में अनेक तथा-कथित स्तर के पत्रों से प्रशंसा या सरकारी पुरस्कार पा जाने के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

शोध-बोध : शोध-कार्य में अनुपलब्ध या अप्राप्य को उपलब्ध या प्राप्त करने की अभीष्टा की पूर्ति में शोधकर्ता जितना सजग होता है उतना ही उसे सजग होना

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप : २१

चाहिए स्थापना के लिये भी। इस प्रकार शोध-कार्य के दो पक्ष हो जाते हैं। यदि सामग्री (मैटीरियल) विखरी है तो उसे ठोस रूप व क्रम देना ही उसका मात्र ध्येय नहीं, बल्कि उसकी क्रम व व्यवस्था से क्या निष्कर्ष युग-बोध के लिये होता है, भी देना चाहिए। स्थापना की दरिद्रता से पीड़ित आज का शोध-कार्य केवल एरेंजमेंट देकर अपना कार्य पूरा मान बैठता है। जहाँ स्थापना नहीं है, वहाँ शोध की सम्पूर्णता विकेंद्रित होगी और उसे अपने सम्पूर्ण शोध-कार्य का बोध भी नहीं होगा। माने गये विद्वान कहते हैं कि शोध-कार्य में आवश्यक नहीं कि निष्कर्ष या स्थापना को महत्व दिया जाय, यह तो आलोचक के लिये है, न कि शोधकर्ता के लिए। वस्तुतः उक्त कथन पलायनवादी दृष्टिपरक है। शोध-बोध के लिए शोधकर्ता क्या मात्र; 'स्टेटिस्टिकल डेटाज' से प्रमाण पेश करेगा। आज उद्भव व विकास वाले साहित्येतिहास केवल 'कोटेशन' से थ्रीसिस भरते हैं और 'स्टेटिस्टिकल डेटाज' से अपनी विद्वता को कागजी प्रमाण-पत्र लेकर बुझ जाते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध को आत्मसात करना चाहिए। खेद है कि हिन्दी-शोध पर दम्भ भरनेवाले तथा शोध-कारखानों के संचालक अर्थात् विद्वान, जितना शोध हुआ है, उतना साहित्येतिहास में आत्मसात होने के विधान पर ध्यान न दे सके। आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास के दस वर्षों बाद आरम्भ हुआ हिन्दी-साहित्य-शोध अपनी जगह है और आज भी 'आउट ऑफ़ डेट' पुरानी अशोध की वस्तुएँ विद्यार्थी पढ़ते हैं और वे दम्भ करने वाले विद्वान अपने विद्यार्थी द्वारा कराये गये शोध की चर्चा नहीं करते, जबकि ये विद्यार्थी अपनी एक तिहाई थ्रीसिस केवल गाइड के उद्धरणों से सँवारते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध इसीलिये आवश्यक है कि उससे वह जड़ न हो, चेतन हो। कहनेवाले कह सकते हैं कि शोध-कार्य इसलिए सम्पादित होता है कि वह समीक्षा व साहित्येतिहास के लिए सामग्री दे सके, किन्तु मैं नहीं मानता।

शोध-बोध के एक पक्ष के सम्बन्ध में कह चुका हूँ कि उसमें रचना-क्रम, वर्गीकरण, स्टेटिस्टिकल डेटाज आदि को प्रमुखता दी जाती है। रचना-पाठ के अध्ययन के लिये पाठालोचन (टेक्स्टुअल क्रिटिसिज्म) व भाषा के अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञान (फाइलॉजी) व भाषा-शास्त्र (लिग्विस्टिक्स) आदि का भी अध्ययन-पक्ष प्रमाण व साक्ष्य प्रस्तुत करने के उद्देश्य से साहित्येतिहास में होना चाहिए। यह कार्य वस्तुतः साहित्येतिहास के सैद्धान्तिक परिप्रक्ष्य में होगा।

मूल्य-बोध : मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू' का पर्यायवाची है।

- मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानव-निर्मित निकष और कसौटियाँ हैं, जिनके सहारे साहित्य की परख की जाती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है, इसीलिए—उसके अपने मूल्य मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति-मनुष्य एक वृहत्तर मानव-समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्यता का भोग भी है; अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रमाणिक माचव, 'हिन्दी साहित्य का', पृ. ६०४, भाग १।

२२ : आलोचना

मूल्य-निर्धारण के लिये साहित्येतिहासकार जागरूक हो, यह अनिवार्य नहीं, किन्तु गुण अवश्य है। वैसे मैं अनिवार्य गुण मानूंगा क्योंकि रचना (ओं) के माध्यम से युग-बोध, मूल्य-निर्धारण द्वारा ही सम्भव होगा। मूल्य, जैसे कहा गया है—‘प्रतिमान का समानार्थी शब्द है।’ मूल्य व प्रतिमान का परिप्रेक्ष्य केवल समीक्षा के स्वरूप को साहित्येतिहास में स्पष्ट करता है। यदि ‘मूल्य’ नहीं तो साहित्येतिहास का नमक समाप्त माना जाएगा। मूल्य वस्तुतः कृति व कृतिकार की स्थिति का ही बोध करायेगा। साहित्येतिहासकार जिस साहित्य की सामग्री को उक्त विधा के आधारभूत सिद्धान्तों पर रखता है तो उसे कम-से-कम यह बताना होगा कि क्या वह साहित्य-बोध कर पाया है? क्या उसमें साहित्य-बोध की योग्यता है? यदि नहीं तो वह साहित्य के मूल्य-निर्धारण की भी योग्यता नहीं रख सकता। साहित्येतिहासकार में स्थित मूल्य-बोध-क्षमता ही उसके साहित्य-बोध की क्षमता की कसौटी मानी जाएगी। साहित्येतिहास-वस्तु अपने निष्कर्ष में साहित्य-बोध प्रदान करने में ही मूल्य-बोध भी दे सकेगी। ‘मूल्य’ के पूर्वग्रह की अवस्था में सम्भव है कि वह एकपक्षीय हो जाए। ऐसी अवस्था में उसके एकांगी होने के आरोप को स्वीकार करना होगा। किन्तु यह दोष स्वीकार्य है, समीक्षा में मूल्य-बोध की भाँति। फिर भी “मूल्य-निर्धारण के लिये यदि सामाजिक व वैयक्तिक स्तरीय मानवतावादी दृष्टिकोणपरक ‘निकप’ होंगे तो निश्चय ही साहित्येतिहास सही पथ पर अग्रसर होगा।” “मूल्य युग-सन्दर्भ प्रधान होता है किन्तु साहित्येतिहास ‘मूल्य’ को इतिहास-आकलन रूप में प्रस्तुत कर अपने विधात्मक गुण के स्वरूप को निखार देता है।”

“साहित्येतिहासकार को जिस भाषा का इतिहास लिखना है, उस भाषा की ओर प्रदेश-विशेष की संस्कृति, सभ्यता, साहित्य कला के अन्य उपकरणों की, जन-जीवन की, तथा भाषा के प्रदेश की, राजनीतिक विकास सम्बन्धी समस्त उत्थान-पतन की, गतिविधियों से सुपरिचित होना चाहिये। साथ ही भाषा जिन प्रभावों से युक्त हो, वह भी अपने अध्ययन के सन्दर्भ में रखकर इतिहासकार को इतिहास-लेखन-कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को हिन्दी की जननी संस्कृत-भाषा एवं साहित्य तथा अन्य सम्बन्धित अभिविकसित प्राचीन भाषाओं का भी सन्दर्भ में ज्ञान होना चाहिए। विदेशी भाषाओं की साहित्यिक विचारधाराओं का क्रमशः किन रूपों में प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है, इसका भी अध्ययन अपेक्षित है। इन उपर्युक्त आवश्यकताओं की संपूर्ति से इतना लाभ होगा कि इतिहासकार वह सामग्री संकलन तो देगा ही, साथ ही तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करना उसके लिए सम्भव होगा और मूल्यांकन, निर्णय, गुण-दोष-विवेचन का भी अभाव न होगा। ऐसा न हो सकने पर इतिहासकार अपने धर्म का पालन करने में सक्षम नहीं हो सकेगा। इसलिए जब हम सूक्ष्म रूप से देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन को सोद्देश्य माना है।”^१ आचार्य शुक्ल ने माना है कि “प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है तब यह

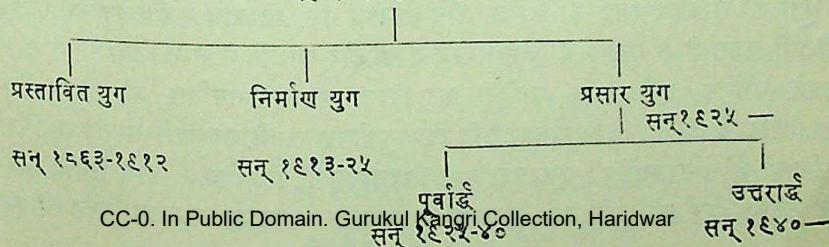
साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप : २३

निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास है'।^१

मैंने अत्यन्त संक्षेप में साहित्येतिहास के कुछ प्रतिमान स्थिर किये हैं। वस्तुतः साहित्येतिहास-लेखन को विभिन्न पृथक् तत्त्वों के एकता-सूत्र में आवद्ध न किया गया तो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के स्तर का ह्रास होगा। मैंने हिन्दी साहित्येतिहास पर शोध के लिये एक शोध-छात्र को ऐतिहासिक दृष्टि से 'विकास' के लिये एक वर्गीकरण का सुझाव दिया था। यद्यपि डॉ० तास कृत साहित्येतिहास का समय १८३८-३९ बताया जाता है किन्तु वह फ्रेंच में है। इसलिये मैं भारतेन्दु-युग के वास्तविक आरम्भ सन् १८६३ से भारतेन्दु-युग के अन्त सन् १८९३ और काल्पनिक कथा-युग सन् १९१२ तक के समय को हिन्दी साहित्येतिहास का प्रस्तावित युग था प्रवर्तन युग मानता हूँ, सन् १९१३ से २५ तक के समय को (जिसमें मिश्रबन्धु प्रमुख हैं) हिन्दी साहित्येतिहास का निर्माण-युग मानता हूँ, सन् २५ से ४० तक के समय को प्रसार-युग का प्रथम चरण मानता हूँ; सन् ४० से अब तक को प्रसार-युग का द्वितीय चरण स्वीकार करता हूँ।^२

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

२. हिन्दी साहित्येतिहास



देवीप्रसाद गुप्त

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य

आज स्वदेश और विदेश के साहित्य में सर्वत्र ही मानवतावाद का स्वर एक उद्घोष के रूप में सुनाई देता है। साहित्य ही क्यों, मानवीय चिन्तन के सभी क्षेत्रों में मानवतावाद की विचारधारा को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी है। यही नहीं, मानवतावाद की विचारणा को हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण उपपत्ति के रूप में भी स्वीकृत किया जा चुका है। साहित्य, क्योंकि सामाजिक चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास है; अस्तु उसमें युग-जीवन की उत्कृष्ट विचार-सम्पदा और भाव-राशि का आत्मसात् होना स्वाभाविक ही है। आज साहित्य का प्रत्येक प्रणेता अपनी रचनाओं को मानवतावादी कहते-कहलाने में गर्व और गौरव का अनुभव करता है। इस युग के साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह मानव के द्वारा, मानव के लिए, मानव को आधार बनाकर लिखा जाता है। मानवीय मूल्यों की महिमा का आख्यान, मानवीय जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा, मानव-मन की इच्छाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति, मानव-जीवन के अन्तर्बाह्य संघर्षों की स्पष्ट व्यंजना, मानव की मर्यादा और महत्ता की स्थापना आदि साहित्य में मानवतावादी चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में मानवतावादी साहित्यिक विचारधारा की विशेषताएँ भी कहा जा सकता है। इस चिन्तनधारा के साहित्य में प्रवेश और उसके शुभाशुभ परिणाम जानने से पूर्व मानववाद की विचारणा को समझ लेना उचित होगा।

मानवतावादी विचारधारा का आगमन मध्ययुगीन धार्मिक व्यवस्था की समाप्ति के बाद हुआ। एक प्रकार से मानववाद की वह विचारधारा जिसे नवमानववाद और वैज्ञानिक मानववाद अभिधान दिया जाता है, उन धार्मिक मान्यताओं का विरोध करने के लिये आयी जिनमें मानव का व्यवित्तत्व गौण और किसी कल्पित एवं अज्ञात दिव्य सत्ता के अस्तित्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। विकासवाद के सिद्धान्त और विज्ञान की प्रगति ने मानव को चिन्तन की नयी दिशाओं की ओर अभिमुख किया। विज्ञान की सहायता से मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को ज्यों-ज्यों समझने लगा त्यों-त्यों उसमें आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन, विश्वास, आस्था एवं तर्कसम्मत विवेक की प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। मनुष्य ने असंख्य देवी-देवताओं की उपासना और अज्ञात सत्ता की प्रभुता को छोड़कर स्वयं की शक्ति और सामर्थ्य पर विश्वास करना प्रारम्भ किया। बीसवीं शताब्दी के मनुष्य में जिस नवीन बोध और जागृति ने जन्म लिया उसके कारण उसने धार्मिक रूढ़ियों का उच्छेदन कर दिया, परम्परा-समर्थित अन्धविश्वासों को तिलांजलि दे दी। विंशति शताब्दी के विश्वयुद्धोपरान्त तो मनुष्य ने सम्पूर्ण मानवेत्तर शक्तियों और सत्ताओं का एक प्रकार से तिरस्कार ही कर दिया। आज स्थिति यह है कि मनुष्य धर्म को छोड़कर सामाजिक जीवन के लिए नैतिक आधार के रूप में मानवतावाद को ही अपना आदर्श मानता है।

उड़ाता है, परम्पराओं के अनुमोदन को परामर्श का चिह्न मानता है। आज का युग विज्ञान का युग है क्योंकि विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र में एकछत्र साम्राज्य है। विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति का एक कारण मानवतावादी जीवन-दृष्टि भी है। वास्तव में विज्ञान के विकास की परिधि का केन्द्र मानव था। मानव की सुख-सुविधाओं की सामग्री जुटाना, मनुष्य को प्रत्येक प्रकार से निरापद और निःशंक बनाना वैज्ञानिक प्रगति का मूल लक्ष्य था। अतः विज्ञान की प्रगति ने संसार में एक आपातक परिवर्तन ला दिया। यह परिवर्तन था—मानव के चिन्तन-क्रम में, जीवन की व्यवहार प्रणाली में, चेतना के गतिमान स्तरों में, समाजों की व्यवस्था में, राष्ट्रों की संचालित शक्ति में और विश्व भर की सांस्कृतिक गतिविधियों में। फलस्वरूप मानवतावादी चिन्तनधारा को स्वीकृति मिली और आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई गई, राजनीतिक अधिकारों की मांग की गई, समानता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया गया। इन समस्त प्रक्रियाओं से साहित्य भी अप्रभावित न रहा। साहित्य में भी मानव की महत्ता के स्वर मुखरित हुए और नव-साहित्य चेतना मानव के मंगलगान के लिए व्यंजित हुई। अस्तु—

मानवतावादी चिन्तनधारा मेरी दृष्टि में नवचेतना और चिन्तन क्षेत्र की जागृति का परिणाम है। इस प्रकार का चिन्तन अतीत काल में भी होता रहा है किन्तु मनुष्य की सर्वोच्चता की विचारणा को जितना महत्त्व वैज्ञानिक युग के प्रभाव से मिला है; उतना पहले कभी नहीं मिला। मध्ययुगीन समाज में ईश्वरीय सत्ता और प्राकृतिक शक्तियों को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि मनुष्य की स्थिति नितान्त तुच्छ और गौण ही बनी रहती थी। विज्ञान के ज्ञान द्वारा मनुष्य ने प्रकृति के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को जानकर प्राकृतिक साधनों को अपने वश में कर लिया और वह अब प्रकृति का दास नहीं, स्वामी है। श्री एम० एन० रॉय ने लिखा है—

“In the past also, Humanism proclaimed the sovereignty of man. But man remained Unexplained, and speculation about the essence of man led to mysticism and revival of religion. Thus Humanism defeated itself. Thanks to the enrichment of scientific knowledge, it can now be freed from all fallacies. It needs no longer be misguided by mystic and metaphysical notions about the essence of man... New Humanism proclaims the sovereignty of man on the authority of the Modern Science, which has dispelled all mystery about the essence of man.”

(Reason, Romanticism & Revolution

By M. N. Roy, p. 308)

आधुनिक साहित्यकार इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। इसलिए आधुनिक साहित्य के मूल में मानवतावादी जीवन-दृष्टि, मानवतावादी दार्शनिक तत्त्व के रूप में कार्य कर रही है—

२६ : आलोचना

साहित्यिक परम्परा पर दृष्टि दीजिये तो इससे अनेक साहित्यिक युगों में सर्वत्र किसी विशेष मानवीय विश्वास को प्रेरणा देते पायेंगे... विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का व्यापक विश्वास मानवतावाद है... इस युग में मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, परम्परा-समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर सन्देह किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़तापूर्वक आस्था बनाये रखी। मनुष्य सब-कुछ कर सकता है, प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि-परम्परा की सबसे उत्तम परिणति है। नवीन-साहित्य के मूल में यही विश्वास कार्य कर रहा है।" (विचार और विर्तक—साहित्य की नयी मान्यताएँ शीर्षक निबन्ध—पृ० ६१)

मानवतावादी जीवन-दृष्टि के विकास का साहित्य के सृजन और समीक्षा दोनों ही क्षेत्रों में बड़ा शुभ प्रभाव पड़ा है। साहित्य-निर्माताओं ने मानव को लक्ष्य बनाकर उसका सर्वांगीण चित्रण प्रारम्भ किया। साहित्य में लोक-जीवन की विवशताओं, विभीषिकाओं और वैषम्यों का निरूपण प्रारम्भ हुआ। मानवीय सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए साहित्यकार ने दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भौतिक-विज्ञान आदि साहित्येत्तर ज्ञानराशि को भी कलात्मक सृजन के लिए स्वीकार किया। साहित्य रचना का क्षेत्र केवल आह्लादकारी प्रसंगों की योजना तक ही परिसीमित न रहकर गहिर्, तिरस्कृत, विद्रूप और भदेश की स्थितियों को भी अपने परिधि-विस्तार में समेटने लगा। यथार्थवादी और तथ्याधारित शैलियों का विकास हुआ। सच तो यह है कि आज का साहित्य-प्रणेता मानव को उसके व्यापकतम परिवेश में प्रस्तुत करना चाहता है। अतीत के साहित्य-विधायकों की भाँति जीवन के केवल उज्ज्वल, आदर्श, शिष्ट, सभ्य और समुन्नत पक्षों के ही चित्रण में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेता। क्योंकि उसकी दृष्टि में वह सृष्टि-प्रक्रिया का एकांगी रूप या एकपक्षीय चित्रण ही होगा। जीवन की सम्पूर्णता का निरूपण तभी सम्भव है जब हम उसे सभी दृष्टियों, सभी कोणों से देखें, परखें और कृतियों में उतारें।

यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से होता है; किन्तु सन् १९३६ के पश्चात् अर्थात् प्रगतिवादी साहित्य-रचना के साथ ही वास्तव में नवमानवतावादी जीवन-दृष्टि का विकास हम साहित्य में पाते हैं। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य-युग तक साहित्य में उस मानवतावादी जीवन-दृष्टि का अभाव ही था जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रगतिवादी रचनाओं के भी अपने अभाव, त्रुटियाँ और सीमाएँ हैं किन्तु एक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय उपलब्धि इस साहित्य की यह है कि इसने सृजन की नवीन दिशाओं और चिन्तन की युगीन सम्भावनाओं को साकार किया और आगे आनेवाली पीढ़ी के साहित्यकारों को आह्वान किया कि आओ! और मानव की दुर्बलताओं, दीन-दुखियों की आहों, शोषित और पीड़ित वर्ग पर हो रहे अत्याचारों, जीवन के अभावों, विवशताओं और विडम्बनाओं का भी चित्रण करो। क्योंकि—“साहित्य अमरावती में प्रवाहित होने वाली कोई पीयूषधारा नहीं बहता, हमारे हिमालय की कल-कल करती धरती पर बहने

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य : २७

वाली मंदाकिनी की शीतल-उष्ण धारा है।" अथवा "साहित्य सुरसभा में निनादित होनेवाली उर्वशी के ताल-नुपूरों की मादक झंकार नहीं बरन् हमारे प्राणों से पुलकित बन में बजनेवाली व्याकुल विपंची है जो नित हमारे सुख-दुःख के तारों से झंकृत हुआ करती है।" या "काव्य, नन्दन कानन का कल्पतरु नहीं, वह हमारी ही दुनिया का आस्र वृक्ष है।" इस प्रकार की विचारधाराओं के फलस्वरूप साहित्य में जनसाधारण को स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ। उदाहरण के लिए, काव्य क्षेत्र में महाकाव्यों को लीजिये। महाकाव्यों में अब तक धीरोदात्त और इतिहास-पुराण प्रसिद्ध (जैसे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, रघु, हर्ष आदि) ही नायक हुआ करते थे। वर्तमान युग के रावण, मेघनादबध, दैत्यवंश जैसे महाकाव्यों में राक्षस और दैत्य कहे जानेवाले पात्र भी नायक के पद पर आसीन हुए हैं। निपादपुत्र एकलव्य पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने महाकाव्य लिखा है। सूतपुत्र कर्ण पर श्री रामधारीसिंह दिनकर ने 'रश्मिरथी'; श्री आनन्दकुमार ने 'अंगराज' और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सेनापति कर्ण' (अपूर्ण) नामक महाकाव्यों की रचना की है। उपेक्षित पात्रों को लेकर 'उर्मिला' (बालकृष्ण नवीनकृत) और कैकेयी जैसे सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द के समय से ही, विशेष रूप से प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य में असंख्य उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, एकांकी आदि दैनन्दिन सामाजिक समस्याओं और मध्यवर्गीय लोगों के जीवन की हलचलों पर लिखे गये हैं। प्रयोगवादी काव्य, नयी कविता और नयी कहानी के विधायक भी अन्ततः मनुष्य के सभी रूपों और उसके समस्त क्रिया-कलापों, आचार-व्यवहारों, मन-मस्तिष्क के संघर्षों एवं संवेदानाओं को ही व्यक्त करने को व्यग्र हैं। मानव व्यक्तित्व के सभी आयाम और जीवन की सभी जटिलताएँ अभिव्यक्ति पा सकें—यही तो नये साहित्यकार का प्रयास है। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में इस प्रकार की विचारणा का प्रादुर्भाव निश्चित रूप से मानवतावादी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। जीवन के भव्य और विराट, आदर्श और महिमामय रूप का मात्र चित्रण तो आज के साहित्यकार को अभीप्सित भी नहीं।

नये साहित्य के रचनात्मक आदर्शों को लक्ष्य करके उसकी पर्याप्त आलोचना भी की जाती है। कहा जाता है कि आज के अधिकांश साहित्य का लक्ष्य कुंठाओं की अभिव्यक्ति, अनास्था का प्रदर्शन, विकृत रुचियों का प्रचार और क्षणिक मनोरंजन है। आधुनिक साहित्य का ऐतिहासिक मूल्य और चिरन्तन पक्ष कुछ है ही नहीं। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस मध्यमवर्गीय समाज से साहित्यकार सृजन की प्रेरणा प्राप्त कर रहा है उसकी वस्तुस्थिति (दशा) में दैन्य, अतृप्ति, अस्थैर्य, अनास्था, आशंकाएँ और विकृतियाँ व्याप्त हैं। बेरोजगारी, महँगाई, शोषण, घूसखोरी, निरक्षरता, भ्रष्टाचार आदि ऐसे समाज-विरोधी तत्त्व हैं जिनसे वर्तमान सामाजिक जीवन जर्जरित, पीड़ित एवं दीन हो रहा है। सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में विघटनकारी स्वार्थमूलक शक्तियाँ परम्परा-स्थापित मूल्यों के मूलोच्छेदन में रत हैं। आज के विश्व-जीवन में मानव-मात्र की संकटापन्न स्थिति, कठित आत्मचेतना और भयावह वातावरण के कारण सातवीं शताब्दी के स्तर पर व्यक्तिगत और अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया है।

२८ : आलोचना

भौतिकतावादी जीवन-मूल्यों की पराकाष्ठा के कारण मनुष्य एकमत से आध्यात्मिक आस्थाओं को भी एकांगी स्वीकृति नहीं दे सकता। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का एक दायित्व कटु जीवन-सत्यों को यथार्थ रूप में चित्रित करके सजगता और जागरूकता का वातावरण निर्मित करना है। इस दृष्टि से नया साहित्य अपने अस्तित्व की पूर्ण सार्थकता सिद्ध कर रहा है क्योंकि उसी के माध्यम से ऐसे प्रयास हो रहे हैं।

समालोचना के क्षेत्र में मानवतावादी चिन्तन-पद्धति को ग्रहण करने का सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ है कि साहित्य-रचना के निरर्थक प्रयोजनों की उपेक्षा प्रारम्भ हो गई है। आज का समीक्षक साहित्य में छन्द, अलंकार या काव्य-दोषों की गणना, रसात्मक स्थलों के निर्देश, कथानक के स्रोत संकेतों या पात्रों के गुण-दोष-विवेचन तक ही अपनी दृष्टि परिसीमित नहीं रखता। वह आलोच्य कृति की सृजन संवेदना, अन्तरंग दर्शन, युगप्रभाव, परिस्थितियुक्त परिणामों, जीवन-मूल्यों की व्याख्या, विचार-संयोजन और भाव-सम्प्रेषण आदि की दृष्टि से रचना की परख करेगा। समालोचना में शास्त्रीय नियमों के प्रति आग्रह रूढ़ साहित्यिक परम्पराओं का जन्मदाता होता है। जैसे रीतिकाल तक के कवि महाकाव्य-लेखन के लिए कुछ काव्यशास्त्रीय नियमों (जैसे मंगलाचरण, छन्दविधान, सर्ग-योजना, विविध चित्रण आदि) के निर्वाह पर ही ध्यान देते थे। उन महाकाव्यों में संजीवनी-शक्ति या युग-चेतना के आकलन का अभाव ही होता था। किन्तु आज का कृतिकार रचना के बाह्य उपकरणों की चारुता पर विशेष बल न देकर उसके अन्तरंग पक्ष के निर्माण में सृजन-क्षमता का व्यय करता है। दिनकर जी का 'कुरुक्षेत्र' नामक प्रबन्ध-काव्य इस दृष्टि से विचारणीय है। इसके अतिरिक्त मानवतावादी जीवन-दृष्टि के विकास से प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हुआ है। आज की समीक्षा में विवेचना की अपेक्षा विश्लेषण पर बल दिया जाता है। समीक्षा-दृष्टि के परिवर्तन के मूल में विज्ञान युग की चेतना, राजनीतिक जागृति एवं सांस्कृतिक अवधारणाओं का परिवर्तित परिवेश भी कार्यरत हैं।

इस प्रकार मानवतावादी चिन्तनधारा के आगमन से हिन्दी का आधुनिक साहित्य सृजन और समालोचन दोनों ही क्षेत्रों में निर्माण की नयी दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ है। हमारी चिन्तन-दृष्टि व्यापक और सहिष्णु भी हुई है। यद्यपि नये साहित्य पर भी देश, काल और समाज की सीमा-रेखाओं का प्रभाव है, फिर भी उसमें अन्तर्राष्ट्रीय भाव साम्य और वैचारिक एकता स्पष्ट देखी जा सकती है। पूर्व (भारत-वर्ष) के मानवतावादी दृष्टि-सम्पन्न नये कवि और कथाकार की अनुभूतियों और पाश्चात्य देशों के साहित्य निर्माताओं की सृजन संवेदनाओं में आजकल आकाश-पाताल का अन्तर नहीं है। कम-से-कम वह अन्तर नहीं है जो अंग्रेजी के चॉसर, शेक्सपीयर और मिल्टन युगों के काव्यों-नाटकों और हिन्दी के भक्तिकालीन काव्यों-नाटकों में है। इसी प्रकार जो अन्तर ड्राइडेन, पोप, जॉनसन या रोमांटिक युगों (Romantic Revival) के काव्यों और रीतिकालीन काव्यों में है। अंग्रेजी के वर्जिनिया वुल्फ, प्रीस्टले, मॉम, वेनेट, आल्डस हक्सले, जार्ज मूर, गाल्सवर्दी, ज्वाएस, आर्वेल, एच० जी० वेल्स आदि कालानुसार लुडविग ब्रौन्स, एडमंड स्पेंसर, जॉन मिडल्टन, हेनरी वॉशिंगटन, चेस्टर्टन,

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य : २६

डी० ला० मेयर, राबर्ट ग्रेव्ज़, वेल्डॉक, टी० एस० इलियट आदि कवियों और जार्ज बर्नार्ड शा, बैरी, मेट्स, रैटिंगन, ब्रिडी, ग्रैनविल वॉकर आदि नाटककारों की रचनाओं और प्रेमचन्द, अश्व, यशपाल, रांगेय राघव, अज्ञेय, रेणु, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, रामविलास, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल, नरेन्द्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रघुवीरसहाय, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, रघुवंश एवं अन्य अनेक कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों, आलोचकों की रचनाओं में चमत्कृत कर देने वाला साम्य दिखाई देता है। कुछ प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों का पाश्चात्य कृतिकारों से तुलनात्मक अध्ययन करके इसी प्रकार के कतिपय निष्कर्ष हिन्दी के समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत भी किये गए हैं। वैचारिक एवं भावगत साम्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रगति, प्रेस का प्रचलन, चिन्तन का आदान-प्रदान आदि अनेक कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु मेरे मत में सबसे बड़ा कारण चिन्तनधारा में मानवीय विश्वासों को महत्त्व देने का है। मनुष्य को महत्त्व देने की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के नये विचारक दो खेमों में बँटे हुए नहीं हैं।

इस प्रकार सृजन और समीक्षण की आधुनिक प्रक्रियाओं में रूप-परिवर्तन समान जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। मानवतावाद की विचारधारा किसी सिद्धान्त या आन्दोलन के रूप में पूर्वी या पश्चिमी साहित्यकारों पर थोपी नहीं गई है। वह तो सामान्य ज्ञान (बोध ?) के रूप में आज के साहित्यकार ने ग्रहण की है। मानवतावादी चिन्तनधारा का कार्य किसी कट्टर सैद्धान्तिक मतवाद या दार्शनिक मान्यता का प्रतिपादन है भी नहीं। टी० एस० इलियट ने उचित ही लिखा है कि—

“The function of Humanism is not to provide dogmas or philosophical theories. Humanism, because it is general culture, is not concerned with philosophical foundations, it is concerned less with reason than with common sense. When it proceeds to exact definitions it becomes something other than itself.”

(SELECTED ESSAYS BY T. S. Eliot, p. 488)

वस्तुतः मानवतावादी चिन्तनधारा चिन्तन-जगत की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। राजनीति, दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति की नवीनतम और उत्कृष्ट विचार-सम्पदा द्वारा मानवतावादी चिन्तन पुष्ट और समृद्ध हुआ है। नये साहित्य के निर्माण में इस विचारधारा का योगदान अभूतपूर्व एवं उल्लेखनीय है। इस विचारधारा के फलस्वरूप साहित्य के नये प्रतिमान स्थापित हुए हैं, जीवन के प्रति नयी धारणाओं ने जन्म लिया है, सामाजिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है और कला-जगत् में सृजन की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। वर्तमान विश्व-जीवन की संकटापन्न दारुण स्थिति से मुक्ति का उपाय आज मानवीय विश्वास और आस्था द्वारा ही सम्भव है, कल्पित किंवा अज्ञात सत्ता द्वारा नहीं। चिन्तन राशि के अन्य रूपों की भाँति अभी साहित्य भी संक्रमण की स्थिति में है। विश्व-युद्धों के आतंक का निवारण होने और मनुष्य-मनुष्य में विश्वास-भाव के बढ़ने पर ही मानवतावादी चिन्तनधारा के अपेक्षित महत्त्व को और भी गहराई से समझा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य

—डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

अस्तित्ववाद और नयी कविता

(क) नयी कविता की चेतना के दो प्रवाह

हिन्दी की नयी कविता चेतना के दो प्रमुख प्रवाहों में अभिव्यक्त पा रही है। पहला प्रवाह व्यक्ति-निष्ठ है और दूसरा समाज-निष्ठ। राष्ट्रीय चेतना आदि का इन्हीं में किसी-न-किसी रूप में समाहार हो जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के पश्चात् मानव की बौद्धिकता इन दो चेतना प्रवाहों में विशेष रूप से विभाजित हो गई थी। युद्ध की समाप्ति के अनन्तर विश्व में ऐसा वातावरण बना, जिसने उन दोनों प्रवाहों को आज तक निकट नहीं आने दिया है। हिरोशिमा का अणु-विस्फोट, भारत-चीन आदि के राज्य परिवर्तन, शीत-युद्ध की संशयात्मक स्थिति तथा जीवन-यापन के साधनों का विशेष व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण आदि कतिपय ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिन्होंने उन दोनों के मिलन की भावी सम्भावना को भी कम कर दिया है।

मानव-चेतना के इस बाह्य-खण्डित रूप को लेकर विश्व का साहित्य आगे बढ़ रहा है। अतः वह एक भयंकर संशयात्मक स्थिति के मध्य से अग्रसर हो रहा है। इस स्थिति के अनुकूल यूरोप में कुछ नये दर्शनों का विकास हुआ है। यूरोपीय कविता ने उन दर्शनों से समझौता करके अपनी नयी दिशा बनाई है। हिन्दी की नयी कविता भी उसी दिशा में यूरोपीय कविता के पीछे-पीछे चलना चाहती है। अतः उसमें भी चेतना के दोनों प्रवाह स्पष्टतः दूर-दूर चलते दिखाई देते हैं। व्यक्ति-निष्ठ प्रवाह की दिशा समाज-निष्ठ प्रवाह से निरन्तर दूर होती जा रही है।

जहाँ तक व्यक्ति-निष्ठ चेतना का प्रश्न है, उसका दर्शन अस्तित्ववाद से प्रभावित है तथा समाज-निष्ठ चेतना पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक है।

(ख) अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि

अस्तित्ववादी चेतना हिन्दी की नयी कविता में अधिक स्थान घेरती जा रही है। अतः अस्तित्ववाद के दर्शन को समझकर ही नयी कविता के साथ उसके सम्बन्ध को सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। यों अस्तित्ववाद का आरम्भ जर्मन दार्शनिक हरसेल तथा हेडेगर एवं डेनिश विचारक कीर्कगार्ड के तत्त्व-चिन्तन से ही हो गया था।

किन्तु उसका वास्तविक प्रचारक जाँ पाल सार्त्र ही माना जाता है। प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यूरोप में मानवीय सांस्कृतिक तत्त्वों के विकास एवं मानव-सभ्यता की प्रगति के प्रति अविश्वास तथा अश्रद्धा की भावनाएँ पनपने लगी थीं। फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के प्रचार ने मनुष्य की अवचेतना के भीतर निहित गन्दगी का उद्घाटन करके उसे अत्यन्त निर्बल, इच्छा-शक्ति-हीन तथा मनोग्रन्थियों द्वारा परिचालित जीव सिद्ध कर दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों की उथल-पुथल तथा द्वितीय महायुद्ध की भूमिका ने सांस्कृतिक मानव के हताश-हृदय में आत्म-विद्रोह के भाव जाग्रत कर दिये थे। इन सभी कारणों से साहित्य और संस्कृति में ह्लासोन्मुखता के तत्त्वों को पनपने का अवसर मिला। अस्तित्ववाद के मूल में ये ही तत्त्व वर्तमान हैं। सार्त्र (१९०५ ई०) ने इन्हीं तत्त्वों पर फ्रांसीसी कला का मुलम्मा चढ़ाकर द्वितीय महायुद्ध से त्रस्त विश्व को चमत्कृत करने की चेष्टा की। सौभाग्यवश यूरोप तो शीघ्र सार्त्र की मान्यताओं की भयंकर विडम्बनाओं को समझ गया, किन्तु भारतीय जनता के दुर्भाग्य से वह अनास्थावादी जीवन-दर्शन हिन्दी के नये कवियों और लेखकों के लिए अनुकरणीय हो गया। राष्ट्रीय महासभा तथा उसके नेताओं और समाजवादी विचारकों के प्रयत्नों से जो सामाजिक चेतना भारत को मिली थी एवं जिससे हिन्दी कविता का भाव-जगत् ही समृद्ध नहीं हुआ था, शिल्प और रूप भी गौरवान्वित हुए थे, उसे अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन ने समाप्त कर देने का भयंकर षड्यंत्र रचा। वह षड्यंत्र अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। फलतः अब भी अधिकांश नयी कविता व्यक्ति-निष्ठ चिन्तन पर आधारित होकर भारतीय जन-जीवन के आन्तरिक स्वरूप को अपनी अभिव्यक्ति का विषय न बनाकर, यूरोपीय जीवन का आवरण उस पर डालने की चेष्टा कर रही है। काँफ़ी-हाउस और रेस्तराँ जैसे स्थानों से वह आवरण अपना रूप-विस्तार करता है और भारतीय जीवन की समस्त यथार्थ स्थितियों को ढँककर अस्वाभाविक बनाता जा रहा है। न तो वह आवरण भारतीय जीवन की मूल भावनाओं को स्वीकार करता है और न विकासशील चेतनाओं को ही ग्रहण करता है।

सार्त्र ने अपने साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन को निरर्थक मानने वाली विचारधारा दी है। वह तर्क को व्यर्थ और प्रभावहीन मानकर त्यागता है। ईश्वर में उसे विश्वास नहीं है। ईश्वर के प्रति अविश्वास की बात कई भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी स्वीकृत है, किन्तु सार्त्र के समान वे सम्प्रदाय समाज का तिरस्कार नहीं करते। सार्त्र ने मानव-जीवन को अवश, निरुपाय तथा निरर्थक माना है, भले ही वह उसे इस स्वीकृति के द्वारा कोई नया अर्थ देना चाहता है। उसने समाज का तिरस्कार करके व्यक्ति को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। दार्शनिक दृष्टि से उसकी यह मान्यता कितनी ही तर्कसम्मत क्यों न हो, व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है।

सार्त्र मानव-जीवन की अवशता को नष्ट करने के लिये मानवीय स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है। वह अस्तित्व की स्थिति तत्त्व से पूर्व मानता है। उसके अनुसार जब मनुष्य कार्य करता है, तभी उसके (मनुष्य के) अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। अतः

अस्तित्ववाद में मनुष्य का चिन्तन उसके जीवन के सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता ।

अस्तित्ववादी दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह मृत्यु के सन्दर्भ में जीवन पर विचार करता है । उसके अनुसार मृत्यु जन्म के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है, अतः जीव अपने लिए कोई भी चुनाव करने को स्वच्छन्द नहीं है । कीर्कगार्ड एवं यास्पर्स ने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन से मानव को इतना असहाय नहीं बनाया था, जितना सार्त्र ने बना दिया है, क्योंकि वे ईश्वर-विश्वास पर कुठाराघात नहीं कर सके थे ।

सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन ने जहाँ ईश्वर से मानव को अलग किया है, वहाँ उसे समस्त परम्परागत चिन्तन और मूल्यों से भी दूर करने की चेष्टा की है । वह नये मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए आतुर रहा है । अवसाद, अनास्था और निराशा से प्रेरित होकर सार्त्र का अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन कभी स्थिर नहीं रह सका । सार्त्र स्वयं ज्यों-ज्यों सोचता गया है, त्यों-त्यों वह अपने विचार बदलता गया है । अतः कहीं-कहीं सार्त्र प्रगतिवादी चिन्तन के निकट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति-निष्ठ चेतना से आक्रान्त होने के कारण वह वास्तव में प्रगतिवाद से कोसों दूर है । भले ही मानव-मुक्ति में उसे आस्था हो, किन्तु मानव-जीवन के मूल्यों एवं समाज में अनास्था रखने के कारण वह मानव-जीवन के परिवर्तित मूल्यों को खोज सकने की दृष्टि खो बैठा है ।

आत्म-चेतनात्मक स्वतन्त्रता का प्रचारक सार्त्र यह मत स्थापित करता है कि किसी परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान तभी सम्भव है, जब कि व्यक्ति की चेतना उस परिस्थिति से पृथक् होकर स्वयं को उससे पूर्णतः विच्छिन्न करके उसका अनुभव करे । मनुष्य के इस चेतनात्मक स्वातन्त्र्य से शून्य की उत्पत्ति होती है । स्वयं सार्त्र ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति का अस्तित्व ही शून्य-तत्त्व की सृष्टि करता है । उसने जिस चेतना की स्वतन्त्रता पर बल दिया है, वह भौतिक तथा यथार्थ परिस्थितियों का निराकरण करती हुई मात्र स्वानुभूति में लय होती है । इसलिए सार्त्र की दृष्टि में जीवन अर्थ-हीन वासना का पर्याय है । अतः एक तीसरा तथ्य 'घृणा' जिसे सार्त्र ने 'उबकाई' माना है, सामने आता है । यों स्वतन्त्र-चेतना, शून्यता और घृणा (या उबकाई) के तत्त्वों पर अस्तित्ववाद का वह वायवी दर्शन खड़ा है, जिसकी प्रधान देन है—अनास्था, अविश्वास, कुण्ठा, निराशा और आत्म-ग्लानि ।

पतनशील प्रवृत्तियों के आधार-तत्त्वों का निर्माण करने वाले अस्तित्ववादी दर्शन ने नग्न वासना को स्वीकार कर यौन-भावना के बीभत्स प्रदर्शन को कृतियों में स्थान दिलाया है तथा मानसिक अस्वस्थता के चरम-रूप की अभिव्यक्ति की है । फ्रायड आदि के मनोवैज्ञानिक तथ्यों की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन ने उन यौन-प्रवृत्तियों को अधिकाधिक गले लगाने की चेष्टा प्रदर्शित की है, ताकि कोई फ्रायडवादी किसी भी अस्तित्ववादी व्यक्ति को यौन-वृत्तियों से उत्पन्न मनोग्रन्थियों का शिकार न बतला दे (सार्त्र यह प्रमाणित करना चाहता है कि समस्त मानव-जीवन यौन-

क्रियाओं और प्रवृत्तियों के भीतर ही समाहित होने के कारण अर्थ-हीन है)। अतः अस्तित्ववादी चेतना जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर अस्वस्थ जीवन-मूल्यों का समर्थन करती है। भारतीय दर्शन में भी कुछ ऐसे सम्प्रदाय रहे हैं, जो जीवन की ही नहीं जगत् की भी नश्वरता बतलाकर उनकी निरर्थकता घोषित करते हैं, किन्तु वे आस्थावादी स्वस्थ दृष्टि देने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिसके पीछे सामूहिकता की चेतना वर्तमान है। परन्तु अस्तित्ववादी दर्शन किसी भी स्थिति में स्थिरता का कोई बिन्दु स्वीकार नहीं करता है। इसलिए उसकी दृष्टि में जीवन एक संकट है, जिससे उत्पन्न होने वाली 'धृणा' को व्यक्ति आत्म-चेतना के विद्रोहात्मक स्वरूप से ठुकरा कर ही कोई मार्ग पा सकता है। मार्ग प्राप्ति का यह उपचार व्यक्ति को घोर अहंवादी बनाता है। यही कारण है कि अस्तित्ववादी चेतना घोर वैयक्तिक तथा 'अहं-ग्रस्त' है। सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होकर अस्तित्ववादी व्यक्ति चेतना के विराट् वृत्त में घबराया हुआ घूमता है।

(ग) नयी कविता में अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ

ऊपर हमने अस्तित्ववाद की जिन प्रवृत्तियों पर संक्षेप में विचार किया है, उनसे हिन्दी की नयी कविता पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। उसमें मानव का सामाजिक रूप तिरस्कृत होता चला जा रहा है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन-सम्बन्धों और सामाजिक चिन्तनों को अयथार्थ तथा अस्वाभाविक बताकर तिलांजलि दी जा रही है। अब तक अस्तित्ववादी जो मुख्य प्रवृत्तियाँ नयी कविता में अवतीर्ण हुई हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) जीवन की निरर्थकता और व्यक्ति की अवशता

व्यक्ति-निष्ठ चेतना का नया कवि जीवन के प्रति आस्था खो बैठा है। वह भयंकर अवशता का अनुभव करता हुआ जीवन के मार्ग पर अभिशप्त की भाँति निरर्थक यात्रा कर रहा है। प्रयागनारायण त्रिपाठी कहते हैं :

यह यात्रा कब आरम्भ हुई थी ?

क्यों ?

किस अर्थ से ?

किन मोड़ों से होकर इस इतिहास तक आया हूँ ?

किन्तु काल की शत-सहस्र परतों के पीछे

काली काली चट्टानों के पास झाँकने के प्रयत्न सब व्यर्थ हुए हैं।

यात्रा का कुछ स्पष्ट अर्थ

चेतना पटल पर नहीं सँवरता

लगता है धारा में बहते बहते सहसा

तब तो पता चलता है कि मैं जहाँ जा रहा हूँ

लगता है : हर नया मार्ग गंतव्य-हीन
 आगे-आगे-आगे प्रतिक्षण बढ़ता जाता है
 जिस पर बस चलते जाने का निष्कारण अभिशाप मिला है
 मुझको
 अन्त-हीन यात्री को^१

(२) क्षण का महत्त्व और विराट् काल की अस्वीकृति

अतीत, वर्तमान और भविष्य की परम्परा के प्रति अश्रद्धालु बनकर नया कवि
 काल के अखण्ड प्रवाह में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह किसी एक क्षण से अपना
 अस्तित्व सिद्ध करना चाहता है। नयी कविता में क्षण को महत्त्व देने वाले ऐसे अनेक
 उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। कीर्ति चौधरी की एक कविता है :

मैं प्रस्तुत हूँ
 इन कई दिनों के चिन्तनों संघर्षों के बाद
 यह क्षण जो अब आ पाया है
 उसमें बँधकर मैं प्रस्तुत हूँ
 तुमसे सब कुछ कह देने को ।

×

×

×

मैं प्रस्तुत हूँ
 यह क्षण भी कहीं न खो जाए ।
 अमिमान नाम का पद का भी तो होता है
 यह कछुए सी मेरी आत्मा
 पंजे फँला
 असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को
 उत्सुक हो बँठी है
 क्या जाने अगले क्षण की ही आहट की पा
 सब कुछ अपने में फिर समेट ले झट अन्दर ।^२

(३) शून्यता की अनुभूति

नया कवि अस्तित्ववाद से प्रभावित होकर जीवन में शून्यता की अनुभूति प्राप्त
 कर रहा है। ज्यों-ज्यों वह व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना का समर्थक बनता जा रहा है
 त्यों त्यों वह भौतिक एवं यथार्थ परिस्थितियों का एकदम निराकरण करके शून्य को
 महत्त्व दे रहा है। 'तिलमिलाती संध्या' कविता की कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

कभी पूछना अँधेरे से
 पहलू से लगी हो परछाईं जब

१. नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ८३-८४ ।

२. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ६३ ।

आवरण से भिन्न भी कोई नग्नता है

• या यह विराट् आडम्बर
नग्नता छिपाने को नहीं
पर घेरने शून्य को ।^३

(४) निराशा और अनास्था का बोध

नयी कविता में अस्तित्ववाद के प्रभाव से निराशा और अनास्था का अत्यधिक

विस्तार हुआ है । यथा :

प्रकाश के रंगीन झरने
जो असंभव ऊँचाइयों से गिर रहे हैं
पत्थर को गुदगुदा कर
एक तरल संगीत जगाकर
कहीं दूर चले जाएँगे
और तब मैं बंद आँखों के अपार अँधकार में
झूलते हुए अपने ही चित्रों को नोचकर कहूँगा
कि सब कुछ
शाश्वद मेरे उन्माद की छाया थी,
तुम नहीं ।^४

निराशा-जन्य अवसाद में ग्रस्त मन का एक चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत हुआ है :—

नदी है, नाव है
किन्तु यहाँ कहीं भी
रकता नहीं पाँव है

×

×

×

भँवर के बाद भँवर
आते हैं
और चले जाते हैं
किन्तु भीतर क्या है
ऊपर नहीं लाते हैं

×

×

×

उस पार कोई हो
या न हो

पर आज

गहरी उदासी में डूबा

३. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ६३-६४ कवि अनाम ।

४. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ४३ कवि-कुँवर नारायण ।

३६ : आलोचना

मेरा ही मन
भीतर ही भीतर
मुझे छल रहा है ।^५

निराशा की अभिव्यक्ति इस सीमा तक पहुँची है :—

बाहर ये राहें हैं
किन्तु एक बिन्दु पर
सब में
विराम है

×

×

×

पर अब
भीतर के हर मोड़ पर
उनका पहरा है
ये राहें जहाँ पहुँचकर
बन गई हैं
ऊँची तम की दीवार ।^६

निराशा का अस्तित्वादी चिन्तन नए कवि को इस चित्रण तक ले पहुँचा है :—

ये हाथ
जिनमें रहते थे
फूल
अब इनमें श्वेत कांटे हैं...
जैसे बबूल ।
माथे की चिंता की रेखाएँ
जो कभी थीं
पानी की लकीर
बनती जा रही हैं
पत्थर की लकीर ।^७

(५) घृणा या उबकाई की अभिव्यक्ति

सार्त्र ने अपने अस्तित्वादी दर्शन में जिस उबकाई (लानोसे) या घृणा जीवन की मूल सत्ता का महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है, उसे नये हिन्दी-कवियों पर्याप्त आत्मीयता से ग्रहण किया है । धर्मवीर भारती की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

थाहा था अनस्तित्व का सागर
पतनोन्मुख होकर ?

५. आयाम, डॉ० दिनेश, पृष्ठ १२ ।

६. आयाम, डॉ० दिनेश, पृष्ठ १४ ।

७. नयी कविता अंक १ कवि श्याम मोहन श्रीवास्तव, पृष्ठ ५१-५२ ।

दिग्भ्रम
भटकन
सीलन
कीचड़ काई
पाप उबकाई के
स्तर छुए थे...?*

(६) ईश्वर में अविश्वास और 'अहं' का विस्तार

नयी कविता में अस्तित्ववाद के प्रभाव से 'ईश्वर' का अस्तित्व अस्वीकार किया जा रहा है। कवि अपनी नई दृष्टि और विवेक पर गर्व करता हुआ झूठे 'अहं' में फूल रहा है। निश्चय ही प्रगतिवादी दृष्टि को साथ लेकर कहीं-कहीं नये कवि ने अपने अस्तित्ववादी अविश्वास को अनजाने समाज-हित में नियोजित कर दिया है, किन्तु वह मूलतः ईश्वर की अस्वीकृति में अपने 'अहं' के प्रति ही अधिक सजग है। विजयदेव-भारायण साही की निम्नांकित कविता इस संदर्भ में प्रस्तुत है :—

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?

बंजर मिट्टी

पंगु तरलता

झूठी ज्वाला

रुद्ध हवाएँ

×

×

×

प्रथम बार जब तुमने झूठा ईश्वर देखा
मानव के घायल मस्तक की साक्षी देकर
मैंने अस्वीकार किया था ।

×

×

×

नबी तुम्हारी कुण्ठाओं से निर्मित प्रभुता
केवल आत्मा की तेजाबी आभा थी, जो
जीती नहीं कलंकित होकर
मुर्दा परतों पर कुम्हलाया जहर छोड़कर
कुछ दिन बाद उतर जाती है ।^६

(७) यौन-भावना का नग्न रूप

अस्तित्ववाद के प्रभाव से यौन-भावना अपनी समग्र नग्नता के साथ नयी कविता में प्रस्तुत होना चाहती है। फ्रायड आदि मनोविश्लेषणवादियों को नया कवि मानो चुनौती देता है कि अब हमारी समस्त प्रयाण-कुण्ठा अपनी परिधि तोड़कर अभि-

नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ५७ ।

नयी कविता के प्रतिभा. प्रकाश. से

३८ : आलोचना

व्यक्त होने को प्रस्तुत है। अज्ञेय से लेकर पन्त तक ने नग्न यौन-चित्रण प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत नयी कविता के प्रतिनिधि संकलन "कला और बूढ़ा चाँद" (पंत) में इस प्रकार की नयी कविताएँ मिलती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में तो ऐसी कविताओं के उदाहरण आये दिन मिल जाते हैं। अतः नग्न यौन-चित्रण के प्रमाण देना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

(घ) अस्तित्ववाद का नयी कविता पर शुभ प्रभाव

अब तक हमने नयी कविता पर अस्तित्ववाद के प्रभाव का एक पक्ष ही प्रस्तुत किया है, किन्तु उसका दूसरा शुभ पक्ष भी है। सामाजिक चेतना से प्रभावित कविता ने समूह को इतना अधिक महत्व दिया था कि व्यक्ति की उपेक्षा हो गई थी। अस्तित्ववादी दर्शन ने एक उपेक्षित व्यक्ति को महत्व देकर समाज की परिधि में उसे स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्थापित किया तथा उसकी व्यक्तिगत स्थितियों को चित्रित कर उसके अस्तित्व का प्रकाशन किया। अतः इस दृष्टि से लिखी गई नयी कविताएँ एक शुभ प्रभाव लेकर भी चली हैं। उनमें व्यक्ति की स्थिति को नए आयामों में प्रस्तुत किया गया है तथा समाज में खोए हुए उसके व्यक्तित्व को नए आकारों में उभारा गया है।

(ङ) उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की नयी कविता को अस्तित्ववाद ने जिस सीमा तक प्रभावित किया है, उस सीमा तक वह भारतीय जीवन की अनुभूति से कटकर योरपीय वातावरण के प्रभावों को स्वीकार करने के लिए विवश हुई है। अस्तित्ववाद ने उसे व्यक्ति के निकट पहुँचाकर कितना ही नुस्कार किया हो, किन्तु वह उसे वैयक्तिक सामर्थ्य और जिजीविषा का अमृत अधिक नहीं पिला सका है। आज हिन्दी कविता में जहाँ-कहीं भी निराशा, अनास्था, कुप्रा, अविश्वास, घृणा आदि का चित्रण मिलता है, उसके लिए अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन बहुत कुछ उत्तरदायी है।

डॉ० छोटेलाल दीक्षित

नई कविता : क्षणवाद के सन्दर्भ में

नया कवि वर्तमान में ही जीता है। वह वर्तमान अनुभव-क्षण को ही सत्य मानता है। वह केवल अनुभूति के महत्व को स्वीकारते हुए सौन्दर्यानुभव के क्षण को ही अपनी रचना में व्यक्त करता है। उसका लक्ष्य अनुभूति के विशिष्ट क्षणों को पकड़कर कवि के माध्यम से उन्हें स्थायी बनाना है। नई कविता के इस क्षणवाद के सम्बन्ध में कुछ

कहने के पूर्व में क्षणवाद के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलू पर विचार करना चाहूँगा।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन में सर्वप्रथम क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध-दर्शन में क्षण की सत्यता परिवर्तनशीलता के अर्थ में स्वीकारी गई है : दो क्षणों में कोई वस्तु परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती, अतएव सत्य क्षण ही है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक हैराक्लितस ने भी 'तुम उसी नदी में दो बार पैर नहीं रख सकते, क्योंकि ताजा पानी हर वक्त तुम्हारे ऊपर से बहता रहता है' कहकर क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया था। भगवान् शंकराचार्य ने उत्तरोत्पादे च पूर्व निरोधात्, अनुस्मृतेश्च और क्षणिकत्वाच्च, आदि ब्रह्म सूत्रों का विश्लेषण करते हुए क्षणवाद का विरोध किया। क्षणवाद के अनुसार उत्तर क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व क्षण का नाश होता है। इस दृष्टि से पूर्व और उत्तर क्षण का कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नष्ट हुआ पूर्व-क्षणिक कार्य उत्तर क्षणिक कार्य का कारण नहीं हो सकता। अतः पूर्व क्षण का विनाश नहीं होता। अनुस्मृति से भी प्रतीत होता है कि अनुभव करने वाली आत्मा क्षणिक नहीं है। दर्शन और स्मरण में एक ही साथ दो क्षणों का सम्बन्ध प्रतीत होता है। तीनों कालों के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी सर्वार्थ-दर्शी कूटस्थ स्थिर आत्मा न हो, तो देश-काल-निमित्त की अपेक्षा से जो वासनाओं का आधान होता है, वह और इनके अधीन स्मृति-प्रतिसन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे। वस्तुतः वर्तमान क्षण के अस्तित्व के साथ पूर्व क्षण का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता है। भूत बीते होने पर भी अपने प्रभाव के द्वारा वर्तमान में स्थिर है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने विचारों के प्रवाह पर प्रकाश डालते हुए क्षण और निरन्तरता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया उस क्षण तक के विश्व के विभिन्न अनुभवों का प्रतिफल होती है। संसार जिसका हम अनुभव करते हैं वह मेरे और भूत की चेतना के संग्रह और त्याग से बना है। वर्तमान मानसिक-स्थिति भूत के सत्यों को एक-दूसरे के साथ और अपने साथ जोड़ती है। वर्तमान विचार भूत की अपनेपन की खूँवला के वास्तविक रूप में और कानूनन रूप में उत्तराधिकारी हैं। मनःस्थिति कभी विनष्ट नहीं होती। वही विद्यमान रहते हुए नई स्थिति के परिणाम को बदलती है। डॉ० जैनेट के अनुसार हिस्टीरिया के रोगी की जब कुछ किस्म की सम्बेदना नष्ट कर दी जाती है तो उसके साथ ही भूत की एकत्रित सम्बेदना-पुंज, जो उससे सम्बन्धित होती है, समाप्त हो जाती है। वस्तुतः वर्तमान क्षण की अनुभूति मात्र वर्तमान ही की नहीं होती, उसके साथ भूत के संस्कार विद्यमान रहते हैं। आधुनिक चिन्तक हेनरी वर्गसां के मतानुसार प्रत्येक अनुभूति वह चाहे जितनी साधारण हो अपने में सम्पूर्ण भूत और वर्तमान अनुभव के अस्तित्व को संजोये रहती है। चेतना स्मृति के बिना नहीं होती। स्मृति भूत को वर्तमान में लाती है। आन्तरिक-अस्तित्व स्मृति के जीवन की निरन्तरता है। वर्तमान निरन्तर अपने गुणों को बढ़ाकर ह्रास करने के साथ-साथ भी बोझा ढुलवाता

है। हमारी बौद्धिक चेतना ठोस अनुभव, ज्ञान और स्थिर अवधारणाओं के साथ आगे बढ़ती है। हमारा भीतरी जीवन एक साथ गुणों की विभिन्नता, प्रगति की निरन्तरता और दिशा की एकता को संजोये रहता है। प्रत्येक वस्तु अवधारण को महत्त्व देने पर आधारित है। वस्तु की अवधारणा अपने-आपमें महत्त्व की नहीं है। यह महत्त्व की अवधारणा और वस्तु के बीच की मध्यस्थता करती है। विचार प्रायः अवधारणा से वस्तु न कि वस्तु से अवधारणा की ओर गुजरते हुए बनते हैं। अवधारणा निरन्तरता का प्रतीक है। विचारों के बनने में अवधारणा से वस्तु की ओर आया जाता है, अतएव किसी वस्तु से सम्बन्धित विचार क्षणिक अनुभूति पर आधारित नहीं है।

क्षणवादी चिन्तनधारा के अनुसार जीवन एक प्रक्रिया अथवा आन्तरिक सम्बन्धों का बाह्य सम्बन्धों के साथ निरन्तर सामंजस्य है, प्रक्रिया जीवन की लालसा, घृणा, ईर्ष्या, लोभ और इसके प्रमुख सिद्धान्तों में कहीं टिकती नहीं है क्योंकि उसमें स्थायित्व नहीं है। आधुनिक कला में क्षण का महत्त्व प्रभाववाद के कारण स्वीकारा गया। प्रभाववाद में प्रत्येक अवस्था को क्षणिक माना गया जिसकी पुनरावृत्ति कभी नहीं होती। कवि और चित्रकार भी केवल अपनी एक मनःस्थिति को, न कि व्यावहारिक जगत के तन्त्रात्मक विस्तार को, रचना में व्यक्त करता है।

आधुनिक युग में क्षण के महत्त्व के प्रतिपादन का कारण यान्त्रिक प्रगति के द्वारा जीवन-चेतना में आधा शीघ्र परिवर्तन है जिसके कारण स्थायित्व और निरन्तरता के स्थान पर क्षण ही सत्य दिखाई देने लगा। क्षण के महत्त्व की प्रतिष्ठा में आधुनिक जीवन की भयानकता भी सहायक हुई। आधुनिक मानव के भीतर से ईश्वर और धर्म के प्रति विश्वास जाता रहा। वह घोर अनिश्चय और जीवन की दुर्दान्त विभीषिकाओं के समक्ष अपने को असहाय पा रहा है। कुछ उसके भीतर अज्ञात भय का एक स्थायी वास हो गया है। उसे सब कुछ क्षणभंगुर लगता है। अतएव वह क्षण में ही केन्द्रित हो गया है।

प्रश्न यह है कि काव्य में अनुभूति के क्षण को महत्त्व देना कहाँ तक उपयुक्त है, रचना का लक्ष्य अनुभूति के कतिपय क्षणों को निरन्तर बनाना या तात्कालिक प्रभाव डालना हो अथवा नैतिक या सांस्कृतिक उत्कर्ष प्रदान करने वाले सामाजिक जीवन के स्थायी प्रेरक तत्त्वों की अभिव्यक्ति हो। यह सत्य है कि सौन्दर्यानुभव का क्षण रचनाकार के लिए स्थायी महत्त्व का होता है। बाह्य संघात से प्राप्त अनुभव सौन्दर्यानुभव के विशिष्ट क्षणों में अनुभूति बनते हैं और बाह्य माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर रूप पाते हैं। सौन्दर्यानुभव के इन विशिष्ट क्षणों में हमारी संवेदना निजता से कटकर सार्वजनीनता के स्तर पर आ जाती है, हम अपनी संवेदना का विश्लेषण सार्वजनीन संवेदना के रूप में करने लगते हैं। सौन्दर्यानुभव के इसी क्षण की अभिव्यक्ति रचना में की जानी चाहिए। जो सौन्दर्यानुभव के इस क्षण की अभिव्यक्ति न करके निजी क्षणिक अनुभवों को व्यक्त करता है या विभिन्न मतवादों में बँधकर नारेबाजी करता है वह अपनी रचना के प्रति ईमानदार नहीं होता।

सौन्दर्यानुभव के क्षण और अनुभव के क्षण में अन्तर है। रचनाकार सौन्दर्या-

अनुभव के क्षणों में अपनी संवेदना को सार्वजनीन स्तर पर रखकर अपनी भीतरी जीवन-दृष्टि के अनुसार उसका विश्लेषण करते हुए उसे रूप प्रदान करता है। भीतरी जीवन-दृष्टि कवि की जीवनी-शक्ति का प्रतीक होती है। मृजक की जीवन-दृष्टि के निर्माण में केवल वर्तमान, जिसमें वह जीता है, का ही हाथ नहीं होता। जीवन-दृष्टि के निर्माण में अतीत के विभिन्न अनुभवों के साथ ही मुख्य होता है अपने उस विवेक का जिसके अनुसार वह सम्यक् संगत, असंगत, अच्छे, बुरे का विश्लेषण करता है। अपनी संवेदना को सार्वजनीन स्तर पर रखकर अनुभव करने की क्षमता तो सभी में होती है। हम अनेक स्थितियों में अपनी संवेदना को सबकी बनाकर सोचते हैं। कलाकार की विशेषता सार्वजनिक स्तर पर आई संवेदना का अपने जीवन के निजी दृष्टिकोण के अनुसार विश्लेषण कर रूप प्रदान करना है। तब वह संवेदना क्षण की नहीं रह जाती वरन् समग्र जीवन के रस से संपृक्त हो जाती है।

साहित्यकार का व्यक्तित्व निरन्तर उसके साहित्य को प्रभावित करता है। अपवादों को छोड़कर यह सत्य नहीं माना जा सकता कि साहित्यकार के चरित्र या व्यक्तित्व के साथ उसकी रचना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। साहित्य में उसके सर्जक साहित्यकार के खुले हुए अन्तःकरण की सहज प्रतिछवि देखी जा सकती है।

जो कवि जीवन के व्यापक अनुभव, जिससे उसकी भीतरी दृष्टि का निर्माण होता है, को छोड़कर केवल वर्तमान क्षण में जीना चाहता है, मुक्तिबोध के शब्दों में वह अपने समस्त व्यक्तित्व को भूमिगत करके ऊपरी सतह पर उछाले गए बिन्दुओं में अपने को तृप्त मान लेता है। वह समग्र मानव-सत्ता को छोड़कर क्षण को, उसके विशिष्ट अनुभव को महत्त्व देता है। वह जीवन के उस आत्म-रूप से कटता है जो उस क्षण को उत्पन्न या आविर्भूत करते हैं। वास्तव में क्षण-सत्ता की परिधि से बाहर न जाना अपने प्रति वेदमानी है और रचना को व्यापक जीवन-संवेदना से रिक्त करना है।

वर्तमान अनुभव-क्षण की परिधि में ही रहने वाले, भीतरी जीवन-दृष्टि से हीन आज के कतिपय कवियों को आधुनिक जीवन में अनिश्चय, अविश्वास, भयानकता, संत्रास, आशंका, व्यग्रता, अकुलाहट के तत्त्व ही मिलते हैं। निश्चय ही ये सारे तत्त्व आज के जीवन में हैं पर, केवल यही नहीं है और सब कुछ यही नहीं है। आधुनिक जीवन दृष्टि में इन्हीं को सब कुछ मान लेना भ्रामक और गलत दिशा में सोचना होगा। जो नितान्त क्षण-धर्मी न होकर व्यापक अतीत के अनुभव से प्राप्त जीवन-दृष्टि के आधार पर युग-जीवन का विश्लेषण करेगा उसे निश्चय ही आज के जीवन में केवल अकुलाहट और व्यग्रता ही न मिलेगी। इस सारी अव्यवस्था के बीच भी कहीं कुछ हो रहा है जो व्यवस्था और सृजन का प्रतीक है। प्रसाद ने तप को 'क्षणिक दीन अवसाद' की संज्ञा दी। अकुलाहट और व्याकुलता भी जीवन का स्थायी तत्त्व न कभी रहा है और न रहेगा। जीवन की भीषण विभीषिकाओं के बीच भी व्यक्ति में आशा और आह्लाद की किरण रहती है :

न्दर्या-

४२ : आलोचना

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद ।

हम डॉ० देवीशंकर अवस्थी के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि आज का व्यक्ति जिन्दगी के पास विश्वास भरी आस्था से नहीं आता । वास्तव में जिन्दगी के प्रति यह विश्वास भरी आस्था ही उसे प्रगति की ओर उन्मुख होने और श्रेष्ठ मानव-मूल्यों के लिए जूझने की शक्ति और साहस प्रदान करती है । यहाँ मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन की कटुता को न व्यक्त किया जाय । उस कटुता को व्यक्त करने में क्षण की अनुभूति या केवल अनुभूति को मात्र महत्ता न देकर अतीत के व्यापक अनुभव से समन्वित विवेक-युक्त जीवन-दृष्टि को महत्त्व दिया जाय । मूल्यहीनता का संकेत करके बुराई की शक्ति नापते हुए, नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करना उपादेय और आवश्यक है । यह क्षणधर्मी कलाकार नहीं कर सकता । क्योंकि यह मूल्य-हीनता का अपनी जीवन-दृष्टि के अनुसार विवेचन करने पर ही सम्भव होगा ।

मुक्तिबोध का सारा काव्य इसका सही प्रमाण है कि क्षण की अनुभूति या केवल अनुभूति अथवा सौन्दर्यानुभव का क्षण ही नहीं वरन् जीवन की दृष्टि जो सौन्दर्यानुभव का विश्लेषण करके उसे रूप देती है वही रचना को सार्थकता प्रदान करती है । मुक्तिबोध की कविताओं में अनुभूति के साथ गहरी और व्यापक चिन्तन प्रक्रिया चलती है । उनकी कविताएँ भी जीवन की भीषणता और कटुता को व्यक्त करती हैं पर, जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं की तरह केवल अनास्था और कटुता को ही नहीं, जिनमें विश्लेषणात्मक जीवन-दृष्टि का अभाव है ।

यहां तो सभी चेहरों पर चढ़ा है मायूसी का पलस्तर
नस्ल हीनों का कंदन

मुझे ले चलो इस खोखली नगरी से बहुत दूर
मेरी अस्थियाँ गल रहीं हैं
मेरी जिन्दगी उखड़ रही है

छुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें ॥ प्रारम्भ

मुक्तिबोध अपनी एक कविता में संयुक्त परिवार की कटुता और विघटन का संकेत करते हुए भी एक ऐसी दृष्टि देते हैं जो हमें अपने पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरणा देती है ।

अजीब संयुक्त परिवार है—

अपने ही वक्ष को

खुरदुरा-वृक्ष-घड़

मान कर घिसती है, घिसते हैं

अपनी छाती पर जबदंस्ती

विष दन्ती भावों का सर्प-मुख ।

विद्रोही भावों का नाग-मुख

रक्त फलत होता है ।

नयी कविता : क्षणवाद के सन्दर्भ में : ४३

चेहरे के भाव सरोसृप होते हैं,
 आँखों में जहर का नशा रंग लाता है ।
 बहुएँ मुडेरों से कूद अरे ?
 आत्म हत्या करती है ??
 ऐसा मकान यदि ढह पड़ा,
 हवेली गिर पड़ी,
 महल धराशायी, तो
 बुरा क्या हुआ ?

+ +
 लेकिन, दबी धुक-धुकियों,
 सोचो तो कि
 अपनी ही आँखों के सामने
 खूब ? हम खेत रहे ।
 खूब काम आए हम ??
 आँखों के भीतर ही आँखों में डूब-डूब
 फँस गए हम लोग ??
 आत्म-विस्तार यह
 बेकार नहीं जायेगा ।
 जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से
 शरीर की मिट्टी से धूल से
 खिलेंगे गुलाबी फूल ।

आज के कवियों में केदार नाथ अग्रवाल, कुंवर नारायण, नागार्जुन, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह आदि अन्य विभिन्न कवियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व इसीलिए रखते हैं क्योंकि उनकी कविताएँ केवल क्षण की अनुभूति या अनुभूति को ही नहीं व्यक्त करतीं वरन् अनुभूति के साथ ही व्यापक जीवन-दृष्टि को भी सामने रखती हैं । उनकी कविताओं को सार्थक बनाती हैं ।

आचार्यों ने काव्य के तत्त्वों की विवेचना करते हुए शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना, तत्त्वों के साथ विचार-तत्त्व या बुद्धितत्त्व को भी महत्त्व दिया है । यान्त्रिकता के साथ आज के जीवन में जटिलता आई है जिससे जीवन की संवेदनाएँ भी जटिल हो गई हैं । इन जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति केवल क्षण-धर्मी बनकर नहीं की जा सकती । अनुभूति को सही रूप प्रदान करने वाली व्यापक जीवन-दृष्टि के अभाव में रचनाकार युगीन जीवन-चेतना को सही अभिव्यक्ति नहीं कर सकता और इसके बिना उसकी रचना में वह पैनापन नहीं आ सकता जो हमारे भीतरी जीवन के पतों का उद्घाटन कर हमें अपने विषय में पुनः विचार करने के लिए प्रेरित कर सके । वस्तुतः क्षण के साथ निरन्तरता, अनुभूति के साथ व्यापक जीवन-दृष्टि-संवेदना रचना को सार्थकता प्रदान करने वाले हैं।

नये कवि का दृष्टिकोण

नये के नाम पर इधर बहुत कुछ लिखा गया है। जितना लिखा गया है उसी अनुपात में भ्रम का फैलाव भी हुआ है। हर लेखक चिन्तन के स्तर पर नई माँग करता है, हर चीज की अपने ढंग से परिभाषा देना चाहता है और उसी के सहारे सम्पूर्ण नव-लेखन को बाँधने की कोशिश करता है। नवलेखन की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। उसे सही मानने में किसी परिभाषा में बाँध सकना आज असम्भव है। उसके अनेक दिगन्त और छोर हैं। काव्य रचना को ही यदि लें तो कई विभाजक रेखाएँ खींची जा सकती हैं। कुछ लोग अब भी जीवन की मार्दवता, भास्वरता एवं प्रकृति की रमणीयता से प्रेरित एवं प्रभावित हैं जबकि दूसरे लोग एकबारगी कविता ही इसलिए लिख पाते हैं कि जीवन में ढेर सारी कुरूपता, नग्नता एवं भयंकरता उन्हें संवेदन देती है। कुछ लोग ग्रामीण जीवन परिवेश को महत्व दे रहे हैं तो कुछ आधुनिक भावबोध का नारा बुलन्द करते हुए सतही नागरिक-जीवन की अनुभूतियों में डूब गये हैं। इन अनेक वृत्तों के बीच रचनाधर्मी कविता और सही आधुनिक भावबोध को पहचानना आसान नहीं रह गया है। किन्तु यह पहचान जरूरी है। आखिर किसे कब तक इस अपरिचय में भटकना पसन्द है? निश्चय ही आज की कविता की मूल दृष्टि को पहचानना होगा। यह इसलिए भी जरूरी है कि जो रचनाकार इस नयी दृष्टि से सम्पन्न हैं वे निश्चित रूप से आज के विविधतापूर्ण जीवन को बहुत ईमानदारी के साथ भोग रहे हैं और यह भी कहा जा सकता है कि इन सारी स्थितियों ने उनके जीवन और व्यक्तित्व पर प्रश्न-चिह्न जैसा लगा दिया है। उनमें हताशा नहीं और न भावी विजय के प्रति दम्भ ही है। और न कुछ वैसा जो उनके व्यक्तित्व को लिजलिजा बना दे बल्कि वे सब बड़े धैर्य के साथ रुढ़िग्रस्त व्यवस्था के गुजरते हुए कारवाँ को देख रहे हैं और आगाह कर रहे हैं अपने समाज और राष्ट्र को कि वह समूहले और इस अत्याचार का विरोध करे। यह विरोध भाव ही मुझे दृष्टिगत नवीनता का पर्याय लगता है जिसकी पुष्टि मैं अ-कविता, अ-कहानी जैसे शब्दों के द्वारा कर सकता हूँ।

‘माध्यम’ में प्रकाशित एकाध निबंधों में ‘अनुभववाद’ जैसी-निष्पत्तियाँ आधुनिक लेखन के संदर्भ में प्रस्तुत की गई हैं और उन्हें उसका बुनियादी दर्शन स्वीकार किया गया है; किन्तु यह ‘अनुभव’ वैयक्तिक प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो नयी कविता की एक सीमा की ओर इंगित करता है। मुक्तिबोध जैसे समर्थ विचारक और कवि ने इसी प्रकार की काव्य-रचनाओं को ‘पर्सनल सिचुएशन’ की कविताएँ कहकर उनके सीमित-संकुचित दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है। यही नहीं और भी आरोप लगाते हुए उन्होंने उसकी असंतुलित भूमिका के प्रति अपनी खीझ व्यक्त की है और सम्पूर्ण जीवन और साहित्य में ‘अनिवार्य, सत्ययुक्त, आनन्दयुक्त, व्यवस्थित’

का स्पष्ट आग्रह किया है। मुझे लगता है इधर की सभी कविताएँ इस आग्रह से रिक्त हैं। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि इन कविताओं में कोई दृष्टि नहीं है बल्कि यह लेखन संक्रान्ति-संघर्ष का लेखन है। संक्रान्ति-क्षण में उसकी पीड़ा को भोगने वाले कवियों की एक लम्बी कतार यहाँ की पत्रिकाओं में देखी जा सकती है। इस पीड़ा का कारण वह बंजर व्यवस्था है जो कुछ भी उगाह सकने में अक्षम है। ऐसी स्थिति में पूरी सम्बन्ध निष्ठा से संक्रान्तिकालीन अनेक दहते प्रतिमानों पर नये निर्माण की आशा लगाये हुए अनेक कवि अपनी खीझ और आक्रोश व्यक्त कर रहे हैं। श्रीराम तिवारी और कैलाश बाजपेयी की कविताओं को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है। श्री तिवारी जहाँ-जहाँ इस जीवन की विरूपताओं की भीषणता में पीड़ा भरे मन से डूब गये हैं और उसीके व्यक्तित्व को सही प्रस्तुति देने की चेष्टा करते हैं वहीं कैलाश बाजपेयी के शब्दों में एक ताप है जो कुछ तोड़ने के लिए तिलमिला रहा है। दोनों के एक-एक उदाहरण मेरी बात को और भी स्पष्ट कर सकेंगे :

एक साजिश हुई है इन दिनों

कि सत्ताएँ और प्रबंचनाएँ

सर्जना से बड़ी हो गई हैं

तिवारी जी की यह साजिश भोग की पीड़ा कैलाश बाजपेयी को क्षुब्ध कर देती है और उनकी चेतना का आक्रोश इन शब्दों में फूट पड़ा है :

जहाँ हर यात्रा का अर्थ

दुर्घटना है

और अस्पतालों में मृत्यु अधिक निश्चित है

उस निचुड़े देश के

किसी घिरे घर से

एक धड़हीन कण्ठ आवाज देता है

मुनो मुनो ! दूर देश के लोगो—

मुझे शर्म आती है कहते—

कि मैं भारतीय हूँ—

तरसे हुए देश के एक जागरूक बौद्धिक व्यक्तित्व की इस खीझ को यों ही टाला नहीं जा सकता। इन दोनों कवियों में विपर्यस्त जीवनस्थिति का सही बोध देखा जा सकता है। यहाँ इनकी 'दृष्टिचर्चा' के सन्दर्भ में या इनकी काव्यगत सच्चाई के सन्दर्भ में इन्हीं पंक्तियों की साक्षी दी जा सकती है। नयी कविता की वास्तविक दृष्टिमता यही है कि वह इस जीवन के बीच चिपकी हुई तमाम अर्थहीनता का भण्डा-फोड़ करे। इस बंजर और ढकोसलावादी व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट करना तथा उसके धराशायी होने का स्वप्न देखना ही सही आधुनिक बोध है। नये कवि धूमिल की रचनाओं में यह आक्रामकता व्यंग्य स्तर पर उभरी है। वैसे व्यंग्य की प्रवृत्ति नयी कविता के लिए कोई नवीनता नहीं है, किन्तु यह ऐसी स्थिति है जहाँ कवि केवल व्यंग्य नहीं करता बल्कि उसके व्यंग्य छेड़-छाड़कर अगले को उत्तेजित करने के लिए

होते हैं जिनसे उन पर आक्रमण करने का एक ईमानदार अवसर मिले ।

धूमिल की विशेषता केवल यही नहीं बल्कि वे उसकी निरर्थकता को भी प्रमाणित करने की कोशिश में हैं । उनकी शब्दावली को देखने पर ज्ञात होगा कि किस प्रकार वे अभिजात्य की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं । जो एक संकोच और लिहाज है वह धूमिल की प्रकृति नहीं । वे अपने रचनाधर्म के प्रति अत्यधिक ईमानदार हैं । इन सभी कवियों में जो आलोचनवृत्ति है वही इनकी मूल बात नहीं । बल्कि इनकी मूल बात किसी नये निर्माण की कामना है और यह नया निर्माण आकाश में तो होने से रहा । फिर नया कवि इतना अधिक कल्पनावादी भी नहीं है । इसलिए इस निर्माण के पहले उसे प्राक्तन जीवन के नास्तित्व का बोध-निरीक्षण जरूरी है । दूधनाथसिंह की इन पंक्तियों में यह बोध कितना सही है :

लेकिन कहीं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
कोई इतिहास नहीं, कोई आतंक नहीं, कोई यादगार
या कोई स्मारक नहीं ।

‘तैमूरलंग’

नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में उठे हुए अनेक मतवादों और पीढ़ियों में यह अविश्वास और पुराने के प्रति अनास्था गहरी होती जा रही है, यह शुभ लक्षण है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नयी पीढ़ी की यह अनास्था उस विघटित जीवन-चेतना के प्रति है जो उसका साथ नहीं दे पा रही है । जीवन को तेजी से भागते हुए देखकर जो लोग किसी किनारे खड़े होकर प्रतीक्षा करना चाहते हैं वे करें या बलराम की तरह कन्धे पर हल रखकर तटस्थता का फ़लसफ़ा झाड़ना चाहें तो झाड़ें पर इससे कुछ होने वाला नहीं है । सक्रियता आज की सबसे बड़ी माँग है । निर्माण और क्रान्ति को जन्म देने वाले लोग इस सक्रियता को जीने के लिए विवश है यद्यपि वे इसे उत्साह के साथ अपनाए हुए हैं । यह और बात है कि अनेक वैचारिक मतवाद और रास्तों का चलन इस समय अत्यधिक हो गया है । विवेकशील होते हुए भी संशय और द्विधा का क्षण हम पर कहीं-न-कहीं हावी हो ही जाता है; किन्तु इसे गतिरोध नहीं कहा जा सकता । इस सम्बन्ध में साहित्य के शीर्षस्थ चिंतक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन याद किया जा सकता है—‘मतभेदों का होना संशय या चिंता की बात नहीं है वरन् एक सीमा तक स्वागत-योग्य भी है । किसी भी साहित्य में सार्वत्रिक मतैक्य का होना चिन्ता की बात अवश्य है, क्योंकि इससे साहित्यिक अगतिकता की सूचना मिलती है । जनतांत्रिक व्यवस्था के देश में मतभेदों का होना, यदि मतभेद स्वस्थ हैं, जीवन्त प्रगति की निशानी है ।’ अनेक कवि और कथाकार इसी स्वस्थ मतभेद में जी रहे हैं और सबका अपने पर विश्वास है यद्यपि इसका अर्थ औरों पर अविश्वास नहीं होता । इसीलिए यह संघर्ष वैयक्तिक भूमिकाओं का संघर्ष है जो किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है । दूसरे, आज के जीवन की विविध भूमिकाओं में सम्पूर्णता की हामी न तो भरी जा सकती है और न वैसा सम्भव है । सम्पूर्णता को जीने और अभिव्यक्ति देने का प्रयास फ़िलहाल एक व्यक्ति नहीं कर सकता आगे की राह जाने ।

इसीलिए जो जितना कुछ भोग रहा है उसे सच्चाई के साथ रख रहा है चाहे वह कुमारेंद्र पारस नाथसिंह हो या पद्मधर त्रिपाठी और ओम प्रभाकर हों या अजित पुष्कल और नहीं तो कान्ता, ममता अग्रवाल और नीलमसिंह । इनसे अधिक की माँग करना एक अतिरिक्त माँग है ।

इसके मूल में साहित्यकार का अपना व्यक्तित्व और उसकी जीवन-स्थितियाँ और परिवेश भी है । ये न केवल उसके रचनाक्षरों की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं बल्कि उसके मूल चिन्तन को प्रभावित भी करते हैं । निश्चय ही मैं यहाँ कोई वादी भूमिका की बात नहीं कर रहा हूँ, यद्यपि यह बात किसी 'वाद' से जुड़ी हुई हो सकती है । आज का रचनाकार दिन-रात एक समूह से गुजरता है—जो गया-गुजरा नहीं है, किन्तु उसके अपने पारिवारिक दायित्व और मँहगी जीवन-व्यवस्था उसे गरदन मोड़ने की फुरसत नहीं देते । लेखक या कवि इसी समूह के पीछे दौड़ रहा है । उसे आत्म-विश्वास देने के लिए । शायद यह उसकी बात माने या स्वीकार करे । इसीलिए वह इस पर अपना राग-द्वेष उसी प्रकार व्यक्त करता है जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र पर । नये कवि की मित्रता इसी समूह से है । आज की कविता की यही सामाजिक भूमिका है । कवि विवश है इसके साथ चलने के लिए क्योंकि उसका प्यार, उसकी घृणा, उसका क्रोध और उसकी प्रसन्नता के चारों ओर एक भीड़ फैली हुई है जो इन्हें अस्तित्व देती है । भीड़ में होने के कारण ही वह इतना 'बोल्ड' है । उसकी कविताओं में जो सीधी पहुँच (डायरेक्ट एप्रोच) है वह इसीलिए । घुमा-फिराकर बात को कहना उसकी प्रतिभा का अपव्यय है । यह और बात है कि वह सपाट कथन न कर संकेत-कथन का सहारा लेता है ।

आज की नव्यतम कविता की यही स्वीकृति है । कहानी-लेखन ने यद्यपि एक प्रतिस्पर्धी भूमिका का निर्माण कर दिया है फिर भी चिन्तक की लाचारी उसे काव्य के पास आने को विवश करती है चाहे वह मुक्तिबोध हों या अज्ञेय, धर्मवीर भारती हों या कुँवर नारायण । आज का पाठक इस स्थिति को पूरी तरह समझता है क्योंकि वह स्वयं इसी जीवन से जी रहा है । अब किसी भी कवि को यह कहने की विवशता नहीं भोगनी होती—'फूल लाया हूँ कमल के क्या करूँ इनका' । पाठक कवि के समानान्तर हैं । वैसे जो समानान्तर नहीं हैं उन्हें यह सब कुछ इस लोक का नहीं लगता । उनकी आँखों में एक अर्थहीन विस्मय का भाव झलकता है; किन्तु जो इस सामाजिकता को सही अर्थों में जी रहे हैं और जिनमें अपने अनुकूल निर्माण करने की आकांक्षा है—न कि स्वयं परम्परित व्यवस्था के प्रति समर्पित हो जाने की विवशता—उन्हें एक तिक्तता का अनुभव बार-बार होता है । नई पीढ़ी को साफ़ साफ़ दिखाई दे रहा है कि जो प्रचलित सत्य है वह अन्ततः एक बड़ा भारी झूठ है और वह इस लिए है कि झूठ की मूल्यवत्ता सुरक्षित रह सके । मूल्यों के अवमूल्यन की यही स्थिति है जिसे हम या हमारी पीढ़ी सहज ही मान नहीं लेगी बल्कि उसको नये सिरे से ईमानदार आकार देगी । ऐसा करते हुए उसे एक अपरिचय की स्थिति से गुजरना होता है जिसको पार करके उसे सम्पूर्ण बिखरे हुए को पुनः सहेजना है—यह सम्पूर्ण

४८ : आलोचना

बिखराव अनेक आयामों पर लक्षित होता है जिसे एक सन्तुलित आकार देना इस युग का कवि-धर्म है। कठिनाई कम नहीं है—कवि शलभ की इन पंक्तियों में उसे देखा जा सकता है—

दौड़ते अनगिनत प्रश्नों की कतारें

किसे जाने दें ? किसे किंचित विरमने को कहें ?

किसको पुकारें ?

सभी चेहरों पर बँधे हैं मुँह चिड़ाते हुए दर्पण ।

यह केवल 'शलभ' की परेशानी नहीं—हम सबकी है—इसे हम सभी देख रहे हैं। इस तिव्रता के बीच भी कवि की सहेजने की यह आकांक्षा एक नये यथार्थपरक आशा-लोक का निर्माण करती है।

इस तिव्रता के मूल में आज के कवि की सामाजिक जागरूकता और वैयक्तिक सामंजस्य की समस्या भी प्रमुख है। छायावादी कवि ने अपने को बहुधा अतीत और भविष्य के छोरों के बीच फैलाया है—उसके सामंजस्य की समस्या इसीलिए उतनी प्रकट नहीं हो पाई—यद्यपि निराला इसके अपवाद रहे हैं। नया रचनाकार चाहे वह कथाकार हो या कवि—इस सामंजस्य को तात्कालिक वर्तमान में चाहता है। व्यवस्था की प्राचीन प्राचीरों में यह सम्भव नहीं दीखता और वह अतीत या भविष्य की ओर प्रत्यावर्तन करने को भी तैयार नहीं। उसके असामंजस्य या विरोध का दूसरा कारण अन्तर्राष्ट्रीय धरातल का उभरना है। समग्र मानव-जाति का जीवन उसके सामने खुली हुई पुस्तक की भाँति पड़ा है। अनेक साम्प्रदायिक आवेशों से मुक्त होकर उसकी दृष्टि इस ओर जाती है। उसके लिए मनुष्य केवल मनुष्य ही है। वह सम्प्रदायों में, धर्मों और आस्तिक उन्मादों में नहीं बाँटा जा सकता। अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों की नई पीढ़ी तथा भारत की नई पीढ़ी की मैत्री का, आपसी आदान-प्रदान का यही कारण है। अब तक भारतवर्ष की नई पीढ़ी ने दर्द को झेला था; किन्तु दर्द के, अव्यवस्था के मूल कारण पर प्रत्यारोप या उसको ढहाने की चेष्टा नहीं की थी। स्थिति इससे आगे बढ़ गई है। व्यक्ति व्यक्ति की पीड़ा आज सामूहिक आत्मान-कर रही है—उस भीड़ को छाँटने के लिए जो अर्थ की जड़ता तक पहुँची हुई है—

हमारे बीच

एक भीड़ फिर पंदा हो गई

किन्तु अब भी हमारे पास चिनगारी है

चलो। धुआँ उठाएँ।

अपना होना तो इन्हें महसूस होने दें।

यह भीड़ शाखाओं से फिसलोगी गिरेगी।

और शताब्दियों से चिपकी हुई

अर्थहीनता छूटेगी

फुनगियों पर शायद फिर कोई नया अर्थ उभरे, आओ।

चलो धुआँ उठाएँ।

आज की कविता का यह संकल्प-स्वर ही उसकी दायित्व-निष्ठा और आत्मसाक्षात्कार का प्रमाण है। उसके स्वर में एक संयत और विवेक-सम्पन्न विरोध है जो 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' जैसे निवेदन से भिन्न है। निवेदन उसकी पूर्वज पीढ़ी ने बहुत किया है। वह तो पूरे विश्वास के साथ अपनी आँखों देख रहा है—

दीवार पर काँई जमने लगी है

दो-तीन अंकुर फूट निकले हैं

पत्ते झूलने लगे हैं

शायद कभी बैजनी रंग का फूल भी खिलेगा।

दीवार की पिछली तरफ़

खिड़कियाँ हैं

खिड़कियों पर लटकते हुए पदें।

एक दिन

शायद आँधी बोले—खुल जा सिम सिम।

कितनी आशा और कितना विश्वास अपने भविष्य के प्रति इस पीढ़ी में है उसे 'नवल' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है।

नये कवि का यह दृष्टिकोण भावुक दृष्टिकोण नहीं है। तात्कालिकता से वह उतना सम्बद्ध नहीं है जितना एक समग्र ऐतिहासिकता से। इसलिए वह समसामयिक से कहीं अधिक आधुनिक है। आधुनिक होना कोई फ़ैशनवाली बात नहीं रह गई है बल्कि यह तो उसकी आन्तरिक विवशता है। यद्यपि कुछ सतही लोग इसे खाल की तरह ओढ़ने की कुचेष्टा कर रहे हैं।

आधुनिकता को लेकर उठाये गए अनेकानेक प्रश्नों में भारतीयता और अभारतीयता का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। नया कवि या कथाकार या रचनाकार अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक निष्ठा के साथ भारतीय है। किन्तु वह अपने राष्ट्र की झूठी प्रशस्ति नहीं करता। उसे न तो पूर्व के प्रति झूठा मोह है और न पश्चिम के प्रति घृणा या हीन-भाव। वस्तुतः वह सम्पूर्ण विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय चेतना को तोलने का आकांक्षी है। वह जानना चाहता है कि संस्कृतियों और वैज्ञानिक प्रगति की इस भागदौड़ में उसका अपना राष्ट्र कहाँ है? और यह तभी सम्भव है जबकि उसके लेखन में अन्तरराष्ट्रीय मूल्य उभरें। पिछले दिनों श्री सुमित्रानन्दन पंत ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि 'आज अन्तर-राष्ट्रीय मूल्यों का उभार अत्यावश्यक है किन्तु इससे राष्ट्रीय मूल्यों की कोई क्षति नहीं दीखती। उनकी क्षति वहीं है जहाँ वे अन्तरराष्ट्रीय जीवन-मूल्यों के विरोधी बनकर आएँगे—जैसे हिटलरिज्म।' उनकी यह बात आज के सन्दर्भ में एक हकीकत है और इस हकीकत को बिना हिचक स्वीकार करना चाहिए। इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम अपने राष्ट्रीय मूल्यों को अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों के लोभ में खो दें और न इसकी ही कि राष्ट्रीय मूल्यों को किसी हठवादिता तक ले जाकर अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों को अस्वीकार करें। वस्तुतः ऐसा करने का अवकाश अब नहीं रह गया है और

न कोई कर ही सकता है।

इन सब प्रश्नों को यदि केवल रचना के सन्दर्भ में ही सोचें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रचना के ईमानदार धरातल पर कभी इस प्रकार का संकट ही उत्पन्न नहीं होता। शेक्सपीयर और कालिदास की विश्वजनीन लोकप्रियता इसका ज्वलन्त प्रमाण है। दोनों में राष्ट्रीयता के विशिष्ट मूल्यों की स्वीकृति होते हुए भी दोनों विश्व-स्तर पर बहुपठित हैं। सच तो यह है कि रचना की प्रकृति ही विश्व-जनीन होती है चाहे वह ताजमहल हो या वीनस की मूर्ति। वह एक मनुष्य की वाणी है जो अनेक-अनेक मानवों के लिए होती है। वहाँ भारतीय-अभारतीय का प्रश्न उठाना रचना-धर्म का अपमान करना है। कविता की प्रकृति का बोध जिन्हें है वे तो उसे यहाँ तक मानने को तैयार हैं—

नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती

कि वह आवेग-त्वरित काल यात्री है।

व मैं उसका नहीं कर्ता,

पिता-धाता

कि वह कभी दुहिता नहीं होती

परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है।

गहन-गम्भीर छाया आगमिष्यत की

लिये, वह जन-चरित्रो है।

(पृ० १६४, चाँद का मुँह टेढ़ा है)

कविता की यह प्रकृति ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसकी इस प्रकृति को पहचानकर ही हमें कुछ कहने का अधिकार माँगना चाहिए। अन्यथा समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए—वह समय—जो अपनी अन्तता में सम्पूर्ण चिन्तना को सही ऐतिहासिक प्रस्तुति देगा।

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

नयी कविता और सामाजिक चेतना

नयी कविता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए परिप्रेक्ष्य की नवीनता, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, भाव-बोध के नये स्तर, सौन्दर्य-बोध के नए तत्त्व, यथार्थ के नए धरातल, मानव-विशिष्टता और आत्म-विश्वास के आधार, आधुनिकता आदि की बात की जाती है। उसकी ये सभी विशेषताएँ कथ्य-गत हैं। शिल्प-गत विशेषताओं की गणना कराते समय नूतन बिम्ब-विधान, नयी प्रतीक योजना, नवीन सादृश्य-संयोजन, भाषा की व्यंग्यात्मकता तथा शब्द में नए अर्थों का संक्रमण आदि का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। निःसंदेह ये सभी प्रवृत्तियाँ संख्या में इतनी अधिक हैं कि उनके होते हुए नयी-

पुरानी का अन्तर कर पाना कठिन नहीं है। प्रथम कोटि की अर्थात् कथ्य गत-प्रवृत्तियाँ यदि नयी कविता की आत्मा के परिवर्तन का संकेत करती हैं, तो द्वितीय कोटि की प्रवृत्तियाँ उसके शरीर की सूचना देती हैं। यहाँ हमें काव्य-पुरुष के शरीर में घटित होने वाले परिवर्तनों पर विचार नहीं करना है, क्योंकि सामाजिक चेतना का मूल सम्बन्ध कथ्य से ही है।

नयी कविता का कथ्य नितान्त नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर रूपाकार ग्रहण कर रहा है। अतः उसमें स्थान पाने वाली हर बात नयी प्रतीत होती है। परन्तु जहाँ तक 'नयी कविता' की नवीनता से सम्बन्ध है, मेरी दृष्टि में वह चमत्कृत कर देने वाली नवीनता नहीं होनी चाहिए। युग बोध के अनुसार नये का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। आज के युग में मानव-जीवन के स्तरों और व्यवस्था-पद्धतियों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे ही 'नये' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। या, जो कुछ युगों से घटित होता आ रहा है, किन्तु जिसे वाणी से अभिव्यक्त होने का अवसर देना उचित नहीं समझा गया, उसे अभिव्यक्त करने का अवकाश मिलना भी 'नयापन' है। नयी कविता इसी अर्थ में 'नयी' है कि वह उस रहस्य को घोषित करने में संकोच नहीं करती जिस रहस्य ने मानव-जीवन को प्राचीनता से बाँध रखा था। निश्चय ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति सामाजिक चेतना पर आधारित होगी। इसका एक कारण है प्राचीन काल से अबतक लिखे गए साहित्य में अभिव्यक्ति का लक्ष्य व्यक्ति रहा है, समाज नहीं; यद्यपि व्यक्ति को समाज में रखकर परखा गया है, व्यक्ति में समाज को कभी नहीं देखा गया। आज की नयी कविता के दो रूप हैं। एक रूप व्यक्ति को परखता है, किन्तु समाज में रखकर नहीं, उसके व्यक्ति में ही उसे रखता है। यही इस कोटि की—व्यक्ति-निष्ठ चेतना वाली—कविता का नयापन है। किन्तु, समाज को—उसी में व्यक्ति को रखकर—परखने का काम भी नयी कविता कर रही है। यहाँ परखने से तात्पर्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और अनुभूतियों के चित्रण से ही है। वस्तुतः यही—द्वितीय कोटि की—सामाजिक चेतना वाली कविता ही नयी कविता है, जबकि व्यक्ति-निष्ठ चेतना वाली कविता मानव-सभ्यता की बहुत पुरानी—सहस्रों वर्ष पूर्व की वैयक्तिक स्थिति पर पहुँचाना चाहती है। अतः वह तथाकथित 'नयी कविता' है।

आज नयी कविता के सर्जकों में इसीलिए स्पष्टतः दो वर्ग बनते जा रहे हैं। एक वर्ग उन कवियों का है, जो समाजनिष्ठ चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं और दूसरा वर्ग उनका है, जो सबसे दो कदम आगे आने के लिए वैयक्तिकता की आवाजें उठाकर पाठकों को चौंकाना चाहते हैं। ऐसे अर्थात् द्वितीय वर्ग के नए कवियों के पास कहने के लिए वह सब कुछ नहीं है, जिसे अपना कहा जा सके। वे चमत्कार में विश्वास करते हैं। अतः वे रूप और शिल्प का चमत्कार तो दिखाना ही चाहते हैं, कथ्य में भी चमत्कार लाने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में वे पाश्चात्य-साहित्य में पनपनेवाले अस्तित्ववाद आदि आन्दोलनों का ऋण लेते हैं। प्रथम वर्ग के अर्थात् सामाजिक चेतना वाले नए कवि अपने युग-जीवन की ठोस धरती पर खड़े होकर

समाज की सामूहिक आशाओं-आकांक्षाओं के मध्य अपने विराट मानव को अस्तित्व-वादी बौने मानव की तुलना में खड़ा करते हैं। निःसंदेह उनका प्रयास नयी कविता को समृद्धतर करता जा रहा है और उसीके कारण आज तथाकथित 'नयी कविता' का कूड़ा-कंकट पर्याप्त मात्रा में साहित्य-मन्दिर में फैलने पर भी वास्तविक नयी कविता की गरिमा में ह्रास उत्पन्न नहीं हुआ है। सच पूछा जाय तो नयी कविता का आन्दोलन भी सामाजिक चेतना वाले कवियों द्वारा ही हिन्दी साहित्य में आरम्भ हुआ था। अब भी वे संख्या में कम होने पर भी नयी कविता का विकास-पथ प्रशस्त कर रहे हैं।

नयी कविता का यह महत्त्वपूर्ण वर्ग सामाजिक चेतना के रूप को लेकर किस प्रकार उसे समृद्ध बना रहा है, यह समझने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं। परन्तु, उसके साथ यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है कि नयी कविता का किसी 'वाद' से कोई सम्बन्ध नहीं है—चाहे वह प्रगतिवाद हो चाहे प्रयोगवाद। सामाजिक चेतना-प्रधान नयी कविता किसी वाद की संकीर्णता स्वीकार कर समाज को शोषक-शोषित या बुर्जुआ और सर्वहारा के वर्गों में नहीं बाँधती और न वह केवल प्रयोगों के लिए लक्ष्य-हीन स्थिति के शिल्प प्रयोग ही करती है। उसका एक सुनिश्चित मार्ग है कि व्यक्ति समाज का ही एक अखण्ड अंग है। अतः उसकी व्यक्तिगत स्थितियाँ, अनुभूतियाँ, चेतन-अवचेतन की विभिन्न आकृतियाँ—सब समाज के विभिन्न सन्दर्भों की ही देन हैं। अतः सामाजिक चेतना को प्रधानता देने वाली नयी कविता व्यक्ति की कुण्ठाओं, निराशाओं, अनास्थाओं आदि के धरादे बनाना, अनावश्यक और प्राचीनता के निकट मानती है। उसका मार्ग सुस्पष्ट है। वह व्यक्ति का भीतरी-बाहरी पूरा चित्र उतारना चाहती है, पर उसे समाज से अलग रखकर नहीं, समाज के विराट आकार में यथा-स्थान बिठाकर, ताकि उसके चित्र के समस्त सन्दर्भ भी प्रकाश में आ सकें। इस प्रकार सामाजिक चेतना वाली नयी कविता व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करती, अपितु उसे पूर्णता देती है तथा उसके साथ जल के आवर्तों की तरह घूमने वाले समाज को भी सही संदर्भों के रूप में समझना चाहती है। वह यह स्पष्टतः अनुभव कराना चाहती है कि व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है, अपने परिवेशों की ही देन है। अतः व्यक्ति की चेतना का भी सामाजिक संदर्भों से कटकर अपना स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं है।

सामाजिक चेतना को नयी कविता में प्रतिष्ठित करने वाले नये कवियों का वर्ग अब भी, जबकि आज आधुनिकता के नाम पर, पाश्चात्य जीवन का हिन्दी-काव्य में बड़ी तीव्र गति से अनुवाद हो रहा है, सबसे बड़ा वर्ग है और सर्वाधिक समर्थ भी। इस वर्ग के कवियों ने समाज का महत्त्व स्वीकार किया है, समाज की व्यवस्थाओं को बदलकर नए रूपाकार देने की चेष्टा की है तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने के लिए व्यक्ति के चेतन व अवचेतन, दोनों ही रूपों का स्वस्थ रूप में अनावरण कर उन्हें समाज से जोड़ा है। अतः सामाजिक चेतना की नयी कविता बौनों का चित्रण नहीं करती, बौने में विराट का दर्शन कराती है। उदाहरणार्थ,

भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता लीजिए। इसमें बोलने वाले अवसाद और निराशा से भरा हुआ व्यक्ति पाठक को अपने भीतर की किसी अंधकारपूर्ण गुहा में दम घोटने के लिए नहीं ले जाता, बल्कि अपने माध्यम से समाज के विराट् वषु का कोढ़ चित्रित करता है। निम्नांकित पंक्तियों में इस तथ्य का साक्षात्कार कीजिए—

यह गीत रेशमी है

यह खादी का

यह गीत पित्त का है यह वादी का

कुछ और डिजाइन भी हैं, ये इल्मी—

यह लीजे चलती चीज़, नयी फिल्मों

है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप

क्या करूँ अगर लाचार हारकर

गीत बेचता हूँ ।

जो हाँ, हज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ ।

विजयदेव नारायण साही की निम्नांकित पंक्तियों में उनका नया कवि सामाजिक चेतना से शक्ति पाकर ही व्यक्ति को समूह की दृष्टि से देखता है—

सच्च मानो प्रिय

इन आघातों से टूट-टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं

कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं

मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार

कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिपकर

हर आँसू कायरता को खीज नहीं होता ।^२

सर्वेश्वर दयाल स्वप्नेना की निम्नांकित कविता निश्चय ही सामाजिक चेतना का एक विराट आयाम पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस कविता का संदर्भ समाज की विभिन्न स्थितियों को छूता हुआ मानव-चेतना का विस्तार करता है तथा उसे समूह से जोड़कर जीवन की विभिन्न स्थितियों के पर्त खोलने की प्रेरणा देता है। कवि ने लिखा है—

लिपटा रजाई में

मोटे तर्किये पर धर कविता की कापी

मैंने इस जीवन की गली-गली नापी

हाथ कुछ लगा नहीं

कोई भी भाव कमबख्त पर जगा नहीं

मुझसे अच्छी तूम ही

सूप उठा तूमने सब चावल फटक डाले

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ ७६ से उद्धृत।

[illegible]

५४ : आलोचना

मुझसे अच्छा यह है
 डब्बा फाड़ जिसने सब बिस्कुट गटक डाले
 सूप की फटर-फटर
 'अम्मा पापा' की रट
 मुझसे कहती है
 जीवन ले कविता से हट
 थैला उठाओ, जाओ—
 तरकारी लाओ
 आफिस का समय हो गया है
 नहाओ, खाओ,
 यह सब लिखना-पढ़ना कल्पना-विलास है
 चीख-चीख कहता यह मेरा आस-पास है
 लेकिन मैं इस पर भी कलम लिए बैठा हूँ
 कवि हूँ, अपनी कविताई पर ऐंठा हूँ ।'

सामाजिक चेतना को स्वर देने वाला नया कवि अपनी दृष्टि को व्यापक बनाकर ही
 व्यक्ति के अन्तर्बाह्य स्वरूपों का उद्घाटन करता है। वह व्यक्ति की विवशताओं
 और बन्धनों की उपेक्षा करता हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि वह उन्हें जन्म देने वाले
 संदर्भों के बोध से भी संश्लिष्ट करता है। कुछ पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं—

ताज बदल रहे हैं
 आदमी की आवाज़ बदल रही है
 धरती से चाँद मिलने आ रहा है
 किन्तु
 मेहनत-कश हाथों की रोटी का सवाल
 उलझता जा रहा है ।

× ×
 गुलाब के फूलों में
 दुर्गंध आ रही है
 और चाँद की रोशनी
 गीले जीवन के घुएँ में
 घुटने लगी है
 क्या होगा उस सभ्यता का
 और उस नयी समाज-रचना का
 जिसकी हर नींव
 युद्ध की खाइयों में

भरी जा रही है ।^१

दुष्यन्त कुमार ने भी निम्नांकित पंक्तियों में सामाजिक संदर्भों से अपनी दृष्टि का निर्माण किया है । वे लिखते हैं—

वे जो पत्तीने से दूध से नहाए थे
वे जो सचाई का झंडा उठाए थे
वे जो हनुसे पहले इन राहों में आए थे
वे जो लौटे तो पराजित कहाए थे
क्या वे पराए थे ?

सच बतलाना तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ?^२

सामाजिक चेतना की 'नयी कविता' का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है केदारनाथ अग्रवाल की 'याद' शीर्षक कविता । वे लिखते हैं—

याद ?—है आवाज
पथ के पेड़ की
राहगीरों के लिए—
जो गए
लौटे नहीं
इस राह से ।
वह सुबह की चाँदनी है
ओस से भीगी
धूप का दर्पण लिए
ओट में गुँगी खड़ी ।^३

पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नयी कविता में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति पर्याप्त-मात्रा में तथाअत्यन्त सशक्त भाषा में हो रही है । नयी कविता का यह सामाजिक चेतनावेदी वर्ग उसके विकास का वास्तविक आयाम है । उसमें मनुष्य को व्यक्ति की इकाई से लेकर उसके सामाजिक विराट तक विस्तृत करके देखा गया है । उसकी संवेदना-भूमि अत्यन्त व्यापक तथा युग-सत्य के सभी आयामों का स्पर्श करती है । उसने व्यक्ति को कुण्ठा-ग्रस्त एक क्षुद्र और बीना प्राणी बनाने वाली संभावनाओं से बचाया है तथा आधुनिक-जीवन के विषम संघर्षों में अपनी समस्त जिजीविषा और निष्ठा एकत्रकर जीवित रहने की प्रेरणा दी है । निश्चय ही सामाजिक चेतना की यह नयी कविता हिन्दी साहित्य को विकास की नितान्त नूतन दिशा में ले जा रही है । हिन्दी-कविता का यह एक महान् और शुभ प्रस्थान है ।

१. आयाम—डॉ० दिनेश ।

२. नयी कविता, अंक ३, पृष्ठ ७२ ।

३. लहर, वर्ष ६, अंक ४, पृष्ठ ४०५।
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक :

एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण

नई कविता या नई कहानी की चर्चा इधर बहुत जोर पर रही है, पर नए नाटक का उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिलता, यह कुछ आश्चर्य का विषय है। युग की नव्य संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कविता और कहानी जितने सशक्त माध्यम हैं, उनसे अधिक सक्षम एवं सशक्त माध्यम नाटक और रंगमंच का होता है। सामूहिकता की कला होने के नाते नाटक का सम्पर्क अपने युग-जीवन से प्रत्यक्षतः रहता है। नाटक अपने युग का बैरोमीटर कहा जाता है। अपनी युग-चेतना का संश्लेषण बनकर ही नाटक जीवित रहता है, और किसी भी युग में साहित्य की शक्तिशाली विधा के रूप में स्वीकृत होता है। पर नाटक के विकास के लिए रंगमंच या किसी भी प्रदर्शन-माध्यम का रहना अनिवार्य है। नाटक साहित्य की अन्यान्य विधाओं की तरह पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होता—रंगमंच या किसी अन्य प्रस्तुतीकरण-माध्यम के अभाव में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब तक रंगमंच का विकास नहीं होता और देश के विभिन्न भागों में रंगमंचों की स्थापना नहीं होती, तब तक नाटक का विकास सम्भव नहीं। यह हिन्दी का दुर्भाग्य रहा है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी क्षेत्रों में रंगमंच की स्थापना एवं विकास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था और रंगमंच तथा नाटक का सम्बन्ध एक प्रकार से विच्छिन्न ही रहा। साहित्य के इतिहास का यह एक स्वीकृत तथ्य है कि जिस युग में नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध विच्छिन्न रहता है, उसमें मुख्यतः पाठ्य नाटकों की रचना होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी में भी अधिकतर पाठ्य नाटकों की रचना हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद स्थिति परिवर्तित हुई है : जहाँ एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में रंगमंच के विकास पर ध्यान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर आकाशवाणी केन्द्रों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है, और इनके फलस्वरूप हिन्दी नाटक का एक नया युग प्रारम्भ हुआ है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में उत्साहवर्धक कार्य हुआ है। कला और संस्कृति के विकास को राष्ट्रीय शासन ने अपनी बहुमुखी विकास-योजनाओं का अंग माना है, और इसने रंगमंच की स्थापना में स्वयं भी योग दिया है और नाट्य-प्रदर्शन एवं नाट्य-लेखन को प्रोत्साहित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी किया है। रंगमंच के विकास एवं सफल अभिनेय नाटकों के लेखन को राष्ट्रीय शासन से पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। रंगमंच या तो जन-जीवन से सहज रूप में उद्भूत होता है या साधन-सम्पन्न संरक्षण की प्रेरणा से। साहित्यिक नाटक तो विशेष रूप से किसी-न-किसी प्रकार के संरक्षण में ही पल्लवित-पुष्पित होता है। प्राचीन काल में भी कभी धर्म ने और कभी राज्य ने ही नाटक और रंगमंच को संरक्षण प्रदान किया था। हिन्दी के नये नाटक के विकास में भी राज्य का प्रोत्साहन कार्य कर रहा है।

सरकार
भाषा
समय
को अ
भी अ
को प्र
अभा
अपने
वर र
जाग
उदय
रंगम
हिन्दी
प्रदर्श
हैं।
हारि
नाटक
समीक्ष
की प्रे
हिन्दी
साहि
सम्बन्ध
सिद्धा
प्रत्यक्ष
हिन्दी
पर इ
साहि
नाटक
पुरान
किया
किसी
रचन
था।
नाटक

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण : ५७

सरकार की संगीत नाटक अकादमी ने देश में रंगमंच को विकसित करने और भारतीय भाषाओं में नाटकों की रचना तथा उनके प्रदर्शन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से समय-समय पर पुरस्कारों की व्यवस्था की है। अकादमी ने अव्यावसायिक संस्थाओं को अनुदान देने की भी व्यवस्था रखी है। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि अनेक राज्यों में भी अकादमी-जैसी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। व्यावसायिक रंगमंच भी नाट्य-लेखन को प्रभावित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, पर हिन्दी क्षेत्र में इनका अभाव रहा है। प्रारम्भ में पृथ्वी थिएटर ने देश के विभिन्न भागों में घूम-घूमकर अपने नाटक प्रदर्शित किये, पर उसके टूटने के बाद व्यावसायिक रंगमंच नहीं के बराबर रह गया है। दूसरी ओर, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में जो नया सांस्कृतिक जागरण हुआ है, उसकी प्रेरणा से देश के विभिन्न भागों में अव्यावसायिक रंगमंच का उदय हुआ है—लगभग सभी बड़े नगरों में अव्यावसायिक संस्थाएँ काम कर रही हैं। रंगमंच के इस नवोन्मेष से नये नाटक के विकास की गति मिली है। रंगमंच के प्रति हिन्दी के नाटककारों और आलोचकों की सजगता भी बढ़ी है, और रंगमंच एवं नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी टिप्पणियाँ विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। किसी भी साहित्य के नाट्य-लेखन को जहाँ एक ओर प्रदर्शित नाटकों की व्यावहारिक समीक्षा प्रभावित करती है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक कृतियों के रूप में नाटकों की समीक्षा भी। यह ध्यातव्य है कि मात्र साहित्यिक दृष्टिकोण से नाटकों की समीक्षा नहीं की जा सकती, और अगर की जाती है, तो वह नाट्य-साहित्य के विकास की प्रेरक शक्ति न बनकर उसके लिए बाधक ही सिद्ध होती है। आलोच्य काल में हिन्दी के नाट्य-समीक्षकों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर आया है, और नाटकों के साहित्यिक मूल्य को स्वीकार करते हुए भी उनकी समीक्षा मुख्यतः प्रदर्शन से उन्हें सम्बद्ध करके ही की गयी है। अत्याधुनिक नाट्य-समीक्षाएँ मुख्यतः पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों पर आधारित हैं। नये नाटक के स्वरूप-निर्धारण में ऐसी समीक्षाओं का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रंगमंच के नवोन्मेष तथा नव्य नाट्य-चेतना के उदय की इस पृष्ठभूमि पर हिन्दी के नये नाटक साहित्य को देखा जा सकता है। समसामयिक समग्र नाट्य-लेखन पर इनका प्रभाव पड़ा ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर इनसे नवीनतम नाट्य-साहित्य को नया आयाम मिला है, इसमें सन्देह नहीं। इस नये युग में भी ऐसे अनेक नाटककार काम करते रहे हैं, जिनके संस्कार पहले निर्मित हो चुके थे। पहले हम उस पुरानी परम्परा का ही परिचय प्रस्तुत करते हैं जो इस नये युग में भी चलती रही है।

प्रसादजी ने जिस नाट्य-रूप को अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से गौरवान्वित किया था, उसकी परम्परा उनके बाद भी दिखाई पड़ती है। प्रसाद का नाट्य-लेखन किसी रंगमंच को आधार मानकर नहीं हुआ था, जिसके फलस्वरूप ऐसे नाटकों की रचना हुई थी जिनमें अवधि एवं रंगमंच की सीमाओं को स्वीकार नहीं किया गया था। उन नाटकों में दीर्घकालीन कथानकों को आधार बनाया गया था और उनमें नाटकीय वस्तु-विन्यास की अपेक्षा इतिहास के आगूह को ही मुख्य रूप में स्वीकार

५८ : आलोचना

किया गया था। उनमें न वस्तु की संश्लिष्टता पर ध्यान था, न कार्य-व्यापार की गति पर, और न प्रभाव की अन्विति पर ही, अंकों और दृश्यों का विभाजन भी व्यापक हारिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से बहुत प्रशंसनीय नहीं था। उनकी विशेषता उनके उदात्त उद्देश्य एवं साहित्यिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा में थी। प्रसाद की काव्य-प्रतिभा ने उनके नाटकों को काव्यात्मक शैली दी, उन्हें गीतियोजना से अलंकृत किया, और उन्हें ऐसी साहित्यिक गरिमा प्रदान की कि वे महान् कृतियों के रूप में स्वीकृत हो सके। प्रसाद के पदचिह्नों पर चल सकना सामान्य कोटि की प्रतिभा के लिए सह्य नहीं है, पर उनका प्रभाव उनके परवर्ती नाटककारों पर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में जिन अनेक नाटककारों ने योगदान दिया है, उनमें सबसे उल्लेखनीय नाम हरिकृष्ण प्रेमी का है। प्रेमीजी पहले से ही ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते आ रहे थे, और स्वातन्त्र्योत्तर-युग में भी उनका नाट्य-लेखन चलता रहा है। उनके 'कीर्ति-स्तम्भ', 'विदा' और 'रक्तदान' नाटक पुरानी परम्परा में ही आते हैं। इन नाटकों की रचना महान् उद्देश्यों की प्रेरणा हुई है। राजपूत-काल की वीरगाथाओं पर आधारित 'कीर्ति-स्तम्भ' में लेखक ने यह दिखलाकर कि व्यक्तिगत मानापमान एवं स्वार्थ को सर्वोपरि समझने के कारण मेवाड़ का नाश हुआ था, यह संकेत दिया है कि हमें स्वार्थ की अपनी संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर व्यापक राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रेरित हो कार्य करना चाहिए। 'विदा' की रचना औरंगजेब के शासन-काल के अन्तिम दिनों की राजनीतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं के आधार पर की गयी है, और इसमें लेखक का उद्देश्य भारत की राष्ट्रीय एकता को बल प्रदान करना है। 'रक्तदान' में सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह द्वारा किये गये त्याग और बलिदान का अंकित किया गया है। कला की दृष्टि से ये नाटक दुर्बल लगते हैं। इनके कथनकों में अनावश्यक विस्तार है, कार्य-व्यापारों की गति में शिथिलता। ये नाटक इतिहास अधिक लगते हैं, नाटक कम। इनमें प्रभावान्विति का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसका कारण यही है कि ये किन्हीं निश्चित नाटकीय स्थितियों पर आधारित नहीं हैं, और न इनके कार्य-व्यापार एक निश्चित दिशा में ही शलते हैं। इनमें कथनोपकथन के माध्यम से दीर्घकाल में बिखरी हुई कहानियाँ कह दी गयी हैं। इनमें संवाद भी नाटकीय नहीं हैं—शिथिलगति कथा-शैली में इन संवादों की रचना हुई है। दृश्यों की संख्या भी कथा-विस्तार के अनुरूप ही काफ़ी बड़ी है। इस दृष्टि से इन नाटकों का साम्य प्रसाद के नाटकों से भले ही हो, पर इनमें प्रसाद का उदात्त स्वभाव और काव्यत्व का उच्च धरातल नहीं मिलते।

समस्या नाटकों के लेखक के रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसिद्ध रहे हैं। आलोच्य अवधि में मिश्रजी ने भी अनेक नाटकों की रचना की है, यद्यपि उनका कलात्मकता का स्तर समान नहीं रहा है। 'वितस्ता की लहरें' इनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। भारत पर सिकन्दर का आक्रमण और चाणक्य के बुद्धि-कौशल द्वारा उसकी विफलता का विषय इस नाटककारों की प्रिय विषय रहा है, और मिश्र

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण : ५६

ने भी उसी पर इस नाटक की रचना की है। इस नाटक की विशेषता इस बात में अवश्य है कि इसमें प्रसंगों के विस्तार में न जाकर एक नाटकीय प्रसंग विशेष को ही आधार बनाया गया है, पात्रों की संख्या कम है, और एक-एक दृश्य के तीन अंकों में ही पूरा नाटक है। वस्तु-योजना में प्रभावान्विति पर ध्यान रखा गया है। अपनी समग्रता में यह नाटक स्वयं मिश्रजी के पहले के नाटकों की तुलना में पर्याप्त सशक्त लगता है। लेकिन इसके बाद लिखा गया 'मृत्युंजय' नाटक बहुत सन्तोषजनक नहीं ज्ञात होता। लेखक ने इसमें महात्मा गांधी के जीवन को अंकित करने का प्रयत्न किया है। गांधी, पटेल, नरेन्द्र देव, आज़ाद, देवदास आदि इसके पात्र हैं। गांधीजी के जीवन के अन्तिम वर्षों की घटनाओं को नाटक में प्रस्तुत किया गया है। रचना में न कोई नाटकीय स्थिति है, न कोई कार्य-व्यापार। नाटक में संस्मरणों की प्रधानता है और स्थान-स्थान पर पात्रों द्वारा विभिन्न विषयों पर उनके विचार प्रस्तुत किये गये हैं। दृश्य-परिवर्तन भी सुविधानुसार बार-बार किया गया है। एक प्रकार से नाटक का स्थापत्य ही विशृंखल-जैसा लगता है।

जीवनचरितात्मक नाटकों के प्रसंग में सेठ गोविन्ददास का भी स्मरण किया जा सकता है जिन्होंने 'वल्लभाचार्य', 'रहीम', 'भारतेन्दु' और 'महात्मा गांधी' लिखकर हिन्दी नाट्य-लेखन के क्षेत्र में एक 'नया प्रयोग' करने का प्रयत्न किया है। इन कृतियों में इन महान् व्यक्तियों का जीवनचरित संवादों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जीवनचरित होने के कारण इन रचनाओं में बड़ी लम्बी-लम्बी अवधियों की कहानियाँ आई हैं। 'भारतेन्दु' में २६ वर्षों की घटनाएँ हैं, 'रहीम' में ५० वर्षों की, और 'महात्मा गांधी' में २३ वर्षों की। घटना-स्थलों का विस्तार भी बहुत दूर तक है। 'महात्मा गांधी' में भारत, अफ्रीका और इंग्लैण्ड के विभिन्न नगरों के दृश्य आये हैं। ये दृश्य भी क्षण-क्षण बदलनेवाले हैं। इन नाटकों में सुसम्बद्ध कथानक नहीं हैं, जीवनियाँ हैं; मुख्य पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं है, उनकी चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण है; घटनाओं में स्वयं गति नहीं आती, उन्हें गति दी जाती है। नाटक में जो सुसंगठन और संश्लिष्टता चाहिए, उनका इनमें अभाव है। 'अम्बपाली' के प्रसिद्ध लेखक रामवृक्ष बेनीपुरी का 'तथागत' भी जीवनचरितात्मक ही कहा जाएगा। इसमें भी जीवन के अधिकाधिक प्रसंगों को चित्रित करने का आग्रह विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। इसका कथानक भी किसी नाटकीय स्थिति पर आधारित नहीं है। विस्तार में जाने और नाटकीय दृष्टि से अनावश्यक प्रसंगों को नाटक में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध कृति 'अम्बपाली' में भी है। इन जीवनचरितात्मक नाटकों को देखते हुए लगता है, जैसे लेखकों ने जीवनचरित और नाटक के अन्तर की ओर ध्यान न दिया हो। किसी व्यक्ति के जीवन की एक-एक घटना का अंकन नाटक में नहीं किया जा सकता। किसी के सम्पूर्ण जीवन पर आधारित रचना सफल नाट्य-कृति नहीं हो सकती, क्योंकि तीव्र नाटकीय प्रभाव के लिए जिस केन्द्रीभूत सामग्री की आवश्यकता होती है, उसका उसमें नितान्त अभाव रहेगा। सम्भवतः इसीलिए अरस्तू ने लिखा है कि महाकाव्यात्मक नाटकों में नाटकीय रचना नहीं होनी चाहिए, और महा-

६० : आलोचना

काव्यात्मक से उसका तात्पर्य उस कथा से है जिसमें अनेक कथाएँ हों। निष्कर्ष स्पष्ट है कि सफल जीवनचरितात्मक नाटक की रचना किसी के जीवन के कुछ गिने-चुने मार्मिक एवं नाटकीय प्रसंगों पर ही हो सकती है। जीवनचरितात्मक नाटक और जीवनचरित में केवल यही अन्तर नहीं है कि एक का माध्यम संवाद है और दूसरे का नेरेशन; दोनों में शिल्पगत सौन्दर्य और उससे उद्भूत आनन्द एवं प्रभाव का भी अन्तर है। इस तथ्य की ओर हिन्दी के सब नाटककारों का ध्यान नहीं जा सका है।

रंगमंच-विवर्जित ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा को स्वातन्त्र्योत्तर-युग में कुछ नाटककारों ने नया मोड़ दिया है। इन्होंने नाटक को रंगमंच से सम्पृक्त कर देखा है, और उसे नया रूप प्रदान किया है। ऐसे नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इनकी नाट्य-कृति 'कोणार्क' प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। सन् १९५० और १९५५ के बीच लिखित हिन्दी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ घोषित होने का गौरव 'कोणार्क' को प्राप्त हुआ था—विहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने सर्वश्रेष्ठ स्वीकृत कर उसे पुरस्कृत किया था। 'कोणार्क' उड़ीसा के प्रसिद्ध कोणार्क मन्दिर से सम्बद्ध इतिहास एवं किम्बदन्तियों पर आधारित है। माथुरजी की दूसरी कृति है 'शारदीया' जो महाराष्ट्र के एक ऐतिहासिक प्रसंग पर आधारित है—इसमें तत्कालीन राजनीतिक हलचलों की पृष्ठभूमि पर बायजा बाई और नरसिंह राव का प्रेम-प्रसंग मार्मिकता के साथ अंकित किया गया है। दोनों नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित हुए हैं—'कोणार्क' तो विभिन्न स्थानों पर अभिनीत हुआ है। श्री माथुर ने अपने नाटकों में संश्लिष्टता पर ध्यान रखा है। दोनों नाटकों का अपना-अपना एक निश्चित गन्तव्य है, प्रभाव-मृष्टि का एक निश्चित बिन्दु है जिसकी ओर नाटक का कार्य-व्यापार गतिशील रहता है। अप्रासंगिक घटनाओं एवं प्रसंगों को नाटक में स्थान नहीं दिया है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर ने विशेष कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने नाटकीय घटनाओं के प्रारम्भ, विकास तथा उनकी चरम परिणति एवं अन्त का निर्माण इस प्रकार किया है कि उनकी सजीवता अन्त तक बनी रहे, और वे दर्शकों की जिज्ञासा जगाए रख सकें। इसके लिए लेखक अन्त तक एक रहस्यात्मक संकेत अपने हाथ में रखता है—'कोणार्क' के अन्तिम अंश में ही विशु और धर्मप को ज्ञात हो पाता है कि दोनों का सम्बन्ध पिता-पुत्र का है। यह उद्घाटन नाटक के अन्त को एक कारण स्पर्श दे जाता है। 'कोणार्क' के नाट्य-शिल्प की विशेषता यह भी है कि तीन अंकों के इस छोटे-से नाटक में घटनाएँ क्षिप्र गति से आगे बढ़ती जाती हैं, और दर्शकों की भावनाओं को उद्बेलित करती जाती हैं। अन्तिम अंक में घटनाओं की गति और नाटकीयता जितनी तीव्र है, उतनी ही उसकी हृदयस्पर्शिता की शक्ति भी। नाटकत्व और काव्यत्व का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है इस नाटक में। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' के प्रयोग भी बड़ी कुशलता से किये गए हैं—ये जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के प्रोलॉग, एपिलॉग और कोरस का स्मरण दिलाते हैं, वहीं दूसरी ओर नाटक को एक उच्च काव्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इस प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में, प्रभाव के काव्यत्व-प्रधान

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण : ६१

ऐतिहासिक नाटकों का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप दीख पड़ता है। इन नाटकों में कार्य-व्यापार की गति में बाधक होने वाले सभी अनावश्यक तत्वों का परिहार हो गया है। इनमें काव्यात्मकता रह गयी है, काव्यात्मक अतिरंजना शेष हो गयी है; इनमें रंगमंच और अभिनय की सीमाओं और सम्भावनाओं का ध्यान रखा गया है। 'कोणार्क' हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की प्रगति एवं विकास का निश्चित सूचक है।

जगदीशचन्द्र माथुर की कृतियों के बाद भी अनेक ऐतिहासिक नाटकों (सर्वदा-नन्द वर्मा, चतुर्भुज आदि के) की रचना हुई है, पर काव्यत्व प्रधान ऐतिहासिक नाटक का उत्कृष्ट रूप फिर मोहन राकेश के नाटकों में मिलता है। 'आपाड़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस', दोनों ही सफल अभिनेय नाटक सिद्ध हुए हैं। आपाड़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के जीवन से सम्बद्ध है, और लेखक ने कालिदास के काव्य-सृजन के प्रेरणा-स्रोत को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। नाटक इस सम्भावना पर आधारित है कि कालिदास की प्रेमिका मल्लिका ने महाकवि के लिए किस प्रकार प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया होगा। नाटक में इतिहास का उतना आग्रह नहीं है जितना नाटकीय स्थितियों के निर्वाचन और निर्वाह का। इसीलिए नाटककार ने कालिदास के समग्र जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न न कर उनके जीवन के कुछ विशेष प्रसंगों को ही अपना आधार बनाया है। नाटक की शक्ति और सफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है। नाट्य-कृति में विरोधात्मक प्रसंगों का कुशलता से संयोजन किया गया है—मन से कालिदास से प्रेम करती हुई भी मल्लिका परिस्थितियों से विवश होकर उस व्यक्ति से विवाह कर लेती है जो स्वभाव और गुण, सब प्रकार से कालिदास के विपरीत है। कालिदास जब कुछ वर्षों बाद मल्लिका के पास वापस आते हैं, तब उन्हें ज्ञात होता है कि मल्लिका उनकी होती हुई भी उनकी नहीं है, उसका विवाह विलोम से हो गया है और वह एक बच्ची की माँ बन चुकी है। इससे नाटक के अन्त में मर्मस्पर्शिता विशेष रूप से आ जाती है। नाटक एक-एक दृश्य के तीन अंकों में है, और तीनों में घटनास्थल एक ही रहता है। इससे नाटक में पर्याप्त सघनता बनी रहती है, व्यावहारिक रंगमंचीय सुविधा तो इससे हुई ही है। संवादों में काव्यत्व का स्पर्श सरलता से देखा जा सकता है। मोहन राकेश का दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' भी इसी प्रकार का है। 'लहरों के राजहंस' का कथानक महाकवि अश्वघोष की प्रसिद्ध काव्य-कृति 'सौन्दरनन्द' पर आधारित है। इसमें कपिल-वस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध भिक्षु बनने और उसकी पत्नी सुन्दरी के रूप-गर्व की कथा है। इस कृति में लेखक का ध्यान मुख्य पात्रों के मानसिक द्वन्द्व पर विशेष रूप से है। इसके तीनों अंकों में भी स्थान एक ही रहता है। इसमें समय के विस्तार को भी समेटने का प्रयत्न किया गया है—'आपाड़ का एक दिन' का कथानक जहाँ अनेक वर्षों में फैला हुआ है, वहाँ 'लहरों के राजहंस' का कथानक दो रातों में ही सिमटा हुआ है। इस नाटक में लेखक ने राजकर्मचारी श्यामांग के शब्दों को नेपथ्य से प्रस्तुत करने का एक प्रयोग किया है, पर वह बहुत प्रभावशाली नहीं दीखता। यह श्यामांग-प्रसंग वास्तव में विशेष नाटकीय प्रयोजन भी सिद्ध करना हुआ नहीं दिखायी पड़ता।

जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश के नाटक सूचित करते हैं कि प्रसाद के काव्यत्व प्रधान नाटकों की परम्परा विकसित एवं परिष्कृत होती हुई कहाँ तक आई है। रंगमंच के प्रति क्रमशः विकसित होती हुई जागरूकता ने इस परम्परा के संस्कार में विशेष योग दिया है—इसने नाटककारों को निर्दिष्ट किया है कि वे काव्य को नाटकीय चेतना द्वारा अनुशासित करें। शिल्पगत कुशलता इन नाटकों की विशेषता है, इसमें सन्देह नहीं लेकिन प्रसाद-जैसी युग-चेतना इन नाटकों में नहीं दीख पड़ती। प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटक ही लिखे थे पर उन्होंने इतिहास के केवल उन्हीं प्रसंगों को अपना आधार बनाया था जिनके माध्यम से वर्तमान की समस्याओं को अतीत की पृष्ठभूमि पर रेखांकित किया जा सकता था। शिल्प की दृष्टि से विकसित होते हुए भी उपर्युक्त नाटकों में अपने युग के प्रति जागरूकता क्रमशः कम होती गई है। यद्यपि जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' में 'व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओं का गठबन्धन' किया है, पर वे नहीं चाहते कि उसे 'समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि' कहा जाय। मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दी में नाटकों के नियमित प्रदर्शन की व्यवस्था न रहने से, युग-जीवन का जितना प्रभाव नाटक पर पड़ना चाहिए था, नहीं पड़ सका है। जीवन्त रंगमंच जहाँ एक ओर नाटक का स्थापत्य निर्दिष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर उसे अपने समसामयिक जीवन से सम्पृक्त बनाये रखने में सहायक होता है, हिन्दी नाटक को यह सुविधा बहुत कम मिल सकी है, फिर भी पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ इस युग से उत्पन्न विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि समस्याओं पर भी नाटकों की रचना होती रही है। पुराने और नए, दोनों प्रकार के नाटककारों ने इस क्षेत्र में काम किया है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश की व्यवस्था एवं चेतना में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। देश के बहुमुखी विकास की योजनाएँ कार्यान्वित होने लगी हैं, पर व्यक्तिगत स्वार्थों एवं भ्रष्टाचार के फलस्वरूप अपेक्षित सुविधाओं की प्राप्ति अभी तक नहीं हो सकी है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ परम्परागत सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था क्रमशः परिवर्तित होती जा रही है। देश में साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता आदि की समस्याएँ समय-समय पर उभरकर सामने आती रही हैं। तात्पर्य यह कि हमारा वर्तमान जीवन इतनी ज्वलन्त समस्याओं से समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है कि हमारा नाट्य-साहित्य उससे पर्याप्त जीवन-रस ग्रहण कर सकता है। इस दिशा में थोड़ा-बहुत काम अवश्य ही हुआ है। इस क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अशक, शील के नाम लिये जा सकते हैं।

राजनीतिक समस्याओं पर इने-गिने नाटकों की ही रचना हुई है। 'दाहर', 'मुक्ति पथ', 'शक-विजय', 'अम्बा', 'सगर-विजय'—जैसे ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के प्रसिद्ध लेखक उदयशंकर भट्ट ने युग-जीवन से सम्बद्ध नाटकों की भी रचना की है। सन् १९५४ में प्रकाशित 'क्रान्तिकारी' नाटक का विषय यद्यपि राजनीतिक जीवन है, पर उसका सम्बन्ध वर्तमान से उतना नहीं जितना स्वाधीनता-प्राप्ति के

पूर्व के क्रान्तिकारियों के जीवन से है। उसका कथानक स्वाधीनता-पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर आधारित है। लेखक ने सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रयत्नशील नवयुवकों की चारित्रिक दृढ़ता का कुशलता से अंकन किया है। वर्तमान अनुशासनहीनता के युग में उससे प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है। स्वाधीनता-पूर्व के राजनीतिक जीवन पर ही नरेश मेहता ने 'मुवह के घण्टे' की रचना की है। इसमें एक ऐसे क्रान्तिकारी की कहानी है जो एक राजनीतिक दल की परिवर्तित होती हुई नीतियों के बीच स्थायी नैतिक मूल्यों की खोज करता है। रचनाकार की सजगता के लिए इस कृति की प्रशंसा भले ही की जाय, नाट्य-कृति के रूप में इसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इसका कथानक बिल्कुल विश्रुंखल-सा लगता है, और कहीं नाटकीयता के दर्शन नहीं होते। दृश्य अनेक हैं, और क्षण-क्षण बदलने वाले हैं। इसके भाषा-प्रयोग भी यथार्थ जीवन से विच्छिन्न-जैसे लगते हैं। श्याम मोहन अस्थाना का 'पूर्व और पश्चिम' भी स्वाधीनता-पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर ही आधारित है।

चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया समग्र देश में बड़ी तीव्रता से हुई थी। उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी नाटक में भी हुई है। चीनी आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों की प्रेरणा से जिन नाटकों की रचना हुई, उनमें उल्लेखनीय हैं—'घाटियाँ गूँजती हैं' (शिव-प्रसादसिंह), 'नेफा की एक शाम' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री) और 'अपनी धरती' (रेवती सरन शर्मा) ये तीनों नाटक अभिनेय हैं, और अनेक स्थानों पर अपनी सफलता सिद्ध कर चुके हैं। 'घाटियाँ गूँजती हैं' एक-एक दृश्य के तीन अंकों में है, और चीन-भारत-संघर्ष की व्यापक पृष्ठभूमि पर इसकी रचना हुई है। 'नेफा की एक शाम' एक-एक दृश्य के दो अंकों में है—दोनों का घटनास्थल एक ही है और नाटक की घटना-वधि भी कुछ ही घण्टों की है। नाटक के वस्तु-विन्यास में पर्याप्त संक्षिप्तता बनी रहती है। रचना में नेफा के एक स्थान पर चीनी आक्रमण के समय वहाँ के लोगों की जागरूकता, कर्तव्यनिष्ठा एवं साहस का सजीव अंकन हुआ है। रेवतीसरन शर्मा लिखित 'अपनी धरती' नाटक भी सशक्त है। यह भी तीन अंकों का नाटक है। इसमें यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार युवकों ने चीनी आक्रमण के प्रतिकार में अपनी शक्ति और साहस का परिचय दिया। नाटक अपनी समग्रता से दर्शकों और पाठकों को प्रभावित कर सकता है।

वर्तमान सामाजिक जीवन को आधार बनाकर अनेक नाटकों की रचना की गई है। पुराने प्रसिद्ध नाटककारों में उदयशंकर भट्ट और उपेन्द्रनाथ अश्व ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। भट्टजी के सामाजिक नाटक हैं—'नया समाज' और 'पार्वती'। दोनों नाटकों की सामग्री मध्यवर्गीय समाज से ली गई है। पार्वती में पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित एक अर्धशिक्षित मध्यवर्गीय नारी पर व्यंग्य किया गया है। 'नया समाज' में जमींदारी-उन्मूलन के कारण दुखी हुए एक परिवार का चित्र अंकित किया गया है। इसके कथानक-निर्माण में आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र की आडिपस और आत्मरति ग्रन्थियों के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है। इसकी मुख्य स्त्री-पात्र कामना काम-वृत्ति की अतृप्ति के कारण मानसिक रोग से ग्रस्त है। कामना

की आत्मरति-ग्रन्थि का चित्रण ही मुख्य रूप से नाटक में किया गया है। अशक के नये नाटकों में 'पैतरे', 'अलग-अलग रास्ते' और 'अंजो दीदी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पैतरे' हास्य और व्यंग्य-प्रधान नाटक है। इसमें बम्बई के फिलमी क्षेत्र में काम करनेवाले नये पुराने कवि, लेखक, अभिनेता, निर्देशक आदि के जीवन की झाँकियाँ व्यंग्य की तूलिका से अंकित की गई हैं, साथ ही बम्बई में मकानों के अभाव की समस्या को भी तीखे रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक तीन अंकों में है, और प्रत्येक अंक में दो-दो दृश्य हैं। समय और स्थान की अन्विति की रक्षा नहीं की गई है, फिर भी प्रभाव की अन्विति बनी रहती है। नाटक के सम्वाद पात्रों के व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। बम्बईया हिन्दुस्तानी और पंजाबी के सम्वादों से नाटक में स्वाभाविकता भी आई है। विद्वत्सनीयता भी। 'अलग-अलग रास्ते' अशक का कोई नया नाटक नहीं, बल्कि बहुत पहले लिखे गए 'आदि मार्ग' नाटक का ही परिष्कृत रूप है। यह एक समस्या नाटक है, जिसमें विवाह और प्रेम की समस्या के साथ-साथ समाज में नारी की प्रतिष्ठा की समस्या प्रस्तुत की गई है। इसमें अपने समाज की नारी के पुराने संस्कारों का, नव-जागरण की भावना के साथ संघर्ष चित्रित किया गया है। तीन अंकों के इस नाटक में लेखक ने स्थान की अन्विति का पूर्णतः निर्वाह किया है। कथानक का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि अन्त तक आकर्षण बना रहे। स्थान-स्थान पर व्यंग्य के स्पर्श ने नाटक को सजीव बना दिया है। 'अंजो दीदी' का पहला अंक सन् १९४३ में लिखा गया था, और दूसरे अंक की रचना १९५४ में हुई। इस नाटक में अंजलि और उसके परिवार के चित्रण के माध्यम से लेखक ने अभिजात वर्ग में सम्मिलित होने की आकांक्षा रखनेवाले मध्यवर्गीय व्यक्तियों के संस्कारों का अंकन किया है। नाटक चित्र प्रधान है। मुख्य पात्र अंजलि है जिसके निर्देश पर उसका पूरा परिवार चलता है। दूसरे अंक की घटनाएँ बीस वर्ष बाद की हैं जबकि अंजलि जीवित नहीं रहती, फिर भी उसके संस्कार सबको प्रभावित करते रहते हैं। इस नाटक में ऐसी अनेक विरोधपूर्ण स्थितियों एवं प्रसंगों की अवतारणा की गई हैं जिनसे रचना के आकर्षण में वृद्धि हुई है। इसमें हास्य-व्यंग्य का पुट भी कुशलता से दिया गया है। अभिनेयता की दृष्टि से भी यह नाटक काफी सफल रहा है।

समसामयिक राजनीतिक स्थिति एवं सामाजिक-आर्थिक वैषम्य की पृष्ठभूमि पर भी कुछ नाटकों की रचना हुई है। शील ने अपने नाटकों में आर्थिक वैषम्य को बड़ी तीव्रता के साथ चित्रित किया है। 'तीन दिन : तीन घर' में लेखक ने वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न जनजीवन की संकटग्रस्त स्थिति और उसके विरोध में उभरती हुई क्रांति-चेतना को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इसमें एक मुहल्ले के तीन घरों की कहानी कही गई है, और उसके माध्यम से समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से नाटक काफी सशक्त है, पर साम्यवादी विचारों के प्रति लेखक का आग्रह स्पष्टतः परिलक्षित होता है। नाटक तीन अंकों में है, पर घटना-स्थल एक ही रहता है। नाटक में कोई सुसम्बद्ध कथानक नहीं है, और न कोई निश्चित कथा-विकास ही, फिर भी प्रारम्भ से अन्त तक

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण : ६५

तक इसमें आकर्षण बना रहता है। युग की ज्वलन्त समस्याओं को चित्रित करने वाले अभिनेय नाटकों में ऐसी कृतियों का महत्त्व होना चाहिए। सीताराम चतुर्वेदी का 'वसन्त' भी आधुनिक युग के सामाजिक यथार्थ पर आधारित है। इसमें बेकारी, घूस-खोरी आदि को चित्रित किया गया है, पर लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। नाटक अभिनेय है, और अनेक स्थानों पर अभिनीत हुआ है। विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ' भी वर्तमान सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। यह नाटक कलकत्ता के थिएटर सेण्टर द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी नाटक प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ था। जमींदारी समाप्त हो जाने के बाद अभिजात वर्ग के संस्कारों-विचारों में किस प्रकार परिवर्तन होते जा रहे हैं, इसे विनोद रस्तोगी ने प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है। आनन्दप्रकाश जैन ने अपने नाटक 'मास्टरजी' में अस्पृश्यता की समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। यह एक सामाजिक समस्याप्रधान नाटक है—इसमें समस्या को इतनी प्रधानता दी गई है कि कथानक और पात्र सब कुछ गौण हो गए हैं। तीन दृश्यों का यह नाटक एक सेट पर प्रस्तुत किया जा सकता है। राजकुमार का नाटक 'ज्वार-भाटा' वेश्याओं की समस्या पर आधारित है। लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि समाज में वेश्याओं को यदि सम्मान नहीं मिलता है, तो क्या उनकी सन्तान को भी नहीं मिलना चाहिए? यह एक विचारोत्तेजक समस्या है, और लेखक ने इसे कुशलता से उपस्थित किया है। आज समाज में भ्रष्टाचार और अनैतिकता है, वह भी इस नाटक में उभरकर आया है। नाटक सुसंगठित है, पर इसमें आकस्मिकता का बार-बार सहारा लिया गया है, जो बहुत स्वाभाविक और विश्वसनीय नहीं लगता। समस्याप्रधान नाटकों में यह खतरा हमेशा बना रहता है कि कहीं पात्र व्यक्ति न रहकर विचारों के प्रतीक न बन जाएं। इस नाटक में भी कुछ ऐसी ही बात लगती है। सूर्यनारायण अग्रवाल का 'माँ' नाटक भी सामाजिक है। इसमें सामाजिक विषमता का भी चित्र आया है, दहेज-मुक्ति और निर्भोज विवाह की ओर भी संकेत किया गया है। मुख्य पात्रों की संघर्षशीलता के कारण नाटक में गति आई है। इसमें गीतों का व्यवहार सम्भवतः हिन्दी फ़िल्मों द्वारा विकृत जन-रुचि की तृप्ति के लिए किया गया है। राजेन्द्रकुमार शर्मा का अभिनेय नाटक 'रेत की दीवार' भी विवाह की समस्या से सम्बन्ध रखता है। विवाह और प्रेम पर आधारित होने पर भी 'रेत की दीवार' कोई समस्या नाटक नहीं है, हास्यप्रधान नाटक है। इसका उद्देश्य मनोरंजन है जिसमें इसे सफल कहा जा सकता है। हास्यप्रधान नाटकों में चरित्रों की अपेक्षा नाटकीय स्थितियों और संलापों पर अधिक जोर रहता है। इस नाटक में भी यही बात है। कृष्णकिशोर श्रीवास्तव का नाटक 'नींव की दीवारें' राष्ट्र की भावनात्मक एकता पर लिखा गया है, और सरकार द्वारा सन् १९६२ में आयोजित नाटक प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ है। सन्तोष नारायण नौटियाल का नाटक 'चाय पाटियाँ' व्यंग्यप्रधान है, और इसमें समाज के अवसरवादी समझदार लोगों का चित्र अंकित किया गया है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अनेक बड़े नाटकों की भी रचना की है। 'अन्धा

कुआँ' में इन्होंने समाज के निम्नतम वर्ग का जीवन अंकित करने का प्रयत्न किया है। ग्रामीण समाज की कटुताएँ और अस्त-व्यस्तताएँ इसमें अंकित की गई हैं। गाँव के सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से यह नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्योंकि ग्रामीण जीवन में नाट्यलेखन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध रहने पर भी नाटककारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। नाटककारों ने अधिकतर नगर के मध्य वर्गीय समाज को ही अपनी कृतियों का उपजीव्य बनाया है। नाटक अभिनेय है और रंगमंच पर प्रदर्शित हो चुका है। यहीं डॉ० लाल के दूसरे नाटकों की भी चर्चा की जा सकती है। 'मादा कैवटस' इनका प्रतीकात्मक नाटक है जिसमें लेखक ने विवाह से सम्बन्धित एक समस्या उठाई है कि क्या विवाह प्रतिभा के विकास में बाधक होता है? स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का चिरन्तन प्रश्न प्रस्तुत नाटक में आधुनिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। नाटक का स्थापत्य सुदृढ़ है। वस्तु-विन्यास पर्याप्त संश्लिष्टता है, और प्रभाव-सृष्टि की क्षमता भी। प्रतीकों का व्यवहार कुशलता से किया गया है।

प्रसिद्ध रेडियो नाटककार विष्णु प्रभाकर ने 'डॉक्टर' नामक रंगमंचीय नाटक भी लिखा है। इसे मनोवैज्ञानिक नाटक कहकर एक स्वतन्त्र वर्ग में रखा जा सकता है, यद्यपि किसी भी नाट्य-कृति का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्वसनीय होना उसकी अनिवार्य विशेषता होती है। 'डॉक्टर' में लेखक का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या या सामाजिक यथार्थ के चित्रण का उतना नहीं है जितना एक मनोवैज्ञानिक समस्या के चित्रण का। इसमें एक ऐसी नारी का मानसिक द्वन्द्व चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है जो अपने पति द्वारा परित्यक्ता होने पर डॉक्टर बन जाती है और जिसे अपने पति की दूसरी पत्नी का ऑपरेशन करने का अवसर मिलता है। उसके मन में द्वन्द्व होता है—वह अपने पति से प्रतिशोध ले या अपने यानी डॉक्टर के कर्तव्य का पालन करे? लेखक ने इस द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। पर नाटकीय स्थिति के अनुपात में कथानक में विस्तार अधिक लगता है। नाटक के तीन अंकों में पाँच दृश्य रखे गए हैं।

इन मौलिक नाटकों की रचना के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं की उत्कृष्ट नाट्यकृतियों के अनुवाद भी स्वातन्त्र्योत्तर युग में हुए हैं। जब कभी साहित्य की विशेषता विशेष के प्रति जागरूकता होती है, तब उस विधा की दृष्टि से समृद्ध अन्त्या साहित्यों की ओर भी लेखकों की दृष्टि जाती है और महत्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद एवं रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। आलोच्य अवधि में संस्कृत के जित नाटकों के हिन्दी अनुवाद विभिन्न रंगमंचों पर प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किये गए, उनमें 'शकुन्तला' और 'मृच्छकटिक' विशेष उल्लेखयोग्य हैं। अपने यहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं—मराठी के मामा वरेरकर, बंगला से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मलयालम से तोप्पिल भासी, तमिल से श्रीमती स्वामीनाथन, पंजाबी से परितोष गार्गी आदि के नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है। विदेशी लेखकों के शेक्सपियर, शॉ, इन्सन, मिहेल, निबार्डिचयन आदि के नाटक हिन्दी में अनूदित हुए हैं।

अभी तक हमने हिन्दी के केवल अनेकोंकी नाटकों की चर्चा की है, पर स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी का नया नाटक अनेक रूपों में विकसित होता रहा है—एकांकी नाटक, रेडियो नाटक और पद्य नाटक के रूप में इसने अपना बहुमुखी विकास किया है। इनमें सबसे समृद्ध रूप है एकांकी नाटक का। संख्या की दृष्टि से जितने एकांकी नाटकों की रचना इस अवधि में हुई है, उतने बड़े नाटकों की नहीं।

हिन्दी एकांकी को विकास की प्रेरणा अनेक दिशाओं से मिली है। इस व्यस्तता के युग ने लघु नाट्य-रूप की समृद्धि के लिए उर्वर भूमि तो दी ही है, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में नया सांस्कृतिक जागरण हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी एकांकी का माध्यम काफ़ी सुविधाजनक रहा है। विभिन्न प्रकार के नाट्य-समारोहों में जो नाट्य-प्रतियोगिताएँ होने लगी हैं, उनसे भी एकांकी के लेखन को प्रोत्साहन मिला है। आकाशवाणी केन्द्रों के विस्तार का प्रभाव भी अत्याधुनिक हिन्दी एकांकी पर पड़ा है। यह सही है कि रेडियो नाटक रंग-नाटक से भिन्न होता है, पर हिन्दी में प्रसारण के बाद अनेक रेडियो नाटक दृश्य संकेतों के साथ इस तरह प्रकाशित कर दिये गए हैं कि वे रंग-नाटक-जैसे ही लगते हैं।

जिन लेखकों ने सन् १९३० के बाद हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में प्रवेश किया और जिन्हें उसे नव्य स्वरूप प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है, उनमें से कुछ का लेखन-कार्य स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी चलता रहा है। ऐसे लेखकों में डॉ० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अशक, जगदीशचन्द्र माथुर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० वर्मा के नये एकांकी मुख्यतः ऐतिहासिक हैं। अन्य लेखकों ने सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की है। पुराने नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, रामवृक्ष बेनीपुरी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि ने अनेक एकांकी नाटकों की रचना की है, पर इनमें कोई विशिष्टता नहीं दीखती। इन्होंने सामान्यतः अपने कथ्य और विषय-वस्तु को ही अधिक महत्त्व दिया है—नाटकीय चेतना एवं स्थापत्य के दर्शन कम ही नाटककारों की कृतियों में होते हैं। आलोच्य अवधि में ऐसे अनेक नये नाटककार भी उदित हुए हैं जिन्होंने एकांकी को विशेष रूप से समृद्ध किया है। नये एकांकीकारों की कृतियों में विषय और प्रस्तुतीकरण, दोनों की विविधता दिखाई पड़ती है। नये लेखकों की संख्या तो काफ़ी बढ़ी है, पर कुछ नाम बड़े स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आये हैं—सत्येन्द्र शर्मा, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, राजेन्द्रकुमार शर्मा आदि। इनकी कृतियों से स्पष्ट है कि रंगमंच के प्रति सजगता ने एकांकी के शिल्प को विकसित करने में योग दिया है। नये एकांकी की प्रवृत्ति कथानक के विस्तार की ओर नहीं, सघनता की ओर है, जीवन के मार्मिक क्षणों को चित्रित करने की ओर है, चरित्र के आकर्षक पहलुओं को प्रस्तुत करने की ओर है, अन्वितियों के निर्वाह की ओर है, अभिनेयता और प्रदर्शन की ओर तो है ही।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद की अवधि में हिन्दी के रेडियो नाटक ने पर्याप्त विकास किया है। हिन्दी क्षेत्र में रेडियो स्टेशनों की संख्या बढ़ी है, और उनके लिए

नाट्य-लेखन में वृद्धि हुई है। अनेक नये लेखक इस क्षेत्र में सामने आये हैं। इस अवधि में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई है कि रेडियो नाटक को एक स्वतन्त्र नाट्य-विधा के रूप में स्वीकृति मिली है। रेडियो नाटक के शिल्प पर 'रेडियो नाटक' (हरिश्चन्द्र खन्ना) और 'रेडियो-नाटक-शिल्प' (सिद्धनाथ कुमार) नामक दो पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले पुराने और नये लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है, पर रेडियो माध्यम की विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर नाटक लिखने वालों में विष्णु प्रभाकर, हरिश्चन्द्र खन्ना, चिरंजीत, रेवतीसरन शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि लेखकों के नाम स्मरण किये जा सकते हैं। इस अवधि के रेडियो नाटकों में विषय और शिल्प, दोनों दृष्टियों से पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व रेडियो से प्रसारित अधिकतर नाटकों के विषय ऐतिहासिक और रोमांटिक होते थे, पर अब सामाजिक विषयों पर भी नाटकों की रचना होने लगी है। इस सम्बन्ध में यह अवश्य ध्यातव्य है कि रेडियो नाटक के विषयों एवं दृष्टि की सीमा राष्ट्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित है—युग की स्वाधीन चिन्ता की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी रेडियो नाटक में अवकाश नहीं रहता। रेडियो के लिए मनोवैज्ञानिक नाटकों की रचना विशेष रूप से हो रही है। इधर 'विविध भारती' कार्यक्रम के प्रारम्भ के बाद से हास्य और मनोरंजन-प्रधान नाटकों को विशेष स्थान मिलने लगा है, पर इनमें सामाजिक विकृतियों पर हो सकने वाले व्यंग्य का अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। विधा की दृष्टि से पर्याप्त अवकाश रहने पर भी स्वगतनाट्यों और अतिकल्पनाओं की रचना बहुत कम हो पाई है। हिन्दी में रेडियो नाटक का जीवन अभी पचीस वर्षों का ही है, फिर भी इस नव्य विधा ने पर्याप्त विकास किया है। इस क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ सामने आई हैं, पर इस माध्यम की सम्भावनाओं का जितना उपयोग होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

हिन्दी नाटक का एक रूप पद्य नाटक का भी है। प्रसाद ने लगभग पचास वर्ष पूर्व 'करुणालय' गीतिनाट्य की रचना की थी। उनके बाद मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि ने कुछ पद्य नाटकों की रचना की थी, पर वे कृतियाँ काव्य-नाटक के स्वरूप-विधान की सार्थकता नहीं सिद्ध करतीं। वे नाटक की अपेक्षा काव्य के अधिक निकट हैं। उनमें न रंगमंच का ध्यान रखा गया है, न किसी अन्य प्रदर्शन माध्यम का ही। सही अर्थों में हिन्दी के काव्य-नाटक का उदय स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ही हुआ है। आकाशवाणी केन्द्रों के विस्तार के साथ काव्य-नाटक के प्रस्तुतीकरण को नया माध्यम प्राप्त हुआ है। रेडियो का अदृश्य माध्यम अपने स्वभाव से ही कल्पना और काव्यप्रधान होता है। पुराने प्रसिद्ध कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि ने रेडियो के लिए पद्य नाटक लिखे हैं, पर इन सबकी रचनाएँ रेडियो माध्यम के उपयुक्त काव्य-नाटक हैं ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, सिद्धनाथ कुमार आदि ने भी प्रसारणार्थ पद्य नाटक लिखे हैं, जिनमें वस्तु एवं शिल्पगुण वैविध्य

हैं। इस नव नाट्य-युगो नाटक दो पुस्तकों की संख्या के लिखने भारतभूषण के रेडियो गए दिखाई के विषय नाटकों की नाटक के स्वाधीन। रेडियो 'विविध' को विशेष व्यंग्य का देने पर भी में रेडियो ने पर्याप्त स माध्यम है। भग पचास रण गुप्त, नाटकों की नहीं सिद्ध का ध्यान के काव्य के विस्तार रेडियो का ने प्रसिद्ध भ शास्त्री, न सबकी सकता। सिद्धनाथ त वैविध्य

देखा जा सकता है। आलोच्य अवधि में धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' से हिन्दी काव्य नाटक का नया चरण प्रारम्भ हुआ है। यह हिन्दी का पहला काव्य नाटक है जो रंगमंच पर अभिनीत हुआ है। पौराणिक आख्यान के माध्यम से लेखक ने आधुनिक युग की निराशा, कुण्ठा, अनास्था आदि का सशक्त अंकन इस रचना में किया है। 'अन्धा युग' की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसने हिन्दी काव्य-नाटक की सम्भावनाओं का विकास किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक के इस सर्वेक्षण के बाद कुछ सामान्य निष्कर्ष दिये जा सकते हैं। हिन्दी के नये नाटक साहित्य को उसकी समग्रता में देखते हुए उसकी समृद्धि में सन्देह नहीं किया जा सकता, पर कविता, कहानी और उपन्यास आदि की रचना इस अवधि में जितनी हुई है, उसकी तुलना में नाटकों की संख्या बहुत कम है। नाटकों का प्रकाशन भी बहुत कम हुआ है। ऐसी अनेकानेक नाट्य-कृतियाँ हैं जो रंगमंच पर प्रदर्शित हुई हैं अथवा रेडियो से प्रसारित, पर प्रकाशित रूप में सामने नहीं आई है। दूसरी बात यह है कि सम्पन्न रंगमंचों ने जितना अधिक प्रश्रय संस्कृत या अन्यान्य भाषाओं से अनूदित नाटकों अथवा मौलिक ऐतिहासिक नाटकों को दिया है, उतना समसामयिक जीवन पर लिखित नये नाटकों को नहीं। पुरस्कारों से भी ऐसे ही नाटकों को प्रोत्साहन मिला है। तीसरी बात यह है कि रंगमंच के नवोन्मेष ने हिन्दी नाटक को नई दिशा दी है, और अब सफल अभिनेय नाटकों की रचना होने लगी है। इसका प्रभाव नाटक के स्थापत्य पर भी पड़ा है। अधिक नाटक तीन अंकों में आये तीन दृश्यों में लिखे गए हैं जिनमें नाटक का घटना-स्थल परिवर्तित नहीं होता। जिन नाटकों में तीन से अधिक दृश्य हैं, उनमें भी प्रदर्शन की व्यावहारिकता को ध्यान में रखा गया है। कथा-विन्यास में संघर्ष, कौतूहल, चरम सीमा आदि की चिन्ता की जाने लगी है। चरित्रप्रधान नाटक बहुत कम लिखे गए हैं, पर जो लिखे गए हैं उनमें नाटक के विकास की उज्ज्वल सम्भावनाओं का परिचय मिलता है। चौथी बात यह है कि एकांकी के क्षेत्र में हिन्दी नाटक विशेष रूप से सम्पन्न-समृद्ध हुआ है, पर वह अधिकांशतः रेडियो से प्रभावित है। रेडियो ने छोटे-छोटे नाटकों के लेखन के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया है। अनेक लेखकों ने एक ही नाटक को रंगमंच और रेडियो, दोनों के लिए लिखने की कोशिश की है, पर इससे दोनों नाट्यरूपों के स्वतन्त्र विकास में बाधा पड़ी है—यह बात रेडियो नाटक पर विशेष रूप से लागू है। पाँचवीं बात यह है कि काव्य नाटक रंगमंच की ओर उन्मुख हुआ है, और उसके भविष्य का शुभ लक्षण कहा जा सकता है।

नये युग में भी पुराने नाटकों की परम्परा चलती रही है, पर नई चेतना का परिचय नये नाटककारों की कृतियों में मिलने लगा है। हिन्दी का नया नाटक शक्तिशाली विधा का रूप ग्रहण करता जा रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

आंचलिक उपन्यास : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की नवीन उपलब्धि

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में एक विशेष प्रकार के आभिजात्य का दर्शन प्रायः सर्वत्र होता है। अज्ञेय के कथा-साहित्य में यह विशेषता बहुत प्रमुख है। उनके प्रायः सभी पात्र (शेखर, शशि, भुवन, रेखा आदि) अत्यन्त शिक्षित और चिन्तनशील हैं। वे जगह-जगह श्रेष्ठ कवियों की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए विश्व-साहित्य के पंडित मालूम होते हैं। इसी प्रकार इस काल की अन्य प्रसिद्ध कृतियों में भी एक प्रकार का आभिजात्य प्राप्त होता है। किन्तु इधर आकर हमारे साहित्यकारों की दृष्टि लोक-संस्कृति की ओर भी उन्मुख हुई है। आज हिन्दी में जनवादी साहित्य-निर्माण का नारा बुल्दी पर है। लेखकों ने जीवन के यथार्थ में गहरे उतरकर जनवादी साहित्य-सृजन की आवश्यकता महसूस की है। जो सबसे-अधिक उत्पीड़ित, उपेक्षित और शोषित को अपनी सहानुभूति दे सके, उससे गले मिलकर रो सके वही लेखक सच्चा जनवादी है। जो कलाकार भारतीय जन-जीवन का सच्चा चित्रण करना चाहता है उसे निश्चित रूप से आधुनिक सभ्यता से दूर गाँवों में रहने वाले संघर्षरत किसान तक पहुँचना पड़ेगा।^१ भारतीय संस्कृति मूलतः एक होते हुए भी हिन्दुस्तान के अनेक अनदेखे अंजलों में बिखरी हुई है। चाहे लखनऊ हो या बनारस, दरभंगा हो या पूर्णिया (बिहार), बरसोवा के मछुओं की ज़िन्दगी हो या नटों की—सबकी संस्कृति अपने में विशिष्ट है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य में—विशेषतः कथा-साहित्य में, इस अनदेखी संस्कृति और कौमार्य सौन्दर्य को सहानुभूति के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जागरूक मानस में देशभक्ति की जो लहर देश को पराधीनता से मुक्त करने के लिये उठ रही थी, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् वह एक दूसरी दिशा में मुड़ी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन को जगाना और गतिशील रखना ही प्रमुख उद्देश्य था किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश-प्रेम की यह भावना जन-विकास की शिक्षा में उन्मुख हुई है। सहृदय लेखक पिछड़े जन-

१. “कला गाँवों में पनपती है, शहरों में नहीं। हम पकवान खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं—काश किसान पर रीझते तो कितना अच्छा होता। जिस समय सिर पर से पानी बहता हो, गले में साँप सोने न दे रहा हो, बदन पर चिथड़ा लिपटा हो और पास में पार्वती—पर्वत पुत्री खड़ी पसीना पोंछ रही हो, जब उस गरीब पर मस्तक झुके तभी कला की सच्ची पूजा है—शंकर पूजा है। वह किसान ही हमारा शंकर है। साँप टैक्स है—चिथड़े गरीबी है—पार्वती उसकी पत्नी है। साहित्यिक कहता है, “मेरी कविता में अलंकार है, मेरी कला सुन्दर है। मुझे उस किसान से क्या सम्बन्ध—भाड़ में जाय तेरा अलंकार और तेरी कला, तीस करोड़ अलंकार खेतों में लहलहा रहे हैं और तू अपने अलंकारों और कला को चिल्ला रहा है। मानव के इतने बड़े दुश्मन तुम्हें हम साहित्यिक कहें।”

आंचलिक उपन्यास : स्वतन्त्रोत्तर हिन्दी साहित्य की एक नवीन उपलब्धि : ७१

जीवन की ओर लौटा है। उसकी दृष्टि साधारण जीवन और साधारण मनुष्य की ओर गई है। युगों से शोषित और उपेक्षित जीवन जर्जर विश्वासों का पुलिन्दा बन गया था। इस प्रकार शोषण के आर्थिक पहलू से ऊपर उठकर इन उपेक्षितों के समूचे अस्तित्व को उभारने की आवश्यकता महसूस हुई है।¹ साहित्यकारों में स्थानीय प्रेम प्रगाढ़ हुआ है। सन् १९४० ई० के आस-पास से ही हिन्दी उपन्यासों में स्थानीय रंग झलकने लगा था और स्थानीय भाषा प्रयुक्त होने लगी थी। श्री राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने इस बात पर बल दिया था कि प्रत्येक जनपद की संस्कृति की रक्षा होनी चाहिये। सन् १९३५ ई० में इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से महात्मा गांधी ने भी साहित्यकारों को भारतीय गाँवों का स्मरण कराया था। प्रारम्भ में हमारे उपन्यासों में स्थानीय जीवन का केवल खण्ड-चित्र उभरा। श्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा बाबू शिवपूजन सहाय के उपन्यासों में आंचलिक विशेषताओं के चित्रण हुए। वर्माजी ने बुन्देलखण्ड तथा सहायजी ने बिहार के अंचलों की झाँकी दिखाई। बाद में यह प्रवृत्ति एक नये स्तर पर एक अंचल विशेष की संस्कृति तथा जनपदीय लोक-जीवन के संस्कारों को अपनाकर स्थानीय जीवन के व्यापक चित्रण की ओर बढ़ी। फलस्वरूप आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई। आंचलिक उपन्यास हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की एक अत्यन्त नवीन-उपलब्धि है जिसका विकास पिछले दो दशकों में हुआ है।

आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें एक विशेष अंचल (क्षेत्र) के निवासियों का जीवन अपने समग्र रूप में विस्तार के साथ चित्रित होता है। “आंचलिकता लेखक की अपनी कृति को एक अंचल विशेष की आधारभूति पर निर्मित करने तथा वहाँ के निवासियों के जीवन और प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति है”।² आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय रंग-प्रधान होता है किन्तु उन सभी उपन्यासों को जिनमें स्थानीय रंग हो, हम विशुद्ध आंचलिक नहीं कह सकते। दोनों में उद्देश्य और चित्रण का मौलिक अन्तर होता है। उपन्यास में स्थानीय रंग प्रभावात्मकता तथा स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये होते हैं। इनका उपयोग मूल तत्त्व के रूप में

1. “प्रेमचन्द के समय में राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी के विरुद्ध था, अतः उस समय राष्ट्रीयता का ही महत्व उनके उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचन्द आदर्शवादी भी थे। गाँव की बहुतसी असलियत वे इसीसे स्पष्ट नहीं लिख सके थे, क्योंकि उस समय उनकी समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन को बल देने की ही थी। किन्तु अब युग प्रेमचन्द से है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों में बैठने वाले आधुनिकता के नजरिये से सब कुछ देख डालते हैं। पर असली भारत गाँव में है, जो अब भी मध्यकालीन-विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित है। मैंने उनको स्पष्ट करने का यत्न किया है।”

—रांगेयराव : ‘कब तक पुकारूँ’, दि० सं० १९६० ई०, भूमिका।

2. The tendency of some writers to set their works in a particular locality, presented in some detail as affecting the lives and fortunes of the inhabitants...

Joseph T. Shipley: Dictionary of World Literary Terms, p.337-38.

न होकर साज-सज्जा के रूप में होता है।^१ दूसरी ओर आंचलिक उपन्यासों में उस अंचल का समग्र चित्रण होता है। स्थानीय रंग ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के उपन्यासों में हो सकता है। इस प्रकार के उपन्यास हिन्दी में बहुत हैं। वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, रांगेयराघव, निराला और अमृतलाल नागर के कई उपन्यासों में स्थानीय रंग देखा जा सकता है। विष्णुप्रभाकर के 'निशिकान्त', सर्वदानन्द के 'माटी खाई जानवरा' (१९६० ई०) तथा शिवसागर मिश्र के 'दूब जनम आई' (१९६० ई०) आदि उपन्यासों में स्थानीय रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु इन उपन्यासों को विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आंचलिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन-चित्रण में पाई जाती है।"^२ वाजपेयीजी का यह कथन हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में शत-प्रतिशत सही उतरता है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यास प्रमुख रूप से या तो किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण करते हैं या किन्हीं अपरिचित और आदिम जातियों के जीवन का चित्रण करते हैं। नीचे हम हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों पर विचार करेंगे।

हिन्दी के विशुद्ध आंचलिक कहे जाने वाले उपन्यासों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं।

१. पहले प्रकार के वे उपन्यास हैं जिनमें किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला-आंचल' (१९५४ ई०) और 'परती परिकथा' (१९५७ ई०), नागार्जुन का 'वलचनमा' (१९५२ ई०), देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' (१९५२ ई०), राजेन्द्र अवस्थी 'तृपित' का 'जंगल के फूल' (१९६० ई०), बलभद्र ठाकुर के 'नेपाल की वो बेटा' (१९५६ ई०), 'आदित्यनाथ' (१९५६ ई०) तथा 'घने और बने' (१९६० ई०), दयानाथ झा का 'जमींदार का बेटा' (१९५६) तथा

1. The use of environmental detail in a story differs from regionalism in its mainly picturesque intent. It's interest lies in exploring a new or unfamiliar setting or in preserving the record of a changing or dying locale while the regionalist sees in each region different conditions that operate profoundly in the lives of it's people and thus develop different patterns of culture and character, the local colourist takes rather the tourist's view of a countryside;... local colour thus presents superficial elements of setting, dialect, custome, customs, not as a basic element of the story, but as decoration..." Ibid., p. 257.

२. सारिका : नवम्बर १९६१ ई०, पृ० ६१

रामदरस मिश्र का 'पानी के प्राचीर' आदि प्रमुख हैं।

रेणु के 'मैला आंचल' में पूर्णिया (बिहार राज्य का एक जिला) के मेरीगंज तथा 'परती परिकथा' में परानपुर गाँव का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही उपन्यासों में रेणु ने उस अंचल के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन का आँखों देखा चित्रण किया है। गाँव की विभिन्न जातियों, उनके आपसी मन-मुटाव और झगड़ों, उनकी अज्ञानता, अन्धविश्वास, पक्षपात, भ्रष्टाचार, सरकारी कर्मचारियों की घूस-खोरी, स्थानीय त्योहारों, लोकगीतों और लोककथाओं का उपन्यास में सूक्ष्म चित्रण हुआ है। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' के लेखक में अपने अंचल का मोह प्रबल है। वह अपने अंचल के हर चपे, हर कण और हर धड़कन से परिचित है। रेणु को अपने अंचल की धरती, वनस्पति, नदी-ताल, खेत-खलिहान—सब कुछ सुन्दर दिखाई पड़ता है। यह मैला आंचल नहीं स्वर्णिम आंचल है। गेहूँ की सुनहरी बालियों से भरा हुआ खेत मानो सोने की नदी है। बहती हुई पुरवाई हवा मानो नदी में उठती हुई लहर है और उस खेत में खड़े किसान मानो सोने की नदी में क्रीड़ा कर रहे हैं। 'मैला आंचल' के डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया। उसे लगता है, मानो वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है। यह अपनी मिट्टी है। नदी-तालाब, पेड़-पौधे, जंगल-मैदान, जीव-जानवर, कीड़े-मकोड़े सभी में वह एक विशेषता देखता है।^{१२}

नागार्जुन के 'बलचनमा' में दरभंगा (बिहार का एक जिला) तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास का जीवन चित्रित हुआ है। 'रुद्र' के 'बहती गंगा' में काशी-निवासियों का जीवन चित्रित है। इसमें एक दूसरी से अलग, परस्पर स्वतन्त्र, परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई^{१३} सत्रह तरंगों (कहानियों) के द्वारा काशी के पिछले लगभग दो सौ वर्षों (१७५० ई० से १८५० ई०) का इतिहास (प्रमुख घटनाओं तथा व्यक्तियों के माध्यम से) प्रस्तुत हुआ है। उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों की गाथा, अंग्रेजों के अत्याचार, उसके विरुद्ध काशी की वीर जनता की प्रतिक्रिया, उनकी देशभक्ति, 'घरफूँक मस्ती', हृदय की कोमलता तथा साहस चित्रित है। किन्तु 'बहती गंगा' में कहीं-कहीं घटनायें अलौकिक और अस्वाभाविक होने से काल्पनिक प्रतीत होती हैं।

राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का 'जंगल के फूल' मध्य प्रदेश के दक्षिण में स्थित बस्तर जिले के निवासियों के जन-जीवन पर आधारित है। यहाँ के पचहत्तर प्रतिशत निवासी अब भी आदिम सभ्यता में हैं जिनकी अपनी अलग संस्कृति है और अलग मान्यताएँ हैं। इस उपन्यास में बस्तर जिले के इन्हीं निवासियों का जीवन चित्रित है। बलभद्र ठाकुर के उपन्यास 'नेपाल की वो बेटों' में पश्चिमी नेपाल के एक विशेष क्षेत्र—कालीगंड की उपत्यका—के ग्रामीण पहाड़ी जीवन को कथा-क्षेत्र चुना गया है,

१. मैला आंचल, १९५४ ई०, पृ० १८१
२. बही, पृ० २२७
३. बहती गंगा, १९५२ ई०, 'सन्दर्शिका', पृ० १०

किन्तु लेखक ने उपन्यास में प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी-नेपाल के ग्रामीण पहाड़ी जीवन का खाका खींच दिया है। इस उपन्यास का कथा-काल सन् १९२० से १९२३ ई० तक है। ठाकुर साहब के दूसरे उपन्यास 'आदित्यनाथ' में कुल्लूघाटी के अंचल का बड़ा ही आकर्षक चित्रण हुआ है। ठाकुर साहब के ही उपन्यास 'घने और बने' में पूर्वी हिमालय के दार्जिलिंग क्षेत्र के शहरी एवं चायबगानी जीवन का चित्रण हुआ है। दयानाथ झा का उपन्यास 'जमींदार का बेटा' मिथिला के जन-जीवन पर आधारित है। उदयशंकर भट्ट का 'लोक-परलोक' पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गंगा तट स्थित पद्मपुरी नामक तीर्थग्राम पर आधारित है। रामदरस मिश्र का 'पानो के प्राचीर' गोरखपुर—देवरिया जिलों (पूर्वी उत्तर प्रदेश) के दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र के जन-जीवन पर आधारित है। अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' यद्यपि विशुद्ध आंचलिक उपन्यास नहीं है किन्तु उसका भी कथानक मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश के लखनऊ शहर पर ही आधारित है।

इस प्रकार इस कोटि के आंचलिक उपन्यासों का प्रमुख लक्ष्य किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का यथार्थ और समग्र चित्रण करना है।

२. दूसरे प्रकार के आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमें किसी जाति विशेष (प्रायः अपरिचित और आदिम जातियों का) का जीवन चित्रित होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' (१९५७ ई०) तथा देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' (१९५३ ई०) आदि उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' में उदयशंकर भट्ट ने बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए वरसोवा नामक मछलीमारों के गाँव को कथा का आधार बनाया है। उपन्यास की महानता सभ्यता से दूर छूटे इस भूभाग में जीनेवाले असभ्य तथा अर्द्धसभ्य प्राणियों की जीवन गाथा को कुशलता से चित्रित करने में है। लेखक ने इन मछलीमारों के आपसी सम्बन्ध, उनके प्रेम और घृणा की भावना, ईर्ष्या, वासना एवं यौन-सम्बन्ध का यथार्थ चित्र खींचा है। इनका जीवन हम सभ्य कहे जाने वाले प्राणियों के जीवन से भिन्न है। यहाँ स्त्रियाँ पति पर शासन भी करती हैं, उपपति भी रख लेती हैं। इन निरीह प्राणियों में जितनी ही सचाई और कोमलता है उतनी ही ईर्ष्या। लेखक ने यथासम्भव अपने को अजित संस्कारों एवं नैतिक पूर्वाग्रहों से दूर रखने का प्रयत्न किया है। वह उनके सामाजिक जीवन (प्रेम, विवाह), आर्थिक जीवन (व्यवसाय, रहन-सहन पोशाक), धार्मिक-जीवन (त्योहार, धार्मिक विश्वास—खंडाला देवता की पूजा आदि) और संस्कृति से पूर्ण परिचित है।

रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' में जरायमपेशा कही जाने वाली खानाबदोश करनट जाति का जीवन चित्रित है। इनकी जीवन-रीति सभ्य कहे जाने वाले लोगों से नितान्त भिन्न है। लेखक ने भूमिका में इस जाति को नट, डोम, भंगी, संपेरा, चमार, धोबी आदि असभ्य तथा नीच समझी जाने वाली जातियों से भी अलग किया है। उपन्यासकार ने भूमिका में इनकी नैतिकता, पेशा, पोशाक, रहन-सहन, विवाह-

आंचलिक उपन्यास : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक नवीन उपलब्धि : ७५

छुआछूत आदि का विवरण प्रस्तुत किया है।^१ करनटों के इसी विशिष्ट जीवन पर यह उपन्यास आधारित है। सम्पूर्ण उपन्यास में इस जाति का सामाजिक, आर्थिक और नैतिक जीवन 'भूमिका' में स्पष्ट किये गए विचारों के अनुरूप है। किन्तु उपन्यासकार ने इनकी नैतिकता को आदर्श बनाकर नहीं प्रस्तुत किया है।^२

'रथ के पहिए' में देवेन्द्र सत्यार्थी ने आदिवासियों के एक वर्ग—गोंडों के जीवन को चित्रण का विषय बनाया है। उन्होंने उपन्यास में गोंड-जीवन और उनकी विशेषताओं का सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है।

आंचलिक उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा में रखा जा सकता है। इनमें आंचलिक जीवन का यथार्थ चित्रण होता है। लेखक वर्ण्य जनपद के सम्पूर्ण सुख-दुःख, समूचे राग-विराग को भोगकर प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत करता है। यथार्थ का यह आग्रह रांगेयराघव के 'कब तक पुकारूँ' में पूर्ण रूप से मिलता है। वर्ग-संघर्ष को उपन्यासकार ने उभारा है। दरिद्र और छोटी जातिवालों पर धनी और ऊँची जाति के लोगों के अत्याचार उपन्यास में भरे पड़े हैं। लेखक ने उत्पीड़ित और शोषित खानाबदोश करनटों के आर्थिक शोषण और उससे उत्पन्न उनके सामाजिक-नैतिक विश्वासों को सही-सही (उनकी सभी कुरूपताओं के साथ) प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इनकी स्त्रियों के साथ उच्चवर्ग बलात्कार करता है, पुलिस इनको पकड़कर पीटती है और नाना प्रकार के अत्याचार करती है। सुखराम करनट (कथानायक) पागल की भाँति उत्तेजित होकर एक स्थल पर कहता है—

"..... हम नट है। हमारे पास कुछ नहीं। हम जुआरी, चोर, उचक्के, बेईमान, कमीने, खोखेबाज, झूठे हैं। हमारी औरतें कुतियों की तरह रहती हैं। ये सिपाही, ये बड़े लोग उन्हें बीमारी देते हैं। फिर वे औरतें वे ही बीमारी हमें देती हैं। फिर हम मरते हैं। मरते वक्त गुस्सा आता है तो कत्ल तक करते हैं। हम कभी किसी का भला नहीं कर पाते, हमें मौका मिलता है तो हम लोगों को ठगने का जतन करते हैं। जो भूखों मरते हुए किसान हैं, वे भी हमसे सुखी हैं। उन्हें बीहरा

१. "..... इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। इनमें मर्द औरत को बेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ज्यादातर ये लोग चोरी आदि करते हैं। और डोल मड़ना, हिरन की खाल बेचना इनका काम है। इनकी औरतें होमिनियों की तरह नाचती हैं।" वहाँ कोई बुराई 'सेक्स' के आधार पर नहीं मानी जाती। वे लोग हिन्दुओं के देवी-देवताओं को मानते हैं। "नटों में छुआछूत चलती है, करनटों में नहीं।" सपेरो की तरह इनमें भी शादी में ब्राह्मण नहीं बुलाया जाता।"

नट हिन्दू ही है। वे मुसलमानों के हाथ का नहीं खाते, पर करनटों में ऐसी रुकावट नहीं है। वे गोशर भी खाते हैं, शराब भी पीते हैं, खतरनाक भी होते हैं।"

पुराने जमाने में यहाँ के करनटों की हर लड़की जब जवान होती थी, तो पहले उसे ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी।"

'कब तक पुकारूँ,' द्वितीय संस्करण १९६०, भूमिका।

२. "मैंने इनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है। बल्कि पाठकों को इसमें 'सेक्स' को ऐसी जानकारी के रूप में हासिल करना चाहिये कि यह इनमें होता है।" — वही, भूमिका

नोचता है, वकील ठगता है, पुलिस खाती है, सब चूसते हैं, पर हम बेघरवार कुत्ता की तरह घूम-घूमकर जूठन खाने को अपनी आजादी कहते हैं।”

इस प्रकार लेखक ने इन उत्पीड़ितों और शोषितों की दुर्दशा, इनके सामाजिक नियम और नैतिक विश्वास के प्रति संवेदना जगाने का प्रयत्न किया है।

‘मैला आँचल’ और ‘परती परिकथा’ के लेखक ने भी अपने अंचल के निवासियों की प्रत्येक धड़कन सुनने की चेष्टा की है। उसने उस अंचल की सुन्दरता-असुन्दरता, गरीबी-अमीरी—सब कुछ का यथातथ्य—हू-बहू चित्र खींचने का प्रयास किया है।^१ किन्तु यथार्थवादी होते हुए भी रेणु आदर्शवादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं। इसीलिए ‘कब तक पुकारूँ’ रेणु के उपन्यासों की तुलना में अधिक यथार्थवादी है। हिन्दी के लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय-भाषा और बोलियों के प्रयोग बहुलता के साथ हुए हैं। विशेष रूप से रेणु ने स्थानीय भाषा का बेलगाम प्रयोग किया है। कुटाई-पिसाई, गोंडठा, बतियाना, अकुताना, किरिया, टूअर, भकर-भकर आदि ग्रामीण शब्दों के अतिरिक्त अंग्रेजी के बिगड़े हुए शब्दों का (जिनका रूप गाँवों में बिगड़ गया है) उसी रूप में प्रयोग हुआ है, जैसे—डिस्टीबोट, कनकसन, मोलटियरी, डागडर, बिलेक, जेहल, लचकर, मिटिन, पुलोगराम आदि। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों में ग्रामीण मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के सन्दर्भ में यह भाषा की समस्या सबसे जटिल है। इन उपन्यासों की भाषा दूसरे दूर-प्रान्तों के हिन्दी-पाठकों के लिए एक कठिनाई उपस्थित करती है। इन उपन्यासों के अनुवाद की भी समस्या जटिल है। तमाम टिप्पणियों के बावजूद दूसरी भाषाओं में इन उपन्यासों के अनुवाद मूल भाव व्यक्त न कर सकेंगे। उपन्यास में स्थानीय भाषा का प्रयोग वहीं तक उपयोगी हो सकता है जहाँ तक उपन्यास की स्पष्टता एवं सरसता बनी रहे। केवल जनपदीय भाषा का व्यवहार ही अलम् नहीं है। भाषा स्थानीय संस्कृति को उभारने का साधन हो सकती है। किन्तु उपन्यास को शब्दों का अजायबघर नहीं बनाया जा सकता। आंचलिक उपन्यासों में ‘कब तक पुकारूँ’ की भाषा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। उसमें भाषा-सम्बन्धी-दुरूहता नहीं है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में बिखराव अधिक प्राप्त होता है। इस बिखराव के कारण उपन्यासकार किसी व्यापक कथा और महान् चरित्र की सृष्टि नहीं कर पाता। रेणु अपने दोनों ही उपन्यासों (‘मैला आँचल’ और ‘परती परिकथा’) में किसी एक व्यापक कथा और महान् चरित्र की सृष्टि नहीं कर सके हैं। घटनाओं के आधिक्य के कारण कथा में असंबद्धता और नीरसता आ गई है। केवल कुछ बिखरे चित्र मिलते हैं। दोनों ही उपन्यासों में चरित्र संख्या में बहुत अधिक है।

१. ‘कब तक पुकारूँ,’ द्वितीय संस्करण १९६० ई०, पृ० ३७१-७२।

२. “इसमें फूल भी है शल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी” मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।”

रेणु : ‘मैला आँचल’, पहले संस्करण की भूमिका से

आंचलिक उपन्यास : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक नवीन उपलब्धि : ७७

चरित्रों के सम्बन्ध में यही हालत 'बहती गंगा' में भी है। 'सागर लहरें और मनुष्य' का कथानक भी कमजोर है। यह जगह-जगह जोड़ा हुआ और अस्वाभाविक लगता है।

आंचलिक उपन्यासों में अपने अंचल का मोह प्रबल होने से उपन्यासकार की दृष्टि के संकुचित होने का खतरा बराबर रहता है। कलाकार की दृष्टि व्यापक होनी चाहिए। केवल आंचलिक उपन्यास होने से ही उसका मूल स्वर भी सीमित नहीं हो जाता। अन्य उपन्यासों की भाँति इनमें भी मानव-मूल्यों और युगीन-संघर्षों का यथार्थ चित्रण होना चाहिए। परिवेश का चित्रण साधन रूप में ही हो सकता है। आंचलिक उपन्यास कोई भूगोल नहीं हो सकता। वस्तुतः आंचलिक उपन्यासकार की दृष्टि सृजनात्मक है। वह आंचलिक समस्याओं का चित्रण करते हुए एक नये समाज की रचना करना चाहता है। समाज के घातक तत्वों को निर्मूल कर नव-निर्माण की प्रेरणा उसका उद्देश्य है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य गम्भीर और सामाजिक है। इनकी सफलता जन-जीवन की सच्ची किन्तु महान् कथा कहने में है। जो उपन्यास गाँव के नाच-गाने, त्योहार तथा अन्य आंचलिक दृश्यों को बिना किसी महान् आधार के प्रस्तुत करेगा वह समर्थ नहीं कहा जा सकता।

ऊपर गिनाई गई कुछ कमजोरियों के बावजूद हिन्दी में आंचलिक-उपन्यासों का भविष्य आशाप्रद है। आजकल हिन्दी में आंचलिक उपन्यास बहुत लिखे जा रहे हैं। निस्सन्देह वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आंचलिक-उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया है।

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दी में रेखाचित्र और रिपोर्टाज

हिन्दी की अपेक्षाकृत कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्टाज, यात्रा-साहित्य, आदि को अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका। वस्तुतः प्राचीन साहित्य में काव्य को जिस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था, और उसी को लेकर सिद्धान्तों का जिस प्रकार निर्माण हुआ, उसी प्रकार हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी काव्य और तत्पश्चात् कथा को ही अधिक जनप्रियता प्राप्त हुई। आज भी यही स्थिति है। हिन्दी की सिद्धान्तवादिता अधिकांशतः 'काव्य' को आधार बनाकर प्रस्तुत होती रही है अथवा इधर कथा-उपन्यास की चर्चा अधिक हो रही है। गोष्ठियों, परिसंवादों और विशिष्ट व्याख्यानों में भी काव्य और कथा का ही ऊहापोह अधिक होता है, स्वभावतः अन्य विधाओं के लेखक उपेक्षित अनुभव करते हैं और इन विधाओं को साधारण-प्रतिभाएँ ही प्राप्त हो पाती हैं। कभी-कभी अन्य विधा-विशेषज्ञ इन अप्रचलित विधाओं में भी कुछ लिख देते हैं किन्तु हिन्दी में इन विधाओं में अभी तक गंभीर प्रयत्न नहीं हुए हैं। आलोचना की एक भी अच्छी कृति इन विधाओं पर अभी तक प्रस्तुत नहीं हो

सकी है, फलतः यदि इन विधाओं के लेखक यह कहते हैं कि हिन्दी में कवि, कथाकार और आलोचक अन्य विधाओं का विकास नहीं देखना चाहते तो इस आरोप में सत्य का अंश अवश्य है।

एक दृष्टि से किसी साहित्य की समृद्धि और व्यापकता का पता इस तथ्य से चलता है कि उसमें कितनी विधाओं में उच्चतम कोटि का साहित्य विद्यमान है और यह भी कि उसके साहित्यशास्त्र या सैद्धान्तिक आलोचना में व्याप्ति कहाँ तक है? हिन्दी का रससिद्धान्त पण्डितों के द्वारा अभी तक इतना व्यापक नहीं बन पाया है कि उसके द्वारा इन कम प्रचलित विधाओं का परीक्षण हो सके। अतः अप्रचलित विधाएँ हमारे सम्मुख इस प्रकार की कुछ चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। सिद्धान्त-शास्त्र केवल सारतत्त्व (essence) पर ही आधारित होकर नहीं चल सकता क्योंकि वह दर्शन की तरह केवल 'मूलतत्त्व' पर विचार का अभ्यस्त होने के कारण सन्दर्भहीन और सतही बन जाता है।

सारतत्त्ववादी दृष्टि से साहित्यमात्र की विशिष्टता अनुभूति और भाव की कलात्मक अभिव्यंजना है। स्पष्टतः इस महाव्याप्ति में रेखाचित्र-रिपोर्ताज भी आ जाते हैं किन्तु इससे साहित्येतर और साहित्य का भेद प्रस्तुत हो जाने पर भी कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः प्रत्येक विधा अपने मूल में एक जीवन-दृष्टि—एक परिप्रेक्ष्य छिपाए रहती है। वास्तविकता के 'चित्रण' में परिप्रेक्ष्य से चित्रण-विविधता आती है, अतः काव्य, कथा, नाटक से रेखाचित्र-रिपोर्ताज-संस्मरण आदि में जो चित्रण-वैविध्य है, उसका कारण लेखक का परिप्रेक्ष्य-परिवर्तन है। स्वयं रेखाचित्र और रिपोर्ताज आदि के मध्य इस परिप्रेक्ष्य-अनुवेध को देखा जा सकता है और केवल इसी आधार पर इनकी विशिष्टताओं और भेदों को समझा जा सकता है अतः काव्य-रूप की समस्या मात्र बाह्य विभाजन नहीं है, अपितु विधास्थित दृष्टि या परिप्रेक्ष्य का अनुसन्धान है।

कम प्रचलित विधाओं और काव्य-कथा-नाटक में मुख्य अन्तर यह है कि उपन्यास, काव्य आदि की तुलना में रेखाचित्रादि वस्तु-सम्पूर्णतावादी दृष्टि लेकर नहीं चलते। महाकाव्य और महानाटक तथा उपन्यासों में वास्तविकता को उसकी पूर्णता में बिम्बित-चित्रित किया जाता है जबकि रेखाचित्रादि में एक स्थान पर स्थित होकर Positional वस्तु या व्यक्ति को देखा जाता है। रेखाचित्रादि व्यक्तिगत जीवन समष्टिगत जीवन की सभी धाराओं, सभी कालक्रमों और सभी प्रश्नों-समाधानों एवम् प्रवृत्तियों को नहीं देख सकते अतः सत्य और तथ्य की सांगोपांगता (Totality) इन विधाओं में नहीं मिलती। कम-से-कम हिन्दी की अपेक्षाकृत अप्रचलित विधाओं के विषय में यह कथन सही लगता है।

दृष्टि के अतिरिक्त दृष्टिप्रेरक तत्त्वों—मनोवेगों, उद्देश्यों और भावावेगों (Impulses) की मात्रा, विस्तार और गम्भिरता की दृष्टि से भी अप्रचलित विधाओं और काव्य-कथादि में अन्तर उपस्थित हो जाता है। रेखाचित्रादि में लेखक की सम्पूर्ण चेतना (Total Consciousness) समाविष्ट नहीं हो पाती, शायद इसीलिए इन्हें साहित्यकार उतना महत्त्व नहीं देना चाहते। परन्तु इसीलिए इनका विशिष्ट महत्त्व भी

सिद्ध होता है क्योंकि समुद्र के अतिरिक्त सुन्दर सरोवरों, लघु वीचिविलासमय सरिताओं और किसी प्रस्तर या पल्लव पर चमकती एक बूंद का भी अपना अद्वितीय सौन्दर्य होता है। शायद 'लघु' हमारे जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है अतः 'उदात्त' तत्त्व का अभाव होने पर भी ये लघुविधाएँ परिचित संसार का परिचित पद्धति पर आलेखन करती हैं। अपने अस्तित्व की नम्रता और लघुता समझकर भी ये विधाएँ साहित्य और जीवन को एक अपनत्व देती हैं। पराएपन का अभाव, आतंक का अभाव और अधिक मेधागत—कल्पनागत ऊहापोह का अभाव इनकी उपलब्धि है।

कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्टाज परस्पर निकटतम विधाएँ हैं। संस्मरण में भावात्मकप्रियता अधिक कार्यरत रहती है, उदाहरणतः पंडित बनारसीरास चतुर्वेदी की 'संस्मरण' नामक पुस्तक में पंडित श्रीधर पाठक आदि पर लिखित संस्मरणों 'प्रियता' और पसन्दगी लेखक के चित्त को वर्ण्यव्यक्ति की उन जीवन-स्थितियों पर केन्द्रित कर देती है, जो उसे प्रिय हैं, पसन्द हैं। अतः संस्मरणों को पढ़ते समय लेखक के व्यक्तित्व का भी अध्ययन होता चलता है। हिन्दी में ऐसे संस्मरण बहुत कम मिलते हैं, जिनमें स्मर्यमाण व्यक्ति का 'तटस्थ' स्मरण किया गया हो। इसका कारण यह है कि दिवंगत व्यक्तियों के विषय में भारतीय धारणा अप्रिय पक्षों की चर्चा को मृतात्मा के प्रति असम्मान समझती है। राग-द्वेष से रहित 'शव' को यहाँ परम पवित्र माना गया है और जो उपस्थित नहीं है, उस व्यक्ति की संज्ञा 'शव' है। 'शव' के प्रति सम्मान-पूर्ण दृष्टि का अर्थ यह है कि व्यक्ति पूर्ण नहीं होता, कोई कृति पूर्ण नहीं होती। अतः जीवन्त तत्त्वों में सहायक पक्षों और मूल्यों का स्मरण ही विधेय है। प्राचीन काल से 'परम्परा' के प्रति जो यह दृष्टि रही है, वही संस्मरण लिखते समय लेखक के मन में समाई रहती है अतः भारतीय संस्मरणों में शुभ पक्षों का ही उद्घाटन अधिक होता है, जानने पर भी कुत्सित पक्षों का उल्लेख अवाञ्छनीय माना जाता है।

रेखाचित्र संस्मरणों से अधिक तटस्थ अंकन है। 'रेखाचित्र' शब्द से तो लगता है कि इस विधा में केवल व्यक्ति या वस्तु या स्थान का शब्दचित्र रहता है। मूलतः यह चित्रकला के क्षेत्र की प्रवृत्ति है जहाँ रेखाओं द्वारा व्यक्ति या वस्तु का आभास प्रस्तुत किया जाता है। रेखाओं के चित्र में रंग अनावश्यक होते हैं, इसी तरह शब्द के माध्यम से अंकित चित्रों में भाव की ऊष्मा अनावश्यक है। किन्तु रेखाओं से चित्र बनाते समय व्यक्ति या वस्तु के प्रति—एक उन्मुखता आवश्यक है, उसी प्रकार साहित्यिक रेखाचित्र में व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक राग-उन्मुखता अनिवार्य तत्त्व है। बाह्यकृति अंकन के लिए वर्ण्य-व्यक्ति या वस्तु में कोई विशिष्टता लेखक को आकर्षित करती है। यह विशिष्टता आकृतिगत ही नहीं, आचरणगत, अभ्यासगत (आदत सम्बन्धी), स्वभावगत और पद्धतिगत भी हो सकती है अतः प्रायः जीवन में प्रचलित और स्वीकृत प्रणालियों से भिन्न जब किसी व्यक्ति में कुछ विलक्षणता दिखाई पड़ती है तब वह रेखाचित्र के योग्य बनता है। "यह व्यक्ति अपने में एक 'कैरेक्टर' है, यह रेखाचित्र के योग्य है,"—इस प्रकार के कथन प्रायः सुनाई पड़ते हैं। फिर भी साधा-

रण से साधारण व्यक्तित्व में कुछ अद्वितीयता होती ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस अर्थ में अद्वितीय होता है और इस दृष्टि से एक सामान्य साँच के भीतर ढला हुआ होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्तरों पर विलक्षण होने के कारण रेखाचित्र का विषय बन सकता है। उपन्यासों, कथाओं में रेखाचित्रों का बहुत अधिक प्रयोग होता है। प्रत्येक उपन्यास के ये रेखाचित्रात्मक स्तर वर्णित वस्तु या व्यक्ति को वाणी देते हैं। रेखाचित्र द्वारा वस्तु और व्यक्ति सवाक् हो उठते हैं, उनकी असाधारणता स्पष्ट होती है अतः रेखाचित्र प्रचलित और स्वीकृति साँचों के मध्य व्यक्ति के गौरव का, सौन्दर्य और आकर्षण का, वैविध्य और महिमा का आकलन बन जाता है। रेखाचित्र यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक अस्तित्व में सामान्य और विशिष्ट की एक संगति रहती है। इस प्रकार एक बहुत बड़ा सत्य रेखाचित्र लेखक अनजाने ही हमारे सम्मुख प्रकट करता है।

रेखाचित्र में उपर्युक्त 'तटस्थता' और 'उन्मुखता' की संगति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह सफल होगा। 'तटस्थता' का अर्थ रुचि का अभाव नहीं है। 'तटस्थता' का अर्थ है कि हम 'व्यक्ति' को अपने साथ जुड़ी—निजताओं-परताओं से ऊपर उठकर—एक सौन्दर्यपरक दृष्टि से देख सकते हैं। इससे व्यक्ति की विलक्षणताएँ एक 'सौन्दर्य-विषय' के रूप में प्रस्तुत हो जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे मन में कोई राग नहीं होता। राग होता है पर वह आवेग या भावुकता बनकर रेखाचित्रण की स्थिति में हमें सम्मोहित नहीं कर देता। 'तटस्थता और उन्मुखता की सामान्य स्थितियों के भीतर रेखाचित्र लेखक की रुचियाँ, मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ भी कार्यरत रहती हैं, उसका सौन्दर्यबोध भी संलग्न रहता है अतः एक ही व्यक्ति और वस्तु, स्थानादि पर विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र मिलते हैं। विशाल भारत के 'शहीद अंक' में शहीदों पर लिखे गए रेखाचित्रों में बाह्याकृतियों के सम्पुञ्जन और आलेखन में यह 'दृष्टि' कार्यरत है कि शहीद महामानव थे; वे मानवता के उद्धारक तथा सवर्षहोमी थे अतः उनकी साधारण चाल-ढाल, रूप, हावभाव, चेष्टादि उनके विकट-कर्माँ के परिचायक निर्देशों या चिह्नों का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसा लगता है, जैसे यदि उनका रेखांकन भिन्न होता तो वे ऐसे विकट कर्माँ नहीं हो सकते थे और यह सत्य है कि दृढ़ संकल्पी व्यक्ति की शरीर-रचना चाहे जैसी हो, उसकी चितवनि और चाल-ढाल में कुछ अजीब आकर्षण आ ही जाता है। गठन; गति से रूप पाता है। रेखाचित्र इस बाह्य गठन आदि को ही अंकित करता है, वह 'गति' के साथ सम्बन्ध जोड़कर कारण-कार्य परम्परा अपनाकर विश्लेषण नहीं करता अतएव रेखाचित्र प्रतीतियों का अंकन है, ऐसी प्रतीतियों का जिनके कारणों की चेतना रेखाचित्र लेखक के मन में होती है, पर वह उसकी व्याख्या नहीं करता। वह पुण्य अथवा परिणाम को देखता है। उसका ध्यान 'सृष्टि' पर है, इस तथ्य पर नहीं कि वह इस प्रकार की ही क्यों है, इससे अन्यथा क्यों नहीं है ?

कुछ रेखाचित्र व्यक्ति या वस्तु की विलक्षणता के रोचक अंश पर ही अधिक ध्यान देते हैं, यथा सुरेशनाथ दीक्षित के 'पण्डित जी' में, अथवा बाबू गुलाबराय के

‘नापिताचार्य’ में। कुछ लेखक व्यक्ति के भीतरी उपकरणों पर अधिक ध्यान देते हैं, यथा वृन्दावनलाल वर्मा के ‘हलकू’ में। यह स्पष्टतः ‘दृष्टिभेद’ है। कहीं केवल वाह्य-आकृतियों और प्रतीतियों का आकलन होता है जैसे भगवतशरण उपाध्याय के ‘बो दुनिया’ में। कुछ स्थान का शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं जैसे सुहृदय के ‘राँची के प्रपात’ तथा रासबिहारीलाल के ‘खण्डहर बोलते हैं’ में। यहाँ लेखक ‘दृश्य’ के साथ अपनी दृष्टि का तादात्म्य करता है, एक सौन्दर्यबोधोदात्तक-तटस्थता के साथ। मानवप्रेमी प्रवृत्तियों पर सर्वाधिक ध्यान देकर रेखाचित्र बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखे हैं, जैसे ‘नवीन जी’ पर उनका रेखाचित्र। यह स्मरणीय है कि संस्मरण और रेखाचित्र की विधाएँ एक-दूसरे में सन्निविष्ट होती चलती हैं। इन दोनों में भेदक तत्त्व सिर्फ भावात्मकता की मात्रा का है—संस्मरणों में भाव लेखक को पर्याप्त मात्रा तक अनालोचक बनाए रखता है, रेखाचित्र में उन्मुखता अथवा रागात्मक स्पर्श-मात्र से ही काम चल जाता है।

रेखाचित्र व्यंग्यमयी चित्रवृत्ति में भी लिखे जाते हैं और शस्त्रहीन सौन्दर्य-बोधक स्थिति में भी—ये दोनों स्थितियाँ एक ही दृष्टि में मिली भी रह सकती हैं। घोर शत्रुता की मानसिक स्थिति बनाकर, खिल्ली उड़ाने की मानसिक दशाओं में भी रेखाचित्र लिखे जा सकते हैं लेकिन ऐसी दशा में राग चित्रित व्यक्ति में न होकर किन्हीं लेखक की धारणाओं में प्रतिबद्ध होता है। मेरी जानकारी में हिन्दी में पूर्ण वैज्ञानिक स्थिति में लिखित रेखाचित्र एक भी नहीं मिलता। वस्तुतः रेखाचित्र मानव-प्रेमी विधा है, एक विशेष प्रकार की सहानुभूति और तादात्म्य इसके लिए अनिवार्य है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने साधारण जनो पर ‘दीप जले, शंख बजे’ कृति में अनेक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं, यहाँ मानवीय सहानुभूति के कारण साधारण जन विशिष्टता प्राप्त करते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के ‘गेहूँ और गुलाब’ में भी यही प्रवृत्ति है। बेटव बनारसी के ‘उपहार’ में हास्यरसात्मक शब्दचित्र हैं। हास्यरस के लेखकों के लिए रेखाचित्र के क्षेत्र में असीम सम्भावनाएँ हैं यों बेटव, काका, बरसानेलाल चतुर्वेदी, चोंच, कुल्हड़ आदि ने पद्यात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं और उनमें अनेक रोचक हैं !

रेखाचित्रों में चित्रण की प्रधानता होती है, संस्मरणों में विवरण अधिक होते हैं। संस्मरणों में प्रसंगों और कथाओं का प्रयोग होता चलता है। घटित का विवरण और उससे वर्ण्यव्यक्ति की विशिष्टता या उपलब्धि पर प्रकाश प्रक्षेपण-संस्मरण की प्रचलित विधि है जबकि रेखाचित्र में लंगड़ी शैली में, रूप अभिव्यक्तिकारक नपे तुले शब्दों का प्रयोग अधिक होता है अतः रेखाचित्र संस्मरण से कहीं अधिक बड़े कलाकार की अपेक्षा करता है। संस्मरण में वर्ण्यव्यक्ति के कृतित्व और महिमा का बल रहता है क्योंकि पाठक या श्रोता का ध्यान लेखक के विवरण से होता हुआ वर्ण्यव्यक्ति के गौरव या विशिष्टता का अनुसन्धान कर; उससे आकर्षित होता है और संस्मरण की दुर्बलता को वर्ण्यव्यक्ति की महत्ता दवा ले सकती है किन्तु रेखाचित्र में कलाकार की शब्दशक्ति पर रूप को स्पष्ट और सवाक् करने की क्षमता पर; पाठक या श्रोता का सीधा ध्यान रहता है। सफल से सफल संस्मरण लेखक, वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति को वह

गौरव नहीं दे सकता जिसके लिए यह वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति अयोग्य होता है; हाँ, असफल संस्मरण लेखक वर्ण्य व्यक्ति की महत्ता को अस्पष्ट रख सकता है। अतः जिस सीमा तक असफल संस्मरण लेखक अपने विषय का गौरव घटा सकता है; सफल संस्मरण लेखक अपने प्रतिपाद्य का गौरव उसी सीमा तक बढ़ा नहीं सकता अतः सफलतम संस्मरणों में गोर्की का तालस्ताय पर लिखा संस्मरण इसलिए भी अधिक सफल हुआ है क्योंकि उसका विषय है तालस्ताय। अतः इस संस्मरण में हमें गोर्की और तालस्ताय दोनों प्रभावित करते हैं। साधारण व्यक्तियों पर लिखित संस्मरणों में गोर्की उतना प्रभावित नहीं कर सके। रेखाचित्र जब किसी प्रसिद्ध और पूर्व से ही मन में बसे व्यक्ति पर लिखा जाता है, तथा उसे भी यह उक्त सुविधा मिल जाती है किन्तु साधारण व्यक्तियों पर लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों में रेखा चित्रकार का कार्य अधिक कठिन है।

पद्मसिंह शर्मा और श्रीराम शर्मा के क्रमशः 'पद्मपराग' और 'बोलती प्रतिमा' में वह शब्दशिल्प नहीं मिलता जो बेनीपुरी की 'माटी की मूर्तें' और प्रकाशचन्द्र के 'मिट्टी के पुतले' और 'पीपल', 'खण्डहर' आदि में मिलता है। विशेषकर बेनीपुरी के रेखाचित्र अधिक सफल हुए हैं क्योंकि वहाँ विषय के लिए शब्द का बिम्बपरक चुनाव किया गया है। यह शब्दचयन जितना अधिक वास्तविकता के सदृश होगा अर्थात् वास्तविकता की अनुरूपता का वह जितना अधिक आभासक होगा, उतना ही रेखाचित्र अधिक सफल होगा। मछिन्द्रनाथ की 'घास वाली' हर्षदेव के 'पण्डित पातेप्रसाद' आदि में वह शब्द अंतर्दृष्टि नहीं मिलती जो बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और 'माटी की मूर्तें' में मिलती है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने निर्जीव वस्तुओं यथा 'लैटर बक्स' 'तोता का ताल' 'दिल्ली दरवाजा' आदि को अपने शब्दचित्रों से अमर कर दिया है। इसका कारण लेखक की निर्जीव वस्तुओं में भी जान डाल देने की क्षमता है जो वस्तुओं में अपनी चेतना-प्रेक्षण की क्रिया है। विस्तृत हृदय का व्यक्ति ही यह चेतनादान कर सकता है, यह दृष्टि स्पष्टतः प्रकाशचन्द्र गुप्त को प्रगतिवादी मानववाद से मिली है और बेनीपुरीजी को समाजवादी मानववाद से; जबकि बाबू गुलाबराय को 'पराई पीर' समझने वाली वैष्णवता से और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को उनकी प्रिय अराजकतावादी उदात्त व्यक्तिधारणा और मानवप्रेम से मिली है। यह प्रेम वस्तुओं तक फैलकर उन्हें जीवन्त रूपों के विच्छुरण की शक्ति देता है और दूसरी ओर यही प्रेम किसी व्यक्ति या वस्तु पर केन्द्रित होते ही लेखक की चेतना में सार्थक शब्दों को उसी तरह उभारता है जैसे मंथन दुग्ध से नवनीत को जन्म देता है, अतः संस्मरणों और रेखाचित्रों में हिन्दी की यह मानव प्रेमी प्रवृत्ति ही परिलक्षित हुई है।

यात्रा साहित्य और संस्मरण कही जाने वाली कृतियाँ वस्तुतः रेखाचित्रों की भी उदाहरण बन जाया करती हैं क्योंकि प्रायः हिन्दी लेखकों में संस्मरण लिखते समय पहले या मध्य में रेखाचित्र प्रस्तुत करने की एक परम्परा ही दिखाई पड़ती है। इस दृष्टि से अरे यायावर रहेगा याद, एक बूंद सहसा उछली (अज्ञेय), ठेले पर हिमालय (धर्मवीर भारती), सुबह के रंग (अमृतराय), नन्दन से लन्दन (ब्रजकिशोर नारायण) सागर की लहरों पर (भगवतशरण उपाध्याय) दूसरी दुनिया (अक्षयकुमार जैन)

हैं; हाँ; आदि यात्रात्मक साहित्य में रेखाचित्र के अंश मिलते हैं। संस्मरणों में अतीत के चल-चित्र, स्मृति की रेखाएँ (महादेवी) संस्मरण (वनारसीदास चतुर्वेदी), क्या गोरी क्या साँवरी, रेखाएँ बोल उठीं (देवेन्द्र सत्यार्थी) जजीरें और दीवारें (वेनीपुरी) जो न भूल सका, जो लिखना पड़ा (भदन्त आनन्द कौशल्यायन), पथचिह्न, परिव्राजक की प्रजा (शान्तप्रिय द्विवेदी), भूले हुए चेहरे, जिन्दगी मुस्कराई (प्रभाकर), साहित्यिक जीवन के संस्मरण (किशोरीदास वाजपेयी), मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे (गुलाबराय) स्मृति कण (सेठ गोविन्ददास), पहली सलामी (चतुरसेन), चाँद पत्रिका का फाँसी अंक, ज्यादा अपनी, कम पराई (अशक), आदि कृतियों में रेखाचित्र भरे पड़े हैं अतः रेखाचित्रों की दृष्टि से भी इनका उल्लेख आवश्यक है।

इसी प्रकार 'इण्टरव्यू'-साहित्य में भी रेखाचित्रात्मक अंश मिलते हैं, 'मैं इनसे मिला' (कमलेश) के अतिरिक्त पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित इण्टरव्यू-साहित्य विपुल-मात्रा में मिलता है, कथा और उपन्यासों में प्राप्त रेखाचित्रों का उल्लेख किया जा चुका है।

रेखाचित्रों की दृष्टि से वेनीपुरी, प्रभाकर, वनारसीदास चतुर्वेदी, और प्रकाश-चन्द्र गुप्त का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

रिपोर्टाज हिन्दी की नवीन विधा है। संस्मरण और रेखाचित्र हिन्दी में आज़ादी के बहुत पूर्व लिखे जाने लगे थे लेकिन रिपोर्टाज १९४० के बाद ही लिखे गए। किसी घटना की रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को रिपोर्टाज कहा जाता है। किन्तु इसमें लेखक घटना का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है यों मुनी हुई घटना पर भी रिपोर्टाज लिखे जा सकते हैं। इस दूसरी विधि में घटना के 'होने' के काल का कल्पना में अपनी और पूर्वानुभव से मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध में इस विधा का विशेष विकास हुआ। इलिया एहरेनबुर्ग के रिपोर्टाज प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में बंगाल के अकाल पर रांगेय राघव ने शक्तिशाली रिपोर्टाज लिखे थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय, प्रभाकर माचवे आदि ने भी रिपोर्टाज लिखे हैं। आकाशवाणी से मेलों, उत्सवों, कीड़ाओं, खेलकूद, जन्म-मरण आदि अवसरों पर जनसमूह की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संपरक वर्णन प्रसारित होता है, यह रिपोर्टाज-साहित्य में ही सम्मिलित हो सकता है। इस प्रकार के रिपोर्टाजों में कुछ आकर्षक रिपोर्टाज प्रसारित हुए हैं, गांधी नेहरू और शास्त्रीजी की मृत्यु के अवसर पर प्रसारित रिपोर्टाजों में यदि करुणा-जनक दृश्यों का साक्षात्कार किया गया है तो पर्वों उत्सवों के विवरणों में हर्षोल्लास का। खेलकूद के विवरण में उत्साह और विनोद की अभिव्यक्ति होती है। अभी यह साहित्य मात्रा में और गुणा में प्रारम्भिक स्थिति में ही है।

रिपोर्टाज में घटना का यथावत् वर्णन और लेखक का उत्साह ये दो मुख्य तत्त्व होते हैं। यहाँ भी लेखक किस दृष्टि से घटना को देखता है और उस 'होने' (becoming) को अपने 'स्व' से कैसे जोड़ता है, यह बहुत महत्वपूर्ण होता है। मात्र होने की रिपोर्ट या तो पुलिस थाने में लिखी जाती है या अन्य अधिकृत सूचनाओं में। किन्तु घटना एक संकुलन प्रक्रिया है। व्यक्तियों के साथ घटना को जोड़ने के अतः उनकी

भाषा-अकांक्षाएँ, उनकी चेष्टाएँ, सन्देह और निश्चय, पराक्रम और पलायन आदि सब कुछ रिपोर्ताज में व्यक्त होते हैं। रेखाचित्र में लेखक एक सौन्दर्यबोधक तटस्थ बरतता है किन्तु रिपोर्ताज में—पक्षधरता ही अधिक व्यक्त होती आई है। रांगेयराघव के अकाल पर संस्मरणों में केवल भूख से तड़पते बंगाल के व्यक्तियों का ही शब्दक्रीड़ा नहीं है अपितु लाशों पर मँडराते गिद्धों—अन्न के लिए अस्मत्त बेचती नारियों, मुनाफ़ेखोर धन्नासेठों की लालचग्रस्त आँखों, अफ़सरों की लापरवाह मुखमुद्राओं और सरकारी दम्भों का भी जीताजागता चित्रण किया गया है और इन सारी घटनाओं को एक सूत्रता देने वाली दृष्टि है, लेखक की जनता के प्रति प्रीति। यदि रांगेयराघव की जगह कोई प्रतिक्रियावादी लेखक अकाल पर रिपोर्ताज लिखता तो वह भारतीयों के भाव-वाद, अंगरेजशाही की कठिनाइयों और उदारता आदि से विवरण में एकसूत्रता का कार्य लेता। इस प्रकार परिप्रेक्ष्य के प्रति पक्षधरता अथवा प्रतिबद्धता के बिना रिपोर्ताज में लेखक का उत्साह व्यक्त नहीं हो सकता।

रिपोर्ताज रूस में बहुत लिखे गए, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय। वहाँ लेखकों को युद्ध के मोर्चों पर भेजा गया और वहाँ से उन्होंने युद्ध में रूसी जनता की वीरता और बलिदान का, युद्ध की भयंकरता और विनाश का जीवन्त चित्रण किया। भारत पर चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के समय लेखकों को मोर्चों पर नहीं भेजा गया, कुछ चित्रकार बाद में अवश्य भेजे गए अतः स्वतन्त्रता के बाद रिपोर्ताज का यहाँ स्वर्णिम अवसर निकल गया। निर्माण-कार्यों के स्थलों पर भी रिपोर्ताज नहीं लिखे गए। खेद का विषय है कि इधर अब भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

रिपोर्ताज वस्तुगत सत्य को प्रभावशाली बनाता है, उसका सम्बन्ध वर्तमान से होता है किन्तु उसका लेखक वर्तमान के उस बिन्दु पर होता है, जिस भूतकालीन मूल्य और भावनाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी अतः रिपोर्ताज में सर्वत्र एकहरा वर्णन नहीं होता। इनमें लेखक की गूढ़ चेतना उछलते हुए और अपने में चिन्तन और अनुभव से संवलित शब्द और वाक्य अनायास ही सम्मिलित होते चलते हैं और साथ ही आमूलचूल स्पन्दित भावकण क्षण-प्रतिक्षण घटने वाली वास्तविकता को मानवीय सन्दर्भ देते चलते हैं। कभी लेखक 'होने' की क्षण-क्षण परिवर्तित-रूप आकलित करता है तो कभी उस होने में 'पूर्व' और 'पर' जोड़कर उसे एक काल प्रवाह में रखकर देखता है; कभी उस 'होने' की प्रक्रिया उपकरणों और व्यक्तियों पर नज़र डालता है तो कभी घटना और मनुष्य की निष्ठा पर विचार करता है अतः रिपोर्ताज-साहित्य क्रिया के क्रम में स्थित होकर रिपोर्ताज साहित्य है। रिपोर्ताज का लेखक घटना का स्वयं अंश है और उसका द्रष्टा भी वह मात्र सिंहावलोकन नहीं करता, न वह चित्रकार की तरह दूर से दृश्य को देखता है, वह घटना का साक्षात् भोक्ता बनता है। अकाल में रांगेयराघव का लेखक भूखे साथ भूख की पीड़ा से तड़पता है, दो मुट्ठी अन्न पाकर वह 'उस' भोजन के आनन्द की कल्पना को अनुभव में बदलता है। इसी तरह युद्ध में रिपोर्ताज लेखक मारने के साथ मारता है और मरने वाले के साथ मरता है। अतः रिपोर्ताज में लेखक घटना

और द्रष्टा के मध्य की दूरी को अपने माध्यम से समाप्त कर देता है और विरोधाभास यह कि फिर भी वह एक स्तर पर तटस्थ रहता है। वह चन्द्रवरदाई की तरह द्रष्टा भी है और भोक्ता भी, लेखक भी है और मरजीवा भी। बिना कल्पना को अनुभव में बदले सफल रिपोर्ताज नहीं लिखे जा सकते और साथ ही अनुभव को कल्पना में पकाए बिना भी वह रिपोर्ताज का सफल लेखक नहीं बन सकता।

इस प्रकार रेखाचित्र की तटस्थता का विगलन और साथ ही रेखाचित्रक की तटस्थता रिपोर्ताज के अनिवार्य तत्त्व हैं। रिपोर्ताज में कल्पना, भाव और बुद्धि सर्वाधिक रूप में सक्रिय रहते हैं अतः यह विधा साहित्य की सबसे अधिक क्रियापरक विधा है जैसे एक ही व्यक्ति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों एक साथ क्रियारत हों और फिर भी एक स्तर से 'परमब्रह्म' की तरह लेखक अपनी चेतना के इन तीनों सक्रिय आयामों को साथ-साथ देखता चल रहा हो।

ऐसी सक्रिय विधा में शब्द उसी प्रकार त्वरा पकड़ते हैं जैसे स्वचालित बन्दूक से निकलने वाली गोली। यह स्वयंचालित प्रक्रिया रिपोर्ताज लेखन के समय उपयुक्त शब्दों को स्वतः चेतना में अवतरित कर देती हैं क्योंकि शब्दशिल्प के लिए वरण और चयन का समय रेखाचित्र-संस्मरण आदि में मिल सकता है, रिपोर्ताज में नहीं। अतः यहाँ सरस्वती जैसे विद्युत आघात पा जाती है और लेखक के मुख या लेखनी से बाह्य प्रत्यक्ष घटना विद्युत की तरह झटके दे-देकर उसका श्रेष्ठ रचनात्मक तत्त्व खींचकर बाहर निकाल लेती है। इस प्रकार रिपोर्ताज में ध्यान, धारणा, कल्पना और भाव की 'गति' में समन्विति होती है जबकि रेखाचित्र में इन सबकी संगति 'स्थिरगति' में होती है। रेखाचित्र में लेखक की चेतना का चमत्कार मिलता है, रिपोर्ताज में क्रिया और लेखक पर उसकी तीव्रतम प्रतिक्रिया इन दोनों का। अतः रिपोर्ताज क्रिया का सौन्दर्य है, संस्मरण क्रिया और व्यक्तित्व के स्मरण का सौन्दर्य है और रेखाचित्र बाह्याकृतियों और चेष्टाओं की पुनर्प्रस्तुति का सौन्दर्य है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज के क्षेत्रों में लेखकों की सफलता की असीम सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। काव्य, कथा और आलोचना के वशीभूत हिन्दी लेखन यदि इन कम प्रचलित विधाओं को भी आवश्यक समय और शक्ति दे तो न केवल हमारा साहित्य जीवन के अधिक निकट पहुँच सकेगा अपितु हिन्दी का साहित्यचिन्तन जिस संदेहवाद और निरर्थकतावाद से पीड़ित हो रहा है, उससे भी उसे मुक्ति पाने में मदद मिलेगी। अप्रतिष्ठित या कम प्रतिष्ठित विधाओं को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया में लेखकों को भी प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलेगा और साथ ही हिन्दी की भागीरथी का प्रवाह भी विस्तृत होगा। आशा है लेखक बन्धु इधर ध्यान देंगे।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-अनुसंधान : सीमाएँ और संभावना

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-अनुसंधान-कार्य का आकलन करने से पहले मैं हिन्दी-शोध इतिहास का सिंहावलोकन आवश्यक समझता हूँ। आधुनिक युग का एकेडेमिक कार्य पश्चिम के विश्वविद्यालयों की देन है, विशेष रूप से उपाधि सापेक्ष अनुसंधान तो बहुत कुछ पश्चिम के अनुकरण पर ही विकसित हुआ है। जिस प्रकार विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हम पश्चिम का अनुकरण आधी शताब्दी बाद करते हैं, उसी प्रकार साहित्यिक शोध में भी हम पश्चिम से लगभग एक शताब्दी पिछड़े हुए हैं। हिन्दी में उच्चस्तरीय अध्ययन-अध्यापन का प्रारम्भ ही सन् १९२२ से हुआ था। अनुसंधान का उसके दस वर्ष बाद अर्थात् सन् १९३२ से प्रारम्भ होना कुछ अभाविक नहीं है। यों तो हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध विषयों पर किंवद्वानों ने सन् १९११ से ही अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कर दिया था। प्रसिद्ध प्राध्यापक विद्या विशारद डॉ० टेस्सीटोरी ने रामचरित मानस और रामायण का अध्ययन प्रकाश कर अपनी शोध-वृत्ति का अच्छा परिचय दिया था। तदनन्तर लंदन विश्वविद्यालय में जे० एन० कारपेंटर, एफ० ए० के तथा मोहिउद्दीन कादरी ने क्रमशः तुलसीदास कबीर और हिन्दुस्तानी ध्वनि पर शोधकार्य किया। इन चारों प्रबन्धों को हम हिन्दी अनुसंधान के सूत्रपात्र करने वाले मौलिक ग्रन्थ मान सकते हैं।

भारतवर्ष में संस्कृत विभाग के अन्तर्गत लिखा गया हिन्दी-विषयक प्रथम प्रबन्ध डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'अवधी का विकास' शीर्षक ग्रन्थ है। हिन्दी विभाग के अन्तर्गत लिखा गया हिन्दी का सबसे पहला शोध-प्रबन्ध सन् १९३४ में बड़वाल का था जो हिन्दी के निर्गुण काव्यधारा का अनुसंधान प्रस्तुत करता है। इसी वर्ष कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय से सूरदास के काव्य पर तथा पेरिस विश्वविद्यालय से 'ब्रजभाषा' पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए। ये प्रबन्ध हिन्दीतर भाषाओं में लिखे गए थे किन्तु इनके विषय हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व काशी, प्रयाग, पंजाब, आगरा, कलकत्ता, और लखनऊ विश्वविद्यालयों में शोधकार्य का श्रीगणेश हो गया था। इन आठ विश्वविद्यालयों में तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में कुल मिलाकर सन् १९११ से सन् १९४५ तक ३८ शोध-प्रबन्ध लिखे गए अर्थात् सानुपातिक दृष्टि से एक वर्ष में एक प्रकाश में आया। इन शोध प्रबन्धों की समीक्षा करना इस समय अनावश्यक है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन अड़तीस प्रबन्धों में से पच्चीस प्रबन्ध जिन्हें हिन्दी-अनुसंधान की दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान का प्रारम्भ यदि सन् १९४८ से माना जाय तो सन् १९६५ तक सत्रह वर्षों में उपाधि सापेक्ष प्रबन्धों की संख्या चालीस गुनी

अर्थात् सानुपातिक दृष्टि से प्रतिवर्ष सैतीस शोध-प्रबंधों पर उपाधि प्राप्त हुई है। जब कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले अड़तीस वर्षों में अड़तीस—प्रतिवर्ष केवल एक-शोध-प्रबंध पर उपाधि मिली थी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी में अनुसंधान की प्रगति स्वातंत्र्योत्तर-काल में ही हुई है। इस समय तक हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबंधों की संख्या छह सौ है और लगभग पन्द्रह सौ विषयों पर शोध-कार्य हो रहा है। शोध की इस विपुल संख्या को देखकर कई प्रश्न हमारे सामने आते हैं जिन पर हम आगे की पंक्तियों में विचार करेंगे। किन्तु मूलभूत दो कारणों का संकेत करना यहाँ अनुचित न होगा। पहला कारण है अनुसंधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास तथा दूसरा कारण है विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि। सम्प्रति भारतवर्ष के २८ विश्व-विद्यालयों एवं शोध-प्रतिष्ठानों में हिन्दी शोध-कार्य हो रहा है जबकि स्वतंत्रता-पूर्व केवल ८ विश्वविद्यालयों में शोध की सुविधा थी। शोध की प्रविधि और प्रक्रिया भी पहले की अपेक्षा विकसित हुई है और शोध-छात्र उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-शोध के क्षेत्र में हुई इस क्रान्तिकारी प्रगति को भली-भाँति समझने के लिए कतिपय स्थूल तथ्यों की ओर मैं पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पहली बात जो सभी क्षेत्रों में चर्चा का विषय बनी हुई है वह है शोध का स्तर। शोध का स्तर गुणवत्ता से आँका जाता है, परिमाण से नहीं। गुणवत्ता के सम्बन्ध में हिन्दी-शोध के निर्देशकों के मत-सम्मत बहुत निराशाजनक हैं, यदि मैं उन्हें यहाँ उद्धृत करूँ तो हिन्दी-शोध की प्रगति पर प्रतिबंध लगाने का आग्रह सभी के मत में व्यक्त होगा। शोध का स्तर इतना भिन्न क्यों हुआ यह विचारणीय होने के साथ चिन्त्य भी है। शोध ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें निष्ठा के साथ वस्तुपरक दृष्टि से अनुसंधाता को कार्य करना चाहिए। उसमें न तो काल का प्रतिबंध होता चाहिए न किसी प्रकार के आरोपित प्रतिमानों का भय। अनुसंधाता सत्यान्वेषी की भाँति तथ्यों का अनुशीलन करता हुआ निर्णीत और छाने-फटके हुए सत्य को प्रस्तुत करे जो पहले से अज्ञात होने के साथ यथार्थ रूप में ग्राह्य एवं उपादेय हैं।

अनुसंधान का मूल है जिज्ञासा। जहाँ ज्ञान के विस्तार अथवा अज्ञात के उद्घाटन की आकांक्षा है वहीं अनुसंधान का बीज निहित है। यदि जिज्ञासा ही शोध का प्रेरक तत्त्व रहे तो निम्न स्तर के शोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब अनुसंधान को जीविका और व्यवसाय के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तभी उसके उद्देश्य से च्युत होने की आशंका पैदा हो जाती है। जबसे पी-एच० डी० उपाधि को व्यवसाय के धरातल पर ग्रहण किया गया तभी से उसके स्वरूप और परिणति में परिवर्तन आ गया। अनुसंधान की क्षमता के बिना भी अनुसंधान करने वाले जब इस क्षेत्र में कूद पड़े तब स्तर की रक्षा किस तरह संभव थी? कितनी दुर्भाग्य की वह घड़ी रही होगी जब अनुसंधान-जैसे अध्यवसाय एवं निष्ठा के कार्य के साथ उपाधि का गठबन्धन हुआ होगा। भारतीय विश्वविद्यालयों में आज अनुसंधान का कार्य कम और उपाधि प्राप्त करने का प्रयत्न अधिक हो रहा है। शोध के साथ यह उपाधि सापेक्ष खिलवाड़ सभी विषयों में हो रहा है, यह केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं है। हिन्दी के शोध-प्रबंध

छपकर सामने आ जाते हैं तो उनका मूल्यांकन कर लिया जाता है जबकि अन्य विषयों के निम्नस्तरीय शोध-प्रबंध पांडुलिपियों में मुंह छिपाए दुबके पड़े रहते हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में सबसे उपाधि के निमित्त अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ तभी से उसके अधःपतन का भी प्रारम्भ समझना चाहिए। अनुसंधाता पथभ्रष्ट होकर तात्त्विक शोध के प्रशस्त राजमार्ग से हटकर उपाधि की संकरी गली में घुस गया और वहाँ आर्थिक प्रलोभन से लुब्ध होकर अपने कार्य को पूरा करने में लग गया। सतत वर्धमान ज्ञान पिपासा, जो अनुसंधान की मूल प्रेरक-शक्ति है, इस प्रकार के पथभ्रष्ट अनुसंधाता के पास नहीं रह पाई और उसे उपाधि ने आक्रान्त कर लिया। अनुसंधाता यह भूल गया कि उसके समक्ष ज्ञान के विस्तार का ध्येय है, अज्ञात को उद्घाटित करने का दायित्व है, अंधकार से आलोक में तथ्यों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य है। फलतः वह शोध करते हुए भी शोध का आलोक विकीर्ण नहीं कर सका।

यह कहना असंगत न होगा कि गवेषणा या शोध के द्वारा नवीन तथ्य, नवीन सूचनाएँ, नवीन विचारधाराएँ और नवीन सिद्धान्त प्रकाश में आते हैं। इन्द्रियगोचर तथ्यों के आधार पर अनुभूति और कल्पना से कलाकार जिस जगत् का निर्माण करता है वह साहित्य-जगत् है। साहित्य की रचना-प्रक्रिया में रचनाकार का अपना मनो-जगत् या भावजगत् ही अधिक क्रियाशील रहता है। साहित्यिक रचना कलाकार की अपनी स्वच्छन्द सृष्टि है, इसके निर्माण में कलाकार की अपनी मेधा, प्रतिभा और सर्जक शक्ति का ही योग है—यह एक आत्मपरक कृति है, किन्तु अनुसंधान इससे सर्वथा भिन्न एक वस्तुपरक रचना है जिसमें अनुसंधाता को दृढस्थ और निस्संगभाव से तथ्यों का अनुशीलन कर निर्णय और निष्कर्ष प्रस्तुत करने होते हैं। इन निष्कर्षों में तर्क, मुक्ति, प्रमाण आदि का पूरा बल रहता है तभी ये स्वीकार्य बनते हैं। अतः अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने उपादान और निमित्त कारणों को दृष्टि में रखकर ही इस कार्य में प्रवृत्त हो। शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार कार्य करने पर निम्नस्तरीय कार्य के लिए न्यूनावकाश है किन्तु कितने शोधार्थी हैं जो विधि-विधान से परिचित होकर ही अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं। जिन्होंने कभी किसी पुस्तकालय के द्वार पर पैर नहीं रखा, कभी दो सौ पुस्तकें इकट्ठी नहीं देखीं, वे भी शोध का झंडा उठाये, उपाधि की फ़िराक में घूमते देखे जा सकते हैं। लेद इस बात का है कि इस तरह चक्कर लगाने वाले अध्ययन-विहीन शोधार्थी भी एक दिन 'डॉक्टर साहब' के रूप में पहचाने जाते हैं और अपने हस्ताक्षर करते समय नाम के आगे अशिष्ट रूप में डॉक्टर लिखना नहीं भूलते।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान में संख्या और परिमाण की दृष्टि से जो विपुलता लक्षित होती है वह चौंका देने वाली है। यदि इस विपुलता का प्रभाव हिन्दी शोध के निर्देशकों पर अनुकूल पड़ता तो निराश होने की बड़ी बात न होती लेकिन निराशा यह देखकर होती है कि जो विद्वान प्रोफ़ेसर शोध-कार्य का निर्देशन-नियंत्रण कर रहे हैं वे अत्यन्त खिन्न और विषण्ण भाव से हिन्दी-अनुसंधान पर आठ-आठ आँखें बहा रहे हैं। स्वयं निर्माता, नियन्ता, निर्देशक होकर भी वे अपने सृजन से असन्तुष्ट

न्य विषयों हैं। यह उनके आत्मनिरीक्षण का एक पक्ष है; किन्तु इस प्रकार के निम्नस्तरीय अनुसंधान पर प्रतिबंध क्यों नहीं लगाते यह भी चिन्त्य है। मैं भी हिन्दी अनुसंधान में साक्षीदार हूँ और अनेक बार इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक सोचता हूँ लेकिन व्यवसाय के घरातल से ऊपर उठकर कोई सही और स्वस्थ समाधान नहीं दे पाता। अनुसंधान के भयंकर दुश्चक्र में फँसे हुए विद्वान् निर्देशकों की पीड़ा का ज्ञान होने पर भी साहस की कमी से कोई भी शल्य-क्रिया के लिए तत्पर दिखाई नहीं देता।

जो कुछ हो गया सो हो गया—बीती ताहि बिसार दे आगे की सुध लेय—को भी ध्यान में रखा जाए तो हिन्दी अनुसंधान का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। फोड़े की पीर को सहने से अच्छा है फोड़े का फूटना, मवाद का निकलना। इस मवाद को निकालने का साहस सभी वरिष्ठ हिन्दी प्राध्यापकों को जुटाना होगा तभी अनुसंधान का सड़ा फोड़ा ठीक हो सकेगा। यदि मैं वरिष्ठ आचार्यों की वेदना के वचन यहाँ उद्धृत करूँ तो पाठक समझ सकेंगे कि हिन्दी के शोध-निर्देशक अज्ञान में नहीं हैं। वे जागरूक और सतर्क होकर भी दृढ़ संकल्प के अभाव में पीड़ा का दुख भोग रहे हैं। लीजिए, वरिष्ठ आचार्य की मर्म-व्यथा के कुछ वाक्य जो उनके आन्तरिक संताप की सहज रूप से व्यक्त करते हैं—

“कभी-कभी सोचता हूँ कि बेकारी न होती तो लोग क्या इस कठिन कार्य की ओर प्रवृत्त होते। बैठे से बेगार भली—विशेषकर बेगार से यदि कुछ भविष्य में जीविका मिल जाने की संभावना हो। शोध-कार्य को इस विषम सामाजिक प्रश्न से बल मिल रहा है। भीड़ बढ़ रही है। बहुत लोग निराश हो गए हैं। यह सब क्या हो रहा है। अधिक-अधिक लोग काम करें, इसमें क्या बुराई है? बुराई इस बात में है कि शोध करने वाले से जैसी लगन, निष्ठा और ईमानदारी की आशा की जाती है, वैसी पाई नहीं जाती। लेकिन जाने भी दो, काहे को गंगाजल उठवाते हो।”

यदि मैं सभी विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों तथा शोध निर्देशकों के मत यहाँ उद्धृत करने लगूँ तो शायद एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो वर्तमान हिन्दी शोध से सन्तुष्ट हो और उसके पक्ष में विचार रखता हो। जिनके विचार मैंने ऊपर उद्धृत किये हैं उनसे हिन्दी-शोध की झाँकी मिल जाती है, लेकिन चित्र का यह एक पार्श्व है। दूसरा पार्श्व आशाजनक भी हो सकता है। मैं समझता हूँ कि आत्मनिरीक्षण के रूप में विभागाध्यक्षों और निर्देशकों का मत यदि निराशाजनक है तो कोई बुरी बात नहीं है, क्योंकि आत्मनिरीक्षण से ही सत्य का बोध होता है। दूसरों के कथन की उपेक्षा करने के बाद व्यक्ति स्वयं आत्मनिरीक्षण में प्रवृत्त होता है और यथार्थ को समझने में समर्थ होता है।

यदि हिन्दी अनुसंधान केवल बेगार है या बेकारी को दूर करने का अल्प-कालिक सहारा है तो उससे किसी श्रेष्ठ उपलब्धि की आशा करना बालू में से तेल निकालना है। लेकिन सभी शोधार्थी न तो बेकार होते हैं और न शोध को बेगार के रूप में ग्रहण करते हैं। ऐसे भी शोधार्थी हैं जो अच्छे पद पर आसीन हैं, विद्वान् हैं, शोध की प्रविधि के जानकार हैं और सत्यानुसंधान की प्रेरणा से इस दिशा में कार्य करने

आए हैं। अतः इसको विस्मृत कर एकपक्षीय निर्णय देने की जल्दबाजी मैं नहीं करना चाहता। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति और उपलब्धि का विवरण प्रस्तुत करते समय दोनों पक्षों का विवरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

स्वातन्त्र्योत्तर शोध को यदि विषयानुसार वर्गीकृत किया जाए तो मोटे तौर पर हम उसे दस वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यदि इतिहास के कालक्रम से विभाजन किया जाए तो वह चार वर्गों में होगा। किन्तु अनुसन्धान की रूपविधा और प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए इतिहास के कालक्रम से विभाजन असमीचीन ही ठहरता है। इसलिए मैं प्रमुख दस वर्गों में विभक्त करके ही उसका आकलन करना उचित समझता हूँ।

पहले वर्ग में मैं उन शोध प्रबन्धों को स्थान देता हूँ जिनका सम्बन्ध भाषा विज्ञान तथा भाषापरक अध्ययन से है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अवधी भाषा के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के लिए व्याकरण सम्बन्धी अनुसन्धान को प्रमुखता देकर भाषा-विषयक अनुसन्धान की नींव रखी थी। स्वतन्त्रता के बाद इस दिशा में बहुत अधिक कार्य हुआ और शायद हिन्दी की भाषा, विभाषा और बोली का कोई रूप आज नहीं बचा है जिसका अनुसन्धान के निकष पर अध्ययन न हुआ हो। मैथिली, भोजपुरी, ब्रजवुलि, बांगरू, हलवी, राजस्थानी, बैसवाड़ी, ग्वालियरी, मालवी, खड़ीबोली, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, दक्खिनी, बिहारी, रुहेली, मुण्डारी, कुरमाली, हरियानी, कुमायूनी, गढ़वाली, रावल्पी, सिराजी, निमाड़ी, खुरपट्टी, जौनसारी, सिरमौरी, पहाड़ी, कुल्लू की बोली, डोगरी, हड़ौती, भीली, बागरीबोली, कुरपाली बोली, शेखावाटी बोली, मेवाड़ी, मेवाती, मगही, छत्तीसगढ़ी, भतरी, पंजाबी आदि चार दर्जन भाषाएँ और बोलियाँ अनुसन्धान के द्वारा प्रकाश में लाई गई हैं और उनका व्याकरण की दृष्टि से भी अध्ययन किया गया है।

भाषा के क्षेत्र में ही दूसरे प्रकार का अध्ययन व्याकरण और ध्वनि का है। जैसे ब्रजभाषा, खड़ीबोली, भोजपुरी आदि का व्याकरणपरक अध्ययन। कुछ जनपदों की बोलियों का भी विशेष रूप से अध्ययन हुआ है : जैसे मेरठ जनपद की भाषा, बुलन्दशहर जनपद की भाषा, दिल्ली की खड़ी बोली, गोरखपुर की भाषा, आजमगढ़ जिले की शब्दावली, अलीगढ़ की कृपक शब्दावली आदि। इस प्रकार के अध्ययन भी तीन दर्जन से ऊपर हैं। हिन्दी भाषा के शब्द, धातु, परसर्ग, (प्रत्यय) उपसर्ग, कारक, ध्वनि कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका विस्तार से अध्ययन न हुआ हो। जातियों के नाम, व्यक्ति नाम, नगर नाम, बिहार के स्थान का नाम, आदि विषयों का पूरा अध्ययन हिन्दी में हो चुका है। लोक-साहित्य के अध्ययन में भाषा का पूरा रूप समेटा गया है और विस्तारपूर्वक भाषा को अनेक दृष्टियों से जाँचा-परखा गया है। किसी-किसी विषय पर तो चार-पाँच प्रबन्ध एक-से ही प्रस्तुत हुए हैं। इसी क्रम में प्रसिद्ध कवियों की भाषा का अध्ययन भी आता है जैसे, चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, देव, बिहारी, पद्माकर, भूषण, केशव, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला,

रामचन्द्र शुक्ल, छायावाद की भाषा, आधुनिक काव्य भाषा, आदि विषयों पर भी तीन दर्जन प्रबन्ध उपलब्ध हैं। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन भी इसी वर्ग के भीतर है। जैसे हिन्दी तथा पंजाबी की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन, खड़ी बोली परिनिष्ठित हिन्दी और पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन, तमिल, तेलुगु, संस्कृत, मलयालम, बंगला, मराठी आदि का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन हुआ है। लगभग एक दर्जन प्रबन्ध इस वर्ग में भी हैं। लिपि को भी मैं इसी वर्ग में रखता हूँ। लिपि के अध्ययन के लिए भी कई प्रबन्ध लिखे गए हैं।

संक्षेप में, यदि भाषा के विविध रूपों का समवेत रूप से विवरण प्रस्तुत किया जाए तो लगभग ढाई सौ प्रबन्ध इस वर्ग में आते हैं। इतनी बड़ी संख्या इस तथ्य को उद्घाटित करने में समर्थ है कि हिन्दी भाषा का परिवार और परिवेश बहुत व्यापक है और अनेक उपभाषाओं, विभाषाओं और बोलियों में फैली हुई वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर पूर्वांचल तक व्याप्त है। दक्षिण की भाषाओं के साथ वैषम्य के धरातल पर भी उसका अध्ययन हो सकता है यह भी हिन्दी अनुसन्धान से विदित होता है।

अनुसन्धान का दूसरा वर्ग है काव्य सिद्धान्त तथा काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषय। इस वर्ग को भी हिन्दी के अनुसन्धाताओं ने बड़े आग्रह के साथ स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य के काव्य सम्प्रदाय, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य का अनेक बार अध्ययन हुआ है। लगभग तीन दर्जन प्रबन्ध इन्हीं काव्य सम्प्रदायों पर हेर-फेर के साथ प्रस्तुत हुए हैं। इसके बाद काव्यरूपों पर पृथक्-पृथक् प्रबन्ध तैयार हुए। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, गद्यकाव्य, निबन्ध, छन्दशास्त्र, महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रकृतिकाव्य आदि विषयों पर दर्जनों प्रबन्ध हैं। इन प्रबन्धों में इतिहास पक्ष भी है और सिद्धान्त पक्ष भी। अतः क्षेत्र के व्यापक होने से विस्तार होना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के इस परिवेश में संस्कृत साहित्य शास्त्र के साथ अंग्रेजी काव्यशास्त्र को भी तुलनात्मक कसौटी पर रखा गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन हिन्दी में निरन्तर बढ़ रहा है इसलिए शोध के क्षेत्र में भी उसका समावेश उत्तरोत्तर बढ़ेगा और अरस्तू, प्लेटो, जानसन, ड्राइडन, क्रोचे, रिचर्ड्स, इलियट आदि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से भी निबन्ध लिखे जा रहे हैं और भविष्य में और अधिक लिखे जाएंगे।

तिसरा वर्ग है कविता का अनुसन्धानपरक दृष्टि से अध्ययन। आदिकालीन काव्य से लेकर अधुनातन काव्य 'नई कविता' तक का व्यापक परिवेश इस अध्ययन में अन्तर्निहित होने से इस वर्ग का विस्तार भी अत्यधिक है। लगभग दो सौ शोध-प्रबन्ध काव्य के विविध रूपों पर लिखे गए हैं। ये शोधप्रबन्ध युगविशेष, प्रवृत्ति, वाद, काव्यशैली, काव्यधारा आदि से सम्बद्ध हैं। विशिष्ट कवियों पर भी प्रबन्धों का ताँता लगा है। तुलसी और सूर पर दर्जनों प्रबन्ध हैं। यही स्थिति प्रसाद के काव्य की भी है। कुछ कवियों का तुलनात्मक शैली से भी अध्ययन हुआ है। काव्य-शैली और काव्यभाषा के विविध रूपों पर भी आवृत्तिपरक अध्ययन इस वर्ग की विशेषता है।

चौथा वर्ग है हिन्दी के साम्प्रदायिक साहित्य का अध्ययन । मुख्य रूप से यह अध्ययन भक्तिकाल से सम्बन्ध रखता है किन्तु कुछ सम्प्रदाय परवर्ती काल के भी हैं । गोरखनाथ, निर्गुण, सगुण, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, गोसाई, रसिक सम्प्रदाय, दादू, मलूक, रैदास, नानक आदि के पन्थ, रामसनेही, प्राणनाथी, हरिदासी, जसनाथी, राधावल्लभी, रामानन्दी, निम्बाकी आदि तीन दर्जन सम्प्रदायों का अध्ययन इस वर्ग के भीतर समाविष्ट है । साम्प्रदायिक अध्ययन में भी तुलनात्मक दृष्टि से शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं जिसका उल्लेख मैं आगे करूँगा । सामान्यतः साम्प्रदायिक दृष्टि से जो अध्ययन हुआ है वह नवीन तथ्यों की सूचना अवश्य प्रस्तुत करता है ।

पाँचवाँ वर्ग है गद्य साहित्य का अनेक रूपों में अध्ययन । गद्य के विकास को स्पष्ट करने वाले प्रबन्धों से यह वर्ग प्रारम्भ होकर गद्यरूपों और शैलियों के अध्ययन तक फैला हुआ है । हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसके विविध पक्ष भी इसी वर्ग के भीतर आते हैं । हिन्दी गद्य के निर्माताओं पर भी स्वतन्त्र रूप से शोधप्रबन्ध लिखे गए, जैसे बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, शुक्लजी का गद्य, गद्य की विविध शैलियों का अध्ययन, द्विवेदी युगीन गद्य, छायावादी कवियों का गद्य आदि । गद्य-विधा के सम्बन्ध में चार दर्जन से ऊपर प्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं । इस विधा को अब सूक्ष्म धरातल पर अन्वेषण का विषय बनाया जा रहा है ।

पाँचवाँ वर्ग लोक-साहित्य, लोकगीत, लोक-संस्कृति तथा लोक-तत्त्व से सम्बन्ध रखता है । लोक-साहित्य की ओर सबसे पहले विदेशी विद्वानों का ध्यान गया था । उन्होंने भारतीय जनजीवन में व्याप्त लोकतत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखकर इस पथ को प्रशस्त किया । तदनन्तर हिन्दी में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ और अभी तक लगभग दो दर्जन शोधप्रबन्ध प्रकाश में आ चुके हैं । कुछ विश्वविद्यालयों में लोक-साहित्य को एम० ए० कक्षाओं में वैकल्पिक प्रश्नपत्र के रूप में स्थान भी मिला है । यह अध्ययन अनेक अज्ञात विषयों को प्रकाश में लाने वाला सिद्ध हुआ है । यद्यपि कुछ समय तक यह विवाद का प्रश्न रहा कि लोकसाहित्य को शुद्ध साहित्य माना जाए या न माना जाए, क्योंकि इस साहित्य में ललित साहित्य के गुणों का अभाव होता है । किन्तु इन शोधप्रबन्धों ने लोकसाहित्य, लोकगीत और लोककथाओं का ऐसा सुन्दर रूप उजागर किया कि आज यह पठनीय साहित्य बन गया है । इसका पूरा-पूरा श्रेय हिन्दी की शोध को ही प्राप्त है ।

छठा वर्ग तुलनात्मक तथा प्रभाव परक अध्ययन का है । तुलनात्मक अध्ययन दो प्रकार का है—एक तो हिन्दी के कवियों या लेखकों की पारस्परिक तुलना, दूसरा हिन्दीतर भाषाओं से हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विधाओं, प्रवृत्तियों तथा कवियों की तुलना । इस अध्ययन में शोध की दृष्टि सर्वत्र स्वच्छ रही है यह कहना कठिन है । मैंने कई शोधप्रबन्ध ऐसे भी देखे हैं जहाँ बरबस तुलना की गई है और उसका फलितार्थ भी पक्षपात के साथ स्थिर किया गया है । तुलनात्मक अध्ययन बहुत वांछनीय नहीं है । साम्य-वैषम्य दिखाते हुए प्रवृत्ति परक अध्ययन तो समीचीन हो सकता है, किन्तु दो कवियों या लेखकों की तुलना सर्वत्र श्लाघ्य नहीं होती । काव्य

नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि में भी तुलनात्मक दृष्टि के अध्ययन उपलब्ध होते हैं, जो सभी ज्यों-के-त्यों ग्राह्य नहीं हैं। मुझे लगता है कि हिन्दी में शोध विषयों के अभाव के कारण शायद कुछ अनुसंधाता इस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और दो प्रवृत्तियों या कलाकारों को समता के धरातल पर ला खड़ा करते हैं। हाँ, कुछ शोधप्रबन्धों में—विशेष रूप से भक्तिविषयक तुलनात्मक अध्ययन में—यह कार्य सुन्दर रूप से गृहीत हुआ है और उसकी उपलब्धि केवल साहित्य क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी सराहनीय है। हिन्दी शोध ने तुलनात्मक शोध का क्षितिज खोला है लेकिन अभी तक अपनी सीमाओं में ही है। यदि उसे व्यापक रूप से मानव जाति के विकास के फलक पर स्थापित किया जाए तथा देश-विदेश की विचारधाराओं के सन्दर्भ में अनुसन्धेय बनाया जाए तो शोध के लिए और अधिक उपादेय सामग्री उपलब्ध होने की सम्भावना है।

सातवाँ वर्ग प्रादेशिक साहित्य, भाषा तथा इतिहास का है। इस वर्ग में प्रादेशिक साहित्य का मूल्यांकन अनुसंधानपरक दृष्टि से करने का प्रयत्न लक्षित होता है जैसे हिन्दी साहित्य को पंजाब की देन, मध्यप्रदेश की देन, मत्स्य प्रदेश की देन, कानपुर के प्रमुख कवि, कूर्माचल की देन, रीवाँ दरबार के कवि, काशी की देन, वैसवाड़े की देन आदि। यह वर्ग भी बहुत व्यापक है और इसके मूल में भी पिष्ट-पेषण तथा विषयों के अभाव की ध्वनि है। लगभग तीन दर्जन शोध प्रबन्धों में तीन-तीन बार की आवृत्ति है और उस प्रदेश का भौगोलिक, ऐतिहासिक वर्णन मूल विषय की अपेक्षा दुगुना है। मैंने स्वयं लगभग आधे दर्जन शोध प्रबन्धों का परीक्षण किया है और इस दोष को सभी प्रबन्धों में समान रूप से व्याप्त पाया है कि विषय पर लिखने की सामग्री सीमित होने से कलेवर को बढ़ाने के मोह में यह त्रुटि जानबूझ कर दुहराई जाती है। रीवाँ, पन्ना, अमेरी, ओरछा आदि दरबारों के कवियों पर तीन-तीन शोध प्रबन्ध लिखने की गुंजाइश कहाँ है? और क्या लाभ है इस पुनरावृत्ति का जो इन प्रबन्धों में हुई है। लेकिन अनुसंधाता सुगम पथ का पथिक बन गया है, निर्देशक अज्ञान में हैं, विश्वविद्यालयों में प्रतिस्पर्धा और अज्ञान दोनों हैं। परिणाम यह है कि 'ओरछा के हिन्दी कवि' तथा 'ओरछा दरबार के हिन्दी कवि' पर समानान्तर शोध प्रबन्ध यह मानकर लिखे गये हैं कि ये दोनों विषय स्वतन्त्र और पृथक् हैं।

आठवाँ वर्ग है सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अनुसंधान का। सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से काव्यानुशीलन फलप्रद होता है किन्तु उसकी फलवत्ता तभी सिद्ध होगी जब सांस्कृतिक या सामाजिक अन्वेषण के लिए स्वच्छ दृष्टि अनुसंधाता के पास हो। मैंने इन प्रबन्धों में मूलभाव का अभाव ही पाया है। तीन दर्जन प्रबन्धों में आठ-दस ही ऐसे हैं जिन्हें हम शोध प्रबन्ध कह सकें, शेष सब पिष्ट-पेषण और अवान्तर विषयों से भरे हुए हैं। रामकाव्य, कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य, निर्गुण काव्य, मध्यकाल, सन्तकाव्य, आधुनिक काव्य में समाज और संस्कृति तथा आधुनिक उपन्यास में समाज एवं संस्कृति आदि विषयों पर जो प्रबन्ध लिखे गए हैं उनमें भी मूल विषय पर कम तथा अवान्तर प्रयोगों पर ही अधिक लिखा गया है। इन प्रबन्धों

के लिए इतिहास, संस्कृति और दर्शन के अध्ययन तथा ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है जो हिन्दी के छात्र के पास न्यून मात्रा में है।

नवम वर्ग में पाठालोचन या पाठानुसंधान का स्थान है। पाठानुसंधान का काम हिन्दी में अभी द्रुतगति से प्रारम्भ नहीं हुआ है। प्राचीन ग्रन्थों में रासो, कवीर बीजक, मृगावती, पदमावत, रामचरितमानस, सूरसागर आदि के प्रामाणिक संस्करण अपेक्षित है। इनमें से कुछ पर अनुसंधान हुआ है और शेष पर कार्य हो रहा है। सूरदास, नन्ददास, केशवदास, देव, भूपण आदि के ग्रन्थ शोध छात्रों के पास है और वे इनका पाठ शोधन कर रहे हैं। यही एक दिशा ऐसी है जिसमें अभी पुनरावृत्ति प्रारम्भ नहीं हुई है। यदि इसमें आवृत्ति का कुचक्र फैला तो हिन्दी-शोध परिहास के सिवा कुछ और नहीं रह जाएगा। विद्वानों को इस क्षेत्र में पुनरावृत्ति रोकने का ध्यान रखना अनिवार्य है। यदि एक ही रचना के विविध पाठालोचन तैयार हुए तो अन्त में यही परिणाम निकलेगा कि कवीर बीजक, सूरसागर और रामचरितमानस किसी एक कवि की रचना न होकर रासो की तरह अप्रामाणिक रचनाएँ हैं। यह स्थिति लज्जास्पद होने के साथ उपहासास्पद भी होगी।

दसवाँ वर्ग उन प्रबन्धों का है जिन्हें हम विविध-प्रकीर्णक विषय कह सकते हैं, जैसे 'हिन्दी में बाल साहित्य', 'हिन्दी में नाम साहित्य', 'हिन्दी में कोश साहित्य', 'ध्रुवपद और हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी और संगीत', 'हिन्दी में मंगलाचरण साहित्य', 'हिन्दी में व्यंग्य साहित्य', 'हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता', 'हिन्दी का यात्रा साहित्य', 'पत्र साहित्य', 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी के फिल्मी गीत' आदि। इन विषयों में भी पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति की भरमार है। यात्रा साहित्य पर ही पाँच प्रबन्ध हैं, कोश रचना पर तीन, पत्र साहित्य पर तीन, बाल साहित्य पर तीन, अनुवाद साहित्य पर तीन प्रबन्ध इस आवृत्ति के परिणाम हैं। इस वर्ग के भीतर हम उन सभी प्रबन्धों को रख सकते हैं जो हिन्दी भाषा और साहित्य को उपजीव्य बनाकर लिखे गए हैं जैसे 'अंग्रेज शासकों की शिक्षा नीति और हिन्दी भाषा', 'ईसाई मिशनरियों की हिन्दी सेवा', 'आर्यसमाज की हिन्दी सेवा', 'हिन्दी भाषा शिक्षण और अध्यापन' आदि विषय भी आते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान का वर्गानुसार आकलन करने के बाद हमारे सामने कुछ ऐसे तथ्य उभर कर आते हैं जो हिन्दी अनुसंधान की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतन कराने के साथ उसकी सीमाओं एवं त्रुटियों को भी स्पष्ट करते हैं। मैं संक्षेप में उनकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी क्षेत्र में सबसे अधिक स्फूर्ति और सक्रियता शोध में ही हुई है। यदि परिमाण को सामने रखा जाए तो शोध प्रबन्धों का परिणाम अन्य साहित्य से दुगुना अवश्य है। इस विपुल परिमाण से हिन्दी की विपुल सम्भावनाएँ सामने आई हैं। उपाधि सापेक्ष कार्य के साथ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होंने उपाधि निरपेक्ष शोध की सामग्री स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी को दी है।

इन विद्वानों में राहुल साधु, जगन्नाथ प्रसाद मिश्र,

निवायं

न का

कवीर

स्करण

हो रहा

त्रों के

में अभी

शोध

राष्ट्र

लोचन

र और

प्राणिक

कते हैं,

हित्य',

हित्य',

हित्य'

। इन

पांच

अनुवाद

न सभी

र लिखे

यों की

' आदि

हमारे

सामर्थ्य

हैं। मैं

इसमें

त और

प्रबन्धों

न्दी की

द्वान् हैं

दी है।

मिश्र,

परशुराम चतुर्वेदी, अगरचन्द नाहटा, मुनि जिनविजय, वामुदेवशरण अग्रवाल, प्रमुदयाल मीतल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार के शोध का अभी तक पूरी तरह आकलन न होने पर भी हिन्दी शोध के इतिहास में इनका उपयोग तो होता है किन्तु इनकी कृतियों को हिन्दी शोध में समाविष्ट नहीं किया जाता। यदि इन्हें भी शामिल कर लिया जाए तो हिन्दी का सम्पूर्ण शोध कार्य बहुत ही समृद्ध प्रतीत होगा। किन्तु इस समृद्धि से अभिभूत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो उपाधि सापेक्ष ग्रन्थ शोध-प्रबन्ध के नाम से प्रकाशित होकर सामने आए हैं उनकी अपूर्णता, अवैज्ञानिकता, अमौलिकता और अप्रासंगिकता में ही उनकी दरिद्रता, हेयता और पिष्ट पेपणता भी लिपटी हुई है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी शोध की सबसे बड़ी और सबसे अधिक खटकने वाली वृष्टि है विषयों की आवृत्ति और प्रस्तुतीकरण की अमौलिकता। केवल पिष्टपेपण ही नहीं तस्करी वृत्ति से भाव, विषय, शैली सभी कुछ अपहृत कर नया शोध प्रबन्ध लिखना हिन्दी शोध की चातुरी बन गई है। मैं दावे से कह सकता हूँ कि जो छह सौ प्रबन्ध स्वीकृत हुए हैं उनमें चार सौ शुद्ध पिष्टपेपण की कला के निदर्शन हैं। यदि इन चार सौ शोध प्रबन्धों का अनुसंधानात्मक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाए तो विदित होगा कि इन प्रबन्धों के दो लाख पृष्ठों में से दो हजार ही नवीन हैं शेष सब पिष्टपेपण है, पुनरावृत्ति और संकलन मात्र है। यह कितनी हीन और दयनीय स्थिति है, इसके लिए कोई-न-कोई उपाय अवश्य सोचना चाहिए। जब तक प्रत्येक विद्वद्विद्यालय स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अधिकार मानकर चलेगा तब तक यह पुनरावृत्ति होगी और फिर होगी। अतः संयोजन के निमित्त एक अखिल भारतीय स्तर की अनुसंधान संस्था अति शीघ्र स्थापित होनी चाहिए जो विषयों की पुनरावृत्ति पर अकुश रख सके। इस संस्था में विषय सूची के अतिरिक्त उन अधिकारी विद्वानों की भी सूची रहे जो किसी विशिष्ट विषय का प्रामाणिक शोध करा सकते हैं। अधिकारी विद्वानों के निर्देशन में ही यदि कार्य होगा तो उसकी प्रामाणिकता होगी और तस्करी आदि के हीन उपाय सफल नहीं हो सकेंगे।

मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि कुछ विषयों पर शोध तो हुआ है किन्तु शोध की कोई जातव्य सामग्री उनमें नहीं है। इसके लिए कौन उत्तरदायी है यह मैं नहीं कहना चाहता किन्तु विषय-चयन में ही भूल है। उन विषयों को शोध क्यों समझा जाता है जो कक्षा में प्राध्यापक के भाषण के विषय हैं। जिन्हें 'क्लासरोट्स' कहते हैं, वे ही विषय शोध के भी मान लिए जाते हैं, यह घोर दुर्भाग्य है। कभी-कभी साधारण समीक्षात्मक आकलन भी अनुसंधान की उपाधि से विभूषित होते हैं और कभी सामान्य सूचनाओं पर शोध-उपाधि प्रदान की जाती है। इस प्रकार वैदुष्य हीन संकलनात्मक प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। कभी-कभी पुनराख्यान के नाम पर भी कविता की गद्य में व्याख्या कर अनुसंधान की मुद्रा से अंकित कर दिया जाता है। वस्तुतः पुनराख्यान के लिए विवेचन-विश्लेषण की प्रतिभा और विषय के आभ्यन्तर में पैठने की क्षमता अपेक्षित है। खेद है कि पुनराख्यान के नाम पर जो कुछ

मुद्रित होकर आ रहा है वह पूर्वज्ञात को पुनः ज्ञात कराने से अधिक कुछ नहीं है। हिन्दी शोध की मर्म कथा यह भी है कि वह हिन्दी के नये-पुराने ग्रन्थों और रचनाकारों तक सीमित रहकर पुनराख्यान या विवेचन करते हैं। इतिहास, दर्शन, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अन्य उपयोगी साहित्य से अनुसंधाता प्रत्यक्ष या परोक्ष परिचय नहीं करना चाहता। फलतः कूपमंडूकता का आनन्द और अभिशाप दोनों उसके प्रबन्ध में ओतप्रोत रहते हैं। रचनाकार की अन्तर्दृष्टि से सून्य, संहति के अभाव से ग्रस्त और आरोपित एवं असम्बद्ध तथ्यों से मंडित ये शोध प्रबन्ध उपहास के अतिरिक्त और किसी भाव की मृष्टि नहीं करते।

एक और बात जो स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धों में विशेष रूप से लक्षित होती है वह है प्रबन्धों का विशाल कलेवर। सामान्यतः पाँच सौ-छह सौ पृष्ठ लघु कलेवर के द्योतक है। डेढ़ हजार से पौने दो हजार पृष्ठ तक के निबन्ध हिन्दी शोध में स्वीकृत हुए हैं जिसकी जिल्दबन्दी में लेखक को बीस रुपये एक प्रति पर देना पड़ा है। यह धारणा कितनी भ्रान्त और गर्हणीय है कि मोटे आकार के, जलोदर पीड़ित प्रबन्ध से परीक्षा प्रभावित होते हैं। इसके मूल में निर्देशक का अपना अज्ञान भी छिपा रहता है। हिन्दी का शोध-निर्देशक सौ से ऊपर छात्रों का निर्देशन करने का दम्भ करे तो यही स्थिति होगी। कुछ विश्वविद्यालयों में तो निर्देशक तथा अनुसंधाता का साक्षात्कार पहली बार उस समय होता है जब शोधार्थी का पंजीकरण होता है और दूसरी बार तब जब वह अपना शोध प्रबन्ध पूर्ण कर विश्वविद्यालय में दाखिल करता है। बीच में उसने क्या किया और क्या लिखा इसका सिरदर्द निरीक्षक महोदय उठाना नहीं चाहते। इस कटु सत्य को लिखकर मैं विश्वविद्यालयों का तथा उन द्रोणाचार्यों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो केवल अपनी शिष्यवत्सलता से धन्य होने पर अपने कर्तव्य से नितान्त पराङ्मुख हैं।

शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया और प्रविधि का प्रशिक्षण अभी तक व्यापक रूप से प्रारम्भ नहीं हुआ है। एक-दो विश्वविद्यालयों में ही अनुसंधाताओं को शोध करने की विधि सिखाई जाती है। शेष स्थानों में तो जो शोध कर लेता है वही निर्देशक बन बैठता है। शिकारी बनने के लिए खरगोश मारना और शेर मारना समान है समझा जाता है। शोध निर्देशन में जितनी विडम्बना है उतनी किसी और क्षेत्र में नहीं। यदि मैं इसके उदाहरण देना शुरू करूँ तो आश्चर्य होगा कि कौन-सा अन्तर्गत है जो नहीं हो रहा है। नयी कविता पर शोध कराने वाले ऐसे निदेशक हैं जो मैथिली शरण गुप्त से आगे के काव्य को पढ़ना भी पाप समझते हैं। सिद्ध साहित्य पर प्रदर्शन करते हैं द्विवेदी युगीन विषय पर शोध करने वाले और द्विवेदी युग पर शोध करते हैं रासो तथा अपभ्रंश के विशेषज्ञ। यह सब गोरखधन्धा कब तक जारी रहेगा नहीं कहा जा सकता।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी शोध की उपलब्धियों को अवमूल्यन द्वारा मैं नगण्य नहीं बनाता चाहता। मेरा प्रयास भी आत्म निरीक्षण की दिशा में ही है और उद्देश्य अनुसंधान का सत्यानुशीलन द्वारा परिमार्जन। जिस विषय-साम्राज्य में और जिस द्रुतगति

से हिन्दी अनुसंधान का कार्य चल रहा है वह भारत की अन्य भाषाओं के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया है। भारत की चौदह भाषाओं में मिलाकर जितना शोध कार्य हुआ है उसका बीस गुना अकेली हिन्दी में सत्रह वर्षों में हुआ है। यह बात हिन्दी के शोधार्थियों के अदम्य उत्साह की सूचक होने के साथ हिन्दी साहित्य-भंडार की समृद्धि का भी बोध कराती है। यदि पच्चीस प्रतिशत प्रबन्ध भी मौलिक होने के साथ शोध निकष पर खरे हैं तो डेढ़ सौ प्रबन्ध स्वातन्त्र्योत्तर काल में श्रेष्ठ कृतिके रूप में हिन्दी में स्वीकृत हुए माने जाएंगे। यह संख्या छोटी नहीं है। डेढ़ हजार विषयों पर अभी काम हो रहा है, उसमें भी यदि पच्चीस प्रतिशत श्रेष्ठ कार्य हुआ तो पोने चार सौ प्रबन्ध अगले चार-पाँच वर्षों में हिन्दी भण्डार को समृद्ध बना सकेंगे।

लेकिन विपुल परिमाण और आकार ही अनुसंधान का प्राण तत्त्व नहीं है। सारग्राही बुद्धि से अनुसंधान को निष्ठा के साथ ग्रहण करने से उसकी गुणवत्ता बढ़ेगी। एक ही बँधे-बँधाये ढाँच से हिन्दी अनुसंधान को निकालकर तथा विषयवस्तु परक उसकी कूपमंडूकता को हटाकर यदि व्यापक परिवेश और आयाम में उसे स्थित किया जाए तो निस्सन्देह हिन्दी अनुसंधान में नवजीवन का संचार हो सकेगा। शोध कार्य का क्षेत्र-विस्तार अब आवश्यक हो गया है। विदेशी छात्र यहाँ आकर अथवा अपने देश में ही रहकर अपनी भाषा के माध्यम से हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में शोध कार्य करते हैं; हमारे शोध छात्र भी क्यों न अपना क्षेत्र विस्तार करें और अरब, फारस, इंडो-नेशिया, बर्मा, मध्य एशिया, अफ्रीका, अमरीकी आदि देशों के साहित्य पर शोध करना प्रारम्भ करें? यह शोध हिन्दी भाषा के माध्यम से हो और उस देश की भाषा को पहले पढ़कर कार्य प्रारम्भ किया जाए। रूस, जापान, अमेरिका और इंग्लैण्ड के छात्र अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से हिन्दी-उर्दू सीख कर इस प्रकार का शोध कार्य प्रस्तुत कर रहे हैं। यह कार्य पहले व्ययसाध्य और कठिन प्रतीत होगा, लेकिन छात्रवृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित करने से इसके प्रचारित होने में कोई सन्देह नहीं है। भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय छात्रवृत्तियाँ देकर इस कार्य को अपने हाथ में ले तो विदेशों से हमारा सम्पर्क तो बढ़ेगा ही साथ ही भारत की राष्ट्रभाषा का भी सम्मान होगा। भारतीय भाषाओं के माध्यम से विदेशी साहित्य की प्रामाणिक जानकारी का यह मार्ग अभी तक हिन्दी अथवा किसी भी भारतीय भाषा के अनुसंधाता के सामने नहीं खुला है। विश्व-साहित्य के सम्पर्क में आने के लिए इस ओर हमें अविलम्ब ध्यान देना चाहिए। रूसी अनुसंधाता तुलसी, प्रसाद, प्रेमचन्द, यशपाल आदि की कृतियों पर अनुसंधान ग्रन्थ लिख सकते हैं तो हमारे विद्यार्थी उस देश की महान् कृतियों का अध्ययन क्यों नहीं कर सकते? इसके साथ ही अब हिन्दी छात्र को भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी, उस भाषा को सीखकर, सीधा प्रवेश करना चाहिए। तमिल, तेलुगु, मराठी और बंगला के तुलनात्मक अध्ययन से आगे बढ़कर प्रत्यक्षरूप से प्रान्तीय भाषा और साहित्य में हिन्दी के शोधार्थी को प्रवेश करना चाहिए। आज हमें जो कठिन और दुरूह लग रहा है वह कल परिश्रम से सुगम और सहज साध्य हो सकेगा, ऐसा दृढ़ संकल्प और आत्म-विश्वास लेकर ही इस क्षेत्र में आना चाहिए।

हिन्दी में भारतीय साहित्य

डॉ० प्रभाकर साचे

हिन्दी में मराठी साहित्य

मराठी भाषा के गये सात सौ वर्षों के समृद्ध साहित्य में से हिन्दी में कितना अनुवादित होकर आया है, यह तो एक पूरी ग्रन्थ-सूची का विषय है, जो शोध और समय-साध्य कार्य है। मैं तो यह टिप्पणी, केवल अपनी स्मृति के सहारे, इस आशा से लिख रहा हूँ कि मुझसे अधिक जाननेवाले इसे पूरा करेंगे।

ऐसे सब लेखन मैं व्यक्तिगत अनुभव से आरम्भ करता हूँ, और यदि इसमें अपने कार्य के बारे में लिखना पड़ता है तो मुझे क्षमा किया जाये। मैं आत्म-श्लाघा के हेतु से ऐसा नहीं करता; अंशतः यह सोचना आसान हो जाता है (स्मृति का 'स्व' से गहरा सम्बन्ध है); दूसरे, नयी पीढ़ी को ये पच्चीस-तीस बरस पुरानी कई बातें याद नहीं हैं। मैंने जब आरम्भ में हिन्दी लिखना और छपाना शुरू किया—सन् '३४ में मेरी पहली रचना छपी—तब एक द्वैभाषिक व्यक्ति की सारी अड़चनें मेरे सामने थीं: मेरी हिन्दी मराठी मुहावरों से भरी 'खराब' हिन्दी होती थी। मैं मराठी में भी तब लिखता था, और मेरी मराठी भाषा को मराठी सम्पादक 'हिन्दाळसेसी' (हिन्दी से बिगड़ी हुई) कहते थे। सो मैंने दोनों भाषाओं के व्याकरण, कोश, प्राचीन साहित्य आदि का गहरा अध्ययन शुरू किया, इस दृष्टि से कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट समझूँ, और जब एक भाषा में लिखूँ तब 'हिन्दुई छुट किसी और भाषा की पुट' उसमें न मिलने पाए। यहीं सबसे पहले मराठी से हिन्दी में अनुवादित पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। माधवराव सप्रेजी द्वारा अनुवादित ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी', हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनुवादित वामन मल्हार जोशी का उपन्यास 'रागिणी' और आचार्य जावडेसर की पुस्तक 'आधुनिक भारत' का हिन्दी अनुवाद आदि अब भी याद हैं। इन्हीं से प्रेरणा मिली कि स्वयम् भी यह कार्य किया जाए। प्रेमचन्द ने 'हंस' में सन् '३६ में मुझसे अनुवाद करवाए। हिन्दी के दो बड़े पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी और माखनलाल चतुर्वेदी अच्छी मराठी जानते थे और हैं। बाद में मैंने सांडेकरजी की कहानियाँ और एक उपन्यास (उत्का) का, 'अनिल' के एक काव्य 'भग्नमूर्ति' का पुस्तकाकार अनुवाद किया।

मराठी से हिन्दी में क्या-क्या अनुवादित हुआ है पुस्तकाकार; और क्या कुछ और होना चाहिए इसका विचार ऐतिहासिक क्रम से करना उचित होगा। आरम्भिक मराठी साहित्य मुख्यतः सन्त-साहित्य और भक्ति-साहित्य है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव, रामदास ये प्रमुख सन्त कवि हो गए हैं। ज्ञानेश्वर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' के तीन अनुवाद हिन्दी में मेरे देखने में आये। उनमें एक छन्द में भी है।

अनुवादित

मय-साध्य

रख रहा है

दि इसमें

शलाघा के

ग 'स्व' से

बातें याद

न '३४ में

आमने थीं:

में भी तब

(हिन्दी से)

न साहित्य

४ समझं,

न मिलने

माधवराव

અનુવાદિત

'आधुनिक

स्वयम् भी

ए । हिन्दी

पढी जानते

रुक्मा) का

वया कु

आरम्भिक

तुकाराम

सिद्ध ग्रन्थ

में भी है।

१०० : आलोचना

मराठी कविता का छोटा-सा संकलन दिनकर सोनवलकर ने सम्पादित किया है। मडेंकर की कविताओं के अनुवाद की पाण्डुलिपि अनिलकुमार ने तैयार की है, जो अप्रकाशित है। और भी कई अत्याधुनिक कवि हैं जैसे पु० शि० रेगे० वसंत वापट, विदा करं दीकर, मंगेश पाडगांवकर, शरच्चन्द मुक्तिबोध आदि जिनके छोटे-छोटे संग्रह अनुवाद रूप में छप सकते हैं। पर अनुवाद करने वाले अच्छे होने चाहिए। मराठी नयी कविता से पुस्तकाकार बहुत कम हिन्दी में आया है, सिवा वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की 'कवि श्री' माला की दो छोटी पुस्तकों के।

उपन्यासों से बहुत से अनुवाद हिन्दी में हुए हैं : हरी नारायण आपटे, नारायण सीताराम फडके, मामा वरेरकर, वि० स० खांडेकर, ग० त्र्य० प्राडखोलकर, साने गुरुजी, वि० द० सावरकर आदि सन् '४० तक की प्रख्यात पीढ़ी के प्रायः सभी उपन्यासकारों की कुछ कृतियाँ हिन्दी में अवश्य उपलब्ध हैं। परन्तु मराठी की विशेषता—ऐतिहासिक उपन्यास-सीरीज जैसे 'नाथ माधव' की शिवाजी के समय के उपन्यास या वि० वा० हडप की अंग्रेजी राज्य पर उपन्यास की सीरीज हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हो सकती है। हाल में उसी विधा में बहुत लोकप्रिय हुआ, साहित्य अकादेमी से गत वर्ष पुरस्कृत उपन्यास रणजीत देसाई का 'स्वामी' है। सामाजिक उपन्यासों में जो सुधार-प्रधान उपन्यासकार थे, उनके अनुवाद तो हुए हैं। पर जिन उपन्यासों में समाज की रूढ़ियों से विद्रोह का समर्थन है, उनके अनुवाद कम हुए हैं। पु० भ० देशपांडे की 'बन्धनों के पार' या 'सदाफुली'; विभावरी शिरूरकर के 'कलियों के निश्वास' या 'बली' (शायद इसका अनुवाद श्री रा० र० सर्वटे ने किया है); विश्राम बेडेकर का 'रणगण' (यह उपन्यास एक लाख के पुरस्कार के लिए मराठी परामर्शदात्री समिति ने आशंसित किया है और अनुवाद बम्बई के प्रो० मोहोडकर ने किया है, जो अभी अप्रकाशित है); पु० शि० रेगे का 'सावित्री' और 'अवलोकिता' (हाल में दोनों के अनुवाद क्रमशः 'ज्ञानोदय' और 'धर्मयुग' में क्रमशः प्रकाशित हुए। 'अवलोकिता' का अनुवाद मैंने किया था); श्री० ना० पेंडसे का 'गारंवी चा बापू' और 'रथचक्र' (प्रथम वसंत देव द्वारा अनुवादित, 'राष्ट्रवाणी' द्वारा प्रकाशित; दूसरा साहित्य-अकादेमी पुरस्कृत, शायद 'राजपाल' द्वारा शीघ्र-प्रकाश्य); व्यंकटेश माडगूलकर का 'बनगरवाडी' (अंग्रेजी, पंजाबी अनुवाद प्रकाशित—हिन्दी अनुपलब्ध; जरूर छपना चाहिए) आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं। अन्नाभाऊ साठे का 'फकिरा' भी हिन्दी में छपा है। इधर जो मराठी उपन्यास मैंने पढ़े उनमें तीन उपन्यासों ने मुझे व्यक्तिशः बहुत आकर्षित किया, और मेरे पास समय होता तो मैं उन्हें जरूर अनुवादित करता, यदि कोई हिन्दी प्रकाशक मुझे उसके लिए कहता—वे हैं :

लेखक

उपन्यास

दि० बा० योकाशी

दैव चालले (देवता चले)

भालचन्द नेमाडे

कोसला (रेशम जिससे बनता है वह ककून)

चि० त्र्य० खानोलकर

रात काली.....धागर काली (रात काली)

कहानियों में मराठी में सैकड़ों लेखक हैं। जिनमें से दस-बारह बहुत ही अच्छे हैं। प्रायः हिन्दी पत्रों में उनकी कहानियाँ छपती रहती हैं, अनुवाद रूप में। इधर पूना से 'कान्टिनेंटल' प्रकाशक ने अरविंद गोखले द्वारा संपादित श्रेष्ठ कहानियाँ १९६१, '६२, '६३, '६४, '६५ ऐसे संग्रह प्रकाशित किये हैं। मैंने ये पढ़े हैं। उनमें से यदि एक चुनकर उत्तम संग्रह तैयार कराया जाय, पच्चीस-तीस कहानियों का तो हिन्दी वालों को बहुत अच्छी कथाएँ पढ़ने को मिलेंगी—शिल्प और कथ्य दोनों दृष्टियों से।

नाटकों में मराठी काफी समृद्ध रहा है। आरम्भिक काल के अधिकतर नाटक संगीत-प्रधान होने से उनके अनुवाद असंभव हैं। सामाजिक गद्य नाटकों में खाडिलकर का कीचक बंध ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वह ब्रिटिश सरकार ने ज्वत् किया था, बंगाल में दीनबन्धु मित्र के 'नील दर्पण' की तरह। गडकरी का 'एकत्र प्याला' महाराष्ट्र में एक जमाने में बहुत लोकप्रिय था, पर उसका सौन्दर्य उसमें की गद्य-काव्य जैसी भाषा में है अनुवाद में वह सौन्दर्य पूरी तरह नहीं उतरता। उनके बाद के प्रसिद्ध नाटककारों में मामा वरेरकर, प्रह्लाद केशव अत्रे, मो-ग-रांगणेकर आते हैं। मामा के कई नाटकों के अनुवाद र-श-केलकर ने किये हैं। अत्रे के एक नाटक का अनुवाद श्रीमती वनमाला भवासकर ने किया, जिसका नाम 'विवाह-बंधन' है। अत्रे के बाद पु० ल० देशपांडे तक के नाटकों में हास्य का और स्थानीय व्यंग का बड़ा रंग है। बहुत-सा हास्य विनोद शब्द-निष्ठ होने से उसका अनुवाद असंभव है। पु० ल० देशपांडे के प्रसिद्ध नाटक 'तुझे आते तुझपाशीं' का अनुवाद 'कस्तूरी-मृग' राहुल बरपुते ने किया। इसके बाद के दो प्रसिद्ध नाटककार विजय तेंडुलकर और वसंत कानेटकर के दो-तीन नाटकों का अनुवाद वसंतदेव ने किया है और बंबई के पाप्युसर प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। इनमें 'ढाई अक्षर प्रेम के' और 'श्रीमंत' को बंबई, दिल्ली, इंदौर में मंच पर प्रदर्शित भी किया गया, सफलता से। यह सब दस-बारह अच्छे अनुवाद काफी नहीं हैं। हिन्दी पाठक-दर्शकों की और मंच की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बहुत-सी मराठी नाटिकाओं और नाटकों का अनुवाद होना चाहिए। मो-ग-रांगणेकर की 'कुलवधू', पुरुषोत्तम दारव्हेकर और रत्नाकर मतकरी के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में कराये जाने चाहिए। एकांकी नाटक तो अनेक हैं, जो बहुत अच्छे हैं। एक उत्तम उदाहरण अनिसकुमार द्वारा संपादित 'प्रतिनिधि एकांकी' नामक हिन्दी गंदर्भ विजय तेंडुलकर का 'चार दिन' है।

निबन्ध के क्षेत्र में मराठी से बहुत कुछ अनुवादित किया जा सकता है। ललित निबंध और वैभाविक निबन्धों का एक उत्तम संकलन किया जा सकता है जिसमें फडके-खांडेकर से लगाकर दोडके-अनामिका तक बहुत-से ललित-निबंध एकत्रित किये जा सकते हैं। हिन्दी में तो निबन्ध की 'रम्य रचना' विधा में रेखाचित्र, व्यक्तिचित्र, रिपोर्टाज और साहित्यिक निबन्धों को भी शामिल कर लेते हैं : मराठी 'निबन्ध' के अन्तर्गत प्रोफेसरों की लिखी समालोचनाएँ नहीं आतीं। व्यक्तिचित्रों में पु० ल० देशपांडे का नाम सबसे बड़का है; जैसे और भी कई मनोरंजक प्रयोग इस

दिशा में हुए हैं।

चरित्र और आरमचरित्र यानी जीवनी और आत्मकथा के क्षेत्र में मराठी बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। मराठी लेखकों में ऐतिहासिकता पर बहुत जोर है। महाराष्ट्र में इतिहास-संशोधन का बड़ा कार्य हुआ है। अमेरिका में 'फाइव महाराष्ट्रीय ब्राह्मिन्स' नामक दि० धों० कर्वे की एक आत्मकथाओं में से संकलित ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। कई सामाजिक कार्यकर्ता, राजनैतिक क्रांतिकारी, मजदूर नेता, सांस्कृतिक कार्यकर्ता, लेखक, यात्री, चित्रकार, संगीतकार, अभिनेता-अभिनेत्रियाँ, नर्तकियों आदि ने बहुत ही मनोरंजक और उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से चुनकर कई अच्छी किताबें प्रकाशित की जा सकती हैं। संगीतकारों की याद और प्रशंसा और मूल्योंकन के कई उत्तम ग्रन्थ हैं। उन सब का विवरण यहाँ असम्भव है। मेरा बस चले और मुझे कहा जाय तो मैं अनंत कार्णकर की सन '३५-३६ के करीब छपी रस-यात्रा की पुस्तक 'धुक्यांतून लाल तान्याकडे' (कुहरे में से लाल तारे की ओर) या 'शुद्धसारंग' नामक लेखक की 'मखमल का पर्दा' (स्टेज सम्बन्धी संस्मरण) या अफ्रीका में और अन्यत्र अपनी सर्कस से जाने वाले सज्जन की आत्मकथा अवश्य हिन्दी में अनुवादि कराऊं। धोंडो केशव कर्वे की छोटी-सी आत्मकथा, धर्मानंद कोसंबी का 'निवेदन' (आत्मकथा), सावरकर की 'माझी जन्मठेय' (मेरा आजीवन कारावास), तिलक की स्मृतियों के कई खंडों से संकलन, ना० ग० गोरे के निबन्ध, काका गाडगील की आत्मकथा आदि अनेक पुस्तकों के नाम मुझे याद आ रहे हैं। पर यहाँ भी 'भिन्नरुचि लोकाः' वाली बात सार्थक है।

साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में के० ना० वाटवे के 'रस-विमर्श' और द० के० केसकर के 'आधुनिक काव्यप्रकाश' का अनुवाद छप जाय तो पता चलेगा कि हिन्दी में रस-विषयक छपी पुस्तकों में कितनी 'मौलिकता' (?) शेष है। ग-त्र्य-देशपांडे के 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। मडेंकर, दि० के० वेडेकर, वा० स० कुसकर्णी आदि कई समीक्षकों की रचनाएँ हिन्दी में आनी चाहिए। मडेंकर की 'सौन्दर्य आणि समीक्षा' का अनुवाद जरूर छपना चाहिए, कुछ निबन्ध 'राष्ट्रवाणी' में छपे थे। सासजी पेंडर्स के 'समाज आणि साहित्य' से रा० चि० ढेरे के 'खंडोबा' और 'नाथ-पंथ' तक कई तरह के साहित्येतिहास पर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक प्रभाव के परीक्षणों के ग्रन्थ छपे हैं। उनमें प्रा० न० (फाटक के 'एक नाथ', 'ज्ञानेश्वर', 'रामदास' के अनुवाद अवश्य हिन्दी में होने चाहिए। और प्रा० ग० द० सरदार के ग्रन्थों के भी। साहित्य अकादेमी ने रजिवाडे, चिपसूफकर, आगरकर आदि के निबन्ध-संकलन और कथा-संग्रह आदि छापे हैं, जिनके अनुवाद हिन्दी में होंगे, ऐसी आशा है।

हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं का स्वतन्त्रोत्तर साहित्य

रामनारायण उपाध्याय

निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य

मध्यप्रदेश की लोक भाषाओं में निमाड़ी का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार सभी दृष्टियों से इसका साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध रहा है। यहाँ का प्राचीन काव्य मुख्यतः अध्यात्म और दर्शन की पृष्ठभूमि लिये हुए है। इसके पीछे चार सौ वर्षों की सुदीर्घ परम्परा रही है। प्रकृति की गोद में यह पला, नदियों के किनारे इसने विकास पाया और लोक-जीवन को सुसंस्कृत बनाने में इसने अपना योगदान दिया है।

इसे सोलहवीं शताब्दी में, कबीर के समकालीन सन्त ब्रह्मगीर मनरंगीर, सिंगा, खेमदास, दलूदास और रंकदास जैसे पहुँचे हुए सन्त-कवियों की वाणी से मुखरित होने का गौरव प्राप्त है।

नर्मदा उपत्यका के अमर गायक संत सिंगा के गुरुमह ब्रह्मगीर को यदि निमाड़ का आद्य कवि कहें, तो भी अत्युक्ति नहीं। आपके ही लिखे एक गीत की दो पंक्तियों ने सिंगा के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया, और एक जमाने के साधारण से गोली को युग-युगान्त का महान सन्त बना दिया। गीत की ये दो पंक्तियाँ हैं :—

“समझी लेबो रे मना भाई,
अंत नी होष कोई आपणो।”

‘हे भाई मनुष्य अच्छी तरह समझ लो। अन्त में कोई अपना होने वाला नहीं है।’ इन शब्दों ने सिंगा के जीवन पर जादू का-सा असर किया और उन्होंने अपने मन को जगत् की ओर से मोड़, ब्रह्म की ओर लगा दिया। कहते हैं, उसी के बाद आपने अपने ग्यारह सौ अध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था। आपका समय भी सम्बत १४५५-१५७५ माना जाता है। यही कबीर का भी काल रहा है। खण्डवा से ६ मील दूर भामगढ़ ग्राम के पास ब्रह्मगीर नामक स्थान पर आज भी आपकी समाधि बनी है।

ब्रह्मगीर के बाद निमाड़ में दूसरे सन्त कवि मनरंगीर हुए। आप ब्रह्मगीर के शिष्य और सिंगा के गुरु थे। आपके ही मुँह से ब्रह्मगीर का भजन सुनकर सिंगा को वैराग्य हुआ था। आपके द्वारा लिखित एक लोरी समूचे निमाड़ में प्रसिद्ध है। लोरी क्या है मानों विराट ब्रह्म की गोद में झूलने वाले माटी के पुतले मनुष्य का वर्णन है। देखिये उसके बोल हैं—

“सोहं बाळा हालरो, नित निरमळो ।

निरमळ थारी जोत, सोहं वाला हाळरो ।”

‘सोहं पुरुष नित्य निर्मल है और निर्मल ही है, उसकी ज्योत, सोहं पुरुष नित्य निर्मल है ।’

खण्डवा से ५ मील दूर टाकली मोरी गाँव में आपकी समाधि बनी हुई है । मनरंगीर के बाद निमाड़ में जो सबसे सशक्त एवम् लोकप्रिय कवि हुए वे हैं सिंगा ।

सन्त सिंगा को यदि निमाड़ काव्य-जगत् का पूर्ण चन्द्र कहें तो भी अत्युक्ति नहीं । शरद की रस-भीनी निर्मल चाँदनी की तरह आपकी रचनाएँ यहाँ के सम्पूर्ण मनःप्राण को आच्छादित किये हैं । निमाड़ में यदि सन्त सिंगा नहीं होते, तो निमाड़ी भाषा इतनी परिष्कृत नहीं होती, निमाड़ की संस्कृति इतनी सहिष्णु नहीं होती और निमाड़ के जन-मन में आध्यात्मिकता की ऐसी अमिट छाप नहीं होती । आप निमाड़ के किसी भी गाँव में चले जाइये, वहाँ आप सूर और तुलसी के पदों की तरह सिंगा के पद प्रचलित पाएँगे । जब भी किसी का मन अपने-आपमें नहीं समाता, या एकान्त में घिर जाता है, तो वह सिंगा के ही शब्दों में सान्त्वना पाता आया है ।

जिस तरह निपाद के बाण से विधे कौंच को देखकर वाल्मीकि के मुँह से अनायास ही आदि काव्य के स्वर फूट निकले थे, उसी तरह शरीर की नश्वरता के सम्बन्ध में ब्रह्मगीर के शब्दों से विंधकर सिंगा के मुँह से भी काव्य की अमृत-वाणी सर निकली थी, और अपने ग्यारह सौ आध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था । आपकी रचनाएँ कबीर की निर्गुण-धारा, रहस्यवाद और फक्कड़पन लिये हुए हैं । अपने एक गीत में अव्यक्त ब्रह्म का निरूपण करते हुए आपने लिखा है—

“निर्गुण ब्रह्म है न्यारा । कोई समझो समझणुहारा ॥

त्रिकुटी महल में अनहद बाजे । होत शब्द झणकारा ॥

सुकमणी सेज शून्य मंड झूले । ओ सोहं पुरुष हमारा ॥

एक दूसरे गीत में लिखा है—

“पानी पवन से हो पातळा, जैसे सूर्या में घाम ।

ज्यों हों शीश का चांदणा, ऐसी मेरो राम ॥”

अर्थ है—“जो पानी और पवन से भी पतला है, जैसे सूर्य की धूप या चन्द्रमा की चाँदनी, ऐसा अव्यक्त मेरा राम है । अर्थात् जो धूप और चाँदनी की तरह दिखाई देकर भी पकड़ में नहीं आ सकता और पकड़ में न आने पर भी जिसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता ।”

अपने इस सन्त-कवि पर यहाँ की जनता की कुछ ऐसी असीम श्रद्धा रही है कि भले ही सूर और तुलसी के नाम पर कोई ग्राम नहीं बसे हों, मेले नहीं लगते हों, लेकिन आपकी समाधि पर आपकी निर्वाण-तिथि के अवसर पर निमाड़ का सबसे बड़ा मेला लगता है और आपकी समाधि के पास जो गाँव बसा है वह ‘सिंगाजी’ के ही नाम से प्रसिद्ध है । अभी तक आपके द्वारा लिखित निम्न सामग्री प्राप्त हो चुकी है—

(१) सिंगाजी का दृढ़ उपदेश (२) आठ बार सिंगाजी का (३) पन्द्रह दिन (४) बाबा सिंगाजी की वाणावली (५) आत्मध्यान (६) सिंगाजी की नराज (७) सैकड़ों मौखिक भजन, जिनकी प्रतिलिपि की जा चुकी है।

आपका जन्म संवत् १५७६ में बड़वानी, मध्य प्रदेश के खजूरी ग्राम में हुआ और चालीस वर्ष की अवस्था में सन् १६१६ में आपने हरसूद तहसील के सिंगाजी नामक ग्राम में समाधि ली।

खेमदास सिंगा के अनन्य भक्त थे। आपके द्वारा लिखित सिंगाजी की परचरी सिंगा पर एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह छन्दबद्ध ओवी में लिखा है। देखिये इसके कुछ पद ये हैं—

सिंगनी नाम, जात का गवळी
बजावे पावा मुहर बंशाली।
गावऽ गीत, घुमावऽ देव,
हरी भजन को न जाने मेव।
रहे उद्भुत करे चाकरी,
और नहीं जाणे बात दूसरी

यह मोटे देशी कागज पर ४×६ की साइज में १४० पृष्ठों में सम्पूर्ण है। इसके निर्माण काल और लेखक के सम्बन्ध में ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।

संवत् १७५१ में खेमदास ने इसे लिखा और संवत् १८७६ में गोवरधनदास ने उसी पर से इसकी प्रतिलिपि तैयार की। इससे खेमदास जी का भी समय १७५१ के आसपास प्रतीत होता है।

आइये, अब मैं आपको निमाड़ अंचल के विनम्र साधक दलुदास से परिचित करा दूँ। आप सिंगा के भक्त ही नहीं, उनके पौत्र भी थे और उन्हें भगवान की तरह मानते थे। आपका जीवन क्या क्या था, मानों सिंगा के प्रति समर्पित एक विनम्र श्रद्धांजलि। आपने उन्हीं की साधना-उपासना में अनेकों सुन्दर गीतों की रचना की थी। आपने अपने एक गीत में अपने प्रभु से अपने लिए कितने सादगीपूर्ण जीवन की माँग की है। गीत क्या है, मानो इसमें आपने अपनी आत्मा उतारकर रख दी है। गीत के बोल हैं—

“सिंगा स्वामी अरजी सुनजो, कोई का दागदार मत कीजो
नर नारायण देह दीनो है, गुरु म्हारी पल पल खबरा लीजो,
कोई का दागदार मत कीजो।”

निमाड़ अंचल के काव्य को नवीन शैली प्रदान करने और नवीन उपमाओं एवं कल्पनाओं से सँवारने के नाते धनजीदास का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। आप जाति के नाई थे और गौगावाँ के समीपस्थ एक गाँव में आपका जन्म हुआ था। वेदा नदी के किनारे आज भी आपकी समाधि बनी हुई है।

यों तो आपके लिखे ‘अभिमन्यु-व्याह’, ‘लीलावती’, ‘सुभद्रा-व्याह’ आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, लेकिन इन सबसे अधिक आपकी ‘मोतीलीला’ है। यह १७५ पदों

में सम्पूर्ण एक काव्य है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार की दृष्टि से यह अनूठी कृति है। इसमें आपने एक धार्मिक कथा के आधार पर, अत्यन्त ही मोहि एवं नवीन ढंग से, रूठी हुई राधिका को मनाने के लिये मोतियों के व्यापारी के रूप में श्रीकृष्ण का वर्णन किया है।

निमाड़ अंचल के काव्य की चर्चा करते हुए अब हम १९वीं सदी में प्रसिद्ध कर रहे हैं। रंकदास १९वीं सदी के लोकप्रिय कवि हो गये। सिंगा की निर्गुण धारा के बाद, निमाड़ में सगुण काव्यधारा को प्रवाहित करने का श्रेय आपको है। हरदा तहसील के नजरपुरा ग्राम के निवासी गंगागीर के शिष्य और कृष्ण उपासक थे। आपका काल सम्बत् १८४८-१९३२ रहा है। आपने अपनी रचनाओं में 'माया', 'ममता' और 'तृष्णा' आदि का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है।

इस तरह निमाड़ अंचल का प्राचीन काव्य अपने में कबीर की निर्गुण धारा और सूर और तुलसी की सगुण धारा को सहेजे, पिछली चार शताब्दियों से निरन्तर प्रवाहमान रहा है।

आधुनिक गद्य एवं पद्य

निमाड़ी भाषा के आधुनिक गद्य एवं पद्य के निर्माण में शिक्षित वर्गों जितना हाथ है, उतना ही ग्रामीण जनता का भी योगदान रहा है।

खण्डवा के श्री माणिक्यचन्द्रजी जैन द्वारा लिखित 'सुखानन्द-मनोरमा' नामक नाटक में सबसे पहले एक पात्र के रूप में निमाड़ी भाषा का प्रयोग किया गया। इसमें शिष्ट हास्य का उत्तम नमूना है। यह पुस्तक अब अप्राप्य है। इसके बाद 'वाणी' के निमाड़ अंक में प्रकाशित श्री तुलसीदास गांवसिदे की 'कंजूस-खोपड़ी' नामक कहानी भी निमाड़ी भाषा की एक अत्यन्त ही सुन्दर और मनोरंजक रचना रही है। इसी तरह की एक बात मैंने अकोला से प्रकाशित 'मानवता' में दी थी। उसमें 'लोक-कहावतों' के माध्यम से बात-की-बात कही गई है।

कहानियों की दिशा में श्री नारायण बावने 'वरुण' ने निमाड़ी भाषा में अनेक प्रयोग किये हैं। वे निमाड़ी में सिद्धहस्त रहे हैं। एक ओर जहाँ उन्होंने 'हुशियार बाबा वाडई' 'याइ-याऐण का सवाल-जवाब' और 'राजा को गप्पो' जैसी सुन्दर व्यंग्य और हास्य-पूर्ण रचनाएँ लिखी हैं, वहीं वे, अपनी बहादुरी के लिये प्रसिद्ध 'टंटिया मामा' और आत्मोत्सर्ग के लिये प्रसिद्ध 'कुलवन्ती बहू' की कथा को भी भूले नहीं हैं, जिसका याद में आज भी 'वरला के तालाब' की आँखें डबडबाई हुई हैं।

निमाड़ी लोक-कथाओं की दृष्टि से भाई शिव नारायण उपाध्याय ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। आपने निमाड़ी लोक-कथाओं का एक संग्रह 'राजा को सपना' नाम से सम्पादित किया है। श्री शिवसहायजी चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित विभिन्न जनपदों की लोक-कथाओं के प्रतिनिधि संग्रह 'हमारी लोक-कथाएँ' में आपकी 'जंगी-भूत' शीर्षक लोक-कथा संग्रहीत है। पब्लिकेशन डिवीजन से प्रकाशित 'कमल और केतकी' नामक पुस्तक में लेखक की दो निमाड़ी लोक-कथाएँ संग्रहीत हैं। श्री डॉ० कृष्णलाल

हंस के निमाड़ी लोक-कथाओं के दो छोटे-छोटे संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

युग की पुकार से भी निमाड़ी गद्य-साहित्य खाली नहीं है। श्री हेमचन्द्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'धरती माता' शीर्षक कहानी में आप आचार्य विनोबा के भूमिदान आन्दोलन के स्वर सुन सकते हैं। संक्षेप में, निमाड़ी गद्य के ये कुछ पद-चिह्न हैं।

निमाड़ का पद्य-साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है। इसमें अनेकों नये-नये प्रयोग हुए हैं, विभिन्न प्रकार की रचनाएँ लिखी गई हैं और इनके निर्माण में ग्रामीण और शहराती जनता का समान योगदान रहा है। इसमें उन निरक्षर देहातियों का भी सहयोग है, जिन्होंने शिक्षा के नाम पर एक अक्षर नहीं पढ़ा, और यात्रा के नाम पर अपने जिले की सीमा नहीं लाँधी। लेकिन फिर भी जो सूझ और प्रतिभा के ऐसे धनी रहे हैं कि उनकी रचनाएँ निमाड़ के जन-जन की जवान पर तैरने आई हैं।

आधुनिक पद्य की दृष्टि से 'सलिता का ब्याह' निमाड़ी भाषा की सबसे पहली प्रकाशित रचना है। यह खण्डवा से प्रकाशित हुई थी और गणपत जी ढोंढोवा नामक व्यक्ति इसके प्रकाशक थे। इसका दूसरा संस्करण भी संवत् १९६६ में जगदीश्वर प्रेस बम्बई से निकल चुका है। यह १७७ पृष्ठों की पुस्तक है और निमाड़ में अत्यधिक लोकप्रिय रही है। भजन-मण्डलियों में इसका सर्वत्र प्रसार है।

ख्याल और लावणी-लेखकों में खुड़गाँव के श्री बंकटराम आनन्दराम का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। ये दोनों घनिष्ठ मित्र थे और इन्होंने 'बंकट आनन्दराम' के संयुक्त नाम से ही अनेकों रचनाएँ लिखी हैं। इनके ख्याल निमाड़ के गाँवों में बड़े ही प्रेम से गाये जाते हैं। इनमें से एक का जब निधन हो गया, तो दूसरे को इतना गहरा धक्का लगा था कि उस पर उन्होंने जो रचना की वह 'करुणा' की दृष्टि से समूचे निमाड़ी साहित्य की अनूठी कृति है।

गौगाँवाँ के श्री बोंदर कन्हैयालाल ने भी अनेकों सरवी, लावणी और ख्यालों की रचना की है। इनकी रचनाएँ अधिकांशतः समाज-सुधार सम्बन्धी हैं।

वरुड़ के श्री कृष्णराम परशराम और उमरखली के श्री फकीरनाथ जी की कुछ रचनाएँ, श्री कालूराम जी गंगराडे के सम्पादन में खण्डवा से प्रकाशित 'जाति-सुधारक' नामक पत्र में प्रकाशित भी हो चुकी है। इनकी रचनाओं पर सिंगा की निगुणधारा का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है।

श्री शिवचरणलाल द्वारा रचित 'खण्डवा की आग' का वर्णन भी अपने ढंग की अनूठी कृति है। आग तो लगी भी, और बुझा भी दी गई, लेकिन यह गीतकार की कलम का जादू है कि उनकी पंक्तियों में ४५ वर्ष पूर्व लगी आग का वर्णन आज भी ज्यों-का-त्यों देखा-सुना जा सकता है।

ख्यालों की दृष्टि से सायल्ली उस्ताद का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा रचित 'भैंस का ख्याल' बहुत प्रसिद्ध रचना है। इसमें एक देहाती की भैंस लाने की महत्वाकांक्षा, स्वयं की गरीबी और साहूकार के शोषण और अन्त में भैंस के भी खराब निकल जाने का अत्यन्त ही करुण और सजीव चित्रण है। यह गीत मुझे अपने ही गाँव कालमुखी के सुप्रसिद्ध ख्याल-गायक श्री धनसिंह गुर्जर से प्राप्त हुआ

था। और मैंने जब श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को उनकी देश-व्यापी यात्रा के सिलसिले में फैंजपुर कांग्रेस में इसे उन्हें सुनाया, तो इसकी पहली ही पंक्ति पर वे मुग्ध रह गये। इसका पहला चरण है—

तुम लाओ नी मसी हऊँ मही-दुध-माखन खाऊंगा,
सौंदारऽ सी उठी नऽ मही रे खूब धमकाऊंगा।
एक तीन साल सी बठी तुम्हारा भरसऽ
तुम लाओ कयई से, बंधी जांगण मंससरसऽ
भेंसी सारी चारो लाऊंगा, नऽ चारो लाऊंगा :
सौंदार से उठी नऽ मही रे खूब चमकाऊंगा ॥”

आधुनिक कविता की दृष्टि से भी निमाड़ी लोक-साहित्य किसी से पीछे नहीं है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसे लोक-जीवन से तदाका व्यवितियों का सहयोग प्राप्त है।

ग्रामीण पद्य-लेखकों की चर्चा करते समय, हीरापुर ग्राम के छोग्या नामक मिलल नौजवान को भुलाया नहीं जा सकता जो अपने ख्यालों के लिए आसपास के अनेक गांवों में प्रसिद्ध रहा है। और बिना पढ़ा-लिखा होने पर भी जिसे तत्काल ख्याल-रचना की अद्भुत सूझ प्राप्त है। भादों के महीने रास-मण्डल के दिनों में जिस गांव में पहुँच जाता है, वहाँ के कार्यक्रम में मानो प्राण आ जाते हैं। अभी-अभी सन् ५६ में जब निमाड़ में अकाल पड़ा, तो सड़क पर काम करते हुए उसने जिन गीतों की रचना की, उनमें मानो सहस्र-सहस्र जनता के दुख-दर्द की छाप उभर आई है। उसके द्वारा लिखित एक गीत :

“खुली गई सड़क भँय्या, लगी गई घाड़की
माटी फेंकी न म्हारी, दुखी आई टालकी ॥

समूचे निमाड़ के मजदूरों द्वारा सामूहिक गान की वस्तु बन चुकी है।

आधुनिक कविता लेखकों में बरूफाटक के श्री बाबूलाल अवस्थी की रचनाओं में गरीबी के बीच की मुस्कुराने वाली जिन्दगी और किसान के उज्ज्वल भविष्य के प्रति दृढ़ आस्था के दर्शन किये जा सकते हैं।

निमाड़ी में व्यंग्य लिखने वालों में महेश्वर के श्री बाबूलाल सैन और श्री विद्याधर टेलर का महत्वपूर्ण स्थान है। श्री बाबूलाल सैन की कलम में यदि आज की विपन्न सामाजिक व्यवस्था के सजीव चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता है तो श्री विद्याधर टेलर की रचनाओं में आज की राजनीतिक स्थिति पर कसकर प्रहार किया है। आपकी रचनाएँ गुदगुदाती ही नहीं वरन् तिलमिला भी देती हैं।

भोपाल के श्री लक्ष्मणसिंह डासौदी ‘आयो आयो चुड़ी वालो’ शीर्षक रचना के माध्यम से समूचे निमाड़ में पहचाने जाते हैं।

अंजड़ के श्री गौरीशंकर ‘गौरीश’ अपने छोटे-छोटे पदों में गेय-गीतों की रचना करने में सिद्धहस्त हैं : उनके एक वर्षा-गीत में वर्षा ही नहीं, वर्षाकालीन ग्रामीण जीवन का अत्यन्त ही सजीव चित्र उतरा है। कुछ ऐसे लगता है मानो रिमझिम की

निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य : १०६

तान पर, नन्हें-नन्हें बूंदों की तरह नन्हें-नन्हें शब्दों में कोई संगीतमय कथानक चल रहा हो।

सेगांव के श्री सोमेश्वर जोशी की रचनाओं में आज की विषम सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। उनकी 'दसेरो गयो न दिवाळई आई' शीर्षक रचना को पढ़कर कुछ ऐसे लगता है मानो अपनी अन्तरात्मा के दर्द और आँसुओं से उन्होंने इसकी रचना की है।

खण्डवा के सुप्रसिद्ध लोकगीतकार भाई बलराम पगोर ने निमाड़ी में करीब एक सौ गीतों की रचना की है। भाव, भाषा, उपमा व अलंकार सभी दृष्टियों से आपकी रचनाएँ निमाड़ी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हैं। रेडियो पर निमाड़ी लोकगीतों को मौलिक स्वरूप में प्रस्तुत करने का श्रेय भी आपको रहा है। कालमुखी के भाई शिवनारायण उपाध्याय की 'काई ई ओज गांव आय' तथा 'हाँरे काका ई ओज गांव आय' शीर्षक रचना भी अत्यन्त लोकप्रिय रही है।

राजाभाऊ व्यास की रचनाएँ हमारे ही घर-आँगन के सजीव चित्र लिये हुए हैं। आपके द्वारा लिखित 'बईण की चिट्ठी' में बहन की मनोव्यथा का अत्यन्त ही मार्मिक चित्रण संजोया गया है।

बड़वाह के श्री प्रभाकर द्विवेदी की 'ई कूण आय' शीर्षक पुस्तक निमाड़ी पद्य-साहित्य की अत्यन्त सशक्त कृति है। आपने निमाड़ी लोक-गीतों की शैली में अत्यन्त ही सुन्दर एवं मौलिक प्रयोग किए हैं।

वहेगाँव के श्री रामराव जी चौरे की रचनाओं पर लोक-जीवन ही नहीं अध्यात्म का अधिक प्रभाव है।

बुरहानपुर के श्री मंशाराम यादव ने नवनिर्माण-सम्बन्धी रचनाएँ विशेष रूप से लिखी हैं।

खलघाट के श्री भगवान शर्मा द्वारा लिखित 'नर्मदा अष्टक' में नर्मदा का सजीव चित्रण हुआ है।

लोणारा के श्री मांगीलाल सोनी वैद्य द्वारा लिखित 'गरबी संग्रह' निमाड़ी और गुजराती की लोकप्रिय गरबियों का पहला प्रामाणिक संग्रह किया जा सकता है।

इसी तरह श्री अरविन्द जोशी पुष्प, शंकरलाल गुणखान, नारायण बावरे वरुण, मोतीलाल बर्वे 'मुक्त', शंकरलाल पाटीदार, मुरलीमनोहर कायरे व हेमन्द्रनाथ शर्मा निर्मल अज्ञेय, रेवाशंकर भांगरोने, त्रिभुवनसिंह चौहान प्रेमी व दिनकर राव दिनेश की रचनाओं में भी निमाड़ी पद्य के उज्ज्वल चरण चिन्ह अंकित हैं।

शोध एवं संकलन कार्य

श्री सुकुमारजी पगोर के प्रयत्नों से सन् १९३४ में 'सिंगाजी-साहित्य शोधक मण्डल' की स्थापना की गई एवं पूरे तीन वर्षों तक सिंगाजी के मेले के अवसर पर उत्सवों का आयोजन कर सिंगा साहित्य पर शोधपूर्ण कार्य किया गया। सन् ३० में सिंगा के जीवन एवं अन्तर्गत सिंगाजी साहित्य शोधक मण्डल द्वारा आयोजित पुस्तिका

११० : **निमाड़ी**

भी प्रकाशित की गई ।

श्री विश्वनाथ खोड़े के सम्पादन में खरगोन से प्रकाशित 'वाणी' पत्रिका माध्यम से भी निमाड़ी लोक-साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । उसका 'निमाड़ अंक' इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है ।

सन् १९४० से मैं निमाड़ी लोक-साहित्य के खोज-शोध एवं अध्ययन के काम में संलग्न हूँ । सन् १९४९ में 'निमाड़ी लोकगीत' नाम से मेरा एक लोकगीत-संग्रह सन् १९५५ में 'जब निमाड़ गाता है' नाम से दूसरा लोकगीत-संग्रह तथा सन् १९६१ में 'निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य' नामक अध्ययन पुस्तक तथा सन् १९६५ में निमाड़ अंचल के १६वीं सदी के लोकप्रिय सन्त सिंगाजी पर 'सन्त-सिंगाजी का अध्ययन' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है । इनके अलावा 'सम्मेलन पत्रिका', 'परिषद् पत्रिका', 'सप्तसिन्धु', 'राजस्थान भारती', 'मरु भारती', 'त्रिपथगा', 'लोकाय', 'इंडियन फोकलोर' (अंग्रेजी) आदि में समय-समय पर अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहे हैं । 'शुक्ल अभिनन्दन-ग्रन्थ' एवं 'पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन-ग्रन्थ' में भी 'निमाड़ी लोक-साहित्य' एवं 'लोक रंगमंच : एक झलक' शीर्षक अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए हैं ।

लोक-साहित्य तथा पुरातत्त्व के विद्वान् अन्वेषक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा हिन्दी जनपदीय परिषद के मुखपत्र 'जनपद' में 'निमाड़ी लोकगीत' पुस्तक पर एक विस्तृत अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किया गया ।

श्री श्याम परमार द्वारा 'मालवी लोक-साहित्य' परिषद के अन्तर्गत निमाड़ पर्यवेक्षण दल का आयोजन कर निमाड़ी लोक-साहित्य के संकलन का कार्य भी किया गया । आप मालवी भाषा के विशेषज्ञ हैं ।

प्रो० नेमीचन्द जैन ने भील और बोरलों पर गम्भीर शोध-कार्य किया है । 'भील, भाषा-साहित्य और संस्कृति' तथा 'भीली हिन्दी शब्दकोष' आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं ।

नागपुर के श्री कृष्णलाल हंस ने 'निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य' पर तथा श्री रमेशचन्द्र गंगराड़े ने 'सिंगाजी' पर डाक्टरेट प्राप्त की है । ये दोनों ग्रन्थ निमाड़ी लोक-साहित्य के गौरव ग्रन्थ हैं ।

निमाड़ी लोक-साहित्य के शोध, अध्ययन, संकलन एवं प्रकाशन के लिए सन् १९५३ में 'निमाड़ लोक-साहित्य परिषद' नामक संस्था की स्थापना की गई । सन् ५७ में इसके द्वारा 'निमाड़ी कविताएँ' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भी प्रकाशित की गई । परिषद के मुखपत्र के रूप में श्री जड़ावचन्दजी जैन के संचालन एवं श्री जगदीश विद्यार्थी, रामनारायण उपाध्याय एवं महेन्द्र जैन के सम्पादन में 'निमाड़' नामक एक पाक्षिक पत्र भी प्रकाशित किया गया जिसमें निमाड़ी लोक-साहित्य पर उपयोगी सामग्री प्रकाशित होती रही है ।

व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ० सत्येन्द्र

बाबू गुलाब राय

बाबू गुलाबराय जी से मेरा मानसिक सम्बन्ध तो 'नवरस' नामक ग्रन्थ के द्वारा सम्भ-
वतः सन् १९२५-२६ में ही हो गया था।

बी० ए० में दर्शन के अन्तर्गत मनोविज्ञान भी मेरा विषय था, अतः नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के विद्यालय में विशारद तथा साहित्य रत्न की कक्षाओं को 'रस' का अध्यापन कराते समय मुझे मनोवैज्ञानिक प्रणाली ठीक लगती थी और उसका एक रूप बाबूजी ने ही छोटे से 'नवरस' में दिया था, अतः इससे मैं प्रभावित हुआ। जब बाबूजी ने आगरे को अपना स्थायी निवास बनाया तब मिलना हुआ होगा, पर तब भी पहले साक्षात्कार में वे चिरपरिचित लगे होंगे, ऐसा मुझे आभास होता है। क्योंकि मैं और वे मिले, तब क्या कुछ कैसे हुआ यह मुझे स्मरण नहीं अतः यह ऐतिहासिक घटना भी, एक सहज व्यापार के रूप में घटित हुई, और जिस क्षण से मुझे बाबूजी के पारस्परिक सम्पर्क का कुछ भी स्मरण होता है तो लगता है कि उससे भी बहुत पहले से मैं उनसे मिलता-जुलता रहा हूँ।

यथार्थ यह है कि बाबूजी आगरे में १९३३ में आये, जैसा कई व्यक्तियों ने अपने संस्मरणों में लिखा है, और मैं १९३० में ही आगरे से मथुरा चला गया था पर बीच-बीच में आगरे तो आना होता ही था, क्योंकि आगरे में ही मेरा घर था, पिताजी और छोटा भाई तो आगरे ही रहते थे, माता जी भी बहुधा आगरे ही रहती थीं, अतः आना होता ही था। आगरे आये तो नागरी प्रचारिणी सभा में जाना अनिवार्य ही हुआ, महेन्द्र जी से मिलना भी अनिवार्य। यहीं कहीं बाबूजी के दर्शन हुए होंगे।

फिर मैंने अनुभव किया कि बाबूजी का स्नेह मुझ पर पिता के समान है। यह भी अनुभव किया कि उनमें और मुझमें अत्यधिक आत्मिक निकटता है। बाबूजी के सम्बन्ध में लिखे गए अन्य विद्वानों तथा व्यक्तियों के संस्मरण मैंने पढ़े तो लगा कि वे सब भी बाबूजी से ऐसा ही निकटत्व अनुभव करते थे जैसा मैं करता था पर मेरी निकटता तो अन्य उपादानों के कारण बड़ी ही और सम्भवतः यथार्थ आध्यात्मिक निकटता बनती गयी। जैसे 'साहित्य-संदेश' के संपादक के नाते हम दोनों साथ-साथ छपे, 'आकाशवाणी' के कितने ही कार्यक्रम ऐसे बने जिनमें संवादात्मक चर्चा थी, इसके लिए बाबूजी के साथ बहुधा मुझे ही रखा गया—यों कुछेक ऐसी चर्चाएँ एक दो अन्य विद्वानों के साथ भी सम्भवतः उन्हें करनी पड़ी थीं, पर सबसे अधिक चर्चाओं में हम दोनों रहे ऐसा मेरा अनुमान है। और मुझे डी० लिट्० की उपाधि उसी कन्वोकेशन में मिली जिसमें

बाबूजी को डी० लिट्० की 'आनरिस काजा' (सम्मानार्थ) उपाधि प्राप्त हुई। प्राचीन कवियों पर समीक्षात्मक निबन्धों का एक संग्रह बाबूजी को तैयार करना और उसमें दो या तीन निबन्ध उन्होंने मुझे लिखवाए। उसकी भूमिका में बाबूजी इस बात की प्रसन्नता व्यक्त की थी कि मैं वे निबन्ध उसी शैली में लिख सका था बाबूजी की अपनी शैली थी—इसी प्रकार आगरा नागरी प्रचारिणी सभा तथा साहित्य मंडल में मुझे बाबूजी के बढ़ते नैकट्य का आभास मिलता रहा। वास्तव में नैकट्य क्या, वह तो बाबूजी की उदारता और महानता थी जिसकी छाया में मैं की की ही भाँति आता गया, यह बात दूसरी है कि कुछ संयोगों के कारण उस छाया केन्द्र के निकट मेरी पहुँचने की गति कुछ तेज रही, या मुझे यह लगा कि वह मेरे निकट अन्य की अपेक्षा तेजी से आ रहा है। सम्भवतः बाबूजी को भी इसका आभास अवश्य था, क्योंकि मुझे बताया गया है कि बाबूजी के अभिनन्दनार्थ जो उनके जीवन काल में ही तैयार किया जा रहा था, उसमें बाबूजी का आग्रह था सत्येन्द्र जी को अवश्य रखा जाय। यदि यह सत्य है तो इससे बढ़कर मेरे लिए गो की बात और क्या हो सकती है।

मैं समझता हूँ कि इसी प्रकार किसी न किसी प्रकार के मेरे और बाबूजी पारस्परिक नेकट्य का ज्ञान ओरों को भी है। तभी 'आलोचना' ने भी बाबूजी निबन्ध लिखने का भार मुझे दिया है। यद्यपि बाबूजी बाहर से आकर आगरे के और मैं आगरे का जन्म से होकर पढ़ लिख कर आगरे से बाहर रोटियाँ कमाता फिर भी दोनों ही कहे तो आगरे के ही जायेंगे। बाबूजी निश्चय ही आगरे के विश्वस्मरणीय गौरव हैं।

व्यक्तित्व

पर नहीं; वे आगरे के ही गौरव नहीं, समस्त हिन्दी-जगत के गौरव हैं। मैं है जो बाबू गुलाब राय और उनके कृतित्व से परिचित नहीं।

गोरा रंग, मँझोला कद, स्थूलता की कुछ झलक लिए हुए, छरहरी शरीर, यष्टि, चश्मे से झाँकने वाली बड़ी आँखें, जिनकी पलकों से गम्भीरता और गुलाब कोयों में स्मित हास की रेखाएँ हैं; नीचे के ललित ओठों को चूमने के लिए उल्टा घनी सफेद मूँछें, गोल मुँह, चौड़ा माथा। इनका ऐसा सीधा-सादा व्यक्तित्व सहज तेज से देदीप्यमान रहता है। बन्द कालर का कोट तथा अचकन और चूड़ी पाजामा। बाबूजी को काले रंग के कपड़े पसंद नहीं थे। गांधी टोपी, जो फ़ैल्ट बैप परास्त कर बाबूजी के शिर को उनके मन की भाँति धवल-उज्ज्वल बनाती थी।

बाबूजी छतरपुर के सामन्तवादी वातावरण में रहे थे, पर उनका हृदय सामान्य-जन जैसा रहा, दुर्बलों और दीनों के प्रति द्रवित होने वाला। इस प्रवृत्ति का कारण ही वे अत्यन्त सहिष्णु हो गए थे। मैंने ऐसे प्रसंग देखे थे कि जिनमें बाबूजी कुछ उपहास किया गया। सभा में उपस्थित अन्य सज्जनों को यह बात अखरी, बाबूजी अविचलित। ठीक है, जो स्वयं अपने ऊपर हो सकता है। ऐसे भी क्षणों

ज्ञान मुझे है जब एक प्रबल व्यक्ति किसी अपने आश्रित के साथ कोई कठोर व्यवहार करने पर तुला हुआ है, बाबूजी का भी वह हितैषी है, और वह बाबूजी से अपने पक्ष का समर्थन चाहता है—बाबूजी का हृदय उस आश्रित की ओर है। ऐसे व्यावहारिक तनाव के क्षणों में भी वे समझते अथवा समन्वय का मार्ग ही अपनाते थे। उनका आग्रह ऐसे अवसरों पर भी सत्य की ओर ही होता था, यथा सम्भव वे असत्य भाषण तो क्या असत्य आचरण भी नहीं करते थे।

उनका मन अत्यन्त निष्कलुष था। अपने साथियों और मित्रों की उन्नति से उन्हें प्रसन्नता होती थी। मैं जानता हूँ कि कुछ लोग उनसे अप्रसन्न थे। कुछ तो इसलिए अप्रसन्न थे कि वे समझते थे कि कुछ थोड़े-से रूप्यों के लिए बाबूजी एक कालेज में प्रध्यापकी करते हैं, ऐसे विद्वानों को रूप्यों का लालच अच्छा नहीं। पर बाबूजी को तो प्राध्यापन में एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता था। कुछ इसलिए अप्रसन्न थे कि उनकी राय में बाबूजी में विद्वत्ता तो है नहीं, पर वे पुजते बहुत हैं। इसमें बाबूजी का क्या वश था। वे किसी से यह कहते नहीं सुने गए कि उनका कोई सम्मान करे। दूसरों के सम्मान की योजनाओं में वे हार्दिक सहयोग देते थे। ऐसे कुछ व्यक्ति जहाँ-तहाँ उनकी निन्दा भी करते थे, पर मैंने बाबूजी के मुख से किसी के सम्बन्ध में भी कोई निन्दा की बात सुनी हो मुझे स्मरण नहीं।

हाँ, बाबूजी में व्यवहार-बुद्धि भी पूरी थी। मैं समझता हूँ सामान्यतः उन्हें कोई ठग नहीं सकता था। बड़े-बड़े कुशल प्रकाशकों से भी उनके प्रिय सम्बन्ध थे। बाबूजी स्वयं कहते थे कि पुस्तकों से जितनी आय उनकी है उतनी सम्भवतः किसी अन्य ऐसे लेखक की नहीं होगी, जो स्वयं प्रकाशक नहीं। इस स्तर पर भी पूर्ण प्रसन्न और निश्चिन्त थे।

बाबूजी का जन्म माघ शुक्ल चतुर्थी को, संवत् १८४४ वि० में हुआ। यह सोमाय्य इटावे को प्राप्त हुआ। महाकवि देव का जन्मस्थान भी इटावे के पास ही था। इटावे में साहित्यकार पैदा होते हैं।

पर यथार्थतः बाबूजी का पैतृक स्थान तो जलेश्वर है।

पिता-माता

आपके पिता थे बाबू भवानी प्रसाद और माता का नाम था गोमती देवी। दोनों बड़े भक्त और धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।

भाई

आपके भाई श्री रामचन्द्र गुप्त हिमालय प्रदेस के काश्मीर विभाग में शिमला में असिस्टेंट सेक्रेटरी थे, और अब उस पद से अवसृजित होकर लिया है।

पुत्र-पुत्रियाँ

REFERENCE BOOK

आपके पुत्र श्री रामचन्द्र गुप्त हिमालय प्रदेस के काश्मीर विभाग में शिमला में असिस्टेंट सेक्रेटरी थे, और अब उस पद से अवसृजित होकर लिया है।

इज के एक अधिकारी हैं। मझले श्री शिवशंकर एम० डी० भूपाल में मेडिकल कालेज में विभागाध्यक्ष हैं। सबसे छोटे श्री विनोदशंकर सिविल इंजीनियरिंग में ओवर-सियर हैं।

बाबूजी का कहना था कि गृहस्थ की दृष्टि से वे पूर्णतः सुखी हैं। यथार्थ में उनके घर भर में स्नेह का वातावरण रहता था। उनके जीवन भर में सम्भवतः घर की कोई जटिल-विकट समस्या इनके सामने खड़ी नहीं हुई। सभी पुत्र आज्ञाकारी और योग्य, अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठा पाने वाले। सभी को बाबूजी का ध्यान था।

शिक्षा

आपने आगरा कालेज से सन् १९११ में बी० ए० पास कर दर्शनशास्त्र में एम० ए० सन् १९१३ में पास किया। एम० ए० के लिए आपने सेन्टजोन्स कालेज आगरा में शिक्षा पायी थी। एल-एल० बी० आपने आगरा कालेज से किया।

छतरपुर में

शिक्षा समाप्त करके आप छतरपुर राज्य में महाराज के प्राइवेट के पद पर नियुक्त हुए। वहाँ आपने न्यायाधीश का भी काम संभाला। १९१३ से १९३२ तक राज्य की सेवा करके आप आगरा लौट आये। तब से आगरे में बैठकर आपने अनवरत साहित्य-सेवा की।

साहित्यिक सेवाएँ

बाबूजी अनेक प्रसिद्ध साहित्यिक आयोजनों का सभापतित्व कर चुके हैं। अखिल भारतीय ब्रज साहित्य-मण्डल के भी आप एक वर्ष सभापति निर्वाचित हुए थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दर्शन-परिषद का सभापतित्व आप तीन बार कर चुके थे।

नागरी प्रचारिणी सभा आगरा के आप एक कर्मठ कार्यकर्ता थे। सभा के कार्यक्रमों में आप पूरी रुचि से भाग लेते थे और कुछ उपयोगी और नयी सूझबूझ के आयोजन भी कराते थे। ऐसा ही एक अविस्मरणीय आयोजन था 'साहित्य में आने वाले पशु पक्षियों की प्रदर्शनी।' सभी पशु-पक्षी जिनका कवियों अथवा लेखकों ने वर्ण रूप में अथवा अवर्ण्य उपमान आदि रूप में उपयोग किया है, उन सबको सजीव अथवा मूर्ति-रूप में आपने जुटाया और उन्हें सज्जा के साथ प्रदर्शित किया। चातक, चकोर, चकवा आदि-आदि सभी थे और सबके जीव-विज्ञान-विषयक पारिभाषिक नाम भी दिये थे। एक कठिन और अभूतपूर्व आयोजन केवल बाबूजी की सूझबूझ और कर्मठता के कारण सफल हुआ था। भारत की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'साहित्यकार संसद से भी आपका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

केन्द्रीय सरकार ने कोश-निर्माण-समितियों में आपको प्रमुख स्थान दे रखा था।

‘आकाशवाणी’ के दिल्ली केन्द्र की परामर्श-समिति में आपने कई वर्ष सहायता की थी।

जिन समितियों तथा परिषदों से आपका सम्बन्ध रहा, उन्हें आपने विचारों और क्रियात्मक सहयोग से, उनके द्वारा हिन्दी साहित्य को आपने लाभ पहुँचाया है।

सम्मान

आपकी साहित्यिक सेवाओं को पुरस्कृत भी किया गया—

५०० रूपयों का एक पुरस्कार हिन्दुस्तानी एकेडमी से आपको मिला, तर्कशास्त्र के द्वितीय भाग पर।

एक स्वर्ण-पदक मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर ने आपको प्रदान किया, तर्कशास्त्र पर।

१००० रूपयों का साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार ‘साहित्यकार संसद’ से आपको मिला।

८०० रुपये पुरस्कार रूप में उत्तर प्रदेश सरकार ने आपको प्रदान किये।

बाबूजी की सेवाओं को देखते हुए, ये सम्मान वस्तुतः अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होते हैं। और यह लगता है कि हिन्दी-जगत अपने ठोस साहित्यकारों का समुचित सत्कार करना नहीं जानता।

मानार्थ डी० लिट्०

किन्तु आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ में बाबूजी के साहित्यिक कृतित्व की देन को स्वीकार करते हुए उन्हें मानार्थ डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी। वस्तुतः सारस्वत क्षेत्र का यह सर्वोच्च सम्मान था, जिसके वे पूर्णतः अधिकारी थे।

प्राध्यापक

बाबूजी एक सफल अध्यापक थे। इनके छात्र इस नाते इनका बड़ा सम्मान करते थे यों तो उन्होंने कुछ समय तक सेंट जान्स कालेज में दर्शन का अध्यापन भी किया था, पर यथार्थतः वे हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक बहुत काल तक, १९५५ तक रहे थे। मुझे ज्ञात है कि बाबूजी ही भाषा-विज्ञान पढ़ाते थे। आलोचना आदि तो पढ़ाते ही होंगे, पर भाषा-विज्ञान भी पढ़ाते थे, यह आश्चर्य की बात लगती है। उस सूखे विषय में भी बाबूजी सफल अध्यापक थे।

बाबूजी का भाषण मन्दगति से बिना विशेष उतार-चढ़ाव के तो होता ही था बीच-बीच में ‘ऐँझारा’ भी उन्हें लगाना पड़ता था जैसे यह तो आगे के शब्द ढूँढ़ने के लिए या भाव पाने के लिए वे रुक रहे हों और ‘ऐँझ’ की दीर्घ तानता की टेक बना रहे हों। ऐसा भाषण सामान्यतः उबाने वाला माना जायगा, पर इस सबके बावजूद बाबूजी के भाषण से कोई ऊबता नहीं था। क्योंकि उनका विस्तृत ज्ञान, तत्पर स्मृति

से प्राप्त रोचक उद्धरणों से प्रभाव-वृद्धि, रोचक टिप्पणियों और व्याख्याओं का समावेश, आदि से श्रोता मन्त्र मुग्ध रहते थे ।

व्याख्यान दाता

यथार्थ यह है कि बाबूजी को भाषण देने का बहुत शौक था और इसे वे स्वयं मुखसे कह चुके थे । वे यह चाहते रहते थे कि उन्हें कोई भाषण देने का अवसर दे या भाषण देने के लिए बुलाये । उनमें साहित्य पर भाषण देने की सामर्थ्य भी अभूतपूर्व थी । वे बड़ी आस्था से साहित्य के किसी भी पक्ष अथवा अंग पर बोल सकते थे ।

साहित्य में प्रथम प्रवेश

सन् १८१३ में 'शान्ति धर्म' लिखकर आपने साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया । तब से बाबूजी की लेखनी नित्य साहित्य के रत्न प्रसव करती रही, मृत्यु पर्यन्त आप वीर योद्धा की भाँति रहे । यदि स्वयं नहीं पढ़ लिख सकते थे तो किसी की सहायता से या माध्यम से इस सर्जन में प्रवृत्त रहे ।

साहित्य—सेवा चतुर्मुखी प्रतिभा

बाबूजी की साहित्य-सेवा पर दृष्टि पड़ते ही विदित होता है कि बाबूजी की प्रतिभा ने चार क्षेत्रों में वैशिष्ट्य प्रकट किया है—

- (१) निबन्ध
- (२) दर्शन
- (३) हास्य
- (४) आलोचना

और चारों में बाबूजी ने हिन्दी को विशेष देन दी है । एक और क्षेत्र में बाबूजी की देन श्लाघनीय है, वह है सम्पादन-कला ।

(ख)

आलोचक : आलोचना—

बाबू गुलाबराय हिन्दी के प्रथम कोटि के आलोचक थे, इसमें दो मत नहीं । हिन्दी का बड़े से बड़ा विद्वान् और साधारण हिन्दी प्रेमी तक इस बात से परिचित हैं और सभी वर्ग के साहित्यकार उनमें श्रद्धा रखते थे । बाबूजी की बहुमुखी प्रतिभा का सबसे अधिक एकाग्रभाव साहित्य के इसी रूप को प्राप्त हुआ है । जैसे यही उनके जीवन का प्रधान धर्म हो । यों बाबूजी दर्शन-शास्त्र में एम० ए० थे और उनके जीवन में लेखन का प्रथमारम्भ भी निश्चय ही दर्शन विषयक पुस्तक के प्रणयन से ही हुआ । पर साहित्य इस दर्शन के वाहन पर सवार होकर धीरे-धीरे अपनी दिग्विजय की घोषणा करने लगा । बाबूजी ने जो रचनाएँ की हैं उनकी सूची इस प्रकार है :—

१. शान्ति धर्म—१८१३, प्रेम मन्दिर, आरा

२. मंत्री धर्म—१९१३, प्रेम मन्दिर, आरा
३. कर्तव्य शास्त्र—१९१५ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
४. तर्कशास्त्र—भाग १, २, ३ १९१६ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
५. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—१९१७ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
६. फिर निराशा क्यों ?—१९१८ प्रेम मन्दिर द्वारा दूसरा संस्करण गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
७. नवरस—१९३३ पहला संस्करण प्रेम मन्दिर, आरा, दूसरा ना० प्रचारिणी सभा, आरा
८. प्रबन्ध प्रभाकर—१९३३ हिन्दी भवन, लाहौर (जलन्धर)
९. निबन्ध रत्नाकर—१९३४
१०. विज्ञान विनोद—१९३७ हिन्दी भवन, लाहौर (जलन्धर)
११. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—१९४० साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
१२. मेरी असफलताएँ—१९४६ साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
१३. सिद्धान्त और अध्ययन—१९४६ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१४. काव्य के रूप—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१५. हिन्दी काव्य विमर्श—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१६. साहित्य समीक्षा—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१७. हिन्दी नाट्य विमर्श—१९४७ पहला संस्करण महरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर फिर दिल्ली
१८. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—१९५२ साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर
१९. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—१९४३ सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
२०. गांधीय मार्ग—१९५३ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२१. मन की बातें—१९५४ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२२. अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ—१९५५ लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स, आगरा
२३. सत्य और स्वतन्त्रता के उपासक—१९५५ लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स, आगरा
२४. कुछ उथले कुछ गहरे—१९५५ शिवलाल एण्ड सन्स, आगरा
२५. मेरे निबन्ध—१९५५ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२६. जीवन पथ—१९५४ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२७. गांधीय मार्ग—१९५५ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२८. अध्ययन और आस्वाद—१९५६ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स
२९. विद्यार्थी जीवन—१९५६ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
३०. हिन्दी कविता और हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—१९५६ सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

सम्पादित :—

१. भाषा भूषण—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
२. सत्य हरिश्चन्द्र साहित्य—रत्न भण्डार, आगरा
३. युगधारा—ओरियन्टल बुक डिपो
४. प्रसादजी की कला-साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
५. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
६. आलोचना कुसुमाञ्जलि—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

सन् १९५६ के बाद भी उनकी कुछ कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं।

इस सूची से यह स्पष्ट विदित होता है कि पहले कर्तव्य-शास्त्र आया, और बाद में नवरस। 'आरा' से प्रकाशित यह 'नवरस' एक छोटी पुस्तक थी, पर साहित्य के आलोचना-पक्ष से सम्बन्धित मर्म पर दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक प्रणाली में। 'नवरस' में स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि एक दार्शनिक, वह दार्शनिक जो पाश्चात्य प्रणाली से एम० ए० तक दर्शन के अन्तर्गत कर्तव्य-शास्त्र (एथिक्स), तत्त्व-शास्त्र (लाजिक) साइकॉलोजी (मनोविज्ञान), मेटाफिजिक्स (तत्त्व-विद्या) पढ़ चुका है, अपनी नयी चेतना से प्राचीन भारतीय शास्त्र के रस सम्प्रदाय की व्याख्या करते बैठा है। 'रस' का सम्बन्ध 'आस्वाद' से है, पर यह आस्वाद भौतिक नहीं, ब्रह्मा के बनाये रस का नहीं, उस रस का है जो कवि द्वारा निर्मित है, और जिसका सन्तान मन और अध्यात्म से है। रस-विचार निश्चय ही मनोविज्ञान से लिपटा हुआ है, गुंथ हुआ है। जिस रस का सम्बन्ध भाव के परिपाक से है, वह भाव मनोस्थिति से संबद्ध है; उस मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस के उद्भव, उसके स्थायीभाव, उद्दीपन, व्यभिचारी और अनुभाव की व्याख्या करने की बाबूजी ने चेष्टा की—निश्चय ही यह बाबूजी के पक्ष में एक प्रयत्न था। उनकी इस छोटी पुस्तक में भारतीय शास्त्र के इस महत्वपूर्ण तत्त्व को किस प्रकार ग्रहण करने की चेष्टा की जानी चाहिए, इसके रूपरेखा मात्र मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि बाबूजी ने रस-विचार की प्राच्य वस्तु को पाश्चात्य प्रणाली और दृष्टि से रखने और आधुनिक वैज्ञानिक स्तर पर पहुँचाने का जो मार्ग निर्दिष्ट किया था, उस मार्ग से उस स्तर पर पूरी तरह पहुँचने का कोई भी उद्योग अभी तक पूर्ण सफल नहीं हुआ। यहाँ तक कि बाबूजी जब अपने इस 'नवरस' का वृहद् संस्करण करने बैठे तो वे भी उस मार्ग से च्युत हो गये। भारतीय हिन्दी रस-शास्त्र से उदाहरण छाँटकर उन्हें व्यवस्थित करने में अधिक व्यस्त हो गए हैं, उनके पीछे व्याप्त मनोवैज्ञानिक तत्वों का उद्घाटन करने में इस बड़े ग्रन्थ में हमें उनका मन रमता नहीं दिखाई पड़ता है।

अतः बाबूजी के साहित्यिक कर्म का आरम्भ पाश्चात्य दार्शनिक मनोभूमि पर भारतीय-शास्त्र के तत्वों के परखने और स्पष्ट करने से हुआ। उनका यह साहित्यिक कर्म उस काल में अत्यन्त ही मौलिक था। प्राच्य और पाश्चात्य का यह मेल, जिसने पाश्चात्य प्राच्य का व्याख्याता बनकर उपस्थित हुआ है, बाबूजी का अपना स्वभाव ही बन गया और अन्त तक उनके साहित्यिक कर्म का स्वरूप बन गया।

परिस्थितियों ने बाबूजी को इधर-उधर और भटकाया है। उनमें एक कलाकार भी है, जो हास्य की सृष्टि करने के लिए अवसर ढूँढ़ता रहा है। बाबूजी ने उसका भी उचित समादर किया है। पर आलोचना के क्षेत्र में ही उनकी प्रतिभा विशेष रही है, क्योंकि उसी के ग्राहक उन्हें अधिक मिले हैं। एक दार्शनिक को साहित्यिक बनाने का श्रेय छतरपुर के वातावरण को दिया जा सकता है। पर वहाँ इसका बीज ही पड़ा। यह साहित्यिक प्रवृत्ति पोषित और विकसित हुई आगरे में ही आकर। आगरे के वैशिष्ट्य के कारण। बाबूजी के 'नवरस' के बाद के सभी साहित्यिक और आलोचनात्मक ग्रन्थ आगरे में लिखे गये हैं। ये ग्रन्थ भी तीन कोटि के हैं। एक 'स्फुट विचार' विषयक, दूसरे 'सुसंबद्ध विचार' शैली के, तीसरे 'ऐतिहासिक वृत्ति' के। पहले तो 'आलोचना' के क्षेत्र के हैं। स्फुट विचार विषयक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें बाबूजी के किसी छोटे विषय पर लिखे निबन्ध क्रम से या अक्रम से दिये गए हैं। ये निबन्ध अलग-अलग साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक विषयों पर भी हो सकते हैं, अथवा कवियों या लेखकों पर भी। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में आलोचना के शास्त्र से सम्बन्धित विविध विषय हैं जो बाबूजी ने अलग-अलग लिखे हैं। पीछे उनको तारतम्य दिया गया है। 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' में भी इसी प्रकार के विविध कवियों पर छोटे-छोटे निबन्ध हैं। सुसंबद्ध विचार शैली के ग्रन्थ हैं 'हिन्दी नाट्य विमर्श' तथा 'नवरस' और 'काव्य के रूप'।

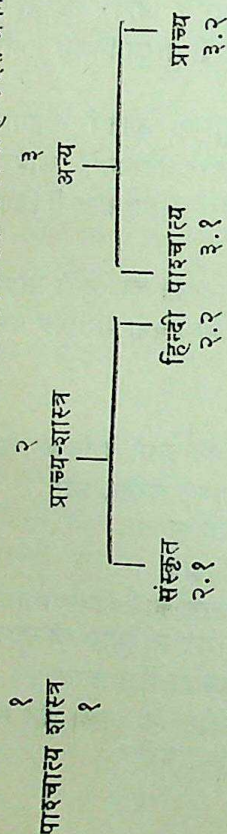
इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबूजी की साहित्यिक कृतियों में हमारे विचार करने की दृष्टि से 'हिन्दी नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'साहित्य-समीक्षा', 'हिन्दी-काव्य-विमर्श', और 'नवरस' जैसे वे ग्रन्थ हैं जिनके आधार पर हम अपने निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि बाबूजी के ज्ञान-अर्जन का मुख्य माध्यम अंग्रेजी भाषा रही है और अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी। आलोचना के समग्र कर्म में निम्न तत्त्व सामान्यतः कार्य करते विदित होते हैं।

१. ज्ञानोपलब्धि : सामग्री-संकलन।
२. विश्लेषण : सामग्री में निहित तत्त्वों को उसमें से निकालकर
(अ) पृथक-पृथक करना, और
(आ) उन्हें पहिचानना
३. व्याख्या : प्रत्येक तत्त्व के (अ) इतिहास
(आ) कारण-कार्य व्यवस्था तथा
(ई) गर्भित अभिप्राय को स्पष्ट करना।
४. प्रमाण : प्रत्येक तत्त्व की प्रामाणिकता सिद्ध करना।
५. तारतम्य : प्रत्येक तत्त्व का ज्ञान-क्षेत्र में, कला-क्षेत्र में और उस रचना में तारतम्य स्थापित करना।
६. निष्कर्ष :
७. उदाहरण :
८. विवेक :

यह जानने के लिए कि बाबूजी की आलोचना के स्रोत क्या हैं हमें उनकी एक पुस्तक को लेकर यह देखना होगा कि किन रचनाओं का उन्होंने किस रूप में उल्लेख किया है ।

काव्य के रूप में—जिन ग्रन्थों का उपयोग लेखक ने किया है वे इस प्रकार हैं :



- | | | | |
|---|-------------------------------|------------------|------------------------------|
| १. De Quincy | १. साहित्यस्य भावः | २.१ | ३.१ |
| २. The Scot James "Making of Literature" | २. विदधानीति हितम् | १. केशवदास | १. शेक्सपीयर |
| ३. एक अंग्रेज साहित्यिक (पृष्ठ ६) | ३. काव्यशास्त्र विनोदेन काले | २. आचार्य शुक्ल | २. पैराडाइज लॉस्ट मिल्टन कृत |
| ४. Style is the Man | ४. गच्छति धीमताम् | ३. प्रसाद | ३. टाल्सटाय |
| ५. Mathew Arnold : "Essay on Words worth" | ५. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः | ४. डॉ० सुधीन्द्र | ४. बोलतेर (Voltaire) |
| ६. वर्ड्सवर्थ | ६. अग्नि पुराण | ५. साहित्यालोचन | ५. हगो |
| | ६. प्रेमचन्दः "कुछ विचार" | | ६. निस्वो |
| | | | ७. रामदास |
| | | | ८. कबीर |
| | | | ९. रामचरित मानस |
| | | | १०. भ्रमरगीत सार |

६. वड्ड सवय	६. अग्नि पुराण	६. प्रेमचन्दः "कुछ विचार"	६. नित्यो	भ्रमरगीत सार
७. शेक्सपीयर	७. भरत मुनि : "नाट्य-शास्त्र"		७. होमर	भवभूत
८. डॉ० जानसन	८. विश्वनाथः "साहित्य दर्पण"			मेघदूत
९. अरस्तू	९. दण्डी			कालिदास
१०. F.L. Lucas : "Tragedy"	१०. भामह			बिहारी
११. Shipley	११. कुन्तक या कुन्तल			वाल्मीकि
१२. The Quest for Literature	१२. वामन			सत्यनारायण गुप्त
१३. Hudson : An Int- roduction to Literature.	१३. आनन्दवर्द्धनाचार्य			रामनरेश
१५. Henry Fielding	१४. पंडितराज जगन्नाथ : "रस गंगाधर"			
१५. H.G. Wells	१५. दश रूपक			निराला
१६. Sir Hugh Walpole	१६. धनिकः "दशरूप टीका"			महादेवी
१७. स्ट्रुची	१७. D.R. Manked "Types of Indian Drama"			पंत
१८. वासवेल	१८. गद्य कवीनां निकषं वदन्ति ?			प्रसाद

“काव्य के रूप” नामक पुस्तक में से उक्त सामग्री संकलित की गई है वह भी सरसरी दृष्टि से ही, फिर भी इसके आधार पर जो नियम बनाये जा वे बहुधा ठीक ही रहेंगे।

इस सूची से विदित होता है कि पाश्चात्य क्षेत्र से जिन विद्वानों और पुस्तकों का उल्लेख किया गया है वे संख्या में तो कुछ अधिक दिखायी पड़ते हैं : पाश्चात्य और प्राच्य १८+६ (२४) किन्तु शास्त्र की दृष्टि से पाश्चात्य के बहुत ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें महत्वपूर्ण अथवा प्रभाव डालने वाला माना जा सके।

‘सिद्धान्त और अध्ययन’ में अध्ययन-सामग्री के अन्तर्गत बाबूजी ने जो दी है उसमें पाश्चात्य साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ केवल ६ हैं।

- (१) ब्रैडले (ए० सी०) “ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री”
- (२) क्रोचे : “एस्थेटिक्स”
- (३) ईलियट (टी० एस०) “द यूज ऑव पोइट्री”
- (४) इनटिवसिल (ए० आर०) : “द स्टडी ऑव पोइट्री”
- (५) हडसन : “एन एन्ट्रोडक्सन टू द स्टडी ऑव लिटरेचर”
- (६) मरी (जे० एम०) : “दि प्रोब्लेम ऑव स्टाइल”
- (७) रिचर्ड्स (आई० ए०) : “प्रिन्सिपिल्स ऑव क्रिटिसिज्म”
- (८) शिल्ले (जे० टी०) : “द क्वेस्ट फार लिटरेचर”
- (९) स्पिनगर्न (जे० ई०) : “द न्यू क्रिटिसिज्म”

शेष पुस्तकें मनोविज्ञान विषयक हैं या भारतीय साहित्य तथा का विषयक हैं।

हडसन का ग्रन्थ वह ग्रन्थ है जो हिन्दी में सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला माना जा सकता है। क्योंकि बाबू श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन इसी के अनुकूल पर खड़ा हुआ है, ऐसा माना गया है, और बाबू श्यामसुन्दरदास के साहित्यालोचन शैली शास्त्रीय सिद्धान्त पद्धति के लिए हिन्दी में मार्गदर्शिका मानी गई है। हम आलोचनाओं का सिद्धान्त पक्ष प्रायः उसी परिपाटी अथवा उसके संशोधन-प्रस्तुत होता रहा है। शैली की अपेक्षा भावों और सामग्री-विश्लेषण को महत्व और उसका संश्लिष्ट मूल्यांकन करने की दृष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड का ‘वर्ड्सवर्थ’ नाम निबन्ध बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ये दो ग्रन्थ और निबन्ध बाबूजी को भी प्रभावित कर रहे हैं। रिचर्ड्स और स्पिनगर्न ने नई आलोचना को प्रभावित किया है। बाबू पर इनका संशोधनात्मक प्रभाव है, मौलिक प्रभाव नहीं। अन्य निबन्धों से और ग्रन्थों से बाबूजी ने अपने विचारों का प्रतिपादन करने में ही सहायता ली है; कोई अंश ही उनसे उत्प्रेरित हुआ है। उधर प्राच्य ग्रन्थों में से बाबूजी ने प्रायः प्रतीति को मूल अथवा अनुवाद रूप में अपनी आवश्यकता के लिए अवश्य देखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि मूल ग्रन्थ से पूर्व बाबूजी ने उसके अंग्रेजी अनुवाद उस अनुवाद की भूमिका पढ़ी और तब मूल को हृदयंगम किया। फलतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञानोपार्जन का माध्यम अंग्रेजी रहा, किन्तु अंग्रेजी शास्त्र का ज्ञान

मन्यन बाबूजी ने नहीं किया। अंग्रेजी के युग में अंग्रेजी के रोव को सन्तुलित करने और उसमें अभिभूत व्यक्तियों और विद्वानों को उन्हीं के स्तर पर प्राच्य वस्तु को उन्हीं की प्रणाली में समझाने के लिए बाबूजी को पाश्चात्य शास्त्र से परिचय प्राप्त करना पड़ा। वह परिचय उन्हें अपने शिक्षाकाल में ही हो गया होगा।^१ उसी की अनुकूलता देखने वे भारतीय साहित्य की ओर झुके तो गम्भीर विचारण की सामग्री वहाँ उन्हें बहुत अधिक मिली, अतः अंग्रेजी शास्त्र की अनुकूलता देखने को अग्रसर होने वाले बाबूजी की दृष्टि उलट गई। अब वे भारतीय शास्त्र को प्रमुखता देने लगे और अंग्रेजी से अनुकूलता ढूँढ़ने लगे। इसीलिए शास्त्रीय दृष्टि से बाबूजी समन्वयवादी हो गए। पाश्चात्य के लिए प्राच्य की तुलना और प्राच्य के लिए पाश्चात्य की तुलना पूर्वक व्याख्या करने में वे प्रवृत्त हुए। इस तुलना के हमें बाबूजी में कई रूप मिलते हैं। यथा—

(१) अलंकार अलंकार्य : अब प्रश्न यह होता है कि क्या अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं। इटली के अभिव्यजनावादी समलोचक क्रोचे (Croce) अलंकार्य और अलंकार का भेद स्वीकार नहीं करते। वे अलंकारों को ऊपर से आरोपित नहीं मानते—हमारे यहाँ आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद माना है किन्तु यह भेद ऐसा ही है जैसा कि अंगी और अंग का होता है।^२?

(२) क्रोचे ने अलंकारों को अभिव्यक्ति का अंग और पूर्ण से पृथक् न किए जाने योग्य कहा तो है, किन्तु वे फूल की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं।

सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ३५

(२) टालस्टाय ने कला का कुछ ऐसा ही आदर्श माना है।

'The destiny of art in our time is to transmit from the realm of reason to the realm of feeling the truth that well being for men consists in their being united together and to set up in place of existing reign of force that kingdom of God, that is, of Love, which, we all recognise to be the aim of human life.

What is Art (World's Classics, Page 288).

टालस्टाय के मत से कला का उद्देश्य बुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को ले जाना है जो कि यह बतलाता है कि मनुष्यों का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर की उस बादशाहत के स्थापित करने में है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं।

साहित्य शब्द में भी सहित अर्थात् हित के साथ होने का भाव है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उसी कृति को सार्थक कहा है जो सबका हित साधन करे।

१. उस काल के कालेजों और विश्वविद्यालयों का बाब्योचक्र अंग्रेजी के प्रबल ध्वन का परिणाम था, आज भी है। उसकी एक विशेष माँग थी, उसी आह्वान को बाबूजी को स्वीकार करना पड़ा था। वह आह्वान आज भी है।

कीरति भनिति भूति मलि सोई,
मुरसरि-सम सब कहें हित होई ।

—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

३. साधारणीकरण पर विचार करते हुए बाबूजी ने संस्कृत और हिन्दी प्रमुख विचारकों के मत का भली प्रकार उल्लेख करके यह लिखा है कि “साधारणीकरण के सम्बन्ध में हमारे यहाँ के आचार्यों ने थोड़े बहुत अन्तर के साथ तीन बातों पर बल दिया है—

(१) विभावादि का—(जिनमें स्थायीभाव भी शामिल है) साधारणीकरण से प्रभावित होना । इन तीनों ही बातों का पारस्परिक सम्बन्ध है ।

विभावादि जब विशेष सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं तभी वे सब सहृदयों के भावना के समान रूप से विषय बनते हैं । जहाँ पाठक या श्रोता का काव्य के साथ तादात्म्य हो वहाँ बहुधा आपस में भी भाव-साम्य हो जाता है अर्थात् समान रूप से प्रभावित होते हैं और उनका कवि की भावना से भी तादात्म्य हो जाता है । साधारणीकरण द्वारा कवि, कविता के आश्रय और पाठक भावना में एक सूत्र में बंधे जाते हैं । कवि जितना जनता की भावनाओं के निकट आता है उतना ही पाठकों के साथ उसका भाव-तादात्म्य होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कवि जनता के भावों से आगे नहीं जाता । कवि और जनता में आदान-प्रदान होता रहता है । कवि जनता से प्रेरणा ग्रहण करता है और वह धीरे-धीरे जनता के भावों में भी परिवर्तन करता है । साधारणीकरण का अभिप्राय है—आलम्बन का व्यक्तित्व बनाये रखते हुए भी उसको ऐसे रूप में उपस्थित करना कि वह मेरे-पराये के सम्बन्धों से मुक्त हो जाय और सब सहृदयों की भावना का समान रूप से विषय बन सके । पाठकों की वे भावनाएँ देश-काल के सम्बन्धों से मुक्त होती हैं तभी वे दुःखात्मक होने से बचती रहती हैं और अखण्ड सात्विक आनन्द का सृजन करती हैं ।

और तब वे आगे लिखते हैं—

“पाश्चात्य समीक्षकों के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान सीमित है । (इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय समीक्षकों के सम्बन्ध में सीमित नहीं ।) किन्तु मेरा ख्याल है कि उन्होंने विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा तादात्म्य पर अधिक ध्यान दिया है.....

फिर इसके बाद कई पाश्चात्य लेखकों के मतों पर विचार है ।

४. “संस्कृत का प्रसन्नपद और अंग्रेजी का Happy Expression दोनों वाक्यांश एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं ।

सि० अ० पृ० ८८

५. यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्रों में स्वाभाविक और कलात्मक (Epic of growth and Epic of Arts) का विभाजन नहीं है तथापि हम वाल्मीकीय रामायण को स्वाभाविकता की कोटि में रख सकते हैं और विशुपालवध तथा

बाबू गुलाबराय : १२५

‘किरातार्जुनीय’ को कलात्मक कह सकते हैं ।

(का० स० पृ० ६६)

६. यूरोपीय समीक्षाशास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थायें मानी गई हैं वे इस प्रकार हैं—

(का० स० पृ० ३०)

७. ‘विनय पत्रिका’ में उन्होंने रामनाम को “अपनो सो घर” कहा है...

जो लोग अंग्रेजी के शब्द Sweet home की मधु व्यंजनाओं पर मुग्ध हों उन्हें उनकी खोज में अंग्रेजी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है । “राज डगरो सो” में उनको Royal Road पर चलने का भी आनन्द मिल जायगा ।

ये सातों शैलियाँ अपनी कहानी स्वयं कह रही हैं । इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि—१. पहली दृष्टि तो बाबूजी की यह रही है कि एकादमिक (academic) प्रवृत्ति से एक विषय पर जितने भी मत हैं उन्हें प्रस्तुत कर दिया जाय । अतः प्राच्य और पाश्चात्य से अपनी पहुँच के अनुसार बाबूजी ने प्रत्येक विषय पर मत संग्रह कर लिया है ।

(२) मुख्य वर्णनीय विषय प्राच्य शास्त्र है । उसका पाश्चात्य में क्या रूप है यह दिखाने की उन्होंने चेष्टा की है अतः प्राच्य शास्त्र का प्रतिपादन ही उनका मुख्य विषय हो गया है ।

(३) इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह है कि जहाँ बाबूजी को कोई चीज ऐसी मिली है जिसका उसी शास्त्रीय रूप में अस्तित्व प्राच्य में नहीं मिलता, वहाँ बाबूजी ने तत्व बनावे लक्ष्य ग्रन्थों में उन तत्वों की सत्ता दिखाने की चेष्टा की है ।

(४) प्राच्य के इस मोह के साथ शास्त्रीय अहंकार भी बाबूजी में जागृत हुआ है, और जो लोग अंग्रेजी में शब्द-सौष्ठव विषयक विशेषता पर अन्य रूप में बल देते हैं, उन्हें प्रत्युत्तर देते हुए बाबूजी हिन्दी अथवा संस्कृत के गौरव को पुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हुए हैं ।

इस ऊहापोह से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बाबूजी की आलोचना में प्राच्य का प्रभाव प्रबलतर है । किन्तु यह विमर्श यहीं समाप्त नहीं हो सकता—क्योंकि पुराने ही प्रश्न उठता है : “तो क्या बाबूजी ने आलोचना में प्राच्य शास्त्र को ही अपने शब्दों में लिख दिया है ?”

उनकी इन रचनाओं पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि बाबूजी का ‘ज्ञान तत्व’ प्राच्य-शास्त्रों से संग्रहीत है, उसका ‘विश्लेषण’ पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रणाली से हुआ है, जो आधुनिक युग में प्रत्येक मेधावी के “बुद्धि तत्व” की विशेषता बन गई है । ‘व्याख्या’ में ‘इतिहास-तत्व’ पाश्चात्य शैली से प्रभावित है, ‘कार्य-कारण निदान’ ‘प्राच्य-पाश्चात्य’ के मिश्र उपादानों से युक्त है; जहाँ बाबूजी प्राच्य को विशेष पकड़ सके हैं, वहाँ उसकी प्रबलता है, उसके उदाहरण भी हैं; अन्यथा, पाश्चात्य शैली के आधार पर अपनी ओर से कार्य-कारण निरूपण करते रहे हैं । इसमें पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र कम सहायक हुआ है । मनोविज्ञान तथा अन्य शास्त्र उपयोगी

रहे हैं। 'गर्भित अभिप्राय' एक रसायन के रूप में विद्यमान मिलता है। जिसमें संस्कारशील के शील को स्वीकार होने वाला प्राच्य निष्कर्ष ही बहुधा प्रस्तुत किया गया है। 'प्रामाणिकता' का आधार भी प्राच्य शास्त्र है पर पाश्चात्य उल्लेखों का पूर्ण भी पुष्टि की गई है। 'तारतम्य' के लिए भी बाबूजी को मिश्र प्रणाली का उप-करना पड़ा है। 'तारतम्य' बिठाया गया है भारतीय शास्त्र के विविध तत्वों में परस्पर असम्बद्ध से लगते हैं, तारतम्य बिठाया गया है, उन तत्वों का नवसंस्कार मानस की मान्यताओं से और धारणाओं से और इसके लिए 'प्राच्य और पाश्चात्य' को समानभाव से लिया गया है—एक साथ ही शेक्सपीयर, तुलसी, वाल्मीकि, टाल्स्टोय यहाँ पर एक सूत्र में पिरोये हुए, एक तारतम्य में बँधे हुए मिलेंगे, भाषा और के भेद की दीवारें यहाँ नहीं रहीं।

'निष्कर्ष' प्रस्तुत करने में प्राच्य का आग्रह निश्चय ही प्रधान है, जहाँ प्राच्य रूप में नहीं आता, वहाँ उसका किसी-न-किसी रूप में समाधान किया गया है।

किन्तु यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक आलोचना शास्त्र कितने ही ऐसे रूपों पर विचार करना पड़ता है जिनका प्राच्य-शास्त्र में उल्लेख मिलता। इनमें से दो रूप बहुत प्रबल हैं—

(१) निबन्ध, (२) उपन्यास-कहानी। इन रूपों का विवेचन मनोवैज्ञानिक और पाश्चात्य शास्त्र की दृष्टि से करते हुए भी उनमें साहित्य के सामान्य लक्षणों और अनुसंधान प्राच्य प्रणाली से करने में बाबूजी ने उत्साह दिखाया है। ऐसे अनुसंधानों में हम उन स्थानों को गिन सकते हैं, जिनमें बाबूजी ने उपन्यासों में रस की स्थिति पर विचार किया है।

जो स्थिति सिद्धान्त क्षेत्र में है, वह 'लक्ष्य आलोचना' के क्षेत्र में है। 'आलोचना' में क्या कोटि-क्रम बाबूजी ने रखा है, यह हम उनके निबन्ध की सारिणी को देखकर जान सकते हैं। "रसिक भक्त महात्मा सूरदास" की सारिणी यह है :—

"जीवन-लीला—निवास स्थान—वंश परिचय—दीक्षा—अन्त समय—दास के ग्रन्थ—कृष्णोपासना और गीत काव्य की परम्परा—सूर काव्य का सङ्क्षेप—सूरकाव्य का भाव पक्ष—शान्तरस—वात्सल्य रस—सूर के वात्सल्य वर्णन विशेषता—संयोग और वियोग शृंगार—भ्रमर गीत—विरह-वर्णन—विरह उद्दीपन—विरह की तुलना—विरह की वास्तविकता—कलापक्ष—अलंकार—सूर तथा अन्य कृष्णोपासक कवियों की कुछ विशेषताएँ।"

इस सूची की शब्दावली ही यह प्रकट करती है कि आलोचक अपने विचार पर भारतीय शास्त्र को आधार मानकर विचार कर रहा है, विचार करने के जिन पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया गया है वे भारतीय शास्त्र के हैं, और वही अर्थ लिया गया है, जो भारतीय शास्त्र में अभिप्रेत है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है पाश्चात्य बाहुन पर आरुढ़ प्राच्य ही बाबूजी द्वारा प्रस्तुत हुआ है, वह भी उसके पूर्ण मोक्ष के साथ।

बाबूजी का दार्शनिक सदा उनके साथ रहा है, पर उसे बाबूजी ने समझदार
 नाकर ही उपस्थित किया है, निश्चय ही उसे हावी नहीं होने दिया, उसकी समझदारी
 का पूरा उपयोग वे कर सके हैं, इससे उनके समस्त विमर्श का स्तर ऊँचा उठा है, पर
 रहस्यमय नहीं हो सका है। भारतीय शास्त्रविदों ने अपने शास्त्रीय विचारदोहन में
 निरन्तर ही पारिभाषिक शब्दावली का इतना बाहुल्य रखा है कि उसे विशेषज्ञ ही
 ग्रहण कर सकता है। उस प्रतिपादन में जहाँ रहस्य न होगा वहाँ जटिलता होगी।
 बाबूजी ने नमोन्मेष का उपयोग करके उस जटिल स्वरूप को, नयी प्रणाली के वैज्ञा-
 निक क्रम का उपयोग कर, सरल बना दिया है और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग
 इतना ही किया है जितना उन्हें उस स्पष्टीकरण के लिए अनिवार्य प्रतीत हुआ है।

इस दार्शनिक ने बाबूजी की प्राच्य-प्रवृत्ति को आधुनिक रूप में निखार कर
 और सशक्त बनाकर उपस्थित किया है, और नये युग की माँग के अनुकूल कर
 दिया है।

शैली के संतुलन और पुष्ट शब्द-विन्यास ने बाबूजी के इस महत्त्वपूर्ण प्रयास
 को स्पष्टता के प्रसाद गुण से आवृत रखा है और विचार की अपेक्षित सम्पूर्ण गहराई
 की भी क्षति नहीं होने दी। बाबूजी के शास्त्रीय स्वरूप के प्रतिपादन में सबसे बड़ा
 गुण यही है कि उन्होंने गूढ़ता और विचारों की गम्भीरता और गहराई को प्रकट
 करने का दम्भ अथवा आडम्बर कहीं नहीं दिखाया। फलतः इन सभी गुणों से युक्त
 होकर बाबूजी का शास्त्र-प्रतिपादन स्वयं अपने स्वरूप में एक मौलिक वस्तु हो गया
 है। उनके इन शास्त्रों ने हिन्दी के अध्येता को नयी प्रेरणा दी है। प्राचीन और नवीन
 प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कृतिकर्ता की रचना को बाबूजी ने अपनी कसौटी पर कसा
 है और आलोचना-शास्त्र को ही नहीं सर्जन को भी दिशा-दर्शन दिया है।

आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी की देन का जब वास्तविक मूल्यांकन होगा तो
 विपत्ता चलेगा कि उनकी देन ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, और यह विदित होगा कि
 अपनी देन से नवीन वैज्ञानिक आलोचना-पद्धति में उन्होंने कई क्रान्तिकारी मोड़ प्रस्तुत
 किये हैं, जिनसे साहित्य-शास्त्र की रूपरेखा ने एक नूतन समृद्धता ही नहीं पाई,
 साहित्यकार ने भी सृजन के नये कला-मूल्यों की प्रेरणा पाकर साहित्य को उच्च
 स्तर पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

(ग)

नियन्धकार एवं हास्यकार

दार्शनिक और मीमांसक भी हास्यकार हो सकता है, यह कुछ अद्भुत बात है,
 पर समन्वयवादी बाबूजी ने दर्शन और हास्य की दो वृत्तियों का समन्वय और
 सामंजस्य अपने कृतित्व में कर दिखाया है। 'ठलुआ क्लब' को लोग भूल सकते हैं, पर
 'मेरी असफलताएँ' हास्य के क्षेत्र में चिरस्मरणीय रहेगी क्योंकि इसमें महात्मा गांधी
 जैसी आत्मस्वीकारिता, युधिष्ठिर जैसी शील-शालीनता के साथ स्मित हास्य के सभी
 आवश्यक कला-उपादान काम में लाये गए हैं। बाबूजी का सबसे भारी साहस यह है

१२८ : १ आलोचना

कि वे स्वयं अपने ऊपर हँस सकते हैं। पर उनका यह 'हास्य' निबन्ध-रूप में प्रतिष्ठित हो सका है। ये हास्य-व्यंग्य प्रधान निबन्ध 'ललित-कोटि' में रहे जा

बाबूजी का हास्य अनोखा होता था; स्मित हास्य होते हुए भी वह एक से आत्मालोचन के जैसा होता था, जिसमें संस्कृत आदि से उद्धरणों से एक के साथ वैषम्य खड़ा होता था—इस तकनीक से एक साथ ही एक ललित हलकापन और एक हास्यपूर्ण गम्भीरता उद्भासित होती थी। निबन्धों में परिलक्षित होता है कि बाबूजी की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी, और ठीक और स्थान पर उन्हें सटीक उद्धरण स्मरणशक्ति की कृपा से मिल जाते थे, उनके कथन में निराली सजीवता और एक अनावश्यक प्रामाणिकता आ जाती। इन सबसे सुसज्जित होकर वे अपना ही उपहास स्वयं करते हुए भी अपना ही बढ़ाते होते थे। उन्होंने अपनी असफलता में जिन मूर्खताओं की ओर संकेत किए जहाँ तक हमारा खयाल है, उनको लेकर कभी किसी ने बाबूजी पर व्यंग्य नहीं

सामयिक निबन्धों में उन्होंने समय-समय पर उठने वाले विविध सामाजिक राजनीतिक और घरेलू प्रश्नों को लेकर अपने विचार गूँथे थे। इस सब में ज्ञान, अन्तर-भेदी दृष्टि और सूझबूझ का पुट रहता था। 'सीमावर्ती चोर' निबन्ध में उनकी पैनी दृष्टि ने मानवीय आचार के उस पहलू को उद्घाटित किया जहाँ वह स्वयं 'आदर्श' के साथ छल कर बैठता है।

इधर बाबूजी को मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखने का बड़ा चाव रहा। वस्तुतः उनके ये मनोवैज्ञानिक निबन्ध मानव के लिए दर्पण का काम करते हैं। निबन्ध केवल मनोविज्ञान के विज्ञानपक्षीय सिद्धान्त-निरूपण से सम्बन्धित नहीं। विविध मनोभूमियों को निजी निकर्ष पर साधारणीकरण द्वारा जीवन में देश-काल घटनाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया पर अवलंबित हैं।

बाबूजी के सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्ध भी कम नहीं हैं। उनका प्रतिभा ही ऐसी थी कि वे चाहे जैसे सामान्य विषय को लेकर उसे एक रोचक विचारोत्तेजक ललित निबन्ध का विषय बना सकते थे। उन्होंने अपने मुहल्ले गली पर जो दो-चार निबन्ध लिखे, वे भी साहित्यिक लालित्य से युक्त हैं। निबन्ध के सम्बन्ध में बाबूजी ने अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में प्रकट किया है :

“आज का हिन्दी-निबन्ध-साहित्य अधिकांश में आलोचना की दौड़ा जा रहा है। आजकल आचार्यत्व की चाह रीतिकाल से भी कुछ चढ़ी है, किन्तु उस प्रवाह में लिखे हुए निबन्धों में विषयगतता कुछ है। हमारे लेखकों को जीवन के लहराते सागर की ओर दृष्टिपात करने कम अवकाश मिलता दिखायी पड़ता है। वे गम्भीर अधिक हैं। जीवन को खेल-कूद की अथवा जीवनोल्लास की प्रसन्नता के साथ नहीं देखते वे न स्वयं हँसे हैं और न उन्होंने दूसरों को हँसाने का प्रयत्न किया है।”

और यह स्पष्ट है कि उन्होंने इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त अपने निबन्धों में प्रयत्न किया। जीवन के लहराते सागर को भी उन्होंने देखा और बिना 'आचार्यत्व' की

को कम किये, वे निबन्ध जीवन और जगत् से विषय ले-लेकर लिखते गये। उनकी निबन्ध-कला पूर्णतः तेजस्वी है।

तभी बाबूजी की रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन करने वाले सभी विद्वान् मुक्तकण्ठ से बाबूजी को एक उच्चकोटि का निबन्धकार मानते हैं। बाबूजी के निबन्धों में सन्तुलित शैली का उपयोग हुआ है। भाव, भाषा और रस के समावेश की दृष्टि से बाबूजी में हम न बहुत अधिक उग्रता पायेंगे, न बहुत मन्दता। बाबूजी का जीवन-दर्शन समन्वयवादी रहा है। वे वर्तमान से अतीत का सामंजस्य और समन्वय करने के प्रयत्न में रहे हैं। वे विरोध को विरोध के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। वे उनके उन तत्त्वों को ढूँढ़ निकालेंगे जिनसे विरोध में व्याप्त साम्य को बल मिलता है। बाबूजी के निबन्धों में उनके व्यक्तित्व का यह धर्म निरन्तर विद्यमान है। द्विवेदी-युग की शैली को बाबूजी ने जकड़कर पकड़ा है, पर छायावादी और प्रगतिवादी से एक ताजगी और एक लोच को जहाँ-तहाँ द्विवेदी-शैली को सजाने के लिए अपनाने की चेष्टा भी की है। इस प्रकार निबन्धों में न तो विषय-सम्पदा की उपेक्षा है, न निबन्ध-कला के संजीवन की, न युग की माँग की। बाबूजी के निबन्ध हिन्दी में निबन्ध-कला के अमर उदाहरण माने जाते हैं। बाबूजी ने प्रत्येक क्षेत्र में ही किसी-न-किसी प्रकार की मौलिकता दिखाई है। निबन्ध के क्षेत्र में भी उनकी कला में मौलिकता है।

बाबूजी ने जिस युग में निबन्ध-लेखन का विकास किया था, वह द्विवेदी-युग कहा जा सकता है। उस युग के निबन्ध-लेखन का आदर्श था निर्व्यक्तिक शैली। बँधे-सधे वाक्य जो व्याकरण के अनुकूल हों, ऐसी ही परिनिष्ठित शब्दावली। विषय एक ही एक निबन्ध में, और उसे गम्भीरतापूर्वक आद्योपान्त प्रस्तुत किया जाय। पं० प्रताप-नारायण मिश्र की हँसती हुई शैली, बालमुकुन्द गुप्त की व्यंग्य की तीव्रता से उतावली शैली अब काम में नहीं लाई जा रही है। पं० पद्मसिंह शर्मा की चुलबुली व्यंग्य, कटाक्ष, उपहास तथा चुटकियाँ लेने वाली पाण्डित्यपूर्ण मुस्कान से युक्त शैली मात्र एक प्रकार से अपवाद थी। निबन्ध का धर्म था वस्तुनिष्ठा। व्यक्तित्व प्रकाश केवल निबन्ध के विषय विधान में ही शेष था।

बाबूजी ने इसी भूमि पर निबन्ध रचना आरम्भ की थी। फलतः बाबूजी की निबन्ध-कला का मूलाधार इसी भूमि के पंचतत्त्व हैं :

- (१) वस्तुनिष्ठा की प्रमुखता, (२) बँधी-सधी वाक्य-रचना,
- (३) परिनिष्ठित शब्दावली, (४) व्यवस्थित प्रतिपादन,
- (५) नवीन ज्ञान-सामग्री।

बाबूजी ने इनमें से प्रत्येक तत्त्व को नये प्राणों से अन्वित कर दिया; प्रत्येक तत्त्व को एक नवीन तत्त्व, शक्ति और सौन्दर्य प्रदान कर दिया।

फलतः उनके निबन्धों में वस्तुनिष्ठता की प्रमुखता तो रहती है, एकतानता नहीं। निबन्ध के मूल प्रवर्तक मानिटेन में भी एक अक्रमशीलता मिलती है, वह एक नये रूप में बाबूजी की वस्तुनिष्ठता में आ गई है। आप अपने पाण्डित्य के स्फूर्तिगों से, आपके ध्यान में, उसी वर्ण्य के समानधर्मी अन्य बातों को प्रकाश में ले आते हैं, और

मूल वस्तु के साथ जोड़ देते हैं। यथा, 'साहित्य का उद्देश्य या प्रयोजन' नामक निबन्ध में एक उपशीर्षक दिया है, 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे'। इसके अन्तर्गत बाबूजी ने लिखा है।

(१) काव्यकार और धर्मोपदेष्टा के दृष्टिकोण में अन्तर है। (२) अन्तर को दिखाने के लिए 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कहा है। (३) शास्त्र में चार तीन प्रकार के बतलाये गए हैं—प्रभु सम्मित, सुहृत् सम्मित, कान्ता सम्मित। (४) प्रभु सम्मित शब्द में आज्ञा रहती है। वेद के विधि वाक्य इसी प्रकार के हैं। सुहृत् सम्मित में आज्ञा नहीं रहती, ऊँच-नीच और इष्टानिष्ट होने की बात समझाई जाती है। (५) इतिहास, पुराणादि का उपदेश इसी प्रकार का होता है। (६) काव्य का उपदेश व्यंजनाप्रधान होने के कारण सरल होता है। (७) काव्य का रस कटु औषधि को मिष्ट बना देता है। (८) 'गुडजित्वक या शिशूनिबोधधम्' बच्चों की गुड़ मिठाई हुई औषधियाँ आजकल की शर्करावेष्टित कुनेन की गोलियों की तरह कर्ण कटु उपदेश को भी ग्राह्य बना देती हैं।

कविवर बिहारीलाल का "नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास एहि काल अली कली ही साँ बिधो, आगे कौन हवाल" वाले दोहे ने राजा जयशाह पर जादू का सा असर किया ...।

इसमें बाबूजी ने वस्तु या बात का वर्णन करने के लिए शास्त्र, वेद, पुराण की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। साथ ही साहित्यिक क्षेत्र से हटकर वैद्यक तत्त्व ऐलोपैथिक के उल्लेख को भी नहीं छोड़ा है। और उदाहरण में बिहारी तक पहुँच गये हैं और उन्हें भी इतिहास की घटना की भूमिका से जोड़ दिया है। यही तो मन का लहर हुई, पर पाण्डित्य युक्त है। इस प्रकार एकतानता नहीं है। यही नहीं कि एकतानता का अभाव है। वरन् लेखक का योगदान यह है कि उसने वस्तुनिष्ठ वर्णन के रस-स्पर्श भी दिया है। बिहारी का उल्लेख उस रस-स्पर्श की चरम सीमा है। फलतः वस्तुनिष्ठा को एक नवीन तत्त्व मिला 'उल्लेख वैविध्य' का। वह 'उल्लेख वैविध्य' पाण्डित्य के प्रकाश से देदीप्यमान है। उस प्रकाश में रस-स्पर्श भी संयोजित है।

इसमें शक्ति की उद्भावना हुई है, रीढ़ को उससे भी प्रबल पोषण मिलने से रीढ़ है 'कान्ता सम्मित तथा उपदेश'। इसकी व्याख्या करने के लिए शास्त्र का प्रमाण मूल रीढ़ से अधिक पुष्ट और दृढ़ है, कुछ संस्कृत उदाहरण भी शक्ति देते हैं। वस्तुनिष्ठता को इस प्रकार शक्ति भी मिली है। स्पष्ट है कि लेखक ने इस विवेचन प्रतिपादन शैली से एक सौन्दर्य और सरसता पैदा कर दी है।

यही स्थिति वैधी-सधी वाक्य-रचना का है।

ऊपर जो वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वाक्य का बँधा-सधा रूप आद्योपान्त विद्यमान है। इस बँधे रूप में कर्ता-कर्तृ के विस्तार-विषयक शब्दों से तथा क्रियाओं के संयुक्त अवयवों के कारण ही वाक्य वृद्धि हुई है। एक बात हमारा ध्यान विशेष आकर्षित करती है कि वाक्यों के शब्द परिमाण में भी एक क्रम प्रतीत होता है। पहले तीन वाक्यों में शब्द संख्या एक ती

की है, एक-दो शब्दों की वृद्धि ही है। किन्तु चौथा वाक्य एकदम दुगुनी-तिगुनी लम्बाई का हो गया है। यही क्रम आगे के चार वाक्यों में हैं। यह तो निर्विवाद है कि बाबूजी ने सोच-समझकर यह क्रम नहीं रखा। पर इनमें क्रम आ ही गया है और उस क्रम से एक लय इस गद्य को मिल गई है। यह स्वयमेव आई है, बाबूजी के बिना प्रयत्न के। इसमें ही उनके व्यक्तित्व की आन्तरिक लय सिद्ध होती है। हमने भी यह उद्धरण यों ही जो हाथ लग गया, ले लिया है। हो सकता है यह क्रम उनके निबंधों में सर्वत्र न मिले। पर औरों में भी कोई-न-कोई लय या रिध्न अवश्य मिलेगी। इस क्रम में भी शब्द संख्या क्रमात् बढ़कर फिर एकदम दुगुनी-तिगुनी हो गई है। इसी कारण वाक्य को नया तत्त्व मिला है। शनै-शनैः उसकी शक्ति में सम्बर्द्धन हुआ है, और अन्ततः एक विशेष प्रकार से विचार क्रम के समागत होकर इसे सौन्दर्य भी मिल गया है।

परिनिष्ठित शब्दावली आदि अन्य तत्त्वों पर भी इसी प्रकार विश्लेषणपूर्वक विचार किया जाय तो सिद्ध होगा कि प्रत्येक तत्त्व में नवीनता, शक्ति और सौन्दर्य उद्भासित हुए हैं। यहाँ हमने केवल दो का ही विश्लेषण देकर अपनी स्थापना को उदाहरणपूर्वक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

किन्तु यह तो हमने साहित्यिक निबंध का ही उदाहरण लिया है। बाबूजी ने तो दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सामान्य (हास्य प्रधान) निबंध भी लिखे हैं। किन्तु जो वैशिष्ट्य उदाहरण में मिलता है वही कम-बढ़ सभी प्रकार के निबंधों में मिलेगा। इस उदाहरण में जो वैशिष्ट्य है वह यों समझा जा सकता है :—

- (१) भूमिका
- (२) वस्तु
- (३) प्रमाण
- (४) प्रमाण की व्याख्या में इतर प्रसंग (च्युति)
- (५) उदाहरण के पोषण
- (६) वस्तु की पुष्टि : व्याख्या सहित
- (७) उद्धरणपूर्वक भव्य (Sublime), अभव्य (absurd) के समन्वय से उदाहरणपूर्वक वस्तु-सिद्धि की उद्भावना।

इसमें मात्रा की वृद्धि या कमी करके निबंधकार विविध प्रकार के प्रभावों को सिद्ध करता है। मात्रा वृद्धि के साथ इन तत्त्वों की प्रवृत्ति में भी वह कुछ परिवर्तन या विकास उपस्थित करके अभिप्राय सिद्ध कर सकता है। कहीं वह 'प्रमाण के भ्रान्त प्रमाण' देकर व्यंग्य या हास्य ले आयेगा, कहीं वस्तु की पुष्टि और व्याख्या ऐसी करेगा कि वह पूर्णतः च्युति हो पर सिद्धि सी दिखाये। कहीं भव्य-अभव्य के समन्वय में अत्यन्त गहरी विकृति प्रस्तुत कर दे।

इस समस्त वैशिष्ट्य के साथ एक भव्य वैशिष्ट्य यह मिलता है कि इन सभी बातों का आयोजन बाबूजी के निबंधों में 'समतोल' मिलता है। पाठक यह अनुभव नहीं कर पाता कि कोई बात उबाने वाली हुई जा रही है। समतोल वाक्यावली, समतोल शब्दावली से, समतोल गम्भीरता, समतोल च्युति-विकृति, समतोल ज्ञानवैविध्य, सम-

तोल उद्धरण, समतोल उदाहरण, इनमें समतोल सरसता तथा समतोल हास्य का व्याप्त प्रकाश, इन सबसे बाबूजी के समतोल व्यक्तित्व का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

साहित्य के इतिहासकार

बाबूजी ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का सुबोध संस्करण' लिखा है। इस इतिहास का मुख्य आधार उन्होंने पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को बनाया है, फिर भी यह इतिहास उसकी न तो संक्षिप्ति मात्र है, न मात्र उसकी नकल है। शुक्लजी के आधार को रखते हुए अपने निजी अध्ययन और चिन्तन को इसमें स्थान देकर और नई सामग्री तथा नई व्याख्या से सँजोकर वह इतिहास लिखा गया है। इस इतिहास ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की है। इसके अठारह से भी अधिक संस्करण हो चुके हैं और प्रत्येक संस्करण में कुछ-न-कुछ परिवर्तन और सम्बर्द्धन कर आप उसे अप-टू-डेट बनाने की चेष्टा करते रहे।

सम्पादन-कला मर्मज्ञ

बाबूजी की देन इस दिशा में भी अभूतपूर्व हैं। आप कई अभिनन्दन ग्रन्थों के सम्पादक रहे हैं। हिन्दुस्तानी एकाडमी के लिए आपने कवि और काव्य (प्रेममार्गी कवि) का सम्पादन किया। 'साहित्य-सन्देश' के आप यशस्वी सम्पादक रहे। 'साहित्य सन्देश' की स्थापना सन् १९३७ में हुई थी। तब से वे उसके सम्पादक रहे। मैं भी उनके साथ एक सम्पादक रहा।

इस दीर्घकाल में हम दोनों का पारस्परिक सहयोग और घनिष्ठ होता गया। कभी पारस्परिक मतभेद का भी अवसर नहीं आया। हम दोनों का ही दृष्टिकोण निर्माणात्मक था, खण्डनात्मक अथवा ध्वंसात्मक नहीं। साहित्यिक मेधाओं को उच्च से उच्चतर स्तर पर जाने में सहायता देने में ही उन्हें प्रसन्नता होती थी।

उनके इस समस्त कृतित्व में समन्वयपूर्ण मृदुल और स्वर्णिम प्रकाश मिलता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी युग निर्मित स्तम्भ के रूप में उनकी यथातथ्यात्मक शैली को प्रयोग द्वारा उच्चतम भूमि पर पहुँचाते हुए वे अप्रैल सन् १९६३ तक हिन्दी के कृतित्व को सँभाले रहे और वटवृक्ष के रूप में अपनी उदार भुजाओं में वे सभी वाराओं के मनीषियों को समेटे रहे और सबसे प्रेम और श्रद्धा पाते रहे।

आज वह हमारे बीच में नहीं हैं, पर अपने कृतित्व में गुंथे हुए व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने आपको अपने विभिन्न ग्रन्थों के रूप में साँप गए हैं। हम जितना अधिक उन्हें जानना चाहेंगे, उतना ही अधिक उनके ग्रन्थों का पारायण करेंगे। उनके समस्त ग्रन्थ मिलकर हमारे लिए एक छोटा किन्तु घरेलू पुस्तकालय बन सकता है, और उस पुस्तकालय में से हम बाबूजी को प्रतिदिन अपने सामने मुस्कराते हुए देख सकते हैं।

डॉ० रामाधार शर्मा

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि

पं० माखनलालजी चतुर्वेदी, एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनके काव्य का परिचय देने के पूर्व राष्ट्रीय काव्य की विशेषताओं से अवगत होना आवश्यक है। राष्ट्रीय काव्य क्या है? राष्ट्रीय काव्य की प्रथम और प्रमुख विशेषता कवि की देश-प्रेम की भावना है। यह इस सम्पूर्ण काव्य का केन्द्रीय ज्योति-भवन (सेन्ट्रल पावर हाउस) है। यह केन्द्र जितना शक्तिशाली होता है, काव्य-भूमि भी उतनी ही अधिक दूरी तक तीव्र और एकरस प्रकाश से आलोकित हुआ करती है। केन्द्र यदि दुर्बल हुआ तो प्रकाश अधिक दूर तक नहीं जाता, वह क्रमशः मंद होने लगता है और अन्त में कवि को किसी दूसरे केन्द्र की खोज करनी पड़ती है। राष्ट्रीय काव्य की सूक्ष्म या आंतरिक प्रेरणा देश-प्रेम की अत्यन्त पवित्र भावना है। यह इस काव्य की नींव है, जिस पर समस्त काव्य-निर्माण आधारित होता है। यही सूक्ष्म भावना कवि को वह राष्ट्रीय दृष्टि देती है, जिसे पाकर कवि अनायास हिमकिरीट की ऊँचाइयों को छू लेता है और उसकी कविता कोटि-कोटि कंटों की सहज वाणी बन जाती है। व्यक्ति के समष्टि तक पहुँचने की इतनी सुगम विधि दूसरी नहीं है, साधारणीकरण की इतनी सहज प्रक्रिया और कहीं नहीं दिखलाई पड़ती। राष्ट्रीय काव्य के मूल में देश प्रेम की सूक्ष्म भावना स्थायी तत्त्व के रूप में निहित रहती है। यह स्थायी तत्त्व वह निकष है जिस पर किसी काव्य के राष्ट्रीय होने या न होने की परीक्षा की जा सकती है। मूल और मुख्य वस्तु यही है।

राष्ट्रीय काव्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता उसकी सामयिक प्रेरणा की है। यहाँ हमें यह स्पष्ट समझ लेना होगा कि उपर्युक्त सूक्ष्म प्रेरणा के बिना, एक अंतर्निहित अटूट देश-प्रेम की भावना के अभाव में, सामयिक प्रेरणा एक बाह्य वस्तु मात्र होगी, जिससे किसी परिस्थिति विशेष विशेष की सूचना ही मिलती है। दूसरी ओर सूक्ष्म और अत्यन्त आन्तरिक देश-प्रेम की भावना ही राष्ट्रीय काव्य के लिए अलम् नहीं है, सामयिक संस्पर्श भी उसके लिए आवश्यक है। सूक्ष्म और सामयिक का सुन्दर समन्वय ही राष्ट्रीय काव्य को व्यक्तित्व प्रदान करता है।

सामान्य रूप से हम जिसे राष्ट्रीय काव्य कहते हैं, उसके तीन सोपान दृष्टिगत होते हैं। राष्ट्रीय काव्य का प्रथम सोपान वह है, जिसमें तीव्र देश-प्रेम की भावना और तीव्र सामयिक प्रेरणा समन्वित हो जाती हैं; दूसरा सोपान वह है जिसमें एक अन्तर्निहित देश-प्रेम की भावना सदैव विद्यमान रहती है, परन्तु सामयिक प्रेरणा तीव्र नहीं होती और अन्तिम तृतीय सोपान वह है जिसमें देश-प्रेम की भावना उतनी तीव्र और स्थायी नहीं होती परन्तु सामयिक प्रेरणा बड़ी तीव्र शैली में व्यक्त होती है। इस तीसरी श्रेणी की कविता में देश-प्रेम संचारी के रूप में रहा करता है विशेष दृष्टि से ये श्रेणियाँ राष्ट्रीय काव्य, सामयिक काव्य, आन्तरिक काव्य, सामयिक या सामाजिक काव्य के नाम

से अभिहित की जा सकती हैं। काव्य की यह उज्ज्वल परंपरा है। इसका प्रत्येक कवि देश-प्रेमी होता है। यह दूसरी बात है कि उसकी भावना तीव्र या मंद हो सकती है, उसका रूप व्यक्त या अव्यक्त हो सकता है। इस परम्परा के समस्त कवि हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं।

कुछ लोगों ने इस राष्ट्रीय परम्परा से भिन्न या विरुद्ध भी कुछ काव्य-रचना की है। व्यक्तिगत सुख-दुःख को लेकर चलने वाले कवि काव्य की उदात्त भूमियों में कम पहुँचते हैं। उनके काव्य का सम्प्रेषण इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी वैयक्तिक अनुभूति में सामाजिक बनने की कितनी क्षमता है। यह क्षमता जितनी अधिक होगी काव्य भी उतना ही अधिक रस-भूमि के समीप होगा। यह वैयक्तिक अनुभूतियों का काव्य उन मनःशास्त्र को आधार मानकर चलने वाले व्यक्तिवादियों की रचनाओं से भिन्न है, जो कवि नहीं हैं। ये दोनों वर्ग राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रति एक उदासीनता लेकर चलते हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी श्रद्धा-भक्ति के आधार देश के बाहर रहे हैं। राष्ट्रीय काव्य का यही वर्गीकरण सम्पूर्ण साहित्य के लिए भी स्वीकार किया जा सकता है।

राष्ट्रीय काव्य में सामयिकता आवश्यक है। इसकी सामयिकता से आशय यह है कि यह काव्य देश की समसामयिक परिस्थितियों के प्रति अत्यधिक जागरूक और संवेदनशील होता है। देश के भूत, भविष्य और वर्तमान में वह, मुख्यतः वर्तमान से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रीय काव्य का कवि अतीत का गौरव-गायक भी होता है, भविष्य-द्रष्टा भी बनता है, परन्तु उसकी दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित होती है। उसकी प्रेरणा का स्रोत बहुत समीप और प्रत्यक्ष रहता है। वे राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उसे भी प्रभावित करती हैं जिनका जन-जन से सम्बन्ध है और जो लोक-हृदय को आन्दोलित करती हैं। इसलिए ऐसा काव्य व्यापक रूप से ग्रहण किया जाता है। ऐसे काव्य के ग्रहण की भूमिका पहले ही तैयार हो जाती है।

राष्ट्रीय काव्य समष्टि-आकांक्षा का काव्य कहा गया है। उसमें राज्य-नीति नहीं, लोक-नीति प्रतिबिम्बित होती है। राष्ट्रीय काव्य का कवि अभय भाव से जनता की आशा-आकांक्षाओं को, हर्ष-विषाद को, गति-प्रगति को वाणी का सुन्दर परिधान पहनाता है। वह राष्ट्र की प्रबुद्ध लोक-वाणी बनता है।

यहाँ एक प्रश्न पूछा जा सकता है। क्या राष्ट्रीय काव्य सामयिक और एक-देशीय वस्तु है? क्या उसका प्रभाव-क्षेत्र देश-काल की सीमाओं से आबद्ध है और क्या उसमें काव्य के सार्वभौम एवं शाश्वत उपकरणों की कमी होती है? दूसरे शब्दों में क्या राष्ट्रीय काव्य रस-भूमि की वस्तु नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर यही हो सकता है कि राष्ट्रीय काव्य ही रस-काव्य होता है। रस राष्ट्रीय भूमि की ही वस्तु है। देश और काल की सीमाओं में आबद्ध होते हुए भी वह सार्वभौम और शाश्वत वस्तु है। अन्य काव्यों की अपेक्षा राष्ट्रीय काव्य की प्रेरणा-भूमि अधिक सशक्त और उदात्त होती है, उसका प्रभाव (अपील) अधिक व्यापक और गहरा होता है। राष्ट्रीय काव्य विराट की अनुभूति का काव्य है जिसका उद्देश्य और सामर्थ्य की वाणी है। जिस सूक्ष्म

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि : १३५

आन्तरिक प्रेरणा पर राष्ट्रीय काव्य की नींव रखी जाती है, वह सभ्यता के अनेक अवरोधों के उपरान्त भी, एक सार्वजनीन सत्य है। दूसरी बात यह कि राष्ट्रीय कवि सामयिक उपकरणों से सीधी प्रेरणा ग्रहण कर, उसे अपनी कल्पना के द्वारा, अधिक समर्थ और अमर-सुन्दर रूप देता है। यह प्रक्रिया कठिन है, यह अंजन बिरल्लों को ही मिलता है। राष्ट्रीय कवि देश की मिट्टी को श्रद्धा-भक्ति से पूर्ण हो अपने हाथों में लेता है और भाव-भीने स्पर्शों से उसे एक ऐसी सुन्दर मूर्ति में परिणत कर देता है, जिस पर कोई मनुष्य मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। मूर्ति में मिट्टी का आधार प्रत्यक्ष है, परन्तु अब वह मिट्टी नहीं, मूर्ति बन गई है। जो लोग इस मूर्ति-कला में पारंगत नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में ही उपर्युक्त प्रश्न उठाए जा सकते हैं।

राष्ट्रीय काव्य में तीव्र भाव-परक अभिव्यक्ति (इमोशनल एक्सप्रेशन) अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है, जिससे संप्रेषण तरल एवं सरल हो जाता है। बुद्धि परक अभिव्यक्ति का मार्ग अपनाते पर काव्य में जड़ता और जटिलता आ जाती है और प्रभाव क्षीण होने लगता है।

दादा एक राष्ट्रीय कवि है। उनके काव्य की सर्वप्रथम और प्रमुख विशेषता यह है कि देश-प्रेम की एक प्रबल भावना उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। यह सूक्ष्म आन्तरिक प्रेरणा उनके काव्य का प्राणतत्त्व कही जा सकती है। यदि शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कहना होगा कि देश-प्रेम उनके काव्य का स्थायी भाव है। यह आलोककेन्द्र अमन्द और अटूट है। इसकी शक्ति पर कहीं शंका नहीं की जा सकती। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा के अन्तर्गत कतिपय ऐसे नाम भी स्वीकार किए गए हैं, जिनके काव्य का स्थायी भाव देश-प्रेम नहीं कहा जा सकता। देश-प्रेम उनके काव्य में संचारी बनकर ही आ सका है। अधिकतर देखा गया है कि ऐसे कवि कभी-कभी—विशेषकर राष्ट्रीय संकट के अवसरों पर—बड़ी आवेशपूर्ण शैली में अपने देश-प्रेम का परिचय देते हैं। शेष समय में वे मुख्य रूप से शृंगार की रचनाओं में संलग्न रहते हैं, बौद्धिक कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं या फिर मनोरंजन की दृष्टि से लिखे गए छोटे-मोटे प्रयोग करने लगते हैं। हिन्दी में ऐसे कवियों की एक बड़ी संख्या है। ये सब समय की गंगा के घाट पर स्नान करने वाले लोग हैं, परन्तु उसकी लहरों में तैरते हुए उसे रत्नाकार तक ले जाने वाला तो कोई एक भगीरथ ही हुआ है। किसी स्थायी प्रेरणा के अभाव में अनेक कवि सामयिक प्रतिक्रिया की ही सूचना दे पाते हैं। वे वर्तमान की ज्वाला को शब्दों में बाँधते हैं। दादा राष्ट्रीय ज्योति के कवि हैं, ज्वाला के नहीं। उनका काव्य सहज ओज का काव्य है, आकस्मिक आवेग की असंयत वाणी नहीं है। चीन और पाक के भारत पर आक्रमण के अवसरों पर अनेक कवियों ने साहित्यिक संयम से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, परन्तु दादा का अखंड ओज आद्यंत शालीनता की भारतीय मुद्रा से चिह्नित है।

दादा के काव्य की नींव बहुत गहरी है स्वदेश प्रेम की स्थायी भावना का तीव्र अटूट अंतर्प्रवाह उनके काव्य को सामयिक आवेग के कवियों से भिन्न और उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। दूसरी बात यह कि दादा का काव्य, समय के प्रभाव

की दृष्टि से अन्य किसी भी कवि से भारी पड़ता है। समय के प्रति इतनी सजग और संवेदनशील दृष्टि दुर्लभ है। राष्ट्रीय जीवन की कोई भी महत्वपूर्ण घटना उनसे अनंकित नहीं जा सकी। उनका काव्य राष्ट्रीय जीवन का भावात्मक इतिहास है। दादा के काव्य में सामयिकता का गुण, विशेष प्रत्यक्ष प्रेरणा, बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान है। उनकी कविताओं का सम्बन्ध राष्ट्र के महत्वपूर्ण व्यक्तियों, घटनाओं या परिस्थितियों से है या उस आराध्य से है जो देश से अभिन्न है। दादा की अनेक कविताओं के साथ उनकी रचना-तिथि और स्थान भी दिए गए हैं उनसे उनके काव्य को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि यदि दादा का काव्य इतना अधिक सामयिक गुण से पूर्ण है, तो उसे हम शाश्वत काव्य की संज्ञा कैसे दे सकते हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। सम्भवतः कुछ लोगों को शंका हो सकती है कि काव्य का सामयिक होना उसका दोष है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। समय के जल और देश की मिट्टी के बिना किसने मूर्ति बनाई है? सामयिकता काव्य का दोष नहीं, उसका प्रथम गुण धर्म है। इसी सामग्री से काव्य का सौन्दर्यपूर्ण भवन बनाया जा सकता है। दादा के पास काव्य की इस सामग्री का अक्षय भंडार है। समय के प्रवाह की गद्गद गीली मिट्टी लेकर अमर सुन्दर मूर्ति बनाने की कला निश्चय ही बड़ी कठिन क्रिया है (जिसके सरल होने की भ्रान्ति ने कई के हाथ मिट्टी भरे का दिए हैं) पर जिसे दादा ने सिद्ध कर लिया है। इस प्रकार दादा के काव्य की नींव (सूक्ष्म देश-प्रेम की भावना) बड़ी गहरी है, काव्य सामग्री (सामयिक प्रभाव) के उनके पास प्रचुरता है और निर्माण-कला में उन्हें सिद्धि प्राप्त है। यहाँ दादा के काव्य के कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

१. तुम रवि किरणों से खेल,
जगत् को रोज जगाने वाली,
कोकिल बोलो तो ?
क्यों अर्द्ध-रात्रि में विश्व
जगाने आई हो ? मतवाली,
कोकिल बोलो तो ?
दूबों के आँसू धोती रवि किरनों पर,
मोती बिखराती विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रत-धारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कंपाती इस उद्दंड पवन पर,
तेरे सीठे गीतों का पूरा लेखा
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा
तब सर्वनाश करती क्यों हो,
तुम जाने या देजाने
कोकिल बोलो तो !

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि : १३७

लिखने चमकीली तानें
कोकिल बोलो तो !

—‘कैदी और कोकिला’—हिमकिरीटिनी, पृ० १४,

सेन्ट्रल जेल जबलपुर सन् १९३०

२. युग तुम में, तुम युग में कैसे झाँक रहे हो बोलो,
उथल-पुथल तब ही कि समय में जब तुम जीवन घोलो ।
तुम कहते हो बलि से पहले अपना हृदय टटोलो
युग कहता है क्रान्ति-प्राण ! पहिले बन्धन तो खोलो ।

... ..

हे तेरा विश्वास गरीबों का धन, अमर कहानी—
तो है तेरा श्वास, क्रान्ति की प्रलय लहर मस्तानी ।
कंठ भले हों कोटि-कोटि, तेरा स्वर उनमें गूँजा,
हथकड़ियों को पहन राष्ट्र ने पड़ी क्रान्ति की पूजा ।

—‘युग और तुम’—समर्पण, पृ० २१-२२

गांधी जयन्ती के लिए, सन् १९३५

३. वाणि, बीणा और बेणी की त्रिवेणी धार बोलें,
नृत्य बोलें, गीत बोलें, मूर्ति बोलें, प्यार बोलें ।
आज हिमगिरि की पुकारों, सिन्धु सौ-सौ द्वार बोलें,
आज गंगा की लहर में प्रलय का व्यापार बोलें !

... ..

दंग करती-सी मृदंग बजे, कि वंशी-रंघ्र बोलें,
नृत्य-संगना एशिया की गोपियाँ स्वच्छन्द डोलें,
अमित मधु आकषणों का उवार हरि, वंशी बजावे,
स्वर भरे कश्मीर उसमें, भैरवी नेपाल गावे ।
मोह ले मन को हमारे नेह का गंधार प्रहरी,
और लंका से हमारी सिन्धु-सौ ही प्रीत गहरी ।
आज ब्रह्मा के स्वरो में, एशिया के द्वार हर्षित,
सिन्धु के उल्लास हर्षित, शत्रु के संहार हर्षित ।
तीन बाहु से घिरा, यह तरल पारादार हर्षित,
आज दिल्ली के स्वरो ईमान का संसार हर्षित ।

‘प्राण का श्रृंगार’—युग चरण, पृ० ३४-३५

जनतन्त्र दिवस, सन् १९५४

ऊपर तीन उद्धरण दिए गए हैं । पहला उद्धरण विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है, दूसरे में व्यक्ति उद्दिष्ट है और तीसरे में तिथि का महत्त्व है । परन्तु यह द्रष्टव्य है कि तीनों उद्धरणों में काव्य विशेष की भूमि से दूर पहुँच गया है । जबलपुर सेन्ट्रल जेल की वन्दिनी आत्मा कोकिल के स्वर के साथ सूर्यकिरणों में, विन्ध्य के

शरनों में और वनों में तथा आँधियों में कितनी स्वच्छन्द चूमती है और सूर के जहाज के पंछी के समान पुनः पूर्व स्थान पर पहुँच गई। 'युग और तुम' कविता युग-पुरुष महात्मा गांधी की अभ्यर्थना की गई है, परन्तु उद्धृत काव्यांश किसी युग-पुरुष की वन्दना के बोल हो सकते हैं। 'प्राण का शृंगार' कविता जनतन्त्र-विरोध पर लिखी गई है, परन्तु उसमें जिस हर्ष की व्यंजना है, वह किसी एक दिन, एक वर्ष और किसी एक व्यक्ति की वस्तु नहीं है। उसमें तो कवि ने संपूर्ण राष्ट्र-चिरन्तन उल्लास को वाणी दी है। छोटी-सी प्रेरणा को लेकर दादा बहुत दूर और ऊपर पहुँच जाते हैं। यह कला हिन्दी के बहुत कम कवियों के पास है। यहाँ बिना सामयिक रहते हुए भी समायातीत हो जाते हैं। ऐसे प्रसंगों में दादा प्रायः नाम के स्थूल विवरणों को छोड़ देते हैं या आवश्यक होने पर उनके संकेत-मात्र और सूक्ष्म तात्त्विक भूमि पर विचरण करने लगते हैं।

दादा के काव्य की ऊँचाई का एक और रहस्य है। उनका सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित है। आसेतु हिमाचल फैले हुए इस विराट देश उन्होंने अपने आराध्य की भावना की है इसलिए उनकी कृतियाँ पवित्र पूजा के बन गई हैं :—

हो मुकुट हिमालय पहनता, सागर जिसके पद धुलवाता,
यह बधा बेड़ियों में मंदिर मसजिद, गुरुद्वारा मेरा है।

—हिमकिरीटिनी

'वेणु लो गुँजे बरा' संग्रह में भी आराध्य बलि के फूलों से ही प्रसन्न हुआ है।

प्राण कौन से स्वप्न दिख गए,

जो बलि के फूलों खिलते हो।

देश-प्रेम की भावना को आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय दादा को है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद उनकी हिन्दी में विशेष मौलिक वस्तु है और इस क्षेत्र में वे अकेले हैं। दादा की आध्यात्मिकता परम्परागत है और शरीर तथा मन से परे एक चिरन्तन चिन्मय वस्तु है। इसी परम्परागत आध्यात्मिकता से दादा का काव्य दृढ़तापूर्वक बँधा हुआ है। भारतीय जीवन और काव्य की परम्परा मुख्यतः आध्यात्मिक रही है और जो कवि इस परम्परा के जितना निकट रहा है उसे भारतीय जीवन ने उतने अधिक श्रद्धा के पुष्प अर्पित किये हैं। आधुनिक काव्य से सर्वाधिक तेजस्वी आध्यात्मिक ज्योति दादा के काव्य में दिखलाई पड़ती है। हमें दादा के काव्य मूल्यांकन इस दृष्टि से भी करना होगा। हम अपने समय के इतने समीप हैं कि उसका सम्यक् बोध नहीं हो सकता और दूसरी बात यह है कि आत्म-प्रचार अगणित नगाड़ोंकी अभ्रभेदी आवाजों के बीच रेवातट के शान्त परन्तु सशक्त वेणु-स्वर बहुत कम सुनाई पड़े। परन्तु एक शताब्दी उपरान्त यह स्थिति नहीं रहेगी। ऐतिहासिक बोध से सम्पन्न आनेवाली पीढ़ियाँ दादा को भिन्न दृष्टि से देखेंगी। यह बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है कि भारत की शक्ति-साधना के साथ ही उसका मूल आध्यात्मिक चेतना भी बलवान होगी। आध्यात्म हमारे राष्ट्र का केन्द्र है।

हमारी सावनाओं की राजधानी है। इसका महत्व हमें आज नहीं तो कल समझना होगा। हमारी आगामी पीढ़ियाँ यह देखेंगी कि कौन हमारे इस केन्द्र के पास है और कौन इससे दूर-दूसरे केन्द्र के समीप पहुँच गया है और पराया बन गया है। इस दृष्टि से दादा के काव्य का मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है। यदि दादा का काव्य केवल सामयिक प्रतिक्रिया व्यक्त करता तो वे देश के बहिरंग शरीर कवि होते, यदि दादा का काव्य देश प्रेम की सूक्ष्म भावना पर ही आधारित होता तो वे देश के अंतरंग प्राण या हृदय के कवि होते परन्तु दादा तो देश की आत्मा के कवि हैं 'एक भारतीय आत्मा' हैं और उन्होंने आत्मभूमि पर काव्य-रचना की है। दादा का काव्य आध्यात्मिक स्तर की वस्तु है। पूर्व मध्य-युग के उपरान्त इतनी सशक्त और सुन्दर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हिन्दी में दूसरी नहीं दिखलाई पड़ती। हमारा मान हिन्दी के इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है कि प्राचीन साहित्य का दादा के पूजा-गीतों के रूप में पुनः अवतार हुआ है। हिन्दी के अनेक कवि इस दृष्टि से दादा के कम-कक्ष लगेंगे।

एक ओर तो दादा कीटि-कोटि भारतीयों के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करते हैं और साथ ही उसी भारतीय जन-गण में अपने आराध्य (विस्तृत, विराट, श्याम सलोने) की भावना कर उसके चरणों में समर्पित की हैं। उनके काव्य में यह दुहरी भूमिका एक ऐसे प्रगाढ़ रस की सृष्टि करती है जो हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलेगा। व्यष्टि के समष्टि तक पहुँचने की यह प्रणाली आज अपने आपमें अकेली नहीं रह गई। रस-काव्य को दादा ने नई दीप्ति दी है, नई शक्ति दी है।

दादा का काव्य शासन का अनुगामी और अनुगायक कभी नहीं रहा। भारतीय जनता की आशा-आकांक्षा, हर्ष-शोक, संकल्प-विकल्प आदि उनके काव्य में व्यक्त हो रहे हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व वे एक विद्रोही सैनिक थे और स्वतन्त्रता के उपरान्त वे एक समीक्षक की स्थिति में हैं। दादा में राजनीति नहीं, जननीति मुखरित हुई है, राज-कवि नहीं है विराट भारतीय जन-गण के कवि हैं। उनका काव्याधार जन-आन्दोलन का काव्यनैतिक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रीय काव्य में तीव्र भाव-परक अभिव्यक्ति (इमोशनल एक्सप्रेसन) अधिक आवश्यक है। जिन कवियों ने राष्ट्रीय काव्य में बुद्धि-परक अभिव्यक्ति का मार्ग अपनाया है उनकी रचना अभीप्सित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर सकी है। ५ अगस्त सन् १९६५ को भारत पर पाकिस्तान ने आक्रमण किया। उस संदर्भ को लेकर पुनः हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, परन्तु अधिकांश कविताएँ बुद्धि-प्रसूत हैं और प्रयत्नपूर्वक-लिखी गई हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

१. सिपाही देश का कलंक धो रहा है।
जो बीज जम कर,
सदियों में कई बार सूखे हैं,
उन्हें फिर से बो रहा है।

६४० : आलोचना

- बम के धड़ाकों से ईश्वर ही नहीं चौंकता,
आदमी भी घबराकर जाग उठता है ।
इतिहास जानता है कि क्या हो रहा है ?
२. हथियारों नहीं, मर्दों के गीत गाओ ।
अरे गाओ, अगर स्वर समर्थ है ।
क्योंकि मर्द नहीं, तो हथियार लूले हैं,
मर्दानगी नहीं, तो लोहा व्यर्थ है ।
विमान सेवर हो या नैट
कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है ।
लड़ाई तो मर्दानगी की चीज है
हथियार भी मर्दों के इशारों पर लड़ता है ।
३. इस सबसे क्या,
उस सबसे क्या, किसी सबसे क्या,
जब कि अकेलेपन में,
एक व्याप्त मामूलीपन का स्पन्दन है
और वह व्याप्त मामूलीपन एक सेतु है
जिसमें हम सब
हर अकेली रात के अँधेरे में
एक सम्बन्ध और सामर्थ्य और गौरव के सूत्र में बँधते हैं—
हम, हम, हम, हम भारतवासी ?

ऊपर तीन उद्धरण दिए गए हैं । पहले उद्धरण में संभवतः दो बातें कही गई हैं कि हमारे सिपाही देश के कलंक को धो रहे हैं और भयंकर युद्ध मनुष्य के साथ ही ईश्वर को भी चौंका देने वाला है (यद्यपि इसमें के बाद आदमी के आने से अतिशयोक्ति प्रभावहीन हो गई है) । इसमें विचार सीधे सरल रूप में रख दिए गए हैं । परन्तु हृदय का वेग कहीं संयुक्त नहीं है । दूसरा उद्धरण युद्ध के तथ्यों पर आधारित है । यह अब सर्वविदित है कि पाक युद्ध में भारतीय वीरों ने अपने साहस और शौर्य के बल पर अमेरिका पाकिस्तान को दिए गए सेवर जेट विमानों और पैटन टैंकों के धुरें उड़ा दीं । इसी तथ्य को उक्त उद्धरण में, कुछ सामान्य रूप देकर, एक विचार के रूप में किया गया है कि लड़ाई हथियारों से नहीं मर्दानगी से जीती जाती है । यहाँ है कि बाह्य तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने वाली यह प्रक्रिया मूलतः है । ये दोनों कविताएँ सरल, परन्तु वेग-रहित हैं । तीसरा उद्धरण जटिल और रहित काव्याभास का उदाहरण है । इन तीनों उद्धरणों में उत्तरोत्तर बौद्धिक बढ़ती गई है और उसी अनुपात से काव्य-प्रभाव का भी ह्रास हुआ है ।

राष्ट्रीय काव्य की प्रतिनिधि शैली हिन्दी के कृतिपय नए कवियों में बनी रही है । उपयुक्त बौद्धिक काव्य से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए कुछ

देना आवश्यक है :

१. मशाल थामना—

मोरचा बिखर न जाय,

गिर न जाय काल-सन्तरी

उसे सम्हालना

मशाल थामना

कृष्ण है स्वदेश आज और काश्मीर बंसरी

उसे सम्हालना

मशाल थामना ।

२. आज अपना देश पूरा लाम पर है,

जो जहाँ भी है, वतन के काम पर है !

हल लिए है हाथ मामाशाह मेरे

प्रतापों ने बर्फ पर साका किया है,

लहू देने का महरत आ गया है

दूध जिसने भी कि—इस माँ का पिया है ।

३. पुरुषार्थ

क्षमा के लिए बने हुए हाथ

लेते हैं शास्त्र

व्यापक क्षमा के लिए

चारों तरफ अनसुना कोलाहल है,

और मुझे सूझते नहीं हैं शब्द

घबराये हुए लोगों की उपमा के लिए ।

हैं—

दो बातें
रहे हैं
इसमें
विषय
नहीं
देत है
अमेरिका
उड़ा
के रूप में
है। यहाँ
या मूलतः
जटिल और
र बौद्धिक
है।
वियों में व्य
लिए कुछ

पहला उद्धरण एक गीत है, जिसमें सशक्त उद्बोधन निहित है। कवि की कृष्ण और उनकी वंशी के रूपक में पवित्र होकर, तीव्र गति से, संगीत के स्वरों साथ, प्रत्येक बार कल्पना के नव-नव वस्त्र पहिन कर अग्रसर होती है। दूसरी कविता का सहज ओज ऐतिहासिक संदर्भों तथा राष्ट्रीय उपलब्धियों के सहारे विकसित है। देश-प्रेम के लिए कवि ने जैसे ओज और आवेग का गरुड़-वाहन उपस्थित किया है। तीसरी कविता अपनी उदात्त परिणति, (शत्रु-पक्ष की अनुपमेय घबराहट तथा) भारतीय पुरुषार्थ की व्यंजना एवं गम्भीर आत्म-विश्वास के कारण उल्लेखनीय हुई है। राष्ट्रीय काव्य की भाव-परक शैली की त्रिविध भंगिमाएँ ऊपर दी गई हैं। इन कविताओं की शैली सरल और तरल है।

दादा का काव्य भाव-परक अभिव्यक्ति का आदर्श प्रतिष्ठित करता है।

स्तव में दादा के काव्य की केन्द्रीय शक्ति उनकी भावना ही है। काव्य का मूल और मुख्य तत्त्व भी यही है और यह उनके काव्य में साद्यन्त समरस रहा है। इसीलिए उनके काव्य में सहज वेग का कहीं अभाव नहीं है। जिन कवियों के काव्य में मूल शक्ति बुद्धि होती है, उनके सम्पूर्ण काव्य और काव्य-प्रक्रिया का शासन बुद्धि द्वारा

१४२ : आलोचना

ही होता है। उन्हें हम नियंत्रित-भावना के कवि कह सकते हैं। युवावस्था की के साथ बुद्धि की प्रखरता और प्रकाश उनके काव्य में व्यक्त होते हैं, परन्तु के अधिक हो जाने पर बुद्धि की शक्ति क्षीण होने लगती है। कुछ कवि अपनी कला का केन्द्र कल्पना को बनाते हैं। कल्पना द्विमुखी है। उसका एक मुख हँस और है और दूसरा मुख मस्तिष्क की ओर। जिन कवियों की कल्पना मस्तिष्क होती है आगे चलकर उनका काव्य विचार-प्रधान बन जाता है और कल्पना रमणीयता कम होने लगती है। दादा के काव्य का केन्द्र भावना है और यह मस्तिष्क तथा समरस रही है। यह उनके काव्य की मूल शक्ति है। अवस्था के परिवर्तन के साथ ही मनुष्य की भावना विस्तृत, विशुद्ध और तीव्र हो जाती है। दादा का काव्य इस बात का प्रमाण है। उनका काव्य-क्षितिज विस्तृत हुआ है, उनकी भावना प्राचीन की ऊँचाइयों तक पहुँच गई है और भाव-तीव्रता भी, एक विशेष संयम की मुद्रा में व्यक्त हुई है। सन् १८६२ में चीन के भारत पर आक्रमण के समय दादा ने कैप्टन तरुणाई को एक बार फिर अपने सहज स्वर में ललकारा :—

बूढ़ों की क्या बात युगों की तरुणाई के दिन आये हैं,
चट्टानों, खन्दकों, पहाड़ों की खाई के दिन आये हैं।
गंगा मांग रही है मस्तक, जमना मांग रही है सपने,
आज जवान्ती स्वयं टटोले सिर हथेलियाँ अपने-अपने।
कितने दिन से वृक्ष दे रहे संकेतों झुक आई डाली,
कितने दिन से खड़ा अकेला अपने बागों का यह माली।
आज सिद्ध करना ही होगा नहीं जवाहर कभी अकेला,
आज सिद्ध करना ही है यह आ पहुँची प्रयाण की वेला।
चलो सजाओ सैन्य, समय की भरपाई के दिन आये हैं,
आज प्राण देने के, युग की तरुणाई के दिन जाये हैं।

—मरण-ज्वार, पृ० ५१

बलिदान का त्यौहार मिल जाने की प्रसन्नता गीत के स्वरों में फूट पड़ी है। इसमें दादा का सम्पूर्ण ओज एक निर्विकार शान्ति में पर्यवसित हो गया है। गीत की उदात्त भूमिका स्वाभाविक है, अधिक सशक्त और संयत भी है, साथ ही अभिव्यक्ति सीधी और सरल है। पूरा गीत एक मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है।

देश-प्रेम की एक अटूट आन्तरिक भावना दादा के काव्य का मूल और प्रेरणक उपकरण है। इस भूमि पर समय के चरण-चिह्न बहुत गहरे अंकित हुए हैं, जिनमें अपनी भाव-भीनी कलम से सुन्दर कला का रूप देते हैं। दादा भारतीय राष्ट्र के उत्तम उपासक हैं। वे हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

डा० सियाराम शरण प्रसाद

सियाराम शरण गुप्त के उपन्यास :

एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

स्वर्गीय श्री सियाराम शरण गुप्त सामाजिक चेतना के सांस्कृतिक कवि और लेखक थे जिनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति और प्रगतिशीलता का समुचित सन्तुलन ध्यात्व है। एक ओर जहाँ उनमें शुद्ध कवि-हृदय का दर्शन होता है वहाँ दूसरी ओर उनका गद्य साहित्य भी अपना अलग महत्त्व रखता है।^१ प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके उपन्यासों की समाजशास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करेंगे।

साहित्य अनुभव और अनुभूतियों का संग्रहीत कोष होता है और जिसमें समयानुसार उद्बुद्ध परिस्थितियों की अग्नि एवं परिवेश के जलकण से समस्याएँ निमित्त होकर अनुभव और अनुभूतियों का संपर्शन करती हैं। कलाकार चेतन प्राणी होता है, बुद्धि, विवेचन और अनुभूति की शक्ति रखता है। समाज के मध्य उसकी परिणति एवं जीवन-यापन होता है। एक कालगत समस्याओं और परिस्थितियों का उसे प्रत्यक्ष रूप से सामना करना पड़ता है। इनसे कटकर कलाकार, विशेषकर गद्य लेखक अपनी प्राणवत्ता ही खो बैठेगा।^२ गद्य यथार्थ एवं वास्तविकता से अलग हटकर निष्प्राण हो जायगा। अतएव उपन्यास, जो गद्य की एक प्रमुख विद्या है, इन उपकरणों से वंचित नहीं हो सकता है और इसके फलस्वरूप उसकी विवेचना समाजशास्त्रीय कसौटी पर प्रकृत रूप में, सहज भाव से की जा सकती है। श्री सियाराम शरण गुप्त के उपन्यासों के साथ भी यही तथ्य लागू है। चूँकि गुप्तजी के उपन्यास सामाजिक धरातल पर ही खड़े हैं इसलिए यह भी विचारणीय प्रश्न उनसे सम्बद्ध है।

श्री गुप्त के उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व के १९४० के आसपास के हैं।^३ अतएव स्वाभाविक रूप में उनकी इन औपन्यासिक कृतियों में तत्कालीन समस्याएँ एवं सामाजिक

१. मौर्य-विजय, अनाथ, दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, गृहमयी, बापू, उन्मुक्त, दैनिकी, नकुल आदि काव्य पुण्य पर्व नाटक, निष्क्रिय प्रतिशोध, कृष्णाकुमारी गीतिनाट्य, कोटर और कुटीर, मानुषी आदि कहानी संग्रह तथा नारी और गोद—इनके उपन्यास हैं। ज्योति प्रसाद निर्मल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे “—परिवर्तन के पक्षपाती हैं।” —नवयुग काव्य-विमर्श, पृष्ठ ३।

२. “All the arts in one way or another, to some greater or lesser extent, interpret life...these three functions intensification, clarification and interpretation of experience, the arts fulfill in various degree”—Irwin Edman—‘Art and the Man’. Page-22-30.

३. ‘गोद’ का प्रकाशन १९६० तथा ‘नारी’ का १९६४ है।

परिस्थितियाँ क्रियाशील हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतवर्ष के लिए वह का
पराधीनता की शृंखला से आवद्ध था। यहाँ अँग्रेजों का राज्य था। भारतीय मु
जीवन से परे थे। अँग्रेजों ने राजनैतिक और आर्थिक कुचक्र के माध्यम से भारती
शक्ति को कुचला ही नहीं प्रत्युत छिन्न-भिन्न कर सदियों तक के लिए कमजोर बना
का प्रयत्न किया। १८४० तक सारे देश में अँग्रेजों की शोषण प्रणाली पूरी त
व्याप्त हो चुकी थी। जमींदारी तथा महाजनी प्रथा का विस्तार इतना व्यापक
गया था जिसमें सम्पूर्ण भारत का ग्राम जीवन शोक-विपाद और निर्धनता का के
बन गया था। जमींदार एवं महाजन भारतीय जीवन में जोंक सदृश थे जो निरि
ग्रामीणों और जनता का सारा रक्त चूसते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में किसान के
जोतकर भी सारा धन जमीन्दारों और महाजनों को समर्पित कर भूखे रहते। किन्
के बच्चे अभाव में कातरता से जीवन व्यतीत करते, दर्द की कहानी बनकर जीव
लीला समाप्त करते। 'नारी' में इस तत्त्व को स्पष्टतया देखा जा सकता है। जम
और उसका पुत्र हल्ली इस चक्र में फँसे दीख पड़ते हैं। महाजन के कर्ज के कार
जमना घोर कष्ट सहती है और कर्ज के अभिशाप से क्षतिग्रस्त होने के कारण क
महाजन के पुत्र के सम्मुख अपने पुत्र को सिर उठाने नहीं देती है। लगता है महाज
प्रथा की अभिशाप-शिला उसकी स्वच्छन्द साँस को रोककर उसके कलेजे पर बैठी है
अन्त में इसी भावना को अपने पुत्र के समक्ष व्यक्त करती, आशा का संवल ले
कहती है—“सह ले, पक्का होकर इसे सह ले। कमजोर क्यों पड़ता है? जितना अधि
सह सकेगा, उतना ही तू बड़ा होगा।” (पृष्ठ २०६) इसी अभिशाप का मालि
उदाहरण है कि मोती चौधरी जमना का चेत, कुआँ आदि वृन्दावन से अपने त
रजिस्ट्री करा लेता है। वृन्दावन वर्षों पत्नी को छोड़कर जाने वाला व्यक्ति भी जम
का मालिक बना उसका सर्वनाश करता है। सचमुच ही ऐसी प्रथा घोर नाटकीय वह
तो और क्या कही जायगी जिसमें भागा हुआ, कर्तव्यहीन पति ही पत्नी के भाग्य क
मालिक बना उसके साथ खेलवाड़ करता है। जमना और हल्ली का भाग्य-रूपी आका
तिमिराच्छन्न हो उठता है। इस दुर्भाग्य का सृजन मात्र महाजनी प्रथा, शोषण प्रणाली
असामान्य आर्थिक व्यवस्था के कारण होता है। न जाने इस पीड़ा-जन्य रोग से भार
के कितने करोड़ लोग शिकार हुए और हाल-हाल तक होते रहते हैं। यही शोषण
प्रथा जमुना और वृन्दावन को पुनः मिलने भी नहीं देती क्योंकि दोनों के मिलने
शोषण का अवसर कम हो जाता, खेत, कुएँ हड़पने का अवसर नहीं रह जाता। इसी
लिए चौधरी वृन्दावन का पत्र छिपाकर, उसे शंका के क्षोभ में डुबोकर अपना स्वा
साबता है, जमना को वृन्दावन के जीवित होने की सूचना से वंचित रख, वृन्दावन के

१. मालिक किसान जो अभी तक अपनी ही जमीन पर खेती करता था, अब बनियाँ-जमीन्दारों
या साहूकारों का करीब-करीब दास किसान बन गया, जो केवल काशतकार था उसकी हानि
तो और भी खराब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल
हुए भूमिहीन मजदूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया।”—जवाहर लाल नेहरू
“मेरी कहानी”

मन में जमना के प्रति भ्रष्टाचार की भावना उत्पन्न कर दोनों के पवित्र प्रेम के बीच, दीवार बन, दोनों का जीवन सदा-सदा के लिए कालिख से भर देता है। जमना के मन में अपने पति के प्रति जो अगाध प्यार एवं विश्वास था, वृन्दावन के मन में अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति और ममत्व था—वह सब महाजनी सभ्यता की अग्नि में होलिकादहन की तरह छार हो जाता है। निःसन्देह सियाराम शरण गुप्त ने महाजनी सभ्यता का बड़ा ही मार्मिक, परन्तु आवेश से परे, चित्र 'नारी' में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि गुप्तजी ने उसके अभिशाप को ही चित्रित किया है, सामाजिक धरातल पर कोई ठोस निदान प्रस्तुत नहीं किया है और यह कुछ समाजवादी सिद्धान्त के आलोचकों को खटक सकता है।

ग्राम से सम्बद्ध कथानक पर आधारित 'गोद' उपन्यास में भी महाजनी सभ्यता उपस्थित है। उसमें इस सभ्यता के फलस्वरूप झूठी मर्यादा के मुसौटे का पर्दाफाश किया गया तथा उसकी निरर्थकता सिद्ध की गई है। वस्तुतः इसमें इस प्रकार का दूसरा आयाम, जो ऊपर से चमकदार, साफ दीख पड़ता है, परन्तु भीतर से भ्रष्ट और दलदलापूर्ण है। 'गोद' में इसी सभ्यता का घना वातावरण मर्यादा के मुसौटे में चमकदारपूर्ण बना दीखता है। परन्तु भीतरी खोखलापन इसमें छिप नहीं पाता है। गुप्त जी की पैनी दृष्टि सतह से हटकर गहराई में प्रवेश कर सत्य देखती है कि इसी सभ्यता के खोखलेपन में पार्वती छटपटाती है, परन्तु दिखावापूर्ण मर्यादा छोड़ना नहीं चाहती, शोभाराम इसी कारण अपनी आत्मा की आवाज किसी के सम्मुख स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने में अक्षम होता है। पार्वती किशोरी की पवित्रता पर विश्वास रखकर भी पति के सम्मुख एक शब्द भी बोलना अपराध समझती है। पति ही सब कुछ है, उसकी इच्छा और विश्वास ही सब कुछ है, इसी अंधविश्वास को लेकर वह मन में ताप और पीड़ा सहती, घुटती है, परन्तु कुछ बोल नहीं पाती है। दयाराम उसी पुरानी रुढ़िग्रस्त प्रथा का जीता-जागता प्रतीक है। शोभाराम हृदय से किशोरी के लिए ममत्व रखकर भी घिसी-पिटी प्रथा के संस्कार में डूबा रहा, कुछ बोलने में असमर्थ होता है। और इसका परिणाम भोगना पड़ता है किशोरी और उसकी माँ को। वे समाज से प्रताड़ित होती हैं, व्यथा का शिकार होती हैं, व्यंग्य से आहत होती हैं और यह सब होता है झूठी अफवाह के कारण। अतः लेखक ऐसी स्थिति में क्रान्ति का शंख फूंकता है। वह शोभाराम में नई चेतना की लहर उद्बलित कर इस झूठे आवरण को खण्डित कर मुक्त साँस लेने की प्रेरणा देता है। परिस्थिति की सघनता में शोभाराम आत्मा की आवाज पर उठ खड़ा होता है और सारे लोकोपवाद को भ्रामक मानकर किशोरी से विवाह कर लेता है—अपने भाई की आज्ञा के बिना ही। तब उसके जीवन में नया आलोक आता है, वह नया अध्याय आरम्भ करता है और अन्ततोगत्वा उसके पुराने संस्कार के बड़े-भाई दयाराम भी उसे स्नेह से अपना लेते हैं। पार्वती के हृदय पर जमा हुआ पत्थर जैसे शोभाराम के प्रगतिशील कर्तव्य के स्पर्श से गलकर समाप्त हो जाता है और इस प्रकार एक नूतन परिप्रेक्ष्य सामने आता है। आदर्शवादी लेखक श्री सियारामशरण गुप्त को यह विश्वास है कि जब

तक देश में नवयुवक वर्ग साहस से उठकर न्याय और औचित्य की दृष्टि रख कर देश का विरोध नहीं करेंगे तब तक देश का भविष्य अंधकार-मंडित रहेगा—नये विचार और न्याय का प्रकर्षपूर्ण सूर्य दीख नहीं पड़ेगा। भारत में उस समय तक मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रचार हो रहा था। विवेकानन्द और गाँधी आदि इसी चेतना के प्रसार थे। विवेकानन्द ने तो वेदान्त के आधार पर मानवतावाद का समर्थन करते हुए ईश्वर को महान मानते हुए भी मानव को उसके समकक्ष स्वीकार किया—“मेरे धर्म तथा ईश्वर पर विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू न पोंछ सके तथा अन्न के लिए रोटी का टुकड़ा न दे सके।”^१

इसके साथ ही गुप्तजी ने महाजनों की मनमानी, भ्रष्टाचार (सूद में लेकर भी प्रामाणिक कागज नहीं देना, मालगुजारी रसीद नहीं देना आदि), कृषि की आर्थिक परिस्थिति तथा अन्धविश्वास आदि का भी अंकन किया है। ‘गोद’ में उससे भी अधिक ‘नारी’ में ये प्रसंग अधिक सजीवता और स्पष्टता से उभर कर आये हैं। यह ज्ञातव्य है कि गुप्तजी के उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व के हैं, उनमें स्वतन्त्रता पर्याप्त पूर्व की स्थिति का यथार्थ चित्रण है। ब्रिटिश सरकार की अपनायी हुई नीति से भारत का जो अहित हुआ उसका वास्तविक रूप ‘नारी’ में उपस्थित है। भात के किसान महाजनों और जमींदारों की दोहरी मार से टूट गए। उनका दोहरे शोषण” जैसे उनके जीवन को चूस गया। ‘नारी’ में प्रकारान्तर से इसका सच वर्णन है।

यह भी सत्य है कि भारत कृषि-प्रधान होने के कारण तथा कृषि-साधनों की समुन्नत नहीं होने के कारण प्राकृतिक शक्तियों पर आश्रित रहने के कारण भाग्यवान बन गया था। डॉ० चण्डी प्रसाद जोशी का कथन सत्य ही है—“प्राकृतिक प्रभुत्व से बचने का उपाय न होने के कारण सुरक्षित जीवन सम्भव न था। अतः प्रकृति का हार स्वीकार कर वह जीवन के प्रति उदासीन, निराशावादी तथा भाग्यवादी बन गया।” गुप्तजी के उपर्युक्त उपन्यासों का सृजन-काल वह काल था जब भारत पर अतन्त्र था। साथ ही औद्योगिक विकास नहीं हुआ था। आस्था और निष्ठा के विपरीत भाग्यवादी प्रवृत्ति मूलरूप से व्याप्त थी। “नारी” और “गोद” दोनों उपन्यासों में यह भाग्यवादी दृष्टिकोण प्रबल रूप में दिखाई पड़ता है। “नारी” की जमना भाग्यवादी का आधिक्य देखते हैं। वह अपने दुख का कारण भाग्य को ही स्वीकार कर महाजनों तथा अन्य सभी के अत्याचारों को चुपचाप सहती है। जब उसका पुत्र हल कर भी भाग्यवादी दृष्टि का विरोध करता है तब उस क्षण भी जमना भाग्य की हल देकर उसका मुख बन्द करना चाहती है। इसी प्रकार वृन्दावन तथा कुछ सीमा तक धर्माधीन भी भाग्यवाद के प्रभाव को स्वीकार कर लेता है। “गोद” में पार्वती शोभाराम, दयाराम, सभी भाग्यवादी रूप में दीख पड़ते हैं। पार्वती में तो इसका पराकाष्ठा है। तभी वह सब दुख सहती है पर किंचित मात्र भी विरोध नहीं करती।

1. Great Man of India—Edited by L. F. Roshbrook Page 506.

२. हिन्दी में डॉ० चण्डी प्रसाद जोशी, सप्तम प्रकाशन, १९६८-६९।

है। जैसे मनुष्य भाग्य का दास हो। भाग्य के सम्मुख मनुष्य नितान्त अशक्त और दुर्बल है। परन्तु गुप्तजी का लेखक इस विद्वान् का समर्थक नहीं था। गुप्तजी मनुष्य के निराशा और भाग्यवाद की कुंठा में जर्जर होने के विपरीत कर्त्तव्य और उत्साह में जीवन का महती आनन्द स्वीकार करते हैं। वे जीवन का आलोक कर्त्तव्य-परायणता और क्रियात्मक बुद्धि में अनुभव करते हैं। इसीलिए तो अन्त में शोभाराम भाग्यवाद के विपरीत कर्त्तव्य से संचालित होकर एक नया आदर्श उपस्थित करते हैं। मानवता को एक नया मार्ग देते हैं। शोभाराम का भाग्यवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जेहाद से ही कथानक में स्वस्थ वातावरण अवतरित हो पाता है, किशोरी, शोभाराम, पार्वती आदि के जीवन में आशा की किरणें फूटती हैं। यही तत्व "नारी" में भी ध्यातव्य है। "नारी" की जमना में भी भाग्यवादी के कारण पीड़ा का स्रोत फूटता रहता है, परन्तु हल्ली और जमना में भी कर्त्तव्य का नया आलोक आता है तो वे कुंठा त्याग आदर्श और नवीन दिशा के लिए निर्माण करते हैं। उनका जीवन नयी दिशा में उन्मुख हो जाता है। अतः भाग्यवाद के भरोसे कर्त्तव्यहीनता को प्रथम देने की प्रवृत्ति गुप्तजी की कृतियों में कदापि नहीं है।

गुप्तजी के उपन्यासों में नारी-मर्यादा का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। अंग्रेजों के शासन-काल में नारी-समाज को घर और पर्दे के अतिरिक्त कहीं स्थान नहीं था। पितृ कुल की सेवा तथा विवाहोपरान्त पतिगृह में समुलाल वालों की सेवा ही उनका मुख्य आदर्श बन गया था। वे मर्यादा की गहरी सीमा में आवद्ध हो गई थीं। इतनी मर्यादा के बावजूद अगर एक दिन भी किसी अज्ञात स्थान पर रह जाती या चली जाती (किसी मजबूरी के ही कारण) तो उनकी सारी मर्यादा और पवित्रता समाप्त मान ली जाती और इसके परिणाम स्वरूप उन्हें दारुण से दारुण कष्टों को झेलना पड़ता। नारी जैसे एक निर्जीव पात्र थी जिसका जीवन मात्र पुरुष के उपयोग के लिए बन गया था।^१ किशोरी मेले में भटक कर एक रात स्वयंसेवकों के कैम्प में रहती है और इसके फलस्वरूप उसे अगाध पीड़ा सहनी पड़ती है। शोभाराम से तय की हुई वादी भंग हो जाती है। उसे अनमेल विवाह के लिए भी तैयार होना पड़ता है। एक अनजान भूल के लिए मानों जैसे उसका जीवन काँटों की शय्या बन जाता है। अगर शोभाराम की आँखें नहीं खुलतीं और वह साहस से उसे नहीं अपनाता, उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता तब निश्चय ही किशोरी सदा-सदा के लिए नरक की अग्नि में तड़पती रहती, उसकी माँ दारुण व्यथा में जलती रहती, किशोरी को अनमेल विवाह के अभिशाप से ग्रस्त रहना पड़ता, एक भ्रष्ट पुरुष की पत्नी बनकर मानसिक यातना सहनी पड़ती। गुप्तजी ने समाज में प्रचलित नारी के सम्बन्ध में ऐसे रुढ़ विश्वास का विरोध किया और समाज की आँखों में उँगलियाँ डालकर सोचने-समझने को विवश किया है। "गोद" में लेखक ने इस तथ्य को कुशलता और मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। "नारी" में भी नारी की मर्यादा और शील की समस्या है। जमना अपने पति के अनजान देश में चले जाने के बाद कई

१. महादेवी कृत "स्मृति की शृंखला", और "अतीत के चलचित्र" देखें।

वर्षों तक उसके आने की प्रतीक्षा करती है, किसी दूसरे पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध से मुकरती रहती है। अकेले छोटे पुत्र को लेकर कठिन यातना की अग्नि में जलागती रहती है, परन्तु पुनर्विवाह की कल्पना तक नहीं करती। उसका छोटा पुत्र हल्ला चाहे विप अपने सामाजिक संस्कार के कारण अजीत के प्रति उसका झुकाव देख, पुनर्विवाह विनय है विरोध करता है। लेकिन झूठी कल्पना से, यथार्थ से पलायन से मनुष्य कब मुक्त सकता है। अजीत से प्रभावित होकर तथा शीतल छाया के लिए जमना का अजीत से अधिक पुनर्सम्बन्ध को औचित्यपूर्ण ठहराकर लेखक ने पुनर्लंगन को, प्रेम विवाह को उपन्यास ठहराया है। सुखी जीवन पुरुष-नारी के सार्थक सम्बन्ध पर ही निर्भर करता प्रमुखता पुरुष नारी के परस्पर विश्वास और सहयोग से जीवन का चक्र सहज ढंग से चलाई गई है, आन्तरिक सुख उपलब्ध होता है। जमना अपने पति वृन्दावन के आचरण से नारी करने में हो कर जब अजीत के प्रेमपूर्ण व्यवहार, सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अपनत्व स्थापित कर है तब उसके जीवन में सर्वथा नवीन अध्याय आरम्भ होता है। स्पष्टतः गुप्त पति-पत्नी के विश्वासपूर्ण, सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण स्वीकार कर गुप्त प्रतिष्ठा को औचित्यपूर्ण माना है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द और गुप्तजी में साम्य प्रेमचन्द ने भी नारी मर्यादा को स्वीकार किया है। परन्तु जहाँ प्रेमचन्द के नारी-विद्रोह कर बैठते हैं, उदाहरणार्थ “प्रतिज्ञा” की सुमित्रा, “सेवासदन” की सु “निर्मला” की सुधा, “रंगभूमि” की इन्दु, वहाँ गुप्त की नारियाँ उस तीव्रता ग्रहण नहीं करती, यद्यपि वे मर्यादित ढंग से उठ खड़ी होती हैं तथापि उनमें है, नियंत्रण है।

प्रसंगवश गुप्तजी ने दहेज प्रथा और अनमेल विवाह का भी विरोध किया। अनमेल विवाह का प्रसंग “गोद” में है जब दयाराम और शोभाराम से निराश हो कौशल्या अपनी पुत्री का अनमेल विवाह करने को बाध्य होती है। उस क्षण मा विकल हो फूट पड़ता है। वह इसे स्वीकार करना नहीं चाहकर भी दहेज प्र कारण, अपनी गरीबी से लाचार होकर, अपनी पुत्री किशोरी का गंजेड़ी वर से कि रचाने को तैयार होती है। उस समय उसके सम्मुख दूसरा कोई विकल्प नहीं रह था। इस प्रसंग के अंकन के सन्दर्भ में गुप्तजी ने उपर्युक्त दोनों तत्वों को अनु ठहराया है, दहेज तो समाज में ऐसा कोढ़ है जिससे न जाने कितने निरीहों का सर्व होता है। अनमेल विवाह की चक्की में आजतक न जाने कितने प्राणों का शोषण है। परन्तु भाग्य के चक्र से गुप्तजी की किशोरी इन दोनों अभिशापों से बच जाती और शोभाराम से उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है। प्रेमचन्द ने दहेज प्रथा भी उग्रता से चित्रित किया है। “सेवा सदन” में दहेज-प्रथा के अभिशाप से ही के समस्या उत्पन्न होती है। इसी प्रकार “निर्मला”, उपन्यास में दहेज-प्रथा के ही अनमेल विवाह सम्पन्न होता है जिसके दुष्परिणाम स्वरूप निर्मला की मृत्यु है। “निर्मला” में निर्मला के मुख से निकले इन शब्दों में अनमेल विवाह के दार्शनिक अभिव्यक्ति है—“बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ। अगर जो

सम्बन्ध में जगती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा—चाहे क्वारी रखियेगा, पुत्र हल्ले चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मड़िएगा, इतनी ही आपसे पुनर्विवाह वित्त है।”^१

अन्त में कहा जा सकता है कि गुप्तजी में किसी राजनैतिक और विशिष्टवाद से अधिक मानवतावादी विचार-धारा के प्रतिष्ठापन की चेष्टा है। लेखक ने अपने उपन्यासों को किसी भी राजनीति से रंगने की बजाय मानवतावादी उदार चेतना को प्रमुखता दी है। “गोद” में शोभाराम और किशोरी का विवाह तथा उसका अपने भाई के घर लौटने और स्नेह पाने में, “नारी” में जमना का नवीन अध्याय में प्रवेश करने में इसी उदार मानवतावादी चेतना का हाथ है।

डॉ० केदारनाथ लाभ

डॉ० रामकुमार वर्मा

“अपने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कविताएँ लिखी हैं वे उन क्षणों की रेखाएँ हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है—ऐसे जीवन की जो अत्यन्त पवित्र क्षण से उत्पन्न हुआ है।”^२ अपनी काव्य-प्रक्रिया संदर्भ में कहे गए डॉ० रामकुमार वर्मा के उक्त कथन में वेद्विज्ञक मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ : “और ऐसे ही अत्यन्त पवित्र क्षणों की रेखाओं के ताने-बाने से मेरे (डॉ० रामकुमार वर्मा के) व्यक्तित्व की झीनी-झीनी चादर भी बीनी गई है।”

डॉ० वर्मा के अध्ययन का परिवेश बड़ा ही व्यापक है। वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, फ़ारसी, मराठी और रूसी आदि भाषाओं के आचार्य हैं। छन्द शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण, इतिहास, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर उनका आधिपत्य है। सुतरां, उनके साहित्य में सर्वत्र इनका कलात्मक निदर्शन उपलब्ध होता है। उनको भाग्यवादिता के मूल में, मेरे जानते, ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन एवं उसमें विशेष अभिरुचि भी एक महत्वपूर्ण कारण है। यदा-कदा वे स्वयं भी अपनी कुंडली देखते रहते हैं तथा ज्योतिषाचार्यों द्वारा व्यक्त भविष्य-कथन में आस्था भी प्रदर्शित करते हैं। उन्हें एक ज्योतिषी ने पहले ही बता दिया था कि उन्हें पद्मभूषण की उपाधि प्राप्त होने का योग है।

डॉ० वर्मा का जन्म भारतवर्ष के हृदयस्थल—मध्यप्रदेश—के सागर जिले में, नवम्बर, सन् १९०५ ई० में हुआ। अपने समय की विशिष्ट कवयित्री, अपनी माता श्रीमती राजरानी देवी की स्नेहिल छाँह में जीवन की प्रारम्भिक शिक्षा मिली। बचपन में ‘कुमार’ नाम से सम्बोधित डॉ० वर्मा अपनी कक्षाओं में सदैव प्रथम जाते

१. “निर्मला”,—पृष्ठ-१८६।

२. आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा : मेरा दृष्टिकोण : पृष्ठ—३।

१५० :

रहे। एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की। ईश्वर प्रति आस्था शैशव काल में ही, पारिवारिक परिवेश के कारण जमी। महीनों तक पूरी एकाग्रता एवं तन्मयता से शिवार्चन किया था और साधना-समाप्ति की राति शिव ने स्वप्न में उन्हें अपना दिव्य दर्शन भी दिया था। गंगा, गरल और नेत्र (सर्प) से तीन बार उन्हीं शिव ने उनकी रक्षा करते हुए अपने उस वचन का निष्कर्ष किया जो वरदान स्वरूप उन्हें दिया था—‘मैं मृत्यु से बचा तो नहीं सकता परन्तु तुम को टाल अवश्य सकता हूँ।’ महाकाल ने डॉ० वर्मा को तीन-तीन बार अकाल का कवलित होने से बचाया है।

डॉ० वर्मा जीवन के आरंभिक दिनों में कभी अभिनेता होना चाहते थे, कला राज नेता। किन्तु उन्हें होना था साहित्य-नेता। सो द्विवेदी कालीन अनेक नाटकों में अभिनय कर तथा १९२२ ई० के असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर भी वे साहित्यिक लोक का एक देदीप्यमान आलोक-स्तम्भ बन गए। द्विवेदी-युग के आकाश में प्रकाश की पीयूषवर्षी विभा लेकर आने वाले ‘कुमार’ छायावादी काव्य-गगन के ज्योतिर्नक्षत्र बन गए।

अध्यापन-वृत्ति आलोचना-प्रधान होती है। कालान्तर में अध्यापक प्रवृत्ति से भी आलोचक हो जाता है। किन्तु डॉ० वर्मा अध्यापक होते हुए भी शुष्क आलोचना मात्र नहीं रहे। दसवीं कक्षा में ही उनके अंतःकरण में काव्य की जो सख्त फूटी वह सदानीरा की भाँति दिनानुदिन फैलती-फूलती ही चली गई। भावयित्री कारयित्री प्रतिभा का ऐसा मणि-कांचन सुयोग विरले अध्यापक में ही पाया जाता है। वे कवि हैं, नाटककार हैं, समीक्षक हैं, साहित्येतिहासकार हैं, निबन्ध-लेखक हैं और कुशल एवं ललित वाग्मी। उनका हर रूप अपने आप में मनोहर कालजयी है।

‘वीर हमीर’ (१९२२ ई०) डॉ० वर्मा का प्रथम काव्य-ग्रन्थ है। निराला की ‘चित्तोड़ की चिता’ (१९२६ ई०), ‘अंजलि’ (१९३० ई०), ‘अभिशाप’ (१९३१ ई०), ‘निशीथ’ (१९३५ ई०), ‘चित्ररेखा’ (१९३६ ई०), ‘जोहर’ (१९४१ ई०), ‘आकाश गंगा’ (१९५७ ई०) आदि काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ‘एकलव्य’ महाकाव्य का प्रणयन उनकी निरंतर काव्य-साधना का जीवंत परिचय देते हैं।

अपने कवि-रूप में डॉ० वर्मा मुख्यतः एक सफल सौम्य गीतकार हैं। उनके गीतों में विद्यापति की तलस्पर्शी सुकुमार-सरसता, कबीर की रहस्यमूलक अमोघ भूत्यात्मकता, सूर का लालित्य एवं संगीत प्रवणता तथा मीरा की कारुणिकता का विलक्षण संयोग है। यही कारण है कि इनके गीत हमारे प्राणों का स्पर्श कर मात्र झंकृत ही नहीं करते वरन् अलौकिकता की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिव्यानुभूति मी प्रदान करते हैं।

डॉ० वर्मा की कविताएँ मुख्यतः रहस्यपरक हैं। कबीर के रहस्यमूलक पद्यों के प्रचुर रूप में प्रभावित हैं। सुफियों का भी उन पर प्रभाव है। किन्तु, इसका अर्थ नहीं कि वे अनुभूति के क्षेत्र में भी उनके ऋणी हैं। यह तो उनकी आत्मोपलब्धि

डॉ० रामकुमार वर्मा : १५१

है। आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता, आराध्य के प्रति ऐक्य-भाव तथा आत्मा और आराध्य में दाम्पत्य-मूलक निश्छल प्रेम की विकसनशीलता—रहस्यवादी कविता के ये तीन प्रधान तत्व होते हैं। डॉ० वर्मा की कविताओं में ये तीनों ही तत्व हार में तार की भाँति अनुस्यूत हैं। उनकी स्वीयोक्ति है—‘रहस्यवाद की कविता इन तीनों तत्वों को लेकर एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है। यह आत्मा की सबसे पवित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण में यही रहस्यवाद रहा है और इसी में मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।’^१ कवि को अपने परिवेश के प्रत्येक अवयव में अपने प्रियतम के दर्शन हो जाते हैं—

कौन कहता है कि तुम अज्ञात हो !

मैं तुम्हें पहिचान लूँगा, दिवस हो या रात हो !

(आकाश गंगा : पृष्ठ ४३)

अथवा

यह तुम्हारा हास आया।

इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?

(आधुनिक कवि : भाग ३ पृष्ठ ३४)

रहस्यवादिता के अतिरिक्त डॉ० वर्मा की कविताओं में नियतिवादिता-भाग्यवादिता और निराशा के स्वर यदि एक ओर गूँजते दीख पड़ते हैं तो दूसरी ओर मानव के प्रति संवेदना, राष्ट्रीय चेतना, ऐतिहासिकता एवं जीवन की गत्यात्मकता तथा सक्रियता के स्वर भी स्फुट दीखते हैं। एक ओर उनका मानव की नश्वरता से उत्पन्न यह भाव है—

“क्या शरीर है ? झुंक बूल का थोड़ा-सा छवि जाल।

उस छवि में ही छिपा हुआ है, वह भीषण कंकाल ॥”

(अभिशाप : पृ० ८)

अथवा

भाग्यवादिता की यह अनुगूँज है—

भाग्य की रेखा हमारी, है नदी के कूल-सी

गति रही अनुकूल तो लहरें उठीं प्रतिकूल-सी

और

भाग्य ने मुझको छला है !

दोषित घटती जा रही है, चन्द्र की जैसे कला है !

(आकाश गंगा : पृ० ५४ और ४६)

तो दूसरी ओर उनकी यह भी आकांक्षा है कि—

जीवन न दीन बने

विरह के क्षण में मिलन-सा चिर सवीन बने।

(वही : पृ० २२)

१. आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा : मेरा दृष्टिकोण : पृ० १४।

१५२ : आलोचना

नाद गीत का अनिवार्य तत्व है—‘न नादेन विना गीत’ (संगीत रत्नाकर) तदुपरान्त छन्द और लय का स्थान है। “यदि काव्य का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियों से अविच्छिन्न है तो नाद और उसके साथ छन्द भी साहित्य की शैलियों अन्तर्गत अपना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा।”^१ डॉ० वर्मा काव्य-भूमि पर उन भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य के समर्थक हैं। अतएव, भाव-क्षेत्र जहाँ उन्होंने प्रकृति की विराट् सत्ता में ईश्वरीय शक्ति की अनुभूति, कल्पना और रहस्यमय सौन्दर्य का अवलम्बन ग्रहण किया है वहीं, शिल्प-क्षेत्र में नादात्मकता वर्ण-लालित्य, छन्दोबद्धता, रूपकात्मकता एवं अलंकरणशीलता का भी मुक्त भाव आश्रय लिया है। स्वभावतः उनके गीत असीम-से-ससीम को जोड़ने वाली कौशल कड़ी हो गए हैं।

‘एकलव्य’ डॉ० वर्मा का एकान्त महाकाव्य है। इसमें उनके चिंतन-अध्ययन विशदता के साथ ही कल्पना की प्रखरता तथा शिल्प की सुघरता के अनुपम दृश्य होते हैं। यह महाकाव्य भारतीय महाकाव्य की पारंपरिक परिभाषा का स्पर्श करे हुए भी अनेक अर्थों में नवीन प्रतिमान प्रस्तुत करता है। इसका नायक उच्चकुल संभ्रान्त होकर एक अंत्यज है। ममता सर्ग को छोड़कर शेष तेरह सर्गों में पन्द्रह वर्णों का अमित्राक्षर छन्द का इसमें प्रयोग हुआ है। सर्गान्त में छन्द परिवर्तन है। छन्दों का प्रवाह और स्फूर्ति सर्वत्र परिलक्षित होते हैं। गीतिमयता, नाटकीयता एवं मनोवैकल्यनिकता के संगम पर चरित्रोत्कर्ष का जो सूक्ष्म रूपायन इसमें हुआ है वह इसे हिंदी महाकाव्यों में महार्घता प्रदान करता है। प्रकृति-चित्रण एवं मार्मिक प्रसंगों की पहचान तथा उनकी सम्यक् अभिव्यंजना-शक्ति कवि के वैशिष्ट्य हैं। एकलव्य-जननी का वेदना को जिस रागात्मकता से रंजित कर कवि ने वाणी दी है वह सहज ही चित्रा वर्जक हो गई है।

डॉ० वर्मा स्वयं शिव-भक्त हैं और शैव दर्शन से अनुप्राणित। स्वभावतः एकलव्य का भव्य मंगलाचरण शिव-स्तव से होता है—

“वाणी दो हे नीलकण्ठ ! हे किरात-कामु की
गूँज उठे व्योम वन-प्रान्त गिरि कन्दरा
शब्द-वेध की अलक्ष्य लक्ष-लक्ष ध्वनि में
नृत्य करे काव्य और काव्य में वसुन्धरा ।”

(एकलव्य : स्तव १)

शिव के डमरू-नाद से चौदह सूत्रों का उद्भव हुआ है। ‘एकलव्य’ में, इसी चौदह सर्ग हैं। एकलव्य अपने को चौदह सूत्रों का अन्तिम वर्ण मानता है—

‘आप गुरु होंगे, शिष्य मैं हूँ चिर काल से
वाणी आपकी है शम्भु-डमरू-निनाद-सी
और मैं हूँ अन्त्यवर्ण सूत्र प्रत्याहार का ।’

प्रत्याहार के अन्तिम सूत्र ‘हल’ की भाँति ही तो एकलव्य भी अन्त्यवर्ण का

अति तुच्छ एवं हीन प्राणी है। समाज में उसका स्थान कितना लघु है, कितना उपेक्षणीय, यह प्रत्याहार के अन्तिम सूत्र से सहज ही स्फुट हो गया है। यहाँ गुरु-शिष्य का 'चिर-काल से' सम्बन्ध भी ध्यातव्य है। जीव की त्रिकुटी (इसे कैलाश भी कहा जाता है) पर शिव अवस्थित रहते हैं। जीव और शिव का शाश्वत अद्वैत सम्बन्ध है। 'यत्र तत्र जीवस्तत्र तत्र शिवः।' शिव ही जीव के गुरु भी होते हैं क्योंकि उनकी कृपा से ही जीव को अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है। और प्रत्यभिज्ञा ही शिवोपलब्धि अथवा मुक्ति है। तुलसी ने इसी से शिव को अपना गुरु माना है।^१ स्वभावतः—

“गुरु द्रोण चौंक उठे—यह शिष्य कैसा है
है तो शूद्र, किन्तु जैसे निष्कलंक द्विज है
बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है
जैसे क्षणित है विशाल विषधर का।”

यहाँ भी कवि ने द्विज और विषधर जैसे द्विलिङ्ग शब्दों के माध्यम से जीव-शिव के अद्वैत रूप की ओर संकेत किया है। द्विज ब्राह्मण ही नहीं बालेन्दु भी है जो शिव के ललाट पर शाश्वत शोभित रहता है तथा विषधर सर्प ही नहीं जो शिव का ग्रीव-हार है वरन् स्वयं शिव (गरल ग्रीव) भी है। जीव और शिव की अद्वयता जिस कलात्मकता से कवि ने यहाँ प्रतिष्ठित की है वह तो द्रष्टव्य है ही साथ ही इसके माध्यम से उसने एकलव्य के प्रति अपनी संवेदना उँडेलकर उसे सामान्य मानव की संकित में प्रतिष्ठित कर दिया है। दर्शन की दृष्टि-कोर को कला के काजल से आज-कर प्रस्तुत करने के कारण ही एकलव्य की रसवन्ता में कहीं व्याघात नहीं उत्पन्न होता।

भाषा की अभिनव-भंगिमाओं, शब्दों के लालित्य, अर्थ-गौरव, रस-प्रवणता, व्यंजना-प्राचुर्य एवं विलक्षण उपमान-उत्प्रेक्षा की योजनाओं के कारण एकलव्य का काव्य-शिल्प हिन्दी के प्रायः सभी आधुनिक महाकाव्यों के अनुगत सिद्ध कर देता है। जिन्हें एकलव्य की उपमान-योजना में कवि के पाण्डित्य-प्रदर्शन की गन्ध मिलती है वे सम्भवतः तीव्र घ्राण-शक्ति को ही काव्य-बोध का प्रमाण मानते हैं, न कि उस संस्कार को जो अनुभूति, संवेदना एवं अध्ययन-आवेष्टन से निर्मित होता है।

डॉ० रामकुमार वर्मा के कवि व्यक्तित्व से उनका नाटककार रूप कम आकर्षक नहीं है। सच तो यह है कि उनके दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक हैं जो सम्मिलित रूप से उनके व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करते हैं। उनके काव्य में नाटकीय शिल्प का प्रयोग हुआ है तो उनके नाटकों में उनका कवि-रूप भी उतना ही मुखरित हुआ है। यद्यपि उन्होंने 'विजय-पर्व', 'कला और कृपाण' तथा 'नाना फड़नवीस' आदि अनेकांकी सांस्कृतिक-ऐतिहासिक नाटकों का भी प्रणयन किया है तथापि वे मुख्यतः हिन्दी एकांकी कला के जनक एवं पोषक-रूप में अमर रहेंगे। हिन्दी में एकांकी नाटकों को जो विस्तार, प्रियता एवं कलात्मकता उन्होंने प्रदान की है वह किसी अन्य ने नहीं।

१. गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबन्धु दिन दानी ॥

१५४ : आलोचना

उनके एकांकियों की संख्या शताधिक हैं। 'बादल की मृत्यु' (१९३० ई०) उनका प्रथम एकांकी है। यह विश्वमित्र में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर 'दस मिनट' 'नहीं का रहस्य', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'चम्पक' और 'एक्ट्रेस' आदि एकांकी प्रकाशित हुए। डॉ० वर्मा के एकांकी अनेक कोटियों में विभाज्य हैं। 'एक्ट्रेस' को 'रजनी की रात' सोद्देश्य एकांकी हैं तो 'नहीं का रहस्य', 'एक तोले अफ्रीम की कोमल' और 'जीवन का प्रश्न' समस्यामूलक एकांकी हैं। 'बादल की मृत्यु' में हास्य-व्यंग्य का प्राधान्य है तो 'चारुमित्रा' और 'दस मिनट' में जनपदीय भावों की अभिव्यंजना है। 'प्रतिशोध', 'भरत का भाग्य' और 'शैल शिखर' पौराणिक एकांकी हैं तो 'पृथ्वीराज की आँखें', 'शिवाजी' और 'दीपदान' याथार्थिक भाव-शिला पर निर्मित हैं। डॉ० वर्मा के सद्यः प्रकाशित एकांकी-संग्रह 'मयूर पंख' में इक्कीस बहुरंगी एकांकी हैं जो पौराणिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कोटियों में विभक्त हैं।

डॉ० वर्मा के एकांकियों में उन प्रभावों का परिदर्शन होता है जो उन्होंने भारतीय नाटककारों के अतिरिक्त शाँ, इव्सन, मैटरलिक और चेखव आदि से ग्रहण किये हैं। उनमें पौरस्त्य एवं प्रतीच्य नाट्य शिल्पों का समन्वय है। वे अपने एकांकियों में संकलन त्रय की सफल संयोजना के साथ ही एक ही दृश्य में वातावरण के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देते हैं जो उनके एकांकी-शिल्प के वैशिष्ट्य हैं। मानव मनोविज्ञान का विश्लेषण कथोपकथन की चारुता एवं घटनाओं के विकास के साथ करते हैं डॉ० वर्मा सिद्ध हैं। अपने एकांकियों में, चाहे वे पौराणिक हों या ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक हों या सामाजिक "वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्मसंयम एवं क्षुद्रता से महानता का अन्वेषण करते हैं समर्थ हुए हैं—और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है।"^१ वस्तु संगठन एवं शिल्प-सौष्ठव के औत्कृष्ट्य के कारण हैं डॉ० वर्मा महाकवि भास की समकक्षता प्राप्त करते हैं।

डॉ० वर्मा का समीक्षक एवं निबंधकार रूप भी कम उदात्त एवं उर्जस्वी नहीं है। हिन्दी के साहित्येतिहासों में उनका 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८ ई०) एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसमें आदिकाल से भक्तिकाल तक की हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का विशद एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। वह न तो मात्र कवियों का परिचय प्रस्तुत करता है न किसी काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियों का संकेत और न ही कुछ कवियों की ग्रन्थावलियों का मात्र उल्लेख करता है प्रत्युत इन सबकी तटस्थ एवं समग्रगत रूप से आलोचना भी प्रस्तुत करता है। "सामाजिक तथा धार्मिक शक्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के आर्य युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है।"^२ इसी ग्रन्थ पर डॉ० वर्मा को नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९४० ई० में डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की थी।

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४७३।

२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४७३।

डॉ० रामकुमार वर्मा : १५५

डॉ० वर्मा ने कवीर के पदों का प्रथम शुद्ध पाठ प्रस्तुत कर उनके रहस्यवाद एवं योगाचार की मार्मिक एवं चिन्तनपूर्ण व्याख्या भी की है। इस दृष्टि से 'कवीर का रहस्यवाद' उनकी महत्तम कृति है। 'साहित्य शास्त्र' में काव्य, कला एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर उनके विचारोत्तेजक एवं वस्तुनिष्ठ निबंधों का संकलन है। उनके निबंधों में विचारों की उदात्तता, अध्ययनशीलता, अन्तर्दृष्टि की गहनता एवं वस्तुनिष्ठता के साथ भाषा का लालित्य, काव्यमय लयात्मकता, विवक्षित एवं चित्रधर्मिता अर्द्धनारीश्वर की भाँति विजड़ित हैं।

डॉ० वर्मा एक कुशल एवं सफल प्राध्यापक हैं। उन्होंने अपने अधीन बीसियों छात्रों का, भाषा एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर, शोध-निर्देशन किया है तथा अनेक ग्रन्थों का सम्पादन-संशोधन कर उनकी गवेषणात्मक भूमिकाएँ लिखी हैं। वे आज भी साहित्य-साधना में रत हैं। 'नाना फड़नवीस' एवं 'मयूरपंख' उनके हाल के नाट्यग्रन्थ हैं। राष्ट्रीय सीमा पर हुए चीन एवं पाकिस्तान के अयाचित बर्बर आक्रमण की प्रतिक्रिया उनकी हाल की कविताओं में स्फुट हुई है जिनमें प्रखर राष्ट्रीय चेतना, इतिहास-प्रियता एवं कल्पनाशीलता के सहज दर्शन होते हैं। सामान्यतया सामयिक या ऐतिहासिक महत्त्व की कविताओं में कलात्मकता या काव्यसौन्दर्य का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाता किन्तु इस दृष्टि से भी उनकी कविताएँ महनीय एवं स्तुत्य हैं। अक्टूबर १९६५ ई० के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित 'जय जवान' उनकी ऐसी ही कविता है जिसमें अतीत और वर्तमान कला के क्षितिज मिलते हैं। सामयिक कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य कविताओं में आज भी पूजा की पवित्रता रूपायित हो जाती है। वे इसे स्वीकारते हुए कहते हैं—“अपने काव्य-जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है।” हिन्दी-जगत् को डॉ० वर्मा से अपने विकास एवं विवर्धन की अनन्त सम्भावनाएँ हैं—यह असंदिग्ध है।

नवल किशोर

इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक

: १ :

हिन्दी कथा-साहित्य के मनोविज्ञानाक्रान्त दौर में मनोविकारग्रस्त जितने विलक्षण पात्र श्री इलाचन्द्र जोशी ने सिरजे, उतने किसी अन्य उपन्यासकार ने नहीं। उन पर मनुष्य को स्वभावतः कुत्सित, कुटिल और पाशविक चित्रित करने का आरोप भी इसी कारण लगाया गया।^१ लेकिन जोशीजी ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को भी

१. आधुनिक कवि, राजकुमार वर्मा, मेरा दृष्टिकोण, पृ० ३।

२. विवेचना—आलोचना में आलोचना, पृ० ३।

१५६ : आलोचना

अस्वीकार नहीं किया, और अपनी मनोवैज्ञानिक कला-दृष्टि का लक्ष्य व्यक्ति 'समाजघाती' और 'ऐकान्तिक' 'अंह' पर 'निर्भय प्रहार' करना घोषित किया था। प्रगतिवाद के उस जमाने में अपनी इसी समाज-चिन्ता से प्रेरित होकर उन्होंने मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के समन्वय की चेष्टा की, लेकिन यह समन्वय-चेष्टा कलात्मक विफलता का कारण बन गई; क्योंकि जहाँ 'अज्ञात चेतना के पाताल-लोभ' में स्थित अतल नरक' का विश्लेषण उनकी सृजन-चेतना का अंग होने के कारण उन्होंने वैशिष्ट्य को प्रकट करता था [जोशीजी ने स्वयं नवीन लेखकों को परामर्श देते हुए लिखा है, "केवल वे ही बातें पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती हैं, जो कठोर जीवन के वास्तविक अनुभवों की चोटों के फलस्वरूप दीर्घ-साधन द्वारा लेखक के अन्तर से व्यक्त हुई हों"] वहाँ उनका 'सामाजिक क्रान्तिवाद' पर आरोपित मूल्य ही रहकर दिवास्वप्न के संसार की सृष्टि कराता है। इसी कारण जहाँ उपन्यासकार का मुख्य संकल्प 'प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक अस्त्र से अपने नाक के अन्तर्मन में दबी पड़ी सभी विकृतियों को अत्यन्त निर्ममता से चीरकर उसका यथार्थ रूप, दिखाना है वह 'प्रेत और छाया' जैसी विशिष्ट कृति दे सका है और जहाँ उसके अन्तर्जीवन की प्रगति के साथ बहिर्जीवन की प्रगति के सामंजस्य-निरूपण के लिए रचना की है 'जिप्सी'-जैसी निकृष्ट औपन्यासिक पुस्तक लिखी है। अन्तिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'जहाज का पंछी', (प्रका० १९५५ ई०) की सृजन-प्रेरणा स्वातन्त्र्योत्तर भारत की वास्तविक जीवन-स्थितियों का चित्रण है, उसमें जोशीजी ने "मनुष्य की कठिनाइयों और मुसीबतों का मूलकारण उनके अन्तर्मन की गुत्थियों में न खोजकर समाज-व्यवस्था और प्रचलित मानव-सम्बन्धों में खोजा है जिनका आधार व्यक्तिगत अर्थ संचय और शोषण है",^३ अतः 'जहाज का पंछी' एक श्रेष्ठ उपन्यास बन सका है—किन्तु एक सीमा तक ही, क्योंकि लेखक के 'सामाजिक आदर्शवाद' पर आरोपित और स्वप्निल समाधानों द्वारा यथार्थ-बोध को विसंगति दे दी है।

: २ :

जोशीजी के पहले के विचारों के अनुसार फ्रायड का मनोविश्लेषण 'मानव मन के सघन अन्धकारमय अन्तर्लोक में प्रकाश डालकर बाह्य-जगत् के साथ उसकी संगति का स्वास्थ्यकर उपाय हमें सुझाता है,' लेकिन आज वे फ्रायडवाद के घोषित निन्दक हैं [उन्होंने फ्रायड को 'मानव विद्वेषी आचार्य' और मनुष्य की जय-यात्रा के बीच-बीच आने वाले अन्धकार के घोर निराशापूर्ण युगों की शृंखला में आगत एक ह्रासोन्मुख युग के 'फाल्स प्रॉफेट' (नकली भविष्य-दर्शक) की संज्ञा दी है।]^४ इसके प्रकार पहले उनकी दृष्टि में "बाह्य और अन्तः स्थित सभी प्रकार के जीवन-चक्रों

१. विवेचना—आधुनिक कथा-साहित्य का क्रम-विकास और नयी दिशा।

२. विवेचना—नवीन लेखकों के प्रति निवेदन।

३. आस्था और सौन्दर्य : डॉ० रामविलास शर्मा।

४. धर्मयुग—१९ मई ६४, २० अगस्त ६४, २० फरवरी ६५।

इलाचन्द्र जोशी 'वृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक : १५७

की मूल परिचालिका शक्ति विश्वमानव की वह सामूहिक अज्ञात चेतना है" जो अति-प्राचीन पाशविक-वृत्तियों का कोप है [अतः उन्होंने मानव-जगत् में आपेक्षिक स्वर्ग की स्थापना हेतु 'बाह्य जीवन तत्वों के साथ उन नारकीय (किन्तु मूल) जीवन तत्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित' करना आवश्यक माना था], लेकिन आज वे मानवीय अवचेतना के गहन रहस्यमय विशाल सागर की गहराई में छिपे रत्नों की बात करते हैं (...अब चेतना के घोर अन्धकार-पूर्ण तत्वों को उसी के उज्ज्वल और चिर मांगलिक तत्वों के प्रकाश में परखने वाली एक नई और स्वस्थ मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय भी हम पा रहे हैं।)^१ इस प्रकार जोशीजी की मनोवैज्ञानिक नियतिवाद की धारणा का पर्यवसान अवचेतना की एक रहस्यवादी परिकल्पना में हुआ है। उनकी आज की दृष्टि से भी देखा जाय तो उनके उपन्यासों में अवचेतना के सागर के ऊपरी स्तरों में तैरते नाना प्रकार के भयावने मगरमच्छों का ही चित्रण हुआ है। उन पर फ्रायड की अपेक्षा एडलर का प्रभाव अधिक है। जैसा कि हम कह चुके हैं वे अपनी औपन्यासिक रचनाओं में मनोविकृतियों का चित्रण सामाजिक हित की दृष्टि से लेखन का आदर्श मानकर करते हैं। दुर्बल स्वभाव नायक के प्रति सहानुभूति की वृजुवा मानववादी और शरद्चन्द्रीय मान्यता के अस्वीकार करते हुए चरित्रहीन नायक की अवतारणा को उन्होंने 'प्रगतिशीलता की पहली शर्त' बतलाया है, लेकिन उसके लिए यह आवश्यक भी माना है कि "उपन्यासकार का उद्देश्य उस चरित्रहीनता को महिमान्वित करने का अथवा चरित्रहीनता को केवल चरित्रहीनता के लिए चित्रित अथवा विश्लेषित करने का नहीं बल्कि दुश्चरित्रता के दुष्ट कीटाणुओं के विश्लेषण और परख द्वारा उन्हें जड़ से नष्ट करने का हो।"^२ जोशीजी के इस रचनात्मक उद्देश्य की अभिज्ञता से हम यह स्वतः सिद्ध नहीं मान सकते कि उनकी कृतियों में वे अभाव नहीं हैं जो एक मनो-विज्ञानवादी लेखक की रचनाओं में मिलते हैं—उनमें वे अभाव तो हैं ही इसके अति-रिक्त मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के उस प्रयोगात्मक शिल्प का भी अभाव है जिसने उपन्यास को एक अपूर्व समृद्धि दी है।

मनोविज्ञानवादी लेखकों की परम्परा में जोशीजी ने संकल्पहीन मनुष्य का चित्रण किया है—ऐसा मनुष्य जो विकृतियों से अभिज्ञ होकर भी अपनी मनोग्रन्थियों से शासित निरुपाय व्यक्ति है। जोशीजी का मानव-चरित्र का अध्ययन आरम्भ से ही मनोविज्ञान शास्त्र पर एकान्त रूप से अवलम्बित नहीं है, उन्होंने अपनी दृष्टि का भी उपयोग किया है, अतः मात्र इडिपस-ग्रन्थि, आत्म-रूति, हीन-भाव आदि मनोवैज्ञानिक सूत्रों में उनके पात्रों को आवद्ध कर देखने से उनके कृतित्व को नहीं समझा जा सकता।^३ लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि उनकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से शासित रही है।^४ वे जिन पात्रों का निर्माण करते हैं वे वास्तविक जीवन से नहीं

१. धर्मयुग—२० फरवरी ६६।

२. विवेचना—आधुनिक उपन्यास का दृष्टिकोण।

३. धर्मयुग १५ दिसम्बर १९६३, धर्मयुग १३ जून १९६४ (दृष्टव्य : जोशीजी के स्वयं के विचार)।

४. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष—शिबदान सिंह चौहान (पृ० १६१-६२)।

१५८ :) आलोचना

लिए गए हैं, वे मनोवैज्ञानिक लेखक की कल्पित 'केस-हिस्ट्रीज' हैं। 'धृष्णामयी' लज्जा, 'संन्यासी' का नंदकिशोर, 'पदों की रानी' की निरंजना, 'प्रेत और छा' का पारसनाथ, 'निर्वासित' की नीलिमा, 'मुक्तिपथ' की प्रमीला—ये सारे पात्र का ग्रन्थियों को लेकर जीते हैं। 'लज्जा' का राजू 'संन्यासी' की जयन्ती, 'पदों की रानी' की शीला, 'निर्वासित' का धीराज जान-बूझकर मृत्यु का वरण करते हैं—वे मृत्यु कामना से बाधित हैं। 'जिप्सी' में उन्होंने मनिया के रूप में एक ऐसा पात्र देना चाहा है जो आरम्भ में अन्य व्यक्तियों की दृढ़तर इच्छा-शक्ति की वश्या (हिप्नोटाइज्ड) रहती है लेकिन अन्त में अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर एक समाज सेविका बन जाती है—इस तरह एक स्वतन्त्र औपन्यासिक पात्र न रहकर लेखक की आदर्शात्मक कल्पना को चरितार्थ करती है। 'जहाज का पंछी' में वे मनोवैज्ञानिक कथा-लेखन का संकल्प छोड़ देते हैं, फिर भी वहाँ अनावश्यक रूप में एक पागलखाने प्रसंग लाये हैं, लेकिन पागलपन को अब वे सामाजिक सन्दर्भ में (पति द्वारा परित्यक्त पागल-स्त्री, आर्थिक परेशानियों से टूटा विक्षिप्त व्यक्ति...) देखते हैं।

: ३ :

जोशीजी ने दुर्बल स्वभाव के व्यक्तियों को कथानायक बनाकर मनोवैज्ञानिक से पीड़ित व्यक्ति-चरित्रों का निर्माण करते हुए मानवमन की गहराइयों के चित्रण की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास को सम्पन्नता दी थी। आलोचकों ने इसी कारण उनको 'विकृत और विरूप प्राणियों' को ही अपनी कला-सृष्टि का विषय बनाने का लोभ भी लगाया, जिसका खण्डन जोशीजी ने मानव-चरित्र के उन्नयन को अपना लक्ष्य बताकर किया। सम्भवतः इसी आलोचना की प्रतिक्रिया से और विशेषतः अपने काल में हुए आदर्शवादी रुझान के कारण उन्होंने उत्तरोत्तर ऐसे कथा नायकों की सृष्टि की है जो 'वीर नायक' चाहे न कहे जा सकें, लेकिन किन्हीं आदर्शों के लिए समर्पित की महानता जिनमें अवश्य है। 'मुक्तिपथ' के राजीव और सुनंदा, 'सुबह के भूले' के गिरिजा, 'जिप्सी' की मनिया और 'जहाज का पंछी' का 'मैं' ऐसे ही आदर्शपात्र हैं जिन्हें जोशीजी के प्रशंसक 'पोजिटिव-हीरो' की संज्ञा देंगे; लेकिन जो वस्तुतः लेखक की आदर्शात्मक परिकल्पनाओं को जीते हैं, जिन्दगी को जीते हुए व्यक्ति-पात्र नहीं हैं। 'मुक्ति पथ' और 'जिप्सी' में नई सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर्श प्रस्तुत करने वाले मुक्ति-निवेशों की स्थापना होती है और 'जहाज का पंछी' का उद्देश्य संपत्ति का आदर्श प्रस्तुत करना है। 'जहाज का पंछी' का 'मैं' सामाजिक विषमताओं का शिकार हतभाग्य अथवा संघर्षरत प्राणी नहीं है, लेखक अभावों की पीड़ा के सामने निदर्शन के लिए ही उसे अनेक स्थितियों में डाल देता है और अन्त में एक धनवीर स्त्री से चामत्कारिक ढंग से उसका सम्बन्ध कराता है, जो उसकी प्रेरणा से अपनी सम्पत्ति को पीड़ितों की सेवा के लिए समर्पित कर देती है—इस तरह उपन्यास नायक एक रोमाण्टिक कहानी का नायक रह जाता है और उसकी जिन्दगी एक धार्मिक मनुष्य की दुःखमयी कहानी का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

अनुसार
आवश्यक
विद्रोह
जीवित
में सफल
भी उप
छाया'
स्थितिय
करती
का चि
रहता
के 'मा
कही ग
—प्रति
स्थियों
की वि
सेविका
विरोध
छोड़ने
अमरीक
प्रसंग
एक स
'जहाज
अर्पित
की च
नारी
को पू
को स
योग्य
वे औ
पाए
सम्बन्ध
१. वि

इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक : १५६

: ४ :

जोशीजी ने नारी को वास्तविक रूप से शोषित वर्ग माना है और उनके अनुसार दलित नारी के प्रति, केवल सहानुभूति अथवा काव्यात्मक करुणा की आवश्यकता अब इस युग में नहीं है, "उसमें आत्मविलासी पुरुष जाति के विरुद्ध विद्रोह के बीज बोकर उसे आत्म-स्वातन्त्र्य, आत्म-सम्मान और आत्म-अवलम्बन की जीवित और व्यावहारिकता की शिक्षा देनी होगी।" वे पुरुष जाति के अहं पर प्रहार करने में सफल हुए हैं किन्तु नारी का विद्रोह उनके उपन्यासों में अमूर्त ही रहता है। किसी भी उपन्यास में वे जीवन्त विद्रोहिणी नारी की सृष्टि नहीं कर पाये हैं। 'प्रेत और छाया' की मंजरी उनकी दृष्टि में एक ऐसी विद्रोहिणी नारी है जो विपरीत परिस्थितियों पर विजय पाकर डॉक्टर की उच्च शिक्षा पाने की महत्वाकांक्षा को पूर्ण करती है, लेकिन क्या विपरीत परिस्थितियों से जूझती नारी के रूप में उन्होंने मंजरी का चित्रण किया है, क्या मंजरी की सफलताओं का इतिहास मात्र उल्लिखित ही नहीं रहता। 'निर्वासित' की भूमिका में निम्न मध्यवर्गीय क्रांति के फलस्वरूप भारतीय नारी के 'माता, वधू, कन्या कुल भी न रहकर सहसा रणचण्डी भैरवी' बन जाने की बात कही गयी है, लेकिन उपन्यास में किसी 'भैरवी' का जीवन्त व्यक्तित्व नहीं मिलता—प्रतिमा सर्वथा पृष्ठभूमि में रहती है और शारदादेवी अपने भूतपूर्व प्रेमी और अनेक स्त्रियों को वंचित करने वाले व्यक्ति के प्रतिशोध-पूर्ण आचरण करती है। 'मुक्तिपथ' की विधवा सुनन्दा राजीव की प्रेरणा से घर की चहारदीवारी से निकलकर समाज-सेविका बन जाती है और बाहरी योजनाओं की सफलता में अन्तर्मन की उपेक्षा के विरोध-स्वरूप राजीव को छोड़कर चल देती है। 'जिप्सी' की मनिया अपने पति को छोड़ने के बाद पुनः प्रणय-छल (तेजाब से जले अपने चेहरे को प्लास्टिक-सर्जरी से अमरीका जा ठीक कराती है और लौटकर महामारी से पीड़ित लोगों की सेवा के प्रसंग में एक नर्स के रूप में कार्य करते हुए पति नृपेन्द्ररंजन को आर्काषित करती है—एक सस्ती फिल्मी रोमांटिक कहानी !) उसे संपत्ति-दान के लिए तैयार करती है। 'जहाज का पंछी' की लीला भी अपने प्रेमी की प्रेरणा से अपना सर्वस्व समाज के लिए अर्पित कर देती है। इस तरह हम देखते हैं कि उनके उपन्यासों में नारी के विद्रोह की चर्चा है, उस विद्रोह का किसी सशक्त पात्र के माध्यम से रूपायन नहीं हुआ है।

'वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी' जोशीजी की दृष्टि में "शरत्-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का साधना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है।" लेकिन 'संन्यासी' के अतिरिक्त वे और किसी उपन्यास में अहंवादी पुरुष से संतापित नारी का सफल चित्रण नहीं कर पाए हैं। 'प्रेत और छाया' में पारसनाथ को ग्रन्थि-पीड़ित दिखाकर वे उसे अपने सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों को छलने के अपराध का उत्तरदायी नहीं रहने देते।

१. विवेचना—आधुनिक हिन्दी-साहित्य में मनोविज्ञान।

और जैसा कि कहा जा चुका है उनके उपन्यासों में नारी के विद्रोह का कथन चित्रण नहीं। इसका कारण यह है कि जोशीजी आभ्यन्तरिक जीवन के सफल कार हैं, बाह्य-जीवन के नहीं। इसीलिए हम पाते हैं कि पुरुष की अहंमति के घाटन में अपूर्व क्षमता का परिचय वे दे सके हैं, किन्तु नारी के विद्रोह की वास्तविक कल्पना को निरूपित नहीं कर पाए हैं।

: ५ :

जोशीजी में कहानी कहने की बड़ी क्षमता है, लेकिन उपन्यासकार के रूप में उस क्षमता का उपयोग वे किस प्रकार कर पाये हैं, यह विचारणीय है। उनके उपन्यासों में मनोरंजक कथातत्त्व उपन्यास के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में आया है जबकि उनके समकालीन कथाकारों जैनेन्द्र और अज्ञेय की कृतियों में कथात्मक रोचकता को कोई मान नहीं मिला है। आज उपन्यास के कथात्मक मूल्य को तिरस्कृत किया जाता है, फिर भी जीवन के गहरे और विस्तृत अनुभव तथा बोध को कथारस सम्पन्न कृतियों ने शब्दायित करने वाले कथाकार विरल नहीं है। वस्तुतः कुछ लेखकों की रचनाओं में कथात्मकता कलात्मक सृजन की दृष्टि से गुणात्मक महत्त्व पा लेती है जोशीजी की कहानी सुनाने की कला आकर्षित करती है, लेकिन उसमें सूक्ष्म कथात्मक गुण का अभाव विकसित भी करता है—उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' में उनके प्रमुख उपन्यास में रचनात्मक कौशल एक कुतूहल-प्रधान कथानक का अपेक्षा रहा है—पारसनाथ का कल्पित और नाटकीय स्थितियों में मंजरी से सम्पर्क होता है रहस्य-रोमांच की पद्धतियों पर नंदिनी से प्रणय-प्रसंग घटित होता है, संयोग से अपने पिता से उसका पुनर्मिलन होता है और वह अपनी माता के सतीत्व का विश्वास पा लेता है। इस प्रकार की औपन्यासिक सृष्टि के लिए लेखक की वह कलात्मक दृष्टि जिम्मेदार है, जो उपन्यास को अवचेतना के रहस्यों को चित्रित-विश्लेषित करने का माध्यम बनाकर भी उसे एक दिलचस्प रोमांचक कथा बनाए रखना चाहती है।

उनकी मनोविश्लेषण की पद्धति भी दोषपूर्ण है। लेखक पात्रों के मस्तिष्क के पाठकों के सामने खुला छोड़ने की प्रविधि को नहीं अपनाता है, स्वयं पात्रों के अन्तर्मन का लम्बा सैद्धान्तिक विश्लेषण करता है अथवा खुद पात्रों को यह काम सौंपता है।

स्थूल कथात्मकता (जो वस्तु में संयोग नाटकीयता और असामान्य स्थिति की माँग करती है) के प्रति जोशीजी का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दृष्टिगत होता है : 'जहाज का पंछी' में संयोग तत्त्व की अरुचिकर बहुलता है (नायक हर स्थिति में संयोग से ही पहुँचता है, उस प्रक्रिया को एक निरुपाय व्यक्ति की विवशता का चित्रण नहीं माना जा सकता) और नाटकीय स्थितियों को निरन्तर उत्पन्न किया गया है ('अस्पताल में नायक का भाषण, अदालत का प्रसंग, मिस साइमन के यहाँ घटनाएँ, भाडुड़ी मोशाय के घर पर रसोइये के रूप में रवीन्द्र की महानता का वक्तव्य...')। जीवन में संयोग और नाटकीयता का स्थान है, पर साहित्य में उसी रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि वहाँ हमारा प्रयत्न जीवन को

इलाचन्द्र जोशी 'वृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक : १६१

बौद्धिक संगति में देखने का होता है—भले ही हम जीवन की अताकिंकता (इर्रेशनैलिटी) के प्रति आद्वैत हों। आधुनिक कथाकार के लिए यह आवश्यक है कि जीवन का कथ्य प्रस्तुत करने में वह अपने माध्यम की स्वाभाविकता को खंडित न करे। जोशीजी ऐसा नहीं कर पाए हैं। इसका कारण यह है कि वे पूर्ववर्ती कथा-परम्परा से इस तरह जुड़े हैं कि उन्होंने अपने माध्यम की अपर्याप्तता की चुनौती महसूस नहीं की। उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक-उपन्यास की विशिष्ट प्रविधियों (पूर्वदीप्ति, मुक्त-आसंग, मनः-संलाप, चेतना-प्रवाह आदि) के प्रयोग भी इसीलिए नहीं मिलते। उन्होंने न परम्परा से प्राप्त शिल्प का निजी संस्कार किया, न प्रचलित नये प्रयोगों के प्रति रुचि दिखाई और न अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई नई पद्धति आविष्कृत की। फलतः वे हिन्दी उपन्यास को शिल्पगत प्रौढ़ता अथवा प्रयोगात्मक नवीनता की कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं दे पाए हैं।

: ६ :

'जहाज का पंछी' लेखक का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक मनुष्य के दुःख और पतन के लिए अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराता है—'करीम चाचा' के शब्दों में "अगर जमाने में इन्साफ़ होता, बेकारी न होती, भुखमरी न होती, इन्सानियत का कहीं नामोनिवान भी होता, तो आज इन्सान को इन्सान का गला काटने में इस कदर मज्जा क्यों आता।" स्वतन्त्रता के बाद भी हमारी आशा के विपरीत बेकारी, भुखमरी और अभाव बने रहे तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार (उपन्यास के भादुड़ी मोशाय के व्यक्तित्व द्वारा लेखक इस ओर संकेत करता है) की एक नयी विभोपिका सामने आई, फलतः एक मोह-भंग हुआ।^१ लेखक का एक मोह-भंग उपन्यास में दूसरे मोहावरण से जुड़ा है—इस उपन्यास की परिणति भी 'मुक्तिपथ' और 'जिप्सी' की आदर्शवादी परम्परा में होती है।

लेखक का सामाजिक आशय जीवन की वास्तविकता से सम्बद्ध होकर ही कलाकृति में गृहीत हो सकता है। सामाजिक वैषम्य के प्रति लेखक में जहाँ प्रश्न, व्याकुलता और संघर्ष है एक श्रेष्ठ कृति की सर्जना संभावित है, लेकिन जहाँ लेखक अपने समाधानों को कल्पना में घटित दिखाने लगता है, किसी महत्त्वपूर्ण रचना की आशा नहीं की जा सकती। 'जहाज का पंछी' के पूर्वार्द्ध में सामाजिक विषमताओं का प्रकटीकरण है, लेकिन उत्तरार्द्ध में लेखक की पकड़ से जीवन छूट जाता है और वह दिवास्वप्न की सृष्टि करने लगता है।

जिन उपन्यासों में समाज का एक बड़े पैमाने पर चित्रण अभिप्रेत होता है, वे सुलिखित उपन्यासों (वैल-मेड नोविल्स) की भाँति चुस्त-दुरुस्त रचना का उदाहरण

१. "आज जब हजारों वर्ष बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक विशेष मोड़ के कारण उसे (भारत को) स्वतन्त्रता मिली है, तब भी पिछले युगों की जड़ता के फलस्वरूप उसके भीतर पराक्रम का वह तेज प्रज्वलित नहीं हो पा रहा है, जो उसे आज के विश्व-व्यापी जीवन की विषमता के बीच में एक नयी, ठोस और सामंजस्यात्मक शक्ति के रूप में खड़ा कर सकता था और जन-जीवन में एक नयी चेतना ला सकता था।" (जहाज का पंछी)

१६२ : आलोचना

नहीं होते, वहाँ बिखराव एक व्यापकता का अंग बन जाता है। बिखरे खण्ड-एक एक बड़ी थीम से जुड़े होने के कारण समन्वित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। 'जहाज का पंछी' का लेखक भी समाज का एक व्यापक रूप दर्साना चाहता है, लेकिन किसी भी थीम के अभाव में उसका बिखराव कलात्मक त्रुटि बन गया है। जिन सामाजिक विषयों के बारे में लिखने का उसने संकल्प लिया है उन्हें मनुष्य के भाग्य कहानी बनाकर नहीं प्रस्तुत कर सका है।

नायक की बेकारी और भुखमरी की पृष्ठभूमि पर लेखक 'फ्री-वर्ल्ड' (स्वतन्त्र संसार)-सम्बन्धी उद्घोषणा के विषय में प्रभावशाली व्यंग्य कर सका है। करीम चाचा के साथ का प्रसंग उपन्यास का एक महत्वपूर्ण स्थल है, क्योंकि करीम चाचा की कहानी पुरानी पीढ़ी के लोगों की महत्तर-जीवन-मूल्यों में आस्था की कहानी है जो सईद पहलवान के दल के परिचय द्वारा लेखक ने तथाकथित अभद्र और नीच वर्ग के मानवीयता को प्रकट किया है। वेश्या-समाज के दुःखों का चित्रण सामान्य है। अने छोटे-छोटे मार्मिक प्रसंगों द्वारा ('...कुण्ठित आकांक्षाओं वाली बेला, दयनीय 'साहू' गर्व लिए कोयले की दूकान करने वाला विपन्न एंग्लो-इंडियन ब्राउन, मिस साइमन हाथों यंत्रणा भोगती वेश्याएँ अमला-सुजाना-जुलेखा...') यह उपन्यास साधारण लोगों के दुःख-दर्द को सामने रखता है, लेकिन किसी एक बड़े प्रसंग से ये छोटे प्रसंग सम्बन्ध नहीं हो पाए हैं। नायक की कहानी साधारण आदमी की जीवन-कथा के रूप में कल्पित नहीं है, वह एक ऐसे प्रचलित महामानव की गाथा है, जो अभाग्य लोगों के उद्वेग की अपनी योजना को एक पूँजीपति महिला का प्रेम प्राप्त कर क्रियान्वित करता है।

'जहाज का पंछी' एक प्रतिभाशाली उपन्यासकार की आंशिक सफलता और आंशिक विफलता का अच्छा उदाहरण है।

: ७ :

'धृष्टामयी' से 'जहाज का पंछी' तक की जोशीजी की औपन्यासिक यात्रा एक असामान्य प्रतिभा-सम्पन्न लेखक की भटकी यात्रा ही कही जा सकती है। अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जोशीजी मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से बँधकर चले और 'सामाजिक कान्तिवाद' की ओर प्रवृत्ति होने पर सामाजिक न्याय के लिए मनुष्य के संघर्ष के स्थान पर वे अपने उपन्यासों में आदर्शों की एक अवास्तविक दुनिया रचने लगे।

एक उपन्यासकार के रूप में जोशीजी की सीमाओं की मैंने खुलकर चर्चा की है, लेकिन मैं इसे भी निर्विवाद रूप में स्वीकार करता हूँ कि श्री इलाचन्द्र जोशी का प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में शीर्षस्थ स्थान है। उनके उपन्यासों ने मानव-मन के रहस्यों के चित्रण की ओर हिन्दी उपन्यासों को दिशा दी। उन्होंने प्रचलित नैतिकता के 'टैबू' को तोड़ने में योग दिया। जोशीजी ने 'समाजघाती पात्रों के चरित्र' को मनोवैज्ञानिक निरूपण करके 'नैतिक स्वास्थ्य के स्थापन' को अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य बनाया है, पुरुष की अहं-भावना के विरुद्ध नारी के विद्रोह को मान दिया है और सामाजिक वैषम्य को मनुष्य के दुःखों का कारण बताया है, अतः एक मानवतावादी लेखक ही सिद्ध होते हैं। उनकी कला की सीमाएँ स्पष्ट हैं और सामाजिक विद्रोह की हिन्दी उपन्यासों की इतिहास में एक महत्वपूर्ण धरोहर के रूप में विद्यमान है।

डॉ० रामविलास शर्मा—कवि-आलोचक : १६३

श्री कृष्णविहारी मिश्र

डॉ० रामविलास शर्मा—कवि-आलोचक

रामविलास शर्मा एक समर्थ सुकवि और सुधी आलोचक हैं। वस्तुतः उनकी कविता और आलोचना एक ही उत्स से निकली दो धाराएँ हैं और दोनों के पीछे जो व्यक्तित्व है उसमें संवेदनशीलता और सामाजिक सजगता का अद्भुत सन्तुलन है। उनकी आलोचना में विद्वत्ता, चिन्तनशीलता, सूक्ष्मदर्शिता और प्रत्युत्पन्नमितत्व आदि गुणों के साथ-साथ समर्थ अभिव्यक्ति, व्यंग्य का पैनापन, सहज स्पष्टता तथा निर्भीकता के दर्शन होते हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनका आगमन ऐसा नहीं था जिसको अनदेखा या उपेक्षित किया जा सके। यह कहना सायद अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि अपनी तीव्र ओजस्वी आलोचनाओं से एक समय वे समस्त हिन्दी-जगत पर छा से गये थे। लेखक आशंका और आतंक की भावना से उनकी सम्भावित रचनाओं की प्रतीक्षा किया करते थे। बहुत समय तक वे यह नहीं समझ पाये कि डॉ० शर्मा की आलोचनार्थ एक-पक्षीय हैं और उनका रास्ता एकमात्र सही रास्ता नहीं है। वह कहना उनके कृतित्व का मूल्य कम करना या उसे महत्त्वहीन सिद्ध करना नहीं है। हिन्दी जगत् में इस प्रकार का प्रभाव उनके पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं ने ही उत्पन्न किया था, जिनसे टक्कर लेने की हिम्मत छायावादियों में भी निरालाजी जैसे अक्खड़ ही की होती थी। परन्तु डॉ० रामविलास शर्मा के युग में तो वैसा कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नजर नहीं आता।

डॉ० शर्मा को इस बात का श्रेय दिया जाएगा कि उन्होंने निश्चित विचार-दर्शन का आधार लेकर हिन्दी के साहित्य-लेखन पर अपना निर्भीक और निष्पक्ष मत व्यक्त किया। जो उचित समझा वही कहा और जो उचित नहीं लगा उसकी अच्छी तरह खबर ली। उन्होंने जमकर और विस्तार से लिखा। छायावादी काल में आलोचना की जो एक शब्दाडम्बरपूर्ण, अस्पष्ट शैली विकसित हो रही थी, जिसमें भाषा का चाकचिक्य और वाग्विलास ही प्रमुख हो गये थे; शर्माजी ने उस सारे जाड़-झंखाड़ को साफ़ कर दो-टूक बात कहने वाली शैली अपनाई और जटिल-से-जटिल एवं गूढ़ माने जाने वाले सिद्धान्तों का सरलता-पूर्वक विवेचन करने में सफलता प्राप्त की। बाद के आलोचकों ने उनकी समालोचनाओं को पूर्वाग्रह-पूर्ण कहा है। परन्तु कोई भी आलोचक स्वयं अपने विचारों या अपने दृष्टिकोण से निष्पक्ष नहीं हो सकता। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों में आलोचना को लेकर एक विचित्र भ्रान्ति यह है कि समीक्षा मौलिक साहित्य सृजन न होकर केवल मौलिक लेखन की व्याख्या मात्र है। डॉ० शर्मा की आलोचनाएँ इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त हैं क्योंकि उन्हें पढ़कर उनकी मौलिकता का पता तो लगता ही है। वह साहित्यिक स्फुरण भी होता है जो किसी जीवित और सशक्त रचना का अनिवार्य लक्षण है।

डॉ० रामविलास शर्मा के पिछले दो दशक के अर्थ के लेखन-काल में उनके

१६४ : आलोचना

साहित्यिक कृतित्व के रूप में अनेक आलोचनात्मक लेखों के संग्रह और एक सकलन 'रूप-तरंग' है जिसकी कुछ कविताएँ 'तार सप्तक' के चयन में भी आई हैं। उनकी आलोचना में यथेष्ट विषय-वैविध्य और विस्तार है। उसमें कबीर, तुलसीदास आदि मध्ययुगीन सन्तों से लेकर प्रेमचन्द, निराला, रामचन्द्र शुक्ल आदि हिन्दी आधुनिक महारथियों तथा कालिदास, शेक्सपियर, डॉ० जिवागो आदि पूर्व और पश्चिम के महत्त्वपूर्ण कृतिकारों एवं कृतियों का विश्लेषण अथवा सर्वेक्षण है। साहित्यिक सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन भी उन्होंने गम्भीरता और सहजता से किया है। सबमें उनके अगाध पाण्डित्य और विचार प्रवणता का परिचय है। 'भारतेन्दु' 'निराला' और 'प्रेमचन्द और उनका युग' १९४५ और १९५५ के दशक में लिखी प्रौढ़ता और सन्तुलन-क्षमता की दृष्टि से १९५५ से १९६५ के दशक में प्रकाशित 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' 'लोक-जीवन और साहित्य' तथा 'अन्तर्गत और सौन्दर्य' जैसी कृतियों को अधिक गम्भीर और सफल माना जायेगा। प्रारम्भिक कृतियों में यदि विचारों की ताजगी, दृष्टिकोण की स्वस्थता और नयेपन के साथ आवेश है, जो कभी-कभी अतिवाद को छू लेता है, तो बाद की रचनाओं में सन्तुलन की स्थापन की आतुरता का स्थान अपने सिद्धान्तों के सतर्क प्रवर्तन और सजग पोषण ले लिया है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह भी ज्ञात होगा कि लेखक ने अपनी पद्य रचनाओं में स्वयं अपने अनेक मतों को परिमार्जित और संशोधित किया है।

'अवध के हृदय', वैसवाड़े के इस ज़िन्दादिल कवि ने वहाँ के प्राकृतिक परिवेश के जो मनोरम चित्र 'रूप-तरंग' में अंकित किये हैं वे सहजता से विनम्र नहीं हो सकते। रामबिलासजी ने कहीं मजाक के मूड में ही लिखा था 'कहा है एक असफल कवि आलोचक बन जाता है; वैसे मैं तो इतना असफल कवि भी बन गया हूँ।' उनकी कविताएँ पढ़कर इसे अत्यन्त विनम्र 'स्वभावोक्ति' मात्र माना पड़ता है।

उनकी 'सिलहार' और 'कोहरे के बादल' जैसी कविताओं पर निराला 'ग्राम्या' का प्रभाव देखा जा सकता है परन्तु यह निःसंशय कहा जा सकता है उनकी खेत सींचने वाली कृषक-कन्या का चित्र निराला की पत्थर तोड़नेवाली किसी भी प्रकार कम सजीव नहीं है। पन्त की ग्राम्या के ग्रामीण जीवन के दृश्यों के प्रयत्नों की अपेक्षा रामबिलास की तत्सम्बद्ध कविताओं में अधिक विश्वसनीयता वर्षा की बाढ़ से घर नष्ट हो जाने के भय से त्रस्त किसान का कष्ट किस कतकी के मेले की बेलगाड़ी-यात्रा के स्वप्नाविष्ट सुख में परिवर्तित हो जाता है। शर्माजी ने सहृदय और खुली आँखों से खूब देखा है। गाँवों की नैसर्गिक सुषमा मुग्ध होते हुए भी कहीं भी वे ग्रामों के क्षुधाग्रस्त, नग्न, निरीह समाज की यंत्रणा की उपेक्षा नहीं कर पाये। जीवन के समस्त वैषम्य और दैन्य के प्रति वे खड्ग-हस्त रहे हैं। उनकी सजग यथार्थग्राही चेतना इन दुखों की लड़ियों को सुषमा के मोतियों के बीच-बीच में पिरोती चलती है। उनकी कुछ पंक्तियों में लोकजीवन और लोक साहित्य की सौधी सुगन्ध है।

मोठे सुर से बया रही माँग
देवी से सँदुर भरी माँग
जूड़ियों से सदा भरे हाथ
माँगे भाई तो पाँच सात,
पर बहन एक देवर अनेक
पति के घर में फिर ननद एक^१ (देवी के गीत)

रामविलासजी की कविताओं में क्षोभ और आक्रोश की आग और करुणा के

अश्रुओं का अद्भुत सम्मिलन है जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है :—

यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है,
अथ से सिहर उठे वह तब का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर।
हृदय बना है आग और आँसू से मिलकर।

लोहे के पिजरे में फ़ारस की बुलबुल से बन्दी दारा शिकोह की करुण दुःखान्त गाथा 'दारा शिकोह' कविता के माध्यम से पाठकों के मन में टीस पैदा करती है। इसे 'प्रलय की छाया' (प्रसाद) और 'शिरसिह का शस्त्र समर्पण' (प्रसाद) आदि ऐतिहासिक वृत्त-मुक्तकों की शृंखला की एक कड़ी के रूप में माना जा सकता है, जिन्हें छायावादी युग में द्विवेदी युगीन खण्डकाव्यों का स्थान लेने के लिये प्रस्तुत किया गया था। शर्माजी की अनेक काव्य-पंक्तियाँ हृदय में बिँव जाती हैं :—

यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में

उनके प्रतीक प्रायः प्रकृति से ग्रहीत, नवीन और भाव-प्रकाशन में सर्वथा समर्थ हैं :—

तरुणों की पीढ़ी जीवन में सारां खोजती,
चट्टानों के बीच केन की धारा जैसी।

उनके प्रतीक-विधान और शब्दावली पर भी निराला, पन्त जैसे छायावाद की कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी कविता की भाषा छायावाद के प्रमुख महारथियों से एक जबरदस्त departure इस मायने में है कि उसमें सारल्य और सहज-बोध को अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया गया है।

डॉ० शर्मा के आलोचनात्मक कृतित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन करने के लिये सैद्धान्तिक मान्यताओं और व्यावहारिक समीक्षाओं को पृथक वर्गों में उसे विभाजित कर लेना अधिक युक्ति संगत होगा।

१. अवयव के निम्न लोकीगीत की पंक्तियों में इसी भाव को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :—

मांग्यों वरदान देवी के मन्दिर वा भीतर

अरे मांग्यों मैं सात-पाँच भइया, बहन अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।

मांग्यों मैं हरी-हरी तुरियाँ सन्दुर भरि माँग देवी के मन्दिरवा भीतर।

मांग्यों मैं सात-पाँच देवरा, ननदिया अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।

अरे मांग्यों मैं सात-पाँच ललना, कन्या अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।

(वही पृ० ५७) 'क्या सामाजिक यथार्थ से आन्दोलित हुए बिना किसी भी कलाकार के लिए सम्भव है कि वह आर्थिक सौन्दर्य की सृष्टि कर सके'। (वही) यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जहाँ डॉ० शर्मा ने सिद्धान्त-रूप से रूप और विषय की एकता स्वीकार की वहाँ अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में उन्होंने अपने को साहित्य की विषय वस्तु के विवेचन तक ही सीमित रखा, उसके कलापक्ष का उद्घाटन उन्होंने नहीं के बराबर किया।

प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों 'रस-निष्पत्ति' और 'साधारणीकरण'—आदि पर डॉ० शर्मा ने गम्भीरता से विचार नहीं किया। साधारणीकरण पर व्यंग्य-प्रहार करते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं 'साधारणीकरण एक ऐसा मन्त्र है जिसमें शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है।' (रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य—प्रगति और परम्परा पृ० १५५)।

शर्माजी के आलोचनात्मक सिद्धान्त-विवेचन में सर्वत्र वर्ग-आधार उपस्थित नहीं रहता, जो मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली का अनिवार्य तत्व हैं। वह प्रायः 'सच्चे साहित्यकार' या 'लेखक' की बात करने लगते हैं जैसे 'प्रगति और परम्परा' में वे कहते हैं, 'लेखक सारथी होता है जो लीक देखते हुए साहित्य की वागडोर संभाले उसे उचित मार्ग पर ले चलता है।' (पृ० ३) क्या सभी लेखक साहित्य को उचित मार्ग पर ही ले चलते हैं? इसी निबन्ध में पृ० २ पर कवि के विषय में जो बात कही गई है वह भी इसी प्रकार सामान्यीकृत सत्य के रूप से है, और उससे किसी 'विशिष्ट चेतना युक्त कवि' या 'लेखक' का बोध नहीं होता।

उनकी व्यावहारिक समीक्षा में हिन्दी के पूर्व-मध्य युगीन सन्त और भक्तों के कृतित्व के विवेचन और मूल्यांकन को काफ़ी विस्तार और महत्व मिला है। ऐतिहासिक दृष्टि से शर्माजी का मत है कि 'भारतीय जीवन की जिस परिस्थिति से सन्त-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है वह हैं सामन्ती शक्ति का हास'। (लोक जीवन और साहित्य, पृ० १२) यह उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापना है। वे पहले आलोचक हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से निर्देशित किया कि मुग़लकाल भारत में सामन्तवाद के हास और व्यापारिक पूँजीवाद के अभ्युदय और प्रसार का युग था; और समाज को इस बदलती हुई परिस्थिति में ही उस सामाजिक आंदार्य का स्रोत है, जिसके दर्शन भक्ति-आन्दोलन में होते हैं। उनकी भक्ति-कालीन रचनाओं का मूल्यांकन अत्यन्त सटीक और निर्दोष है। 'यह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है, उसमें जनता का हास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है'। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा उठाई गई शंका का, सूर और बिहारी के शृंगार-वर्णन में ऐसा क्या अन्तर है कि एक को भक्त और दूसरे को शृंगारी माना जाये, समाधान करते हुए शर्माजी ने ठीक ही लिखा है कि अन्तर रचना की पृष्ठभूमि में है। सूर का काव्य जन-संस्कृति की पृष्ठभूमि पर उद्भूत है जबकि बिहारी की सतसई सामन्ती संस्कृति की पृष्ठभूमि पर रची गई है। शर्माजी ने योगियों के साहित्य के

विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सहमत होते हुए उनके साहित्य को जीवन में पराङ्मुख माना और उनकी रचनाओं में 'सामाजिक अनुभूतियों की कमी' की शिकायत की। उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पश्चिमी और पूर्वी आर्यों में भेदीकरण के नस्लवादी सिद्धान्त का सतर्क और सबल शैली में खण्डन किया। वे पूछते हैं यदि पूर्वी आर्य भावुक और कान्तिकारी होते हैं और पश्चिमी शास्त्रवादी और विवेकी तो सूर और मीरा पश्चिमी प्रदेश में कैसे उत्पन्न हुए? और डॉ० रघुवीर और राहुल सांकृत्यायन का जन्म एक ही प्रदेश में क्यों नहीं हुआ?

भक्तिकाल के प्रमुख कवियों पर लिखते हुए जायसी के विषय में वे कहते हैं 'जायसी को सांस्कृतिक समन्वय का कवि न कहकर जन-संस्कृति का कवि कहना ज्यादा उचित होगा। (लोक-जीवन और साहित्य पृ० २७)। शुक्लजी के मत का यह संशोधन उचित है। उन्होंने ठीक ही लिखा है 'कि अवध की सरसता को किसी ने इस तरह नहीं पहचाना जैसा जायसी ने'। (वही पृ० २९)। तुलसी के विषय में उनका मत है 'कि तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। वह कवि ममुष्य का सबसे बड़ा उपासक है'। प्रगतिशील कहे जाने वाले आलोचकों द्वारा भक्त-कवियों की गलत, पक्षपात-पूर्ण और दोष-दर्शी आलोचना का शर्माजी ने मुँह-तोड़ उत्तर दिया। रंगेय राघव, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और राहुल सांकृत्यायन किसी को भी इस अपराध के लिए उन्होंने क्षमा नहीं किया।

भारतेन्दु युग और उसके रचनाकारों की कृतियों का सम्यक् परिचय देने और महत्व प्रतिपादन के लिए डॉ० शर्मा ने 'भारतेन्दु-युग' शीर्षक से एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी और वह आज भी उस काल पर लिखी गई समीक्षा कृतियों में अन्यतम है। द्विवेदी-युगीन लेखकों में, शर्माजी बाबू बालमुकुन्द गुप्त के प्रशंसक हैं और उन पर उन्होंने कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं।

छायावादी युग पर डॉ० शर्मा ने विस्तार से विचार किया है। उनके मतानुसार 'छायावाद भारत के नव पूँजीवादी अम्युदय के साथ उत्पन्न हुआ' उसने सामन्ती परम्परा का विरोध किया और साहित्यकारों में नये प्रसार और विकास की भावना पैदा की' (प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न—प्रगति और परम्परा पृ० ७३)। छायावाद में उपस्थित 'निराशा' और 'वेदना' का सम्बन्ध उन्होंने पूँजीवाद की असंगतियों और उससे उत्पन्न मध्यवर्ग के उत्पीड़न से जोड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की छायावाद-सम्बन्धी धारणाओं को उन्होंने संकुचित माना है और लिखा है कि इसीलिए शुक्लजी को निरालाजी की बहुत-सी रचताएँ छायावाद की भूमि से बाहर प्रतीत हुईं। शुक्लजी द्वारा छायावाद के विरोध पर शर्माजी लिखते हैं, 'वह (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) विरोध करते थे रहस्यवादी शैली का, अति लाक्षणिकता का' छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। वह एक मानववादी धारा है... आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति लाक्षणिक शैली के व्यवहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है'। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना पृ० १९१)।

छायावाद के प्रमुख कवियों पर विचार करते हुये डॉ० शर्मा ने उनमें निराला को सर्वप्रमुख माना और उनकी विशेषताओं का उद्घाटन एक स्वतन्त्र-समीक्षा पुस्तक में किया। इस पुस्तक में निराला जी के व्यक्तित्व, उनके सामाजिक दृष्टिकोण और उनकी काव्यात्मक महत्ता का भली-भाँति निदर्शन किया गया है। प्रसादजी के विषय में शुक्लजी के 'मधुचर्या' वाले आशेष की चर्चा करते हुये डॉ० शर्मा ने लिखा है, 'प्रसादजी सुख, सौंदर्य के कवि हैं, परोक्ष चिन्तन बहाना भर है'... प्रसाद जी न योगवादी थे न भोगवादी थे; उनका दर्शन संसार को शिव का प्रत्यक्ष रूप मानता है और कामायनी लोक-कल्याण का प्रतीक है।' (आचार्य रामचन्द्र और हिन्दी आलोचना पृ० १६३)। उन्होंने शुक्लजी की प्रसाद-विषयक आलोचना से सहमत होते हुए लिखा है 'लेकिन शुक्लजी का यह कहना सही है कि प्रसादजी ने कर्ममय जीवन के विशद चित्र नहीं दिये हैं, और उसे बहुधा यज्ञों, उद्योग-धन्यों और शास्त्र विधानों में सीमित कर दिया है।' (वही पृ० १६३-१६४) परन्तु वहीं उन्होंने यह संकेत किया है कि यह दोष प्रसादजी के उपन्यासों और नाटकों में नहीं है। उनके उपन्यासों की सामाजिक जागरूकता की शर्माजी ने प्रशंसा की है। 'काव्य कला और अन्य-निबन्ध' पर गम्भीरता से विचार करते हुए शर्माजी ने प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष दिया है कि उनकी विचारधारा पूर्व या पश्चिम के भाववादियों से भिन्न है।

छायावादियों में शर्माजी, पन्त जी के सबसे कटु आलोचक रहे हैं। विशेषकर उनकी 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' तथा अन्य परवर्ती रचनाओं को लेकर उन्होंने लिखा है 'पन्तजी ने दर्शन और अर्थशास्त्र के अनेक सूत्रों को सम्बद्ध किया है...लेकिन उनका असली रूप सौन्दर्यवादी का है उसे वह छोड़ नहीं पाये।'... पन्तजी जब कोशिश करके लोक-जीवन के नजदीक आते हैं तब भी मानो जुलुमें सँभालते हुए, पतलून की क्रीज का ध्यान रखते हुये। डॉ० रामविलास शर्मा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की नकली प्रगतिशीलता को पहचाना और उसकी जोरदार आलोचना की।

महादेवी के विषय में शर्माजी ने लिखा है, 'महादेवीजी छायावाद की प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें छायावाद का निराशावादी, पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौन्दर्य का स्वस्थ मानव-प्रेमी और सौन्दर्यवादी पक्ष भी है। उनके अन्दर एक विदोही आत्मा सोती है जो दृष्टिकोण और मनोबल की सीमाओं के कारण अपना पूरा चमत्कार नहीं दिखा सकी'। छायावाद और महादेवी के आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र ने उनके काव्य की प्रेरणा अतृप्त काम भावना में मानी थी। इस मत पर शर्माजी की टिप्पणी इस प्रकार है, 'यदि जीवन और सौन्दर्य की चाह प्रकट करने वाली कविता दमित इच्छाओं के ही कारण हो, तो जितने भी जीवन और सौन्दर्य के कवि हैं, वे सब दमित इच्छाओं के शिकार साबित हों और जितने भी मृत्यु और कुरूपता के कवि हैं वे सब तृप्त इच्छाओं वाले समझे जायें' (लोक जीवन और साहित्य पृ० ६४) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'क्वासि' की भूमिका और कविता दोनों की जो सतर्क और व्यंग्यात्मक आलोचना डॉ० शर्मा ने की है वह उनकी विद्वता और रोचक शैली दोनों का अच्छा उदाहरण कही जा सकती है। (प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ।)

प्रगतिशील आन्दोलन और साहित्य की सफलताओं और कमियों पर शर्माजी ने बड़ी ईमानदारी से अपने विचार प्रगट किये हैं। वे लिखते हैं, 'प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन अखिल भारतीय आन्दोलन था। इस तरह का कोई भी आन्दोलन उस समय देश में न था... इस आन्दोलन ने उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त कीं'। इनमें डॉ० शर्मा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों का एक-दूसरे के निकट आना, हिन्दी-उर्दू में समान जातीय भावना का उत्पन्न होना और हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन और परिगणित किया है। हिन्दी में उसने नरेन्द्र, दिनकर, सुमन आदि की शक्तिशाली कविताएँ दीं। अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यास इस परम्परा में उत्पन्न हुए। आलोचना में उसने साहित्यिक परम्परा का मूल्यांकन करने का प्रयास किया और रूढ़िवाद का विरोध किया। कला की दृष्टि से उसने कविता की दुरुह शैली को सरल बनाया। आन्दोलन की भूलें उनके अनुसार इस प्रकार हैं : 'हमने आन्दोलन में दो तरह की भूलें कीं। एक तो गैर-मार्क्सवादी लेखकों का मूल्य न आँकना, दूसरी प्रगतिशील साहित्य में फैलने वाली प्रतिक्रियावादी रुझानों का विरोध न करना' यानी पहले 'संकीर्णता और दूसरी 'पक्षपात'। शर्माजी द्वारा उल्लिखित ये भूलें केवल आलोचना के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। रचना-क्षेत्र में प्रचारात्मकता, कृत्रिमता और अकलात्मक अभिधात्मकता आदि जो दोष आ गये थे उन्हें शर्माजी ने अनदेखा कर दिया है।

हिन्दी उपन्यासकारों में डॉ० शर्मा ने प्रेमचन्द को सबसे महत्वपूर्ण माना। उन पर लिखी समीक्षा-पुस्तक 'प्रेमचन्द' में उन्होंने उनके सभी प्रमुख उपन्यासों की विषयवस्तु का विस्तार से विवेचन करते हुये प्रमाणित किया है कि प्रेमचन्द के उपन्यास तत्कालीन भारतीय जीवन के जीते-जागते चित्र हैं। जैनन्द और अज्ञेय के उपन्यासों को रामविलासजी प्रेमचन्द की परम्परा का विरोध करने वाले और यौन उच्छृंखलता का प्रतिविम्बित करने वाले मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन और यशपाल की भी उन्होंने क्रमशः ऐतिहासिक विवृति और कुत्सित अश्लीलता के दोषों के लिये तीव्र आलोचना की है। इन आलोचनाओं में कहीं-कहीं डॉ० शर्मा मध्यवर्गीय संकुचित नैतिकता की मनोवृत्ति से आक्रान्त हैं। रेणु के आंचलिक उपन्यास उन्हें ग्रामीण जीवन के खण्ड चित्रों के संग्रह से लगे (आस्था और सौन्दर्य)। मैला आंचल के यथार्थ अंकन के कुछ अंशों की उन्होंने प्रशंसा की। परन्तु लेखक की जनता को मूर्ख माननेवाली 'अनास्था' का खण्डन किया। उन्होंने रेणु के इन उपन्यासों को प्रेमचन्द की परम्परा में नहीं माना और 'परती परिकथा' के विषय में लिखा—'इसमें मैला आंचल के गुण प्रत्यलुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है।' (आस्था और सौन्दर्य पृ० १२७)। 'नई कविता' को उन्होंने 'अनास्थापूर्ण' और 'खण्डित कला' घोषित किया है।

हिन्दी आलोचना में उनके विचार से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सबसे महत्वपूर्ण हैं। शुक्लजी के समीक्षा सिद्धान्तों और व्यावहारिक आलोचनाओं पर पूर्ण योग्यता और गम्भीरता से विचार करने वाली उनकी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' है। हिन्दी के परवर्ती आलोचकों द्वारा शुक्लजी पर किये गये आक्षेपों का निराकरण भी शर्माजी ने सतर्क शैली में किया है।

डॉ० शर्मा की आलोचना-पद्धति में ऐतिहासिक भौतिकवाद, शोषितवर्ग की पक्षधरता, साहित्य की सोद्देश्यता का समर्थन, सामाजिक सजगता, साहित्य का गत्यात्मक रूप में ग्रहण और दर्शन, आदि अनेक मार्क्सवादी तत्त्व वर्तमान हैं। उनका भक्ति युग और छायावादी युग के साहित्य का मूल्यांकन सबसे मार्कों का है। संत और भक्त कवियों को वे जन-संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। उनकी आलोचना की प्रमुख दुर्बलता यह है कि वह आलोच्य कृतियों के विषयवस्तु के विवेचन और महत्व निरूपण से प्रारम्भ होकर, रचनाकार के सामाजिक दृष्टिकोण पर बल देने के पश्चात् इतना अवकाश ही नहीं पाती कि उसके कलापक्ष और रूप-विधान पर भी विचार करे। इस एकांगिता के अतिरिक्त उसमें मार्क्सवादी आधार भी सर्वत्र उपस्थित नहीं है और अनेक स्थल पर वे वर्गवादी चेतना को विस्मृत कर पिछले युगों की विचारधाराओं का अनुसरण करने लगते हैं। उसमें यदि सजीव क्रान्तिकारिता के लक्षण उपलब्ध नहीं होते तो इसके लिए शर्माजी को दोषी न ठहराकर उस युग को ही उत्तरदायी मानना होगा, जिसमें प्रगतिशीलता बहुतांश के लिये केवल आडम्बर और फैशन मात्र थी। कहीं-कहीं उनको आलोचनाओं में 'अति सरलीकरण' का दोष भी है। मानव-जीवन की जटिलताओं और मन की संश्लिष्ट स्थितियों के साहित्य में प्रतिफलन को शर्माजी कभी-कभी पर्याप्त गम्भीरता से नहीं ग्रहण करते। इन दोषों के बावजूद उनकी समीक्षा ने हिन्दी के रचनात्मक कृतित्व को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है एवं आलोचना के प्रतिमानों के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है यह कहना एक तथ्य की स्वीकृति मात्र है।

राजकुमार शर्मा

गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता

गिरिजाकुमारजी आधुनिक युग के उन विशिष्ट कवियों में से एक हैं जिन्होंने नयी कविता के क्षेत्र में परम्परा एवं प्रयोग के समन्वय पर आधृत एक अतिवाद मुक्त काव्य-दृष्टि का विकास किया है। आधुनिक काव्य के निर्माण में उनका योगदान अप्रतिम है। माथुरजी नये कवियों के उस वर्ग का नेतृत्व करते हैं जो किसी आरोपित अनास्थामूलक जीवन-दर्शन को अस्वीकार कर मानवीय उपलब्धियों में अगाध आस्था एवं विश्वास का संकल्प लेकर चला है। जो आधुनिक जीवन को, नये प्रत्यावर्तनों को, नयी अनुभूतियों और संवेदनाओं को नव्यतम शिल्प में ढालने का प्रयास करता हुआ, काव्योपलब्धि की किसी महत् संभावना की दिशा में आगे बढ़ रहा है। उनका काव्य निश्चित रूप से नयी कविता के शाश्वत, स्वस्थ एवं विकास-कारी तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है। इन्हीं के आधार पर वह नयी कविता की सीमाओं से ऊपर उठकर उसकी उपलब्धि एवं संभावनाओं का प्रतीक बन गया है।

उनके काव्य की इस महत्ता को लगभग सभी श्रेष्ठ समालोचकों ने स्वीकारा है। डॉ० नगेन्द्र—जैसे परम्परानिष्ठ रसवादी आलोचक भी—जो अभी तक नयी कविता को उपलब्धि एवं सम्भावनाओं के प्रति आश्वस्त नहीं हो पाए हैं—उनके काव्य के वैशिष्ट्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। इसका मूल कारण यही रहा कि माथुरजी ने जो कुछ लिखा है भोगकर लिखा है; पढ़कर नहीं। आधुनिकता को उन्होंने व्यक्ति-स्तर पर जिया है, (अधिकांश नये कवियों की भाँति) जान-बूझकर अपने ऊपर ओढ़ नहीं लिया। उनके काव्य में परम्परा एवं प्रयोग का आदर्श सामंजस्य मिलता है। अत्याधुनिक होते हुए भी परम्परा से उनकी सम्पृक्ति टूट नहीं पाई है। नव्यता के मोह में अपने को परम्परा से निर्ममतापूर्वक काट लेना उनके कवि का आदर्श नहीं है। उनकी काव्य-प्रतिभा तो परम्परा के जीवन्त अंश को स्वीकार करती हुई काव्यगत प्रयोगों की नयी दिशाओं की ओर बढ़ी है। पर काव्य में परम्परा एवं प्रयोग की इन नयी संतुलन-भूमियों की खोज में वे नयी कविता के दोषों के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे। अनेक स्थलों पर माथुरजी ने नयी कविता की सीमाओं का निर्मम विश्लेषण किया है। अपने दोषों के प्रति आत्म-सजगता की यह भावना बहुत कम नये कवियों में मिलती है। माथुरजी की यह साहित्यिक विशिष्टता और ईमानदारी ही नयी कविता के कटु आलोचकों को भी उनकी प्रशंसा करने के लिए बाध्य करती है।

गिरिजाकुमारजी का कवि—अधिकांश नये कवियों की भाँति कोरी चमत्कार-सृष्टि और बौद्धिक खींचतान को ही काव्य का चरम उद्देश्य मानकर नहीं चला। वह काव्य को एक कठिन साधना के रूप में स्वीकार करता है। उसकी काव्य-चेतना कला-मूल्यों के साथ मानव-मूल्यों के प्रति अपने दायित्व को भी तीव्रता के साथ महसूस करती है। वह अपनी कला के द्वारा व्यक्ति के निविड़ मन की उलझी हुई संवेदनाओं की सृष्टि में नहीं बल्कि जगत की जटिलताओं और उलझी हुई संवेदनाओं के बीच सुलझे हुए सत्य का प्रकाश करने में विश्वास रखती है और शायद इसी कारण से कुछ नये कवि-आलोचकों की दृष्टि में वह, नयी कविता के 'लेविल' की अधिकांश कविताओं के तथाकथित आधुनिक भावबोध से पूरा साम्य स्थापित नहीं कर पाती।^१ नयी कविता में वह अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बनाए रखती है।

माथुरजी का मानवता और उसके उज्ज्वल भविष्य में गहरा विश्वास है। वे आधुनिक युग-जीवन के विघटन की अपेक्षा विघटित तत्त्वों में नयी संतुलन भूमि की खोज और अनास्था, नैराश्य एवं अवसाद की जगह आस्था, आशा एवं विश्वास को अधिक महत्त्व देते हैं। वे आज के अधिकांश नये कवियों की आत्मग्लानि एवं आत्म-वक्तृत्व (स्टेटमेंट) देने की प्रवृत्ति के घोर विरोधी हैं। वे मानते हैं कि नयी कविता में इस प्रकार के वक्तव्यों, यथा; "मैं लाश हूँ", "कुत्ता हूँ", "गलितंग हूँ", वमन हूँ, जारज हूँ, फेंका हुआ भ्रूण हूँ, शहीद हूँ, खण्डित हूँ, ओ रे, ओ पिता, हे पूर्वज, दर्द,

१. देखिए—डॉ० देवीशंकर श्रवस्थी—'श्री गिरिजाकुमार के काव्य का बोध और भाषा उतनी आधुनिक नहीं है जितने की हम माँग करते हैं।

(कल्पना, फरवरी, '६३ पृ० ५)

दर्द दर्द, आदि की पुष्कलता रही है।" उनका निश्चित मत है कि "पहले तो स्टेटमेंट कविता नहीं हो सकता। फिर यदि स्टेटमेंट यह हो कि मैं खण्डित हूँ, भग्न हूँ, लाश हूँ; तो उसका उत्तर यह होगा, ठीक हैं होंगे आप अपने को जो चाहे समझें, दुनिया को उससे क्या लेना-देना है। प्रश्न यह नहीं है कि आप वास्तव में किस परिस्थिति में पड़कर क्या हो गए हैं, बल्कि यह है कि उस परिस्थिति के प्रति आपकी क्या प्रतिक्रिया है; दुनिया को आप वहाँ से क्या देना चाहते हैं? परिस्थिति की तीखी चोटों से आपको क्या अनुभूति हुई तथा व्यापक जीवन और मानवीयता के लिए आपका दाय क्या है?"^२ माथुरजी का निश्चल आत्माभिव्यक्ति में विश्वास है जो अनुभूति के स्तर पर भोगे हुए सत्य को ही अभिव्यक्त करती है, किसी आरोपित या उधार लिए हुए वस्तु-सत्य को नहीं।

गिरिजाकुमारजी को नयी कविता के निर्माता कवियों में से एक माना जा सकता है। नयी कविता के आद्यः प्रवर्तक अज्ञेयजी के शब्दों में—“अब जिसे नयी कविता कहा जाने लगा है उसके रूप और मुहावरे के विकास में उनका (गिरिजाकुमारजी का) निश्चित रूप से महत्वपूर्ण योगदान रहा है।”^३ नयी कविता को माथुरजी का यह योगदान शिल्प एवं वस्तु दोनों ही क्षेत्रों में रहा है।

नयी कविता के शिल्प-पक्ष को समृद्ध करने में जितना योगदान गिरिजाकुमार का है उतना किसी भी नये कवि का नहीं है। नयी कविता के शिल्प-निर्माताओं में उनका स्थान सर्वोपरि है। भाषा, छन्द, बिम्बयोजना, प्रतीक योजना, नवीन अप्रस्तुत विधान, रंग-योजना आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने अनेकविध प्रयोगों द्वारा नयी कविता की भाषा का संस्कार किया। नवीन शब्दावली का निर्माण किया, पुराने शब्दों को नयी भंगिमा दी, नये वैज्ञानिक प्रतीकों की योजना की—और इस प्रकार कविता की भाषा को आधुनिक भावबोध की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया। स्वर-ध्वनियों के प्रयोग से काव्य-भाषा को एक सहज आन्तरिक संगीतात्मकता प्रदान की। उसे छायावादी लाक्षणिकता और संश्लेषण के कुहासे से मुक्त कर मोती के पानी जैसे स्वच्छ एवं सहज सौन्दर्य से मण्डित किया। भाषा के 'रियलिज़्म' जैसी चीज़ नयी कविता को सर्वप्रथम माथुरजी ने ही दी। काव्य-भाषा को लोकजीवन की भाषा के निकट लाने का ऐसा सफल प्रयास और किसी भी नये कवि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

उनके आन्तरिक लय-सम्पन्न गीत एवं मुक्त छन्द के नवीन प्रयोग तो नयी कविता के शिल्प की स्थायी निधि हैं। उन जैसा समर्थ गीतिकार एवं कुशल छन्द-प्रयोगता नये कविमों में दूसरा नहीं है। “गीत की विधा को छायावादी और उत्तर छायावादी सीमाओं से नयी कविता की भूमिका तक सफलतापूर्वक ले आने का दुष्कर

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी—‘परन्तु नयी कविता उनसे कुछ आगे बढ़ गई है।’

(नवलेखन पृ० ५५)

२. नयी कविता अंक ५-६ पृ० ४४-४६।

३. आज़ का भारतीय साहित्य पृ० ३६३।

कार्य गिरिजाकुमार माथुर ही कर सके हैं।" यह अज्ञेय जैसे समर्थ कवियों से संभव नहीं हो सका। भावी नये कवियों के निर्देशनार्थ मुक्त छन्द का एक सम्पूर्ण मौलिक विधान उन्होंने स्वयं रचा है। सबैये के विरामों पर स्थित एक नये प्रकार का संगीतमय मुक्त छन्द नयी कविता को दिया है जो छन्दगत् प्रयोगों के क्षेत्र में नयी कविता के शिल्पविधान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वस्तु की दृष्टि से भी माथुरजी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने छायावादी रोमांटिक चेतना को प्रगतिवाद की सामाजिक यथार्थ-चेतना से सम्पूर्ण करने का प्रयास किया है और इस प्रकार रंग, रस, रोमान और सामाजिक यथार्थ के समन्वय पर आवृत्त एक नया भावबोध विकसित किया है। आधुनिक युग, जीवन के घोर संघर्षमय वातावरण में अस्थायी राग-चेतना को बनाए रखने के लिए इस प्रकार के समन्वित भावबोध की अतिशय आवश्यकता थी। इसके माध्यम से उन्होंने नयी कविता को एक स्वस्थ एवं अतिवाद मुक्त जीवन-दृष्टि प्रदान की। उसे अपने पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा अधिक संतुलित एवं विकसित भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। यहाँ उन्होंने छायावादी अशरीरी वासना और वायवी प्रेम के स्थान पर भौतिक प्रेम की प्रतिष्ठा की। वैयक्तिक प्रेम की निरावृत्त एवं सहज अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जिसमें न तो कोई परिधान है, न कृष्ण और न कोई अप्रस्तुत पक्ष ही। सब कुछ स्पष्ट और निष्कपट है। सामाजिक यथार्थ-चेतना को भी उन्होंने नये रूप में प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी काव्य-दृष्टि ने तो शोषित वर्ग को बौद्धिक सहानुभूति और स्त्रीय संवेदनाएँ प्रदान करने और उसके भविष्य के प्रति शुभाकांक्षा व्यक्त करने को ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली थी। पर माथुरजी ने सामाजिक चेतना के इससे कहीं अधिक गहरे स्तर की माँग की। उन्होंने काव्य की इस सामाजिक चेतना को मार्क्सवाद के लाल फीते के बन्धनों से मुक्त कर उसे एक व्यापक अर्थ से संयुक्त किया। व्यक्ति चेतना और सामाजिक चेतना के संतुलित समन्वय पर आवृत्त एक नई मानवतावादी संस्कृति को काव्य के धरातल पर उतारने का प्रयास किया।

सामाजिक अनुभूति के अनुभव के क्षेत्र की व्यापकता माथुरजी की सामाजिक चेतना की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। उनकी सामाजिक दृष्टि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय भूमि पर पहुँची है। उन्होंने सम्पूर्ण मानवता को एक समंजस, अविभाज्य इकाई के रूप में देखा है। उनकी दृष्टि में समस्त विश्व अंगी है। उसके किसी भी अंग की कोई विकृति या दुःख-दर्द उनकी सहानुभूति का विषय है। उन्होंने समस्त विश्व को अखण्ड रूप में देखा है और उसकी आत्मा को अभिव्यक्ति दी है। 'एशिया का जागरण', 'अदन पर बमबर्षा', 'हृन्सदेश', 'नई भारती', 'पहिए', आदि अपनी अनेक कविताओं में गिरिजाकुमारजी ने अन्याय, अत्याचार एवं दमन के विरुद्ध संघर्ष करती हुई मानवता के सुख-दुःख, आशा एवं उल्लास को वाणी दी है। इन कविताओं में मानव-मूल्यों के प्रति उनकी दायित्व-चेतना स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आई है। स्वातन्त्र्य-मूल्य में विश्वास और

सामान्य जन की मुक्ति के आग्रह के स्वर इन रचनाओं में पूरी शक्ति एवं दृढ़ता के साथ कूटे हैं—मानवता की शक्ति, सामर्थ्य एवं अनवरत गतिशीलता में अटल विश्वास ध्वनित हुआ है—

‘मति व्यर्थ गई, उपलब्धिहीन साधना रही
मन में लेकिन संध्या की लाली बाकी है।
इस लाली का मैं तिलक करूँ हर भाँधे पर
तू उन सबको जो पीड़ित हैं मेरे समान
दुख, दर्द अभाव भोगकर भी जो झुके नहीं
जो अन्यायों से रहे झुझते वक्ष तान।
जो सजा भोगते रहे सदा सच कहने की
जो प्रभुता पद आतंकों से नत हुए नहीं,
जो विफल रहे पर कृपा न माँगे घिघियाकर
जो किसी मूल्य पर भी शरणागत हुए नहीं।’

विषय-वस्तु के क्षेत्र माथुरजी की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन नागरी चेतना (Urban Sensibility) है। उन्होंने नयी कविता के माध्यम से पहली बार आधुनिक नागरीय जीवन को उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ कविता में उतारने का प्रयास किया है। शहरों के सामान्य जीवन के नानाविध चित्र उनकी कविताओं में रूपायित हुए हैं। जिनके माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन का एक विशिष्ट चित्र समग्रता से उभरकर सामने आया है। सामाजिक यथार्थ का यह नया प्रयोग नयी कविता की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

काव्यवस्तु के क्षेत्र में नयी कविता को माथुरजी की तीसरी महत्त्वपूर्ण देन विज्ञान-चेतना का सूत्रपात है। अपनी पृथ्वीकल्प (नाट्य काव्य), कालदृष्टि आदि रचनाओं के माध्यम से माथुरजी ने अणुयुग की वैज्ञानिक चेतना को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देकर आगामी विज्ञान-काव्य की सम्भावनाओं के नूतन आयाम खोल दिए हैं। इन रचनाओं के द्वारा निश्चित रूप से कविता के क्षेत्र में एक अच्छे क्षेत्र का उद्घाटन हुआ है। यहाँ मानव को उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में रूपायित किया गया है। विज्ञान के अमूर्त मूल्यों के आधार पर और उन्हीं के माध्यम से उसके (मानव के) हृदय में सहज रूप से उद्भासित अनुभूतियों की व्यंजना की गई है। हमारी दृष्टि में काव्य के क्षेत्र में यह पहला क्रान्तिकारी प्रयास है जिसने विना किसी अतिबौद्धिक परिणति के वैज्ञानिक युग को हृदय के स्तर पर प्रेषणीय सिद्ध कर दिखाया है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार वैज्ञानिक नियम और सिद्धान्त संवेदना और भावना के संयोग से काव्य की धरोहर बन सकते हैं, कैसे वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित अनुभूतियों और विचारों को काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो सकती है।

निस्मन्देह माथुर का यह प्रयोग नयी कविता ही नहीं काव्यमात्र में एक

१. शिलापंख चमकीले—५० नं०।

साहित्यिक प्रयोग है, जिसने काव्यवस्तु के क्षेत्र में संभावनाओं के नये क्षितिज खोले हैं। यह नयी कविता की विशिष्टतम मौलिक उपलब्धि है। जिसने हिन्दी-काव्य को आधुनिक अन्तरिक्ष युग के वैज्ञानिक चेतनासम्मत नवीनतम भावबोध से संयुक्त कर दिया है।

उपर्युक्त विशिष्टताओं के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नयी कविता के आधुनिकतम स्वरूप के निर्माण में गिरिजाकुमार माथुर का योगदान अन्यतम है। नयी कविता को कविता बनाए रखने का प्रयास करने वाले कवियों में वे मूर्द्धन्य स्थान के अधिकारी हैं।

डॉ० नरेन्द्रदेव वर्मा

मुक्तिबोध का आलोचना-दर्शन

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध एक आधुनिक कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका काव्य कविता की प्रचलित धारा से कुछ अलग-सा प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि वे प्रयोगवादी या तथाकथित नये कवियों के समान कविताएँ नहीं लिखते। उनकी काव्य-मृष्टि अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और संयमित है। आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध के समान भावप्रशमन की चेष्टा और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को विवेक के द्वारा समायोजित करने का कार्य बहुत कम हुआ। वे अन्यान्य कवियों के समान मानसिक उद्वेलन की भँवर में पड़कर निस्सहाय हो जाते और अपनी निर्गुण मानसिक ग्रन्थियों के उन्मोचन के लिए व्याकुल नहीं होते। वे एक अन्वेषी की दृष्टि से मानसिक संघात के गति-चित्रों को देखते हैं और उनकी प्रत्येक भंगिमा को अनेकानेक प्रतीकों के द्वारा विशिष्ट आकार प्रदान करते हैं। इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध का एक विशिष्ट स्थान है।

उनके इस अपूर्व काव्यगत संयम और धैर्य का रहस्य क्या है? वह है उनका दर्शन और कविता के सम्बन्ध में उनकी मौलिक धारणा। वे कविता को कुण्ठा की मुक्ति या व्यक्तित्व के पलायन का साधन नहीं मानते। उनका विचार है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। मुक्तिबोध कविता को वैयक्तिक प्रयास का प्रतिफल नहीं समझते अपितु उसे समूह-मन का उच्छलन मानते हैं। उनका कथन है कि “काव्यरचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं।

आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध को नव्य प्रगतिवादी समीक्षक कहा जा सकता है। जो साहित्यिक चिन्तना मार्क्स और एंजिल्स के साहित्य-विषयक विचारों को आधार के रूप में ग्रहण कर प्रवाहित हुई है उसके अनेक स्तरों और आयामों का

विकास भी यथासमय हुआ है। समय के साथ ही अनेक प्रगतिवादी चिन्तकों ने साहित्य की आर्थिक-सामाजिक व्याख्या के साथ अन्य दृष्टियों का समावेश भी किया है। आधुनिक काल में प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तन की दो धाराएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। प्रगतिवादी आलोचकों का एक वर्ग विशुद्ध आर्थिक और सामाजिक आधार पर साहित्य-समीक्षा का आग्रह करता है। इस प्रकार के समीक्षकों की चिन्तनाओं को असाहित्यिक कहना कोई अर्थ नहीं रखता। इस समीक्षा का एक बड़ा लाभ यह है कि यह हमें साहित्य को युगजीवन के साथ सम्पृक्त कर देखने का अभ्यस्त बनाता है और हम इसके माध्यम से सामाजिक उन्नयन के सूत्रों को टटोलना सीखते हैं। यह सच है कि सामाजिकता का अनुशीलन करते-करते साहित्य की मौलिकता की ओर दृष्टि नहीं जा पाती और साहित्य के सूक्ष्मतर सौन्दर्य-संवेदनों का आकलन नहीं हो पाता। इसी कमी को पूरा करने के लिए एक नई शैली की अवतारणा के प्रयत्न प्रगतिवादी चिन्तकों के द्वारा किये जा रहे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रगतिवादी आलोचना एक नये उन्मेष से सम्पृक्त दिखाई देती है। यह समीक्षा-शैली साहित्य के आर्थिक और सामाजिक सन्दर्भों की व्याख्या करना ही पर्याप्त नहीं समझती प्रत्युत् साहित्य के मृजनमूलक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आकलन करना भी आवश्यक मानती है। साहित्य-विवेचन की इस नई शैली को नव्य प्रगतिवादी समीक्षा कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध का आलोचना-साहित्य प्रगतिवादी समीक्षा के इसी नये उन्मेष की सूचना देता है। प्रगतिवादी आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने प्रगतिवादी साहित्यालोचन की वैज्ञानिक पद्धति में मनोविश्लेषणात्मक सूक्ष्मता का आनयन किया है। मुक्तिबोध साहित्य की आर्थिक-सामाजिक व्याख्या को आवश्यक समझते हैं और भौतिक जगत् की उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिन्होंने साहित्यकार के जीवन को प्रभावित किया है। किन्तु इसके साथ ही वे साहित्य-कार के आन्तरिक जगत् का अनुशीलन भी करते हैं और उसकी उन मानसिक ग्रंथियों, गुणों और संक्रान्तिशील मनःस्थिति का विश्लेषण करते हैं जिसकी छाप उनकी कृति में अनेकानेक आवरणों, कलात्मक परिधानों और वाक्य-योजनाओं की तह में दबी हुई है। किन्तु ये ही मुक्तिबोध के समीक्षात्मक प्रयास नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे एक अन्य गहनतर तत्त्व का आकलन करते हैं। वे साहित्यकार की चेतना का भी सम्यक् अवलोकन करते हैं जो बाह्य और आन्तरिक जगत् को एक साथ भोगती है तथा जो कला का मूल उत्स है। मुक्तिबोध का दूसरा प्रदेय यह है कि वे शताब्दियों से रहस्यमय, दैवी और अप्राकृत कहकर नकारे जाने वाले कला-उत्स के वैज्ञानिक विश्लेषण का आग्रह करते हैं।

मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन के तीन स्तर हैं। पहले स्तर पर वे काव्य और साहित्य की सैद्धान्तिक चर्चा करते हैं। यह स्तर उनके दार्शनिक वर्चस्व से निर्मित हुआ है। यहाँ मुक्तिबोध एक तत्त्व-चिन्तक की तरह काव्य के उपादानों की विवेचना करते हैं। उनका यह प्रयास साहित्यिक की अपेक्षा अधिक दार्शनिक प्रतीत होता है।

दूसरे स्तर पर वे समीक्षा की परम्परागत मान्यताओं की परीक्षा करते हुए समीक्षा-सूत्रों का एक नया संयोजन उपस्थित करते हैं। इसी भूमिका पर वे प्रचलित प्रगतिवादी समीक्षा के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत करते हैं, उसकी न्यूनताओं की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं और प्रगतिवाद का एक नया आलोचना-सिद्धान्त बनाते हैं। तीसरा स्तर उनकी व्यावहारिक समीक्षा से निमित्त हुआ है। यहाँ मुक्तिबोध का साहित्य-चिन्तन अधिक भव्य और साहसिक हो गया है। इस स्तर पर वे साहित्य के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक अनुशीलन से उपलब्ध सूत्रों के आधार पर साहित्यकार के बाह्य एवं आभ्यन्तरिक जीवन की परीक्षा करते हैं। भौतिक जगत् की सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का उल्लेख करते हुए वे कृति में प्रतिच्छादित सृष्टा की कुण्डलों, प्रेरणाओं, ग्रन्थियों एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भों का उद्घाटन करते हैं। इसके साथ ही वे इसी त्रिगुणी पद्धति के आधार पर नई काव्य-प्रवृत्ति की विशद विवेचना करते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रकार की आलोचना-पद्धति स्वयं में पूर्ण और समग्र है? क्या साहित्य की आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही पर्याप्त है? क्या इनके अतिरिक्त साहित्य के किसी पक्ष का विश्लेषण-विवेचन आवश्यक नहीं होता? ये बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। अकसर यह कहा जाता है कि साहित्य केवल आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों का ही प्रतिफल नहीं है। उसके निर्माण में मनुष्य की सौन्दर्यात्मक अनुभूति का भी विशेष स्थान होता है। साहित्यकार के सौन्दर्य-बोध की भित्ति पर कलाकृति के भवन का निर्माण होता है। सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ कलाकृति के सृजन का उपादान कार्य हो सकती हैं। पर वे कला का मूल कारण नहीं हैं और केवल बाह्य उपादानों को ही साहित्य-जिज्ञासा का केन्द्र मान लिया जाए तो ऐसी जिज्ञासा समग्रगत नहीं कही जा सकती और तज्जन्य निष्कर्षों की मूलवृत्ता के समक्ष प्रश्नचिह्न लग जाता है। कला का मूल हेतु साहित्यकार का सौन्दर्य-बोध है। जब कलाकार अपने सौन्दर्य-बोध को शब्दों और वाक्यों में रूपायित करने का प्रयत्न करता है तब बाह्य और आन्तरिक जगत् की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं।

मुक्तिबोध सौन्दर्यवादी आलोचक नहीं हैं। कला के सौन्दर्यमूलक उपादानों के प्रति न तो उनकी रुचि है और न उनकी समीक्षा में कलाकृति के सौन्दर्य-संवेदनों को व्यक्त करने के लिए कोई अवकाश ही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुक्तिबोध कलाकृति के सौन्दर्य-पक्ष को व्यर्थ समझते हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "पाठक का यह आदि कर्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य को आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुजरकर ही कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।" मुक्तिबोध कलात्मक सौन्दर्य के मूल्य और महत्त्व को समझते हैं किन्तु उसे कला की अन्तर्वर्ती सत्ता नहीं मानते। सौन्दर्य कृति का मर्म नहीं है। वह तो मात्र उसका प्रवेश द्वार है। कलाकृति की अन्तर्व्यापिनी सत्ता सौन्दर्य नहीं प्रत्युत् जीवन है। इसी

तत्त्व की अभिव्यक्ति करने के लिए कलाकार युगों से प्रयत्न करता आया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कलाविवेचकों ने निरन्तर इसकी उपेक्षा करके सौन्दर्य की महिमा का गान किया है। यही कारण है कि जीवन का विवेचन मुक्तिबोध की आलोचना का आदि-सन्धान बन गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन के प्रति मुक्तिबोध का यह आत्यन्तिक अभिनिवेश प्रगतिवादी समीक्षा की जानकारी से विकसित हुआ है।

इसी भूमिका पर मुक्तिबोध प्रभाववादी आलोचकों से अपनी पृथकता प्रकट करते हैं। प्रभाववादी या सौन्दर्यवादी विवेचक कला के अन्य तत्त्वों को ताक में रखकर उसकी सौन्दर्यानुभूति की खोज करने का प्रयास करता है और सौन्दर्य-भावना के आलोक में समस्त कला की व्याख्या करता है। सौन्दर्यवादी आलोचक यह मानकर चलता है कि कृति का प्रभाव या सौन्दर्य स्वयं अपने मानदण्डों की उत्सर्जना करता है और कृति के स्फूर्त प्रभाव के आलोक में ही वह उसकी विवेचना करता है। मुक्तिबोध प्रभाव पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे कलात्मक सौन्दर्य के रुपहले परदे को चीरकर कृति के मर्मस्थल को देखना चाहते हैं। वे जानते हैं कि अपने इस साहित्यिक अभियान में वे कृति पर प्रतिच्छायित जीवन और जगत् के दोहरे प्रभावों का अंकन कर सकते हैं। यही मुक्तिबोध की आलोचना का प्राणकेन्द्र है। उनकी सारी जिज्ञासाएँ उस जीवन और जगत् के चारों ओर घूमती रहती हैं, “जो जीवन-जगत् आन्ध्रतर और वाह्य इन दोनों तत्त्वों से निर्मित है, जो जीवन-जगत् मानव-सम्बन्धों, जीवन-मूल्यों, ज्ञान-दृष्टियों तथा गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय है जो कलाकार के अन्तःकरण में अनेक मिश्र-रूपों में संचित होकर, अभिव्यक्ति क्षणों में प्रोद्भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ।” यह मुक्तिबोध की विचारणा का प्रधान सूत्र है। यह वह सेतु है जहाँ कलाकार को प्रभावित करने वाली भौतिक परिस्थितियाँ कलात्मक मनस् के सागर में आलोडित-प्रलोडित उर्मियों पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हुई देखी जा सकती हैं। यह वह मिलन-स्थल है जहाँ प्रगतिवाद और मनोविश्लेषण एक-दूसरे से गले मिलते हैं। इसी मान्यता के आधार पर मुक्तिबोध काव्य की रचना-प्रक्रिया जैसे गूढ़ विषयों पर विचार करते हैं। इसी दृष्टि के आलोक में वे हिन्दी-समीक्षा की एकांगिता का परिदर्शन करते हैं। किन्तु उनका विरोध मात्र विरोध के लिए नहीं होता प्रत्युत वे एकांगिता का निराकरण करने के लिए मुझाव देते हैं और आलोचना के नये मान-मूल्यों की स्थापना करते हैं। और अन्ततः वे इन अभिनव मान्यताओं की कसौटी पर आधुनिक हिन्दी-कविता को कसते हैं। मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन और काव्यगत मान्यताओं की दृष्टि से ‘एक साहित्यिक की डायरी’ उल्लेखनीय है। यहाँ वे अपेक्षाकृत अधिक सहज होकर अपनी काव्य-विषयक धारणाओं का परिचय देते हैं। ‘नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध’ उनकी क्रियात्मक आलोचना के सूत्रों का संयोजन है। इस ग्रन्थ में तथाकथित नई कविता की न्यूनताओं के उल्लेख के साथ आधुनिक हिन्दी आलोचना का सिंहावलोकन किया गया है। ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ मुक्तिबोध की व्यावहारिक

१८० : आलोचना

समीक्षा का आधार-ग्रन्थ है। मुक्तिबोध एक वैज्ञानिक की तरह अपनी प्राक्कल्पना को यहाँ अनेकानेक स्तरों और सोपानों पर प्रयोगों के द्वारा सिद्ध करने में व्यस्त है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववादी या सौन्दर्यवादी आलोचक की बहुलता है। प्रभाववादी समीक्षक की आलोचना-पद्धति बहुत-कुछ अयान्त्रिक और अवैज्ञानिक होती है। सौन्दर्य के प्रति आत्यन्तिक अभिनिवेश रखने के कारण समीक्षक की दृष्टि कृति के अन्य अंगों तक नहीं पहुँच सकती। समीक्षक केवल सौन्दर्य का आस्वादन करता है और कृति के प्रति अपनी प्रगल्भ भावमय प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। आजकल ऐसा माना जाता है कि सौन्दर्यमूलक दृष्टि ही एकमेव साहित्यिक दृष्टि है। प्रभाववादी आलोचक पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों के आधार पर कृति को मूल्यांकन नहीं करता, इसलिए इस शैली को पूर्वाग्रहविनिर्मुक्त और तटस्थ कहा जाता है। मुक्तिबोध की आलोचना-पद्धति दूसरे सीमान्त पर स्थित है। वह अपेक्षाकृत अधिक यांत्रिक और वैज्ञानिक है। वे साहित्य में वर्णित कल्पना को निरपेक्ष विश्लेषण और तर्क की कसौटी पर कसते हैं। सौन्दर्य का निरपेक्ष आकलन उन्हें महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस दृष्टि में एक कमी यह हो सकती है कि कलात्मक प्रभाव का पक्ष अच्छा छूट जाता है। मुक्तिबोध इस कमी को जानते हैं पर इसके लिए वे प्रकट नहीं करते। वे इस बात से निश्चिन्त हैं कि सौन्दर्य-आख्यान का कार्य हिन्दी में बड़े ढल्ले से हो रहा है और इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। वे यह भी जानते हैं कि इस पक्ष के अभाव में उनकी आलोचनाओं का विरोध किया जाएगा और वे विध्वंसात्मक कहा जाएगा। पर मुक्तिबोध इस विरोध का सामना करने के लिए पूर्ण तरह से तैयार हैं।

चन्द्रदेव सिंह

भारती का काव्य

भारती के सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व को मात्र कुछेक शब्दों के द्वारा परिभाषित कर पाना आसान नहीं। भारती की काव्य-यात्रा नये-नये जीवन-लक्ष्यों, क्षितिजों, अनुभूतियों और वैचारिक भाव-भूमियों से होकर उत्तरोत्तर नई मंजिलों को छूती, चमत्कृत करते हुई क्रियाशील है।

यदि भारती की सम्पूर्ण काव्य-चिन्तना के बीच से उठते-उभरते हुए व्यक्ति की कल्पना की जाए, तो लगेगा—एक नवयुवक अल्हड़ पर उत्साही; प्रेमी हृदय और संवेदनशील, सौन्दर्यान्वेषी और यह सौन्दर्यान्वेषण दैहिक, मांसल उपभोग की कामना से अभिभूत। मगर वह केवल इन्हीं सीमाओं में बँधकर नहीं रह जाता बरन् युग-युग जनित स्थितियाँ और उसका आन्तरिक विवेक उसे विभिन्न पथों और मोड़ों पर खड़ा करते हैं। वह आज भी क्रियाशील और सचेष्ट है। इसीलिए उसके सम्बन्ध में

भारती का काव्य : १८१

अन्तिम रूप से यद्यपि कुछ नहीं कहा जा सकता, पर उसकी अब तक की गतिविधियों, आकांक्षाओं और उपलब्धियों को देखा-परखा जा सकता है अवश्य ।

कभी तो वह किन्हीं फिरोजी होंठों पर ज़िन्दगी के बर्बाद होने की सूचना देता है तो कभी अपने संयम की अस्थिरता का दोष किसी स्पर्श के जुलम पर मढ़ता है । उसकी ये सारी क्रियाएँ, भावनाएँ, आकांक्षाएँ और विकलता पूर्ववर्ती कवियों, विशेषकर बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और अंचल के युग-विशेष की भावनाओं से इतर नहीं ।

वह मिलन-अवधि में प्रिया के सहज संकोच को भी सहन नहीं कर पाता; अनुरोध करता है—

यह छुईमुई-सा संकुचाना
भयभीत मृगी-सा घबराना
यह नहीं लाज की बेला प्रिय
कुञ्जों में छिप-छिप छेड़ रहा
दोशीजा कलियों को फागुन ।

—ठण्डा लोहा

किंतु उसे जब उसके ऐसे मनोभाव स्वयं अपराधी-सा अनुभव करने को बाध्य करते हैं तब वह पाप-पुण्य के विश्लेषण द्वारा अपनी इच्छाओं को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों और सहारा देने का प्रयत्न करता है—

धर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझको पाप कैसे हो
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझको शाप कैसे हो ?

—ठण्डा लोहा

अपनी इसी स्वाभाविक सहजता के साथ वह अपने संयम की अस्थिरता के लिए किसी के स्पर्श को जुलम का कारण मानता है—

तुम्हारे स्पर्श के ही जुलम से संयम न टिक पाता
किसी गुमनाम टोने में बँधा मैं और अकुलाता

—ठण्डा लोहा

और ऐसे ही स्पर्श के जुलम का शिकार बन वह बार-बार उसी रसधारा में अपने-आपको बहाते जाने की कामना व्यक्त करता है—

साँसों में उलझा दो अपनी एक अलक बारीक
माथे पर धर हाथ, शर्ट का कालर कर दो ठीक
धीमे-धीमे और तुम्हारी ही गोदी में
आज आखिरी साँस तोड़ दे मेरा भी विश्वास
आज छोड़ सब काम-काज तुम बैठो मेरे पास ।

—ठण्डा लोहा

१८२ : आलोचना

बच्चन के कवि ने भी कभी ऐसी ही इच्छा व्यक्त की थी—
 कल सुघाहूँ गा हुई संसार में जो भूल
 कल उठाऊँगा भुजा अन्धाय के प्रतिकूल
 आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार
 सुमुखि ! ये अभिसार के पल चल करे अभिसार ।

—बच्चन

और यही तो, ऐसी ही इच्छा कभी नरेन्द्र शर्मा ने भी प्रकट की थी—
 प्रिये, अभी मधुराधर कुम्बन
 गात-गात गूँथे आलिंगन
 सुने अभी अभिलाषी अन्तर
 मृदुल उरोजों का मृदु करुपन ।

—नरेन्द्र शर्मा

और आरसी प्रसाद सिंह ने भी—

मत हो लज्जा सरि में निमग्न
 कर दे कुछ नीची ग्रन्थि भग्न

और अंचल ने भी तो कुछ क्षण और ठहर जाने का ही अनुरोध किया था, मात्र भर; ताकि प्राण पंछी की फड़फड़ाती आँखें तृप्त हो लें [पता नहीं तृप्ति की कामना आँखों में ही निहित थी ?]

तुम्हारे कण्ठ की मधु बंसरी जलधार-सी चंचल
 तुम्हारी चितवनों की छाँह मेरी कामना उज्ज्वल
 उलझती फड़फड़ाती प्राण पंछी की तरुण आँखें
 ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें ।

लेकिन युवक और आगे बढ़ता है। जीवन के परिवर्तन और सामान्यताएँ उसे भी तो प्रभावित करती हैं। अब वह मात्र वैयक्तिक कामनाओं के विशेष महत्त्व नहीं देता, वरन् लोक-मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न बार-बार प्रेरित करने लगता है—

प्रीति ही सब कुछ नहीं है
 लोक की मरजाद है सबसे बड़ी ।

—ठण्डा लोहा

यही लोक-मर्यादा उसे कच्ची साँसों के इसरार को अनसुनी करने पर बाध्य करती है। 'मुग्धा' का सौन्दर्य अब उसे पूर्वपिक्षा कम आकर्षित कर पाता है। 'और भी प्रेम जमाने में मुहब्बत के सिवा' कुछ ऐसी ही अनुभूति उसे भी होती है—

यह काम काज दपतर फ़ाइल उचटा-सा जी
 भत्ता, वेतन
 ये सब सच हैं

इनमें से रस्ती-भर न किसी से कोई कम

अंधी गलियों में पथभ्रष्टों के गलत क्रदम
 या चाँदी की छाया में भर-भर आने वाली आँखें नम
 बच्चों की-सी दूधिया हँसी
 या मन की लहरों पर उतराते हुए कफ़न ।
 ये सब सच हैं ।

—ठण्डा लोहा

और यहीं से वह अपने-आपसे बाहर निकलकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयास करता लक्षित होता है । यहीं याद आते हैं 'ठण्डा लोहा' संकलन के कुछ वाक्य ...मेरे विकास और परिपक्वता के साथ उनके स्वर भी बदलते गए हैं । पर आप जरा ध्यान से देखेंगे तो सभी में मेरी आवाज़ पहचानी-सी लगेगी । ...ये गलियाँ भी थीं जिनसे होकर मैं गुज़र चुका । ... (भूमिका भाग) यहाँ पहुँचकर भारती का काव्य-व्यक्ति जन-व्यापी सच्चाई के प्रति अपने-आपको अर्पित कर देने की ही जीवन का लक्ष्य मानते लगता है । पर इस सत्यान्वेषण की दिशा भी स्पष्ट नहीं है । कभी तो वह सामाजिक सत्य को महत्त्वपूर्ण मानता है और कभी वैयक्तिक । कभी-कभी उसे उसका पिछला रूमानी संस्कार भी आकर्षित करता है । वह इन्हीं सारे मानसिक संघर्षों के बीच कभी इस छोर, कभी उस तट पर दिखलाई देता है ।

उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
 वैयक्तिक सीमा में बद्ध
 जितना झूठा है यह दुख
 उतना ही झूठा है सुख
 सुख-दुख इन दोनों के पार—ब्या पायेंगे प्रभु !

ब्या पायेंगे

कूड़े-से हमको तजकर तट के पास
 मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास
 सामूहिकता भी केवल
 साबित होगी जिस दिन छल
 अपनी वैयक्तिकता हार—ब्या पायेंगे प्रभु !

अपने इन्हीं प्रश्नों का समाधान वह विभिन्न पौराणिक-ऐतिहासिक पात्रों-प्रतीकों के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है । इसीलिए वह कभी 'प्रमथ्यु माथा' को दोहराता है तो कभी 'युयुत्सु' की मानसिक विकलता का सहारा लेता है । दोनों सत्य का आश्रय लेते हैं, सामूहिक विकास के आकांक्षी हैं । प्रमथ्यु अन्धकार में भटकती सृष्टि के लिए स्वर्ष से अग्नि चुराकर लाता है । परन्तु वह जिनके लिए प्रकाश की व्यवस्था करता है वे सब प्रमथ्यु की पीड़ा से प्रसन्न हैं । उसका दुख उनके लिए मात्र तमाशा है, करिश्मा है । प्रमथ्यु को बँधा हुआ तथा उसके हृदय-पिण्ड को गिद्ध द्वारा नोंच-नोंचकर खाता देखकर जनसाधारण की घोषणा है—

यह जो हम अब भी खड़े हैं
 प्रमथ्यु के आसपास
 इसलिए नहीं कि हम उसके अनुगामी हैं !
 हम हैं तमाशबीन
 देख रहे हैं कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से
 कैसे वह कंधे पर बैठा हुआ गिद्ध
 नोच-नोच खाता है उसका हृदय-पिण्ड ।

× × ×

यह है करिश्मा और
 हम सब करिश्मों के प्यासे हैं
 चाहता अगर तो हममें से हर एक व्यक्ति
 अपने ही साहस से प्रमथ्यु हो सकता था
 लेकिन हम डरते थे
 ज्योति चाहते थे
 पर दण्ड भोगने से हम डरते थे

× × ×

हम खुद क्यों लें कोई भी निर्णय ?

—सात गीत वर्ष

समूह के लिए वैयक्तिक उत्सर्ग के परिणाम की वेदना से अभिभूत प्रमथ्यु जनसाधारण की स्थिति से दुखी नहीं होता; वरन् उस दिन की आशा में सारी पीड़ा झेलता जाता है कि कभी तो इस जनसाधारण में आत्मविश्वास और आत्मशक्ति का उदय होगा। वह कहता है—

कटु मैं नहीं हूँ
 घृणा किससे करूँगा मैं ।
 ये जो जन हैं, साधारण जन हैं
 इनमें से एक-एक के अन्दर
 मूर्छित प्रमथ्यु कहीं बन्दी है
 अवसर जिसे मिला नहीं साहस कर पाने का ।
 कोई तो ऐसा दिन होगा
 जब मेरे ये पीड़ा सिक्त स्वर
 इनके मन को बेध मूर्छित प्रमथ्यु को जगायेंगे
 उस दिन
 हाँ, उस दिन
 अकेला मैं रहूँगा नहीं ।

—सात गीत वर्ष [प्रमथ्यु गाथा]

‘प्रमथ्यु’ की भाँति ही ‘युयुत्सु’ भी सत्य और धर्म का ही आश्रय लेता है।

भारती का काव्य : १८५

महाभारत युद्ध में वह अपने सौ भाइयों और माता-पिता तथा सारी कौरव सेना को त्यागकर पाण्डवों का पक्ष लेता है। उन्हीं की ओर से युद्ध भी करता है। पर युद्ध की समाप्ति पर न तो पाण्डवों से ही उसे यथोचित महत्त्व मिलता है और न प्रजा से ही। एक ओर अपने भाइयों का अधिक और दूसरी ओर पाण्डवों की ओर से उपेक्षा पाकर युयुत्सु प्रत्येक क्षण इन्हीं मानसिक उद्वेलनों से आक्रान्त, दुःखी और क्षुब्ध दीखता है। उसके अन्तर की कल्पना कितनी भयावह है—

मेरा अपराध सिर्फ इतना है

सत्य पर रहा मैं दृढ़

पर—अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं

पक्ष चाहे सत्य का हो

अथवा असत्य का।

—अन्धा युग

और सत्य की भी चरम परिणति आस्थाहीनता तथा अविश्वास में ही तो होती है। विदुर अन्त में इसी निष्कर्ष पर तो पहुँचते हैं—

सब के सब जैसे

उतर आये हैं अपनी धुरी से आज

एक-एक कर सारे पहिये हैं उतर गए जिससे

वह बिलकुल निकम्मी धुरी, तुम हो

क्या तुम हो प्रभु ?

—अन्धा युग

धुरीहीनता की यही स्थिति सत्य के पक्षधर के लिए भी आस्थाहीनता का हेतु बनती है। सत्य की चरम परिणति भी तो अविश्वास और अनास्था में होती है। 'युयुत्सु' ने भी सत्य का ही पक्ष लिया था पर परिणाम के रूप में मिली उपेक्षा, प्रताड़ना और घृणा। इसी से अट्टहास करता हुआ वह कहता है—

आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का

अब मिला अश्वत्थामा को

जिसे नकली और खोटा समझकर मैं

झड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले

युयुत्सु की यही आस्थाहीनता उसे कृशा के सारे योग-कर्म के बावजूद उनके प्रति निम्न विचार प्रकट करने को ही बाध्य करती है—

लेकिन मैं कहता हूँ

बंचक था, कायर था, शक्तिहीन था वह

बचा नहीं पाया परोक्षित को या मुझको

चला गया अपने लोक।

—अन्धा युग

युयुत्सु की यह अभिव्यक्ति अन्धा युग की विशेषता है, यानी ऐसे युग की जब

१८६ : आलोचना

क्या, क्यों और कैसे के प्रश्नवाचक चिह्न जीवन के प्रत्येक कार्य और परिणाम के लगे हों। 'अन्धा युग' महाभारत की अन्तिम रात्रि की ही कथा-व्यथा नहीं; वह आज का भी इतिहास है। आज की वर्तमान विश्वस्थिति भी तो कुछ इतर नहीं 'प्रमथ्यु' क्या पौराणिक कथा-चरित्र मात्र है? क्या आज के 'प्रमथ्यु' की पीड़ा मात्र करिश्मा नहीं? कवि ने इन पात्रों के माध्यम से कुछ ऐसे ही प्रश्नों को उभार का प्रयत्न किया है ताकि आज का व्यक्ति आधुनिक जीवन-जगत् की यथार्थ स्थिति का यथोचित विश्लेषण कर सके।

सत्य और धर्माचरण का परिणाम आस्थाहीनता, उपेक्षा फिर... फिर तो कवि को मात्र अन्तःप्रेरणा और आत्म-विवेक ही आश्रय-आधार-स्वरूप दिखलाई देते हैं।

'कनुप्रिया' भी कनु से बार-बार अन्तःप्रेरणा की ही दुहाई देती है। आधुनिक जीवन और बाध से परिचित राधा एक आधुनिका की ही भाँति हर प्रकार से असमनःस्थिति का प्रकाशन करती है। उसे आश्वासन, वायदे, कर्म, स्वधर्म अर्थहीन लगने लगते हैं। शब्द जैसे अपने पारम्परिक अर्थ से च्युत हो चुके हैं। और यह राधा का पागलपन नहीं; 'जनूने इश्क' नहीं, बल्कि स्वानुभूति का यथार्थ प्रकाशन है।

एक बार विलायत के एक प्रेम-प्रसंग की चर्चा करते हुए डॉ० बच्चन ने बताया था। प्रेमी प्रेमिका से अनगिनत वायदे करता रहा, विवाह करने की संकल्प-इच्छा बार-बार उद्घोष करता रहा। यदि विवाह सम्भव न हो पाया तो मृत्यु का आलिख ही एकमात्र आधार होगा—ऐसे अनेक वायदे प्रेमी ने दोहराये। पर आगे चलकर उसने किसी और से शादी कर ली तो प्रेमिका ने केवल एक वाक्य-भर कहा—*I have lost my faith in English language*—अंग्रेजी भाषा में मेरी आस्था खो रही। यानी जिस भाषा में इतना अधिक झूठ बोला जा सकता है, उसमें क्या आस्था और आज तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी ही आस्थाहीनता व्याप्त है। परम्परागत मूल्य अर्थहीन हो चले हैं। मान्यताएँ, वैयक्तिक-सामाजिक खोखली हो चुकी हैं। संकल्पों, आश्वासनों, विश्वासों का कोई रूप नहीं। सब कहीं एक अजीब स्थिति। तो कोई किसी से सच बोलता है और न सच सुनना चाहता है। आधुनिकता का वर्तमान युग प्राचीन मूल्यों के विवर्तन और नवीन मूल्यों के स्थापन का है। भारतीय कवि ने भी इसे जाना और परखा है। अन्तःप्रेरणा और आत्मविवेक की स्थिति कवि के ऐसे ही अनुभवों का परिणाम है।

राधा भी कृष्ण के द्वारा अभिव्यक्त शब्दों को मात्र थोथे शब्द-भर स्वीकार करती है—

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व

शब्द, शब्द, शब्द

मेरे लिए नितान्त अर्थहीन हैं

मैं इन सबके परे अपलक तुम्हें देख रही हूँ

इस प्रकार मोटे तौर पर भारती के सम्पूर्ण काव्य को तीन खानों में बाँटा जा सकता है—

- (अ) छायावादोत्तर व्यक्तिवादी काव्यधारा के प्रमुख कवियों वचन, नरेन्द्र शर्मा इत्यादि जैसी वैयक्तिक प्रणय-भावना से युक्त विरह-मिलन की अभिव्यक्ति;
- (ब) युग और बाह्य जीवन से प्रेरित रचनाएँ, जैसे निराला, सुभाष इत्यादि के प्रति लिखी कविताएँ और 'अन्धा युग' के कतिपय अंश;
- (स) नये मानव-मूल्यों और नई जीवन-स्थिति-स्थापना का प्रयत्न; पौराणिक पात्रों-प्रतीकों के माध्यम द्वारा ।

भारती की इन नवीन स्थापनाओं के पक्ष और विपक्ष में पिछले दिनों काफ़ी कुछ कहा गया है, कहा जा सकता है । उनके मानवतावाद वाले सिद्धान्त को लेकर भी कुछ प्रतिवद्ध खेमों से काफ़ी बौछारें हुई हैं । मैंने मात्र उनके काव्य का एक सहज लेखा-भर प्रस्तुत किया है । साथ ही मैं इतना और कहना चाहूँगा कि मुझे भारती का स्वर असामाजिक कहीं नहीं लगा । उनका वैयक्तिक विवेक काफ़ी अस्पष्ट और बुंघला-सा प्रतीत होता है, किन्तु एक बात उनमें प्रारम्भ से अन्त तक दीखी... वैयक्तिक मुक्ति के द्वारा दूसरों की मुक्ति की कामना और यह मुक्ति भी दायित्व-पूर्ण हो । 'मानव मूल्य और साहित्य' में अज्ञेय की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए भारती ने इसी व्यक्ति-मुक्ति और दायित्व की चर्चा की है—

दर्द सबको माँजता है

और जिन्हें वह माँजता है उन्हें वह सीख
देता है

कि सबको मुक्त रखें

—पृष्ठ १७६

प्रमथ्यु भी यही सोचता है, युयुत्सु भी प्रकारान्तर से इसी विचार की पुष्टि करता है । 'कनुप्रिया' सारी वैयक्तिक सुखाभिलाषा के बावजूद 'कनु' के विचारों की पुष्टि करने का प्रयास करती है—

और जब तुमने कहा था—'माथे पर पल्ला डाल लो'

तो क्या तुम चिन्ता रहे थे

कि अपने इसी निजत्व को, अपने आन्तरिक अर्थ को

में सदा मर्यादित रखूँ;

रसमय और पवित्र रखूँ

नव वधू की भाँति

—कनुप्रिया

और यहीं याद आती हैं 'ठण्डा लोहा' की पंक्तियाँ—

प्रीति ही सब कुछ नहीं है

लोक की मरजाद है सबसे बड़ी ।

भारती वैयक्तिक मुक्ति में भी लोक-मर्यादा तथा लोक-दायित्व को भूल नहीं पाते और सम्भवतः कवि की यही सबसे बड़ी विशेषता उसे दूसरे समकालीन कवियों की अपेक्षा विशिष्ट और प्रतिष्ठा का पात्र सिद्ध करने में पूर्णरूपेण सक्षम है ।

उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु'

फणीश्वरनाथ 'रेणु' उस स्वान्व्योत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं जहाँ 'भारतमाता और भी जार-बेजार रो रही है।' यों, यही समस्या प्रेमचन्द को भी भारतीय इतिहास की सदियों की ट्रेजडी से विरासत में मिली थी। उन्होंने अपने प्रारम्भिक आदर्शवाद के केंचुल को उतारकर अपने अन्तिम दिनों में इसी ट्रेजडी को सम्पूर्णता और विराटता में 'गोदान' के द्वारा अत्यंत ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया था। इसीलिए उच्छ्वसित राष्ट्रीयता और आदर्शवाद के रोमांटिक युग में भी प्रेमचन्द ने भारतमाता का 'सुजलां, सुफलां, सस्यश्यामलां' विजन (Vision) नहीं देखा। 'रेणु' भी प्रेमचन्द की ही तरह ह्रमानी नहीं हैं। किन्तु वे प्रेमचन्द से भिन्न इस बात में हैं कि उन्होंने टूटे हुए भारतीय ग्रामीण जीवन के आभ्यन्तरिक संगीत को पकड़ा है और टूटे हुए गाँवों और टूटे हुए लोगों की टूटी हुई जिन्दगी में वे एक अज्ञात किन्तु अनवरत, अप्रतिहत, प्रबलमान लय की खोज कर सके हैं। चतुर्मुखी हास से टूटकर भी ये गाँव मर क्यों नहीं गए हैं, इसे 'रेणु' के उपन्यासों से समझा जा सकता है।

बदलता हुआ ग्रामीण अर्थशास्त्र और जीवन

प्रेमचन्द ने सामंती व्यवस्था की सदियों पुरानी चक्की के नीचे दबकर भारतीय गाँवों का तार-तार बिखरते देखा था और उसी की करुणा की एक-एक बूंद निचोड़कर उन्होंने 'गोदान' की ट्रेजडी का निर्माण किया था। उनके उपन्यासों में भारतीय जीवन का यह चित्र उभरने लग गया था कि किस प्रकार सामंती व्यवस्था के उड़ते-टूटते पुर्जों का स्थान नया पूंजीवाद लेता जा रहा है। 'रेणु' के उपन्यासों की शुरुआत वहाँ से होती है, जहाँ से प्रेमचन्द के उपन्यासों का अंत होता है। 'रेणु' उस बिन्दु से खड़े होकर देख रहे हैं जहाँ से सारा भारतीय जीवन बेमानी लगता है। यह भारतीय जीवन एक अर्थहीन 'जुलूस' है। "यह जुलूस कहाँ जा रहा है, ये लोग कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं, क्या चाहते हैं..." इस महाकोलाहल में अपने मुँह से निकला हुआ नारा मुझे नहीं सुनाई पड़ता। चारों ओर एक बवण्डर मँडरा रहा है, धूल का।" बदलते हुए अर्थशास्त्र ने जीवन-मूल्यों को बदल दिया है। 'रेणु' इन्हीं बदलते हुए जीवन-मूल्यों के कथाकार हैं। वे उस बदलते हुए भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं जो 'शस्य-श्यामला धरती की लाश'^२ है और जिस पर "तालेवर के हल आस्मान में चलते हैं।"^३ जयरामसिंह थकी और उखड़ी हुई भाषा में पवित्रा से कहता है—"हाँ, मालिक की खेती की बात पूछती हैं तो खेती अच्छी है। और खेती अच्छी हो या खराब, मालिक को इससे क्या ? एक मिल अररिया कोट में भी चलायेंगे। अब खेती में क्या

१. जुलूस, पृ० ५ (भूमिका)।

२. वही, पृ० १७८।

३. वही, पृ० १७९।

है ? 'विचनेस' और 'मिल' चलानेवाले के हल आस्मान में चलते हैं ।" यही बदलता हुआ अर्थशास्त्र है जिसने भारतीय ग्रामीण जीवन में मूल्यों का संकट उपस्थित कर दिया है । रेणु ने अपने उपन्यासों में इसी उखड़े हुए समाज के उखड़े हुए लोगों की कथा लिखी है । एक जगह वे लिखते हैं—“चारों ओर धान और पाट के खेत हरे-भरे । लछमी खेतों में सजी-धजी खड़ी है धानी रंग की साड़ी पहनकर । मन्द-मन्द हासिनी । खेतिहर किसानों के बैठे-बैठे मलार गाने के दिन हैं ? खेतों में लछमी हँसती है, घर में लछमी हँसती है ।...लेकिन जब तालेवर गोड़ी का मिल चलने लगता है तो लछमी के चेहरे पर एक आंतक की छाया छा जाती है । हँसी विला जाती है । गीत रुक जाता है ।” यही भारतमाता का मैला आँचल है, जिसका महाकाव्य रेणु ने लिखा है । उनके सभी उपन्यास इसी महाकाव्य के अलग-अलग सर्ग हैं । इन सभी सर्गों में भारतीय ग्रामीण जीवन का जो चित्र उभरता है वह बड़ा ही सजीव है । रेणु ने इन चित्रों को उभारने के लिए रेखा और रंग दोनों का प्रयोग किया है । हम मानते हैं कि रेखाएँ कम तो नहीं हैं, किन्तु रंग कहीं-कहीं अधिक पड़ गए हैं । किन्तु ये तो सतत विकसनशील शिल्प के निर्माण की अनिवार्य प्रक्रियाएँ हैं ।

उपन्यास महाकाव्य के रूप में

महाकाव्यों का स्थान अब उपन्यासों ने ले लिया है । महाकाव्य 'जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह' को चित्रित करने के लिए लिखे जाते थे । उनका विषय पूरा समाज ही होता है, किन्तु उपन्यास का विषय है व्यक्ति । यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष की कहानी है । यह केवल उसी समाज-व्यवस्था में विकसित हो सकता है, जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच का संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने समाज अथवा प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष छिड़ा हो । 'मोला आँचल' और 'परती : परिकथा' का परिवेश यही है । इन दोनों उपन्यासों में व्यक्ति का संघर्ष समाज और प्रकृति दोनों से है । गरीबी और जहालत से समाज का संतुलन बिगड़ गया है । मानवीय मूल्यों का वेहद ह्रास हुआ है । डॉ० प्रशान्त और जितन दोनों समाज और प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं । मलेरिया और परती प्रकृति हैं । 'गोदान' और 'कफन' तक आते-आते प्रेमचन्द के समाज का संतुलन इतना बिगड़ गया है कि व्यक्ति इस युद्ध में पछाड़ खाकर गिर पड़ता है । यही 'गोदान' की महाकाव्यात्मक ट्रेजडी है । प्रेमचन्द ने उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य लिखा, रेणु ने महाकाव्य की शैली में भारतीय जीवन का उपन्यास ही लिखा है— समाज और प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष की कहानी ।

रेणु की यह महाकाव्यात्मक शैली क्या है ? भाषा उन्होंने गाँवों से हू-बहू उठा ली । देशज शब्दों की मिठास को उन्होंने ठीक-ठीक पहचाना है । ये देशज शब्द केवल भाषा की आधारशिला ही नहीं हैं, उनका काम झरोखे और मेहराब भी बनाना है । उन्होंने लोक-जीवन की भाषा उठाकर हिन्दी के अभिजात किन्तु मृतवत औपन्यासिक गद्य को नयी ताजगी प्रदान की । भाषा के क्षेत्र में उनका योगदान उससे

२६० : आलोचना

ज्यादा है, जितना कि लोग सामान्यतया समझते हैं। अज्ञेय और जैनेन्द्र की अभिजात और गढ़ी गई भाषा की तुलना में उसकी ताजगी हमें छूती है। रेणु के उपन्यासकार की शक्ति यहाँ देखने लायक है। भाषा की ताजगी के कारण अश्लील गालियाँ भी ब-खूबी बच गई हैं। लोकभाषा में अश्लीलता को बहान करने का जो सहज गुण होता है, वह परिनिष्ठित भाषा में अप्राप्य है। परिनिष्ठित भाषा जब समकालीन लोकभाषा के सम्पर्क में आती है तब उसमें नई ऊष्मा और प्राणवत्ता का संचार होता है। इस प्रकार रेणु ने भाषा के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक दायित्व को पूरा किया।^१ हिन्दी-उपन्यास जो अज्ञेय, जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी की मृत और बनावटी भाषा से अवाञ्छनीय रूप से प्रभावित हो रहा था, उसके लिए रेणु नियामत बनकर आए। भाषा जब जातीय संस्कृति का अपरिहार्य अंश बन जाती है, तब लेखक अनुवाद-शक्य नहीं रह जाता है। जिस प्रकार तुलसी, सूर या विद्यापति को अनुवादों के द्वारा ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता है, उसी प्रकार रेणु भी कदाचित् अनुवाद-शक्य नहीं हैं। प्रत्येक प्रतिभाशाली साहित्यकार की तरह वे भी अपनी भाषा और संस्कृति से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि अनुवादों में पहुँचकर वे बेमानी हो जाएँगे। यों, रूसी और रूमानियन भाषाओं में वे अनूदित हो चुके हैं; किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

केवल भाषा ही नहीं, बल्कि उपन्यास के तत्त्व भी रेणु ने गाँवों से ही उठा लिखे हैं। उन्हीं की लोककथाओं, लोकगीतों, उन्हीं के पशुओं और पक्षियों की बोलियों और उन्हीं के पात्रों को लेकर उन्होंने अपने उस शिल्प का ईजाद किया जो बात-प्रतिशत उनका अपना ही है।^२ कोशीमैया और दुलारीदाय की कथा तथा सुन्नरिनैका और दंता राकस की लोककथाओं के साथ भारतीय ग्रामीण जीवन की युगीन ट्रेजडी को उन्होंने इतनी कलात्मकता के साथ गूँथ दिया कि उनका शिल्प महाकाव्यात्मक हो उठा है। लोकगीतों, लोककथाओं और लोकभाषा का उपयोग इन चीजों की प्रतिष्ठा के लिए नहीं किया गया है, बल्कि वे रेणु की अनुमति को रूप के घरातल पर उपस्थित करने के वस्तुगत प्रतिरूप (Objective correlative) हैं। लेकिन उसकी आभ्यन्तरिक शक्ति लय है, हालाँकि यह लय उस भारतीय जीवन की है जिसका तार-तार टूटकर बिखर गया है। "मैला आँचल" में करुणा का जितना कवित्व है, उसमें अतिनाटकीय होने के खतरे बहुत थे। किन्तु, रेणु उससे अपने को बेलाग बचा ले गए हैं।

अज्ञेय और जैनेन्द्र ने समूचे कर्म-जगत् को व्यक्ति की चेतना में केन्द्रित कर दिया। इसके कुछ अच्छे भी नतीजे निकले कि हमारी भाषा में कुछ श्रेष्ठ मनो-विश्लेषणपरक उपन्यासों का पहली बार प्रणयन हुआ। किन्तु, इसी के परिणामस्वरूप उनके उपन्यास महाकाव्य के गुणों से शून्य हो गए। प्रेमचन्द के लिए यह विभाजन

१. यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'रेणु' के आविर्भाव के साथ ही एक पीढ़ी ऐसे कथाकारों की तैयार हो गई जिन्होंने आंचलिक भाषा का खुलकर उपयोग किया है। शैलेश मटियानी, विश्वजीत, राजेन्द्र अवस्थी 'वृषित', दिनेशचन्द्र भ्रा, 'प्रवासी', मधुकर गंगाधर उल्लेख्य हैं।
२. आलोचना ३५ (स्वातंत्र्योत्तर विशेषांक, ३) में मधुकर गंगाधर के आक्षेप हमारे विवेचन के क्रम में कोई मानी नहीं रखते हैं।

कल्पनातीत था। यह विभाजन तो उस पूर्णतया विकसित पूँजीवादी समाज की देन है जो पाँचवें दशक तक पूरा विकसित हो गया था और जिसमें व्यक्ति को समाज से पृथक् करने की प्रक्रिया करीब-करीब पूरी हो गई थी। जैनेन्द्र और अजेय के आविर्भाव को विदेशी प्रभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता है। 'नदी के द्वीप' चेतना के प्रवाह (Stream of consciousness) का पहला हिन्दी उपन्यास है। यह स्वयं भारतीय जीवन की आभ्यन्तरिक विसंगति का साहित्यिक प्रतिफलन है। इस विसंगति का एहसास प्रेमचन्द को अपने अंतिम दिनों में होने लग गया था। इसीसे 'गोदान' और 'कफन' की टूटती छवि होती है। किन्तु, जैनेन्द्र और अजेय इसी विसंगति की कोख से जन्मे हैं। रेणु के उपन्यास समाज और प्रकृति से व्यक्ति के संघर्ष के महाकाव्य हैं जहाँ टूटकर भी व्यक्ति पराजय स्वीकार नहीं करना चाहता है। रेणु की महिमा का मूल स्रोत इसी आस्था में खोजा जाना चाहिए।

'परती : परिकथा' सचमुच एक ऐसा उपन्यास है जो काव्य के स्तर पर पहुँच गया है। यह छटपटाती वेदना की पुकार है। यह एक ऐसी परती की कहानी है जो पिछले कई सौ वर्षों से मनुष्य के सब-कुछ करने वाले हाथों के निर्माण-परक स्पर्श से वंचित रही है। उसकी गोद में ऐसे मनुष्य हैं जो जाहिल और अपाहिज हैं, जिनकी आत्मा में मनुष्यता की कोई सुनहली किरण नहीं पहुँच पाती है जो आदमी के साथ आदमियत नहीं बरतते। मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रेम का भी कोई सम्बन्ध होता है, इसका उन्हें पता नहीं है। 'मैला आँचल' और 'परती-परिकथा' मानव-वेदना की ऐसी चीत्कार है जो साहित्य के इतिहास में बार-बार नहीं सुनी जाती है।

परती की खोज

'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' वस्तुतः दो उपन्यास नहीं हैं बल्कि वे एक ही उपन्यास के दो परिवर्तन-से लगते हैं। दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है 'परती'। यह 'परती' 'मैला आँचल' में ही है जो 'परती : परिकथा' का मुख्य प्रतिपाद्य बन गई है। रेणु ने समकालीन भारतीय जीवन का जो विजन देखा है उसीका वस्तुगत प्रतिरूप (Objective correlative) है यह 'परती'। 'मैला आँचल' के दूसरे परिच्छेद में ही लेखक मेरीगंज गाँव का परिचय देते हुए लिखता है—“तड़वन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान है, जो नेपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खत्म हुआ है। लाखों एकड़ जमीन। बंध्या धरती का विशाल अंचल ! इसमें दूब भी नहीं पनपती है। बीच-बीच में बालूचर और कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ।” उसी प्रकार उपन्यास के अंत में जब ममता डाँ० प्रशान्त के साथ मेरीगंज आ रही है, तब लेखक लिखता है—“ममता बाहर की ओर देख रही है—विशाल मैदान। बंध्या धरती ! ...यही है वह मशहूर मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान—भूमिल अंचल। ... मैदान की सूखी हुई दूबों में चरवाहों ने आग लगा दी है—पंक्तिबद्ध दीपों जैसी लगती है दूर से। ...‘तड़वन्ना’ के ताड़ों की फुनगी पर डूबते हुए सूरज की लाली क्रमशः मट-

१. मैला आँचल, पृ० ६ (प्र० सं०)।

१६२ : आलोचना

मैली हो रही है।”^१

यही परती ‘परती : परिकथा’ में हू-बहू आई है। ‘रेणु’ का वर्णन हू-बहू वही है। ‘परती : परिकथा’ की शुरुआत यहीं से है : “धूसक वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती”। धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई है—बालूचरों की पवित्रियाँ। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया ज़िले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भू-भाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात के क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।”^२ यह ‘मैला आँचल’ वाली ही परती है—वही उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, वे ही बालूचर, और दूब भी नहीं पनपती है। और तो और, ‘परती : परिकथा’ की ‘सेमल-वनी’ भी वही है जिसकी चर्चा ‘मैला आँचल’ में यों हुई है : “कमला नदी के उस पार, अधपके रब्बों की फसिल के उस पार—सेमलवाड़ी के जंगल के उस पार आसमान लाल हो गया है।”^३ ‘परती : परिकथा’ में इसका उल्लेख यों हुआ है—“गाँव के दक्खिन हज़ारों सेमल के पेड़ों का बाग है, सेमल-वनी। फूलों के मौसिम में लाल आसमान को मैंने देखा है—अपलक नेत्रों से, अचरज-भरी निगाहों से। लाल आसमान।”^४ इस प्रकार ‘मैला आँचल’ और ‘परती : परिकथा’ दोनों का मूल विज़न (Vision) एक ही है।^५ मृण्मय समाज और संस्कृति का ही वस्तुगत प्रतिरूप है यह ‘परती’।

‘परती : परिकथा’ का वास्तविक नायक (या नायिका ?) स्वयं परती ही है। इस उपन्यास की समग्र शिल्प-योजना में इसी परती की व्यथा अन्तर्धारा की तरह व्याप्त है। उपन्यास का आरम्भ ही इसी परती से होता है—“धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती।”^६ और सम्पूर्ण पुस्तक का प्रतिपाद्य ‘व्यथा-भरी कथा वन्ध्या धरती की’ है और मानवीय प्रयत्न के स्पर्श से उपन्यास के अन्त में—‘आसन्न-प्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।’^७ अनेक लोक-कथाओं और लोकगीतों का आश्रय लेकर इसी आसन्नप्रसवा परती की कथा लिखी गई है। पुस्तक के सभी पात्र तो इतिहास की शक्ति की छोटी-बड़ी ऊर्मियाँ हैं, जो परती को गढ़ने में लगे हुए हैं। इतिहास मानवीय प्रयत्न से करवट ले रहा है, उसकी तन्द्रा टूट रही है। ‘मैला आँचल’ में ममता डॉ० प्रशान्त से कहती है—“कोई रिसर्च कभी असफल नहीं होता है डॉक्टर ! ... तुमने कम-से-कम मिट्टी को तो पहचाना है।

१. वही, पृ० ४०२ (प्र० सं०)।

२. परती : परिकथा, पृ० १।

३. मैला आँचल, पृ० ३२८ (प्र० सं०)।

४. परती : परिकथा, पृ० १४।

५. रेणु के इस Vision की तुलना इलियट के ‘वेस्टलैंड’ के विज़न से की जा सकती है।

६. परती : परिकथा, पृ० १।

७. वही, पृ० ५२८।

...मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत ! छोटी बात नहीं ।^१ यह रिसर्च जितन पूरा करता है। डॉ० प्रशान्त और जितन मनुष्य ही हैं, इनकी अपनी खामियाँ और खूबियाँ हैं। उन्हें अनुवीक्षण यंत्र-जैसी आँखों से देखने-दिखाने की चेष्टा बचकानापन है।

जो सचमुच महान् लेखक है, उसके राजनीतिक विचार चाहे कुछ भी क्यों न हों—वह वास्तविकता के साथ भयानक तथा क्रान्तिकारी युद्ध में जूझे बिना कभी रह नहीं सकता। उसका लक्ष्य होता है वास्तविकता को बदलना। यही कार्य रेणु ने 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा' और 'जुलूस' में किया है। बाहर की परती नहीं, मन की परती मुख्य है। जितन सोच रहा है—“वेचारी जनता का क्या दोष ? ऊपर से थोपे हुए सुख को वे क्या समझें ? ...मन की परती ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है, वीरान होती जा रही है। लगता है, मन को छूनेवाला मंत्र ही हम भूल गए हैं।”^२ इसी परती को तोड़ना है। इसी परती को तोड़ने के लिए डॉ० प्रशान्त जितन के रूप में पुनर्जन्म-सा लेता है। यदि कला का मूल लक्ष्य 'सभी रूपों और मतों को हृदयंगम करनेवाली समझ हासिल' करना है, तो निःसन्देह इसमें रेणु को सफलता मिली है। इन 'सभी रूपों और मतों को हृदयंगम करनेवाली समझ' को रेणु ने 'एलेगरी' (Allegory) का रूप दिया है। रेणु के सभी उपन्यास मूलतः 'एलेगरी' हैं। उनके शिल्प की यह एक ऐसी विशेषता है जिस पर विस्तार से विचार किया जाना चाहिए।

व्यक्तित्व का ध्वंस

महाकाव्य के रूप में रेणु के उपन्यासों की सबसे बड़ी कमी व्यक्तित्व का अभाव है। व्यक्तित्व या चरित्र का पूर्ण विनाश हो गया है। औसत परिस्थितियों में औसत व्यक्तियों को बिठा दिया गया है। इससे उपन्यासों के महाकाव्यात्मक गुणों का विनाश हुआ है, किन्तु इसके कुछ अच्छे नतीजे भी निकले हैं। समष्टि को ही औपन्यासिक पात्रता प्रदान करने का प्रयास किया तो बहुत बार गया है, किन्तु सफलता रूसी उपन्यासकार तॉल्सताय और शोलोखोव तथा अमरीकी उपन्यासकार सिकलेयर लीविस और जॉन स्टाइनबेक को ही मिली। हिन्दी में इस असाध्य कार्य को प्रेमचन्द और उनसे भी अधिक रेणु ने सिद्ध किया है। श्रेष्ठ आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान के अनुसार, “कुदरत को आईना दिखाते हुए प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के व्यापक समूह को 'गोदान' का पात्र और विषय बनाया था, उसी प्रकार 'परती : परिकथा' में बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के व्यापक जन-समूह को पात्र और विषय बनाया गया है। ...हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, राजनीति का हर दल उसमें अपने आचरण और अपनी वर्तमान भूमिका का सही चित्र देख सकता है।”^३ 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा'—इन दोनों उपन्यासों का नायक निश्चय ही कोई एक व्यक्ति नहीं है। 'मैला आँचल' का नायक 'मिरीगंज' गाँव ही है। यह उपन्यास एक छोटे-से भारतीय

१. मैला आँचल, ४०२, (प्र० सं०)।

२. परती : परिकथा, ४६८।

३. आलोचना के मान, पृ० १४।

गाँव के परिदृश्य पर ही विशाल भारतीय ग्रामीण जीवन को अपनी सारी खासियत और खूबियों के साथ उपस्थित करता है। ये सभी पात्र भारतीय ग्रामीण जीवन के किसी-न-किसी पक्ष के प्रतीक हैं। ये प्रतीक हैं निरक्षरता और विमूढ़ता के, ये प्रतीक हैं गरीबी और जहालत के, अकर्मण्यता और लक्ष्यहीनता के, ईर्ष्या और क्षुद्रता के, ये प्रतीक हैं उस निर्धन जीवन के जिसे ये भोगते हैं। इसलिए इस उपन्यास का नायक कोई पात्र नहीं है—डॉ० प्रशान्त भी नहीं। इसका नायक तो अंततः वह मिट्टी ही है जिससे मुहब्बत कर डॉक्टर का 'रिसर्च' सफल हो सका।

वैज्ञानिक सभ्यता का विधेयात्मक पक्ष

रेणु चिंतक हैं, एक ऐसे चिंतक जो सहज ही अपने चिंतन को कला का रूप दे सकते हैं। रेणु का कोई घिसा-पिटा जीवन-दर्शन नहीं है; हालाँकि यह कहना तो एकदम गलत है कि उनके पास जीवन-दर्शन का अभाव है। इस वैज्ञानिक सभ्यता के गुण-दोषों की परीक्षा उन्होंने बहुत बारीकी से की है। उन्होंने इस सभ्यता के केवल नकारात्मक पक्ष को ही नहीं देखा है। आजकल वैज्ञानिकों के काम का यह नकारात्मक पहलू ही उपन्यासकारों को प्रभावित करता है, किन्तु विज्ञान को जीवन की कार्यापल्ल करनेवाली एक शक्ति के रूप में, वैज्ञानिक के जीवन और काम के बीच भारी अन्तर्विरोध को, तथा पूँजीवादी समाज द्वारा उनके उपयोग को आज का उपन्यासकार नहीं देखता। 'रेणु' ने कला की इस सामग्री का बहुत अच्छा उपयोग अपने पहले दोनों उपन्यासों में किया है। 'मैला आँचल' के अन्तिम परिच्छेद में डॉक्टर एक 'फैटेसी' देख रहा है— "लेबोरेटरी !... विशाल प्रयोगशाला। ऊँची चहारदीवारियों में बंद-प्रयोगशाला।" साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दिल खोज कर रहे हैं प्रयोग कर रहे हैं। "गंजी खोपड़ियों पर लाल-हरी रोशनी पड़ रही है।" "भारतवर्ष विध्वंसक और सर्वनाश शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा।" "एटम, 'ब्रेक' कर रहा है। मकड़ी के जाल की तरह..." चारों ओर एकमत अन्धकार। सब वाष्प ! प्रकृति पुरुष... "अंड-पिण्ड..."^१ किन्तु डॉ० प्रशान्त इस भयावह फैटेसी में भी निराश नहीं है। वह देखता है— "मिट्टी और मनुष्य के भ्रमचिंतकों की छोटी-सी टोली अँधेरे में टटोल रही है।"^२ अँधेरे में टटोलने के प्रयास की यह सार्थकता 'परती : परिकथा' में सिद्ध होती है। डॉक्टर राय चौधरी बड़ी ही ममता से कहता है— तुमीपार ले।

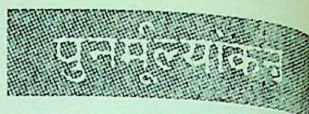
श्रेष्ठ कथाकार के गुण

जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी मानव को वास्तविक रूप में नहीं देख सके। उनके पात्र इतिहास के वास्तविक पुरुष और स्त्रियाँ नहीं हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि वे भारतीय उच्च-मध्यमवर्गीय लोग हैं, जिनको उन्होंने अपने ही रंग में

१. मैला आँचल, पृ० ४०७ (प्र० सं०)।
वही, पृ० ४०७।

रंगकर पेश किया है। ठीक इसके विपरीत रेणु की कल्पना की उड़ान, काव्य-मनु-भूतियों को जगाने की क्षमता, अनगिनत घटनाओं को गढ़ने तथा पात्रों में अपनी जनता को अच्छी लगनेवाली मानवीय कमजोरियों और गुणों का चित्रण करने के सामर्थ्य ने उनके पाठकों को मुग्ध कर लिया। एक श्रेष्ठ उपन्यासकार के सभी गुण उनमें हैं—वे व्यंग्य के धनी हैं, उनकी कल्पना-शक्ति विलक्षण है, मिट्टी और मनुष्य से उन्हें गहरी मुहूर्त है, अपने पात्रों को वे वास्तविक दुनिया में स्थापित भी कर पाते हैं, अथवा यों कहिए कि वास्तविक दुनिया से अपने पात्रों को वे सीधे उठा लेते हैं और सबसे बढ़कर यह कि अश्लीलता में रस लेने की कला से ये वाकिफ हैं। पश्चिमी देशों की 'क्रैशोलिक' नैतिकता के विपरीत इस देश में कभी किसी बड़े साहित्यकार पर अदालत में मुकदमा नहीं चलाया गया। दो-चार मुकदमे वैसे घटिया किस्म के लेखकों पर चले, जिनकी साहित्य के इतिहास में कोई हकीकत नहीं है। मुकदमे तो कुछ उन्हीं छुट्टियों पर चले, जो जीवन की अश्लीलता नहीं, अश्लील जीवन के ही चित्रण को सब-कुछ समझ बैठे। व्यक्तिवादी धारा के उपन्यासकारों को अश्लीलता तो अच्छी लगती है, पर खुलेआम उसका सामना करने का उनमें नैतिक साहस नहीं है। इन उपन्यासकारों को भय समाज या अदालत से नहीं है, ये अपनी ही कृत्रिम नफासत से परेशान हैं। यही साहस रेणु को है, जिससे उनकी अश्लीलता को महत्ता मिल गई है। विराटता में लघुता के स्पर्श से गरिमा आती है, किन्तु लघुता विराटता से छूटकर क्षुद्रता में लुप्तान्तरित हो जाती है। साहित्य में अश्लीलता तब आती है जब जीवन की विराट धारा सूख जाती है। रेणु 'दीर्घतपा' में इस विराटता से छूट गए हैं। 'दीर्घतपा' की भूमिका में पंचकन्याओं पर अलग-अलग लिखने की उनकी प्रतिज्ञा भयंकर और घातक भी है। वे एक साथ ही उन पर नहीं लिख सके, यह इस बात का प्रमाण है कि वे अपने कथ्य के अनुकूल औपन्यासिक शिल्प का ईजाद नहीं कर सके। यह उनकी प्रतिभा की सीमा है। 'दीर्घतपा' बहुत ही घटिया किस्म की रचना है। रेणु को या तो अपने शिल्प को पकड़ने का प्रयास करना चाहिए या वे धीरे-धीरे चुक जाएँगे। वेलागुप्त की अन्तिम परिणति बड़ा ही मनोवैज्ञानिक निर्माण है, किन्तु यह उस वास्तविकता से हार जाना है जिसकी कुक्षि से अज्ञेय पैदा हुए हैं।

रेणु इस समस्या से जूझ रहे हैं कि ऐसे समाज को कलात्मक रूप और अभिव्यक्ति कैसे दी जाए, जो उन्हें स्वीकार नहीं है। प्रेमचंद ने इस समस्या का समाधान अन्त में 'गोदान' और 'कफ़न' में यथार्थ के सामने घुटने टेककर किया है, किन्तु यशपाल और रेणु के लिए समझौता करना असम्भव हो गया। वास्तव में 'गोदान', 'झूठा-सच', 'मिला-जुला' और 'परती : परिकथा' भारतीय जीवन की पुंजीभूत वेदना के महाकाव्य ही हैं। रेणु की महिमा इस बात में है कि अपने युग की सतही शराफ़त को भेदकर वे ओट में नहीं चले गए हैं, इसीलिए अपने युग के वीरत्व को वे ठीक-ठीक पहचान सके हैं। उनका वीरत्व इस बात में है कि जिस समाज-व्यवस्था में उनकी पैदाइश हुई है, उसके कमीनेपन को उन्होंने खुली आँखों से देखा है और उस कमीनेपन के महावेर का ईजाद उन्होंने यों किया है—'तालेवर के हल आस्मान में चलते हैं।'



शान्तिप्रिय द्विवेदी

‘लोकायतन’

‘लोकायतन’ कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्तजी का राजकमल से प्रकाशित वृहत् काव्य है। यद्यपि लेखन की दृष्टि से यह कवि की ‘ग्राम्या’ की तरह लोक-सहज नहीं है, तथापि जीवन की दृष्टि से यह लोकभूमि पर ही आधारित है। इस काव्य के नाम-करण में गूढ़ व्यंजना है। ‘लोकायत’ चारवाक-दर्शन का शब्द है, बौद्ध धर्म में वृ-निषिद्ध है। किन्तु यह काव्य लोकायत नहीं, लोकायतन है, लोक के आयतन अथवा सृष्टि के विश्व-विस्तार में ही जीवन का उत्कर्ष करता है। इसका ध्येय है सदेह और सजीव मनुष्य का जीवन्त सांस्कृतिक निर्माण। इसी के लिए यह काव्य युग-युग के मूर्च्छित मनुष्य की चेतना अथवा स्वस्थ संवेदना को जगाता है और उसे ही जलाशय में जीवन की तरह लोक के आयतन में अमृत बनाकर प्राणान्वित एवं क्रियान्वित करता है।

अपने समकालीन वैज्ञानिक युग में आकर भी ‘लोकायतन’ का कवि आर्ष युग का आस्थावान है, अतएव अतीत की दिव्य मान्यताओं को अंगीकार करता है, किन्तु वह इस लोक की उपेक्षा करके स्वर्ग को किसी परलोक में नहीं देखता और न ईश्वर को मनुष्य से भिन्न किसी अलौकिक शक्ति में देखता है, न इन्द्रियों से भिन्न किसी अतीन्द्रिय की कल्पना करता है। कवि कहता है—

निरर्थक स्वर-विहीन संगीत,
इन्द्रियाँ ही ईश्वर की द्वार
स्वर्ग रख सका न जिसको बाँध
धरा पर करता वह अभिसार। (पृ० ३०८)

पृथ्वी पर ही ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए कवि ने यह रचनात्मक निवेदन दिया है—

प्रीति-प्रस्थित हों खण्डित प्राण
जगत जीवन हो सांगिक छन्द। (पृ० २६४)

प्रीति से अखण्ड प्राण एवं सहयोग से सुसंगत लोकजीवन ही तो ईश्वर और स्वर्ग है। कवि इसी सुगठित निर्माण को भविष्य में देख रहा है—

ईश्वर ही जग अब, वही व्यक्षित,
जीवन मन अन्तःसंयोजित !

(पृ० ६५४)

जब सबका जीवन और मन अन्तःसंयोजित हो जाएगा तब ईश्वर ही विश्व और विश्व ही व्यक्ति हो जाएगा, समाज और व्यक्ति में भेद नहीं रह जाएगा। यह मध्ययुग के व्यक्तिवाद और आधुनिक युग के समाजवाद के आगे का अन्तःप्रेरित लोक-निर्माण है।

क्या कवि का वह अभीष्ट रचनात्मक युग स्वप्नमात्र है ? कवि कहता है— 'यह न काल्पनिक स्वर्ग मनःसंजित'। जो कवि ईश्वर और स्वर्ग को अलौकिक और पारलौकिक रूप में नहीं देखता वह केवल काल्पनिक द्रष्टा कैसे हो सकता है ! उसने तो एक युग के लोकोत्तर आनन्द और सौन्दर्य के प्रतीक स्वर्ग की अप्सरियों को भूतल पर लाकर, पृथ्वी के श्रम में उन्हें अक्षम दिखलाकर कल्पना के कला-विलास को नाटकीय ढंग से हास्यास्पद बना दिया है। सम्पूर्ण काव्य में यही स्वल्प अंश सर्वोत्तम है, इसमें कवि का अभीष्ट सब-कुछ आ जाता है।

कवि जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं करता, किन्तु अपने रचनात्मक दृष्टिकोण में सम्प्रति वह केवल भावुक नहीं, व्यावहारिक भी है। उसके जीवन-दर्शन को लोकात्म, अध्यात्म अथवा देहात्म सूक्ष्म कह सकते हैं। वह जड़ को ही चेतन, चेतन को ही जड़ मानता है, अतएव, सूक्ष्म को रूप और रूप को कर्म में जीवन्त देखना चाहता है। इसी का दृष्टान्त है कवि का यह काव्य-संस्थान 'लोकायतन'।

'लोकायतन' में पन्तजी के 'युगान्त' से लेकर 'स्वर्णकिरण' इत्यादि सभी कृतियों के मनन-चिन्तन का समावेश है इसमें 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' भी एकमेव हो गई है। इसे समझने के लिए पन्तजी के काव्य-संग्रह 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिका (चरण-चिह्न) से सहायता मिल सकती है और इस काव्य के प्रथम खण्ड के प्रथम सर्ग 'पूर्व-स्मृति' से भी, जिसमें 'आस्था' को रामकथा के पौराणिक रूपक में थोड़े में बड़ी काव्यकुशलता से निरूपित किया गया है। यह सर्ग अपने-आपमें सम्पूर्ण 'लोकायतन' भी है और उसका एक संकेत-बिन्दु अथवा भावात्मक भूमिका भी है। कहाँ पौराणिक युग का यह रूपक और कहाँ आधुनिक युग का यह काव्य ! किन्तु दोनों युग यविभाज्य हैं। उमा सीता से कहती है—

विश्वचेतना तुम प्रति युग में विकसित,

नये रूप का करने आयी स्वागत

'लोकायतन' में कवि ने उसी विश्वचेतना को गान्धी-युग की सार्वजनिक साधना में साकार किया है। गान्धीजी और उनके बाद के युग के वातावरण का इसमें बहुत सजीव चित्रण हुआ है, इस चित्रण में पन्तजी के विश्व-भ्रमण के अनुभवों का भी समावेश है। कवि ने जीवन के सभी क्षेत्रों की प्रवृत्तियों और गतिविधियों को सजग दृष्टि से देखा-परखा है। अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों को उसने एक अक्षय सांस्कृतिक वैभव के रूप में मानवता को प्रदान किया है। यह काव्य हिन्दी ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य के लिए इस आत्मस्थ भारतीय कवि के सात्विक मनन-चिन्तन का अजस्र दान है।

'लोकायतन' का चित्रपट तो विस्तृत है ही, इसका आकार-प्रकार भी इतना

वह है कि यह महाकाव्य-जैसा जान पड़ता है, किन्तु रूढ़ अर्थ में इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कथानक नाममात्र का है। इसे 'कामायनी'-जैसा गीत-काव्य का महाबन्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें संगीत की रागात्मकता का अभाव है। यद्यपि छन्दों और प्रसंगों में विविधता है, फिर भी ऐसी एकलयता अथवा एकस्वरता आ गई है कि पाठक को विराम नहीं मिलता, वह ऊब जाता है। यदि कवि अपने 'पल्लव' के विशद काव्य 'परिवर्तन' की तरह 'लोकायतन' में भी लय-वैविध्य के लिए छन्दों को रसानुरूप ऋजु-कुचित कर राग-भंगिमा दे देता तो इसमें बिना कथानक के भी औपन्यासिक रोचकता और नाटकीय वक्रता आ जाती।

'लोकायतन' चिन्तन और चित्रण-प्रधान काव्य है। यदि इसमें रागद्वयण होता तो पाठकों को रस-तारल्य मिल जाता। कवि ने यत्र-तत्र 'रे' के प्रयोग से राग-द्रेक करना चाहा है, किन्तु भाषा, वातावरण और कथ्य कुछ ऐसा गद्यमय है कि 'लोकायतन' में 'रे' 'गुंजन' के 'रे' की तरह मार्मिक नहीं हो सका। वह प्रक्षिप्त हो गया है।

'लोकायतन' के आयतन और कवि के जीवन-दर्शन को उसी की दृष्टि से उपस्थित करके भी इन पंक्तियों के लेखक को उससे पर्याप्त सन्तोष नहीं है। यह अन्तश्चेतना का काव्य है, किन्तु अन्तश्चेतना के अनुरूप साधन चैतन्य नहीं हो सके। कथानक, वर्णन, साधन (जैसे सन्तति-निरोध), सब-कुछ बाह्य और अखबारी सतह का हो गया है। इनसे स्वतन्त्र रह जाती है कवि की अन्तश्चेतना। दो खण्डों में संयोजित सभी सर्ग एक ही अन्तश्चेतना के आख्यान-से हैं। उसका तो कोई रूप नहीं, वह तो आन्तरिक अनुभूति की तरह सूक्ष्म, अरूप और अदृश्य संज्ञा है, फिर भी कवि ने अनेक प्रतीकों, रूपों और उत्प्रेक्षाओं से उसे प्रत्यक्ष कर दिया है। 'पल्लव'-काल की पन्त की कल्पना-शक्ति अब भी 'लोकायतन' में उर्वरा है। 'छाया' और 'चाँदनी' जैसी सूक्ष्म अनुभूतियों को जिस कवि ने 'पल्लव' और 'गुंजन' में सजीव और साकार कर दिया था, उसी कवि ने अन्तश्चेतना को भी प्राणान्वित और रूपायित कर दिया। स्थूल विषयों पर तो बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु अन्तश्चेतना को आलम्बन बनाकर इतने विपुल पृष्ठों में, इतनी उद्भावनाएँ और कल्पनाएँ पन्त-जैसे महा-प्रतिभाशाली कवि से ही सम्भव हो सकी हैं। कल्पना के क्षेत्र में आधुनिक कवियों में पन्त अद्वितीय हैं।

'लोकायतन' में पन्तजी सूक्ष्म को रूप तो दे सके, किन्तु रूप को यथानुरूप कर्म नहीं दे सके। अपने अभीष्ट भावी युग में पहुँचकर जीवन की रचनात्मक दृष्टि से वे कहते हैं—

यान्त्रिक उद्योग अपेक्षित
भारत को, किन्तु समान्तर
गृह-धन्वों की उन्नति से
थमरत रहते नारी-नर

(पृ० १६३)

यद्यपि लोकायतन की स्थापना हिमांचल की ग्राम्यधरा के अंचल में हुई है तथापि वहाँ गृहधन्धों से जीवन का कोई निर्माण नहीं मिलता । 'लोकायतन' के कर्म क्षेत्र के लिए भी यही कहा जा सकता है—

जन छिन्नमूल पादध - से
गांवों से पुर न समन्वित

(पृ० १६४)

साधन और साध्य में संगीत एवं अन्विति न होने के कारण 'लोकायतन' का कर्म-क्षेत्र भी छिन्न-भिन्न और निर्मूल हो गया है, उसकी कोई रचनात्मक परिणति नहीं हो सकी है । कवि पन्तजी को 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु का हिमालय-प्रस्थान कर्म-क्षेत्र से पलायन जान पड़ता है । 'लोकायतन' के आरम्भिक सर्ग में उन्होंने कहा है—

कैसे कहूँ इड़ा-लुब्ध युग-मनु से
श्रद्धा-संग वह करे मेघ-नग-रोहण,
आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन-भूषण पर करना सक्रिय विचरण

(पृ० ७)

किन्तु 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु तो उत्तराधिकार में एक सक्रिय रचनात्मक दृष्टान्त छोड़ गए हैं, 'लोकायतन' में पन्तजी अपनी ही कवि-चेतना में सिमटकर रह गए हैं, जैसे 'ग्राम्या' में अपनी 'बौद्धिक सहानुभूति' में । श्रद्धा और मनु तो हिमांचल में वानप्रस्थ हो जाते हैं, किन्तु 'लोकायतन' जिस जीवन-स्रोत को प्रवाहित करने के लिए हिमांचल में स्थित हुआ, उस केन्द्र से वह हिमजल की तरह भूलोक को सिंचित कर कर्म-सुफल नहीं कर सका ।

सिद्धान्तों में मतभेद हो सकता है, पन्तजी ने आलोचकों को सिद्धान्तों की दृष्टि से ही उत्तर दिया है, किन्तु मिशनरी प्रवृत्ति के कारण 'लोकायतन' नीरस दर्शन हो गया है, टूट बट गया है ।

'लोकायतन' को कवि का अन्तरायण कह सकते हैं । इसमें 'लोक' नहीं, पन्त है, यह जीवन-दर्शन और कथानक के रूप में उन्हीं का आत्माभिर्व्यंजन और मानसिक युग-संचरण है । जैसा भी है, 'लोकायतन' का अपना वैशिष्ट्य है । यह अमृतपुत्र कवि पन्त का शाश्वत और सामयिक प्रतिनिधित्व करता है ।

झूठा-सच : यशपाल की नवीन कृति

प्रेमचन्द परिवर्ती उपन्यास साहित्य में यशपाल का श्रेष्ठ स्थान है। उनका योगदान विशिष्ट है और समादर के साथ उल्लेखनीय है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' एवं 'मनुष्य के रूप' उनके बहुपठित एवं बहुचर्चित उपन्यास हैं। इसी परम्परा में उनकी अभिनव औपन्यासिक कृति 'झूठा-सच' पाठकों के समक्ष आई है। यशपाल की प्रस्तुत रचना का मूल्यांकन करने के पूर्व उनकी विचारधारा और जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में विचार कर लेना उपयोगी होगा।

यशपाल की विचारधारा मार्क्सवादी अथवा समाजवादी सिद्धान्तों एवं दृष्टिकोण से प्रभावित है। उनके उपन्यास साहित्य का ताना-बाना उपर्युक्त दर्शन अत्यधिक प्रभावित है। युग की समाजवादी चेतना ने यशपाल के दृष्टिकोण को प्रगतिवादी बनाया। इसीलिए उनकी रचनाओं में समाजवादी यथार्थ-विषयक तत्त्व सम्प्राप्त होते हैं।

'झूठा-सच' में जिस मानव-जीवन एवं समाज की परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उसका सम्बन्ध मध्यवर्ग से है। प्रस्तुत उपन्यास का पारायण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसके समस्त पात्र बुद्धिजीवी हैं और उनके व्यक्तित्व पर मार्क्सवादी विचारधारा और सिद्धान्तों का स्वस्थ प्रभाव पड़ा है। इसी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से प्रस्तुत कृति में प्रायः प्रत्येक चरित्र के चित्रण, परिस्थितियों के विवेचन एवं विश्लेषण, जीवन-दर्शन की व्याख्या एवं घटनाओं के उद्घाटन को एक विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ दिया है। अन्य उपन्यासों की कथावस्तु के समान ही इस उपन्यास की कथावस्तु में भी राजनीतिक एवं रोमांस का सम्मिश्रण है। राजनीतिक विचारधारा पात्रों की व्यक्तिगत जीवनधारा को प्रभावित करती है। 'झूठा-सच' के पात्रों का चयन मध्य वर्ग से ही हुआ है। ये मध्यवर्गीय पात्र जीवन के प्रत्येक पक्ष में वैयक्तिक संस्कारों से प्रभावित हैं। परन्तु साथ ही वे समाजवाद की पूर्णतया प्रभावित हैं। सामाजिक जीवन में ये पात्र साम्यवादी दर्शन से प्रभावित हैं। प्रस्तुत उपन्यास के पात्रों में एक विशिष्टता है। यशपालजी के उपन्यासों के पात्र प्रगतिवादी दल की आतंकवादी विचारधारा से सम्पन्न रहे हैं। परन्तु प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा नहीं है। 'झूठा-सच' के पात्र प्रगतिशील मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में विश्वास रखते हैं। दुःख एवं शोषण से मानवता की उन्मुक्ति के हेतु आकांक्षी एवं प्रयत्नशील हैं परन्तु वे न क्रान्तिकारी हैं न आतंकवादी। यशपालजी के अन्य उपन्यासों के पात्रों की भाँति 'झूठा-सच' के पात्र भी अदम्य उत्साही, असामान्य सहनशील, अपने जीवन दर्शन के परिपालनार्थ जीवन उत्सर्ग कर देने वाले, स्वतन्त्र, निर्भीक तथा परिस्थितियों का सामना करने में पूर्णतया सक्षम हैं। 'झूठा-सच' के नारी-पात्र आद्योपात्त पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक संपूर्ण और आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।

नारी-पात्र मानव द्वारा प्रस्तुत की हुई विरोधी परिस्थितियों के स्वरूप में परिवर्तन समुपस्थित करती हैं और सामान्य तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए हर प्रकार से उद्योगशील हैं। देश के बटवारे के फलतः जो समस्याएँ, विपत्तियाँ और विपमताएँ समुपस्थित होती हैं, उनका सामना नारी-पात्र विशेष साहस के साथ करती हैं। सामान्य सामाजिक मान्यताओं के प्रति वे विद्रोह में अनुरक्त हैं और पुरुषार्थ में पुरुषों से पीछे नहीं हैं। उनमें हीनता का भाव कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता है। 'झूठा-सच' की समस्या प्रमुखरूपेण नारी से सम्बन्धित नहीं है, परन्तु उसकी समस्याओं में नारी-जीवन की विकृति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्न स्वतः आ जाते हैं। भारतीय नारी का जीवन अत्यन्त अभिशप्त है। आर्थिक रूप से वह आत्मनिर्भर नहीं है, वह भोग-विलास की वस्तु समझी जाती है, वह अशिक्षा के अभिशाप से पीड़ित है, युगों से वह बहुशोषित है, सामाजिक जीवन में वह अत्यन्त पिछड़ी है। समाज में उसका अपना न अस्तित्व है न गौरव। उसे व्यक्तिगत के नाम से नहीं सम्बोधित किया जा सकता है, क्योंकि वह या तो किसी की पत्नी है या पत्नी, वह या तो कुमारी है या श्रोमती। वह तथाकथित शील, मर्यादा और परम्पराओं के बोझ ढोते-ढोते जीवन-लीला समाप्त कर देती है। उपर्युक्त समस्त दोषों एवं प्रवृत्तियों से प्रस्तुत उपन्यास के नारी-पात्र परिपीड़ित हैं। परन्तु वे समाज में पुरुष के समान अधिकार पाने के लिए, आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने के लिए और आत्म-निर्भर होने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे परम्परागत मानसिक बन्धनों और झूठी नैतिक धारणाओं को नहीं स्वीकार करती हैं। वह यह सिद्ध करने के लिए उद्यत है कि उसका सामाजिक रूप है, और इसके लिए मूल्य भी चुकाना पड़ता है। यशपालजी का विचार है कि "मनुष्य समाज परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है, बल्कि वह अपनी विचारधारा का स्रष्टा है।" इस दृष्टि से यशपालजी-सृजित नारी-पात्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नारी-पात्र स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करती हैं और जीवन को आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सुखमय और शान्तिमय बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अपने ग्रन्थ 'देखा, सोचा, समझा' में यशपालजी ने प्रसंगवश लिखा है—“समाज के जीवन में प्रायः घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण-पात्र में रखकर यह दिखाना चाहता हूँ कि किस प्रकार घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नए अनुभव कैसे नई विचारधारा को जन्म देते हैं।” (पृ० ३०१) प्रस्तुत कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह कि उपन्यासकार नई विचारधारा को जन्म देने के लिए, उसका प्रचार करने के लिए अपनी कृतियों की रचना करता है, तथा द्वितीय यह कि घटनाएँ किस प्रकार हमारी विचारधारा—चिन्तन विचारधारा में परिवर्तन उपस्थित करती हैं। घटनाएँ हमारे जीवन की धारा में किस प्रकार नए मोड़ उपस्थित कर देती हैं। यशपालजी में नई विचारधारा, नयापन तथा घटनाओं के आधार पर जीवन में नए मोड़ देखने-दिखाने की प्रवृत्ति मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होने के कारण है। यशपालजी ने 'झूठा-सच' में घटनाओं का विश्लेषण एवं चरित्रों का अंकन भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया है। यह कहना असंगत न होगा

२०२ : आलोचना

कि 'झूठा-सच' की कथा घटनाओं के आधार पर ही अग्रसर होती है। देश के बटवारे के फलस्वरूप सैकड़ों समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और उन समस्याओं के कारण अनेकानेक घटनाएँ घटित हुईं। घटनाओं और समस्याओं के आधार पर उपन्यास की सम्पूर्ण कथा आगे बढ़ती है। घटनाएँ ही मानव-समाज की परिस्थितियों को अनुकूल एवं प्रतिकूल तो बनाती ही हैं, वे मानव-जीवन के रूप-स्वरूप को परिवर्तित कर देती हैं। 'झूठा-सच' में एक भी पात्र नहीं है जो इस कथन या मान्यता का अपवाद हो।

यशपालजी का अनुभव अध्ययन-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उनकी लेखनी में विशाल एवं निर्बाध जीवन, परिस्थितियों का चित्रण करने की अद्भुत क्षमता है। उनमें सूक्ष्म चित्रण, सूक्ष्म वर्णन की अद्भुत क्षमता है। मानव-जीवन की एक-एक प्रवृत्तियों, भावनाओं और संस्कारजनित प्रतिक्रियाओं का उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है और अपने उपन्यासों की भूमिका में सफलतापूर्वक उतारा है। 'झूठा-सच' में मानव-जीवन के हर्ष-विषाद, सम्पन्नता-निर्धनता, प्रेम-वृथा, सन्तोष-असन्तोष आदि के शतशः सजीव चित्रों को अंकित किया है। उपन्यास में विषाद, दुःख, असन्तोष, ग्लानि से अभिशप्त मानव-जीवन के प्रचुर चित्र अंकित किये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जीवन में इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। देश के बँटवारे ने मानव-जीवन को अभिशप्त कर डाला। बँटवारे के फलस्वरूप मानव-जीवन कठिनाइयों का सामना करता है उनका वर्णन यशपालजी ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। दुर्भाग्य से लड़ता हुआ मानव प्रकृति के प्रकोपों से संघर्ष करने में साहस खो बैठता है। मानव-जीवन की आशा-निराशाओं, द्वन्द्वों और परिस्थिति-जन्य विषमताओं का वर्णन यशपालजी ने बड़ी सफलता से किया है। विभाजन के फलतः परिवारों का छिन्न-भिन्न होना, सन्तानों, बहू-बेटियों का खो जाना, अपहरण या बंध हो जाना, शरणार्थी शिविरों में कपड़ा-भोजन, दूध बटने के दृश्य बड़े मार्मिक और प्रभावशाली हैं। घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें सजीव रखने के लिए बहुत-से पात्रों का आयोजन भी करना आवश्यक हो गया है। उपन्यास की प्रमुख कथा के प्रवाह में प्रासंगिक कथाएँ, गौण पात्र और अनेक लघु घटनाएँ बाधा उपस्थित करती हैं। राजनीतिक जीवन की असंगतियों, सामाजिक रूढ़ियों, प्रतिभाशाली लेखकों की दुर्दशा और 'तालीम के भी बाज़ार में ब्लैक', धार्मिक संकीर्णताओं, राजकीय कर्मचारियों की कर्तव्य-विमुखता आदि का चित्रण उपन्यास में बड़े विस्तार के साथ हुआ है।

'झूठा-सच' में कथाकार ने देश के विभाजन से पूर्व पंजाब प्रदेश की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। उपन्यास में पंजाबी समाज की मनःस्थिति एवं राजनीतिक आन्दोलनों को कथावस्तु की आधार-भूमि के रूप में लिया गया है। सम्पूर्ण कथा में कथाकार ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मध्यवर्गीय समाज की जीवन-शैली और परिस्थितियों में कैसे परिवर्तन समुपस्थित होते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में एक बात और बड़ी कुशलता के साथ व्यवत की गई है। मध्यवर्गीय समाज में पुरुष हर प्रकार से अपनी स्थिति को स्वतन्त्रता देना चाहता है स्त्री के लिए उसका निषेध करता है। साम्प्रदायिक पाशविकता के प्रसारित हो जाने के पश्चात्

दोनों देशों में नरमेध और नारियों के अपमान का जो वर्णन उपन्यास में हुआ है वह प्रत्येक पाठक के हृदय पर आतंक की भावना समुत्पन्न कर देता है। इन समस्त वर्णनों की पृष्ठभूमि में एक बात बारम्बार हमारे मस्तिष्क में गूँज उठती है कि भारतीय नारी कितनी असहाय है। परन्तु अन्ततोगत्वा विजय नारी की ही होती है। उपन्यास के दूसरे भाग में लेखक ने राजनीतिक मतवादों और संघर्षों तथा सम्पूर्ण समाज में परि-व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार और दुराचार का रहस्योद्घाटन किया है। तथाकथित न्यायी नेताओं के अनाचार से जनता अत्यधिक परिपीड़ित और शोषित है। कांग्रेसी नेताओं के बाह्याङ्गकों, अनीति, असत्यप्रियता और वगुलाभगत रूप का चित्रण लेखक ने बड़े रोचक और प्रभावशाली ढंग से किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यशपालजी की सूक्ष्म दृष्टि से समाज और सामाजिकों का कोई भी दोष और अभाव छिप नहीं पाया है।

‘झूठा-सच’ में जिन समस्याओं को लिया गया है उस दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास अपनी कोटि का सर्वप्रथम और आज तक अकेला उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु बड़ी विस्तृत और व्यापक है। विभाजनजनित समाज और जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जिसका चित्रण इस उपन्यास में नहीं हुआ है। उपन्यास में विवरणों और इतिवृत्त्यात्मकता का बाहुल्य है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु का प्रसार लगभग तेरह सौ पृष्ठों में हुआ है, परन्तु पहले खंड के अन्त में पूरे उपन्यास का अवसाद-वेदना और निराशा ड्राइवर के दो वाक्यों में साकार हो उठी है—“मनुष्यों के देश धर्मों के देश बन गए ?” “रब ने जिन्हें एक बनाया था रब के बन्दों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर दिया।” इन वाक्यों में सम्पूर्ण उपन्यास का सारांश आ गया है। इन पंक्तियों में समस्त पात्रों की मूक व्यथा साकार हो उठी है।

‘झूठा-सच’ यथार्थवादी उपन्यास है। इसमें यशपालजी की यथार्थवादी विचार-धारा व्यापक रूप से चित्रित हुई है। प्रस्तुत उपन्यास में घटना-विधान, दृश्य-विधान, पात्र एवं परिस्थितियाँ सभी कुछ अत्यन्त यथार्थ हैं। जीवन और समाज से सम्बन्धित जितनी भी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है वे सब यथार्थ हैं। ये यथार्थवादी चित्रण बड़े मार्मिक और सजीव हैं। देश के बँटवारे के फलस्वरूप जो लोमहर्षक वातावरण प्रतिवर्धित हो उठता है वह सजीव और प्रभावशाली इसलिए अधिक है कि उसका आधार यथार्थ है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ जाने के पश्चात् जान पड़ता है कि समाज में विघटन, विभंग, विच्छेद और विनाश के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। उपन्यास में सामन्ती व्यवस्था के फलस्वरूप जो शोषण और अन्याय एवं विषमता का प्रसार है वह भी बड़े यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है।

झूठा-सच की समस्या यथार्थ और जीवन है। इतने बृहदाकार उपन्यास में यश-पालजी की पहुँच से मानव-जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समस्या नहीं छूट पाई है। प्रेम, विवाह, शिक्षा, मरण, राजनीति, बेकारी, नौकरी, सामाजिक बन्धन आदि के आधार पर मानव-जीवन और मानव-समाज के अनेकानेक मर्मस्पर्शी चित्र

२०४: आलोचना

अंकित हुए हैं। सम्पूर्ण उपन्यास समस्यामूलक है। उपर्युक्त समस्याओं के आधार पर लेखक ने मानव-जीवन के बहुरंगे तथा विषादग्रस्त चित्रों को अंकित करने की चेष्टा की है। समस्याओं के हल प्रस्तुत करने के लिए, उनका सही-सही मूल्यांकन करने के लिए, उनका सांगोपांग विवेचन करने के लिए यशपाल ने घटनाओं को आकस्मिक मोड़ दिया है। उनका साधारण-से-साधारण तथा बड़े-से-बड़ा पात्र समस्याओं के हल को प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील और समर्थ है। 'झूठा-सच' के अधिकतर पात्र सामाजिक चेतना-सम्पन्न हैं और सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हैं।

उपन्यास का ताना-बाना सत्य तथा असत्य, 'झूठा-सच' के विवेचन से बना है। समाज की व्यवस्था, परिस्थिति और आधार में क्या झूठ है और क्या सच—इसको यशपाल ने निकट से देखने का प्रयत्न किया है। बहुत-कुछ जो हमें सामाजिक जीवन में विधि या कानून की दृष्टि से सच दृष्टिगत होते हैं वे वास्तव में झूठ हैं और जो झूठ प्रतीत होते हैं वे सच होते हैं। इस झूठ-सच का विवेचन लेखक ने नैयर के मुह से निम्नलिखित शब्दों में कराया है—“घटना तो सच-झूठ नहीं होती। झूठ या सच तो इसे व्यक्त करने की दृष्टि में या उसे सोद्देश्य बनाने में होता है।” इस उपन्यास में झूठा-सच का निर्देशन अनेक रूपों में हुआ है। उदाहरणार्थ तारा का सोमराज की पत्नी होना, कानून की दृष्टि से सत्य है। पर नैतिकता, न्याय की दृष्टि से झूठ है। इसी प्रकार उपन्यास में व्यक्त अनेक घटनाएँ, सामन्ती संस्कार जन-जीवन के प्रवाह को रोकने वाली शक्तियाँ तथा पूँजीवाद के आधार पर विरोधित व्यवस्था झूठ है और मानव की सामाजिक चेतना, सामूहिक जागरण आदि सत्य है।

'झूठा-सच' एक सफल उपन्यास है। इसकी सफलता इसके कोतुहल और रोचकता में सन्निहित है। उपन्यास की कथा पाठकों की चेतना और अनुभूति को जागृत करने में सहयोग देती है। उपन्यास के पात्र जयदेव, तारा, कनक, उमिला, सोमराज, हाफिज, असद, कृष्ण नारायण अवस्थी आदि सभी यथार्थ अनुभव के आधार पर सृजित पात्र हैं जो अपने-अपने वर्ग के प्रतीक हैं। ये व्यक्ति होने के बावजूद काल हैं। रुढ़ियों-कुसंस्कारों और आर्थिक दुर्व्यवस्थाओं से ये सब अभिशप्त हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये समस्त पात्र बड़े रोचक तथा जीवन्त हैं। उपन्यासकार ने उनकी आन्तरिक मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला है। यशपालजी के अब तक लिखित उपन्यासों से यह श्रेष्ठ और सफल उपन्यास है।

यशपाल की वर्णन-शक्ति शक्तिशाली और गहरी है। 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या' तथा उनकी अन्य कृतियों का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों से यह बात छिपी नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास में यशपाल ने मानव की पार्श्विक प्रवृत्ति के फलस्वरूप विकसित और उत्पन्न बीभत्स चित्रण को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। लाशों पर मँडराते हुए गिद्ध, भयाकुल परिपीड़ित और शंकालु व्यक्तियों से लदी हुई ट्रेनें, अपमानित नारियों के दृश्य, नबू के घर तारा के साथ बलात्कार, शरणार्थी-शिविरों में समाज-सुधारकों की पशुता का प्रदर्शन, विपत्ति के समय में मानव-समाज की मनःस्थिति, गफूर का बन्दीगृह सब-कुछ बड़े सजीव बन पड़े हैं। इनके अतिरिक्त लाहौर के हिन्दू मोहल्ले

में विभाजन के दिनों में जो सनसनी, अशान्ति, अनिश्चितता साकार हो उठी थी, उसका भी चित्रण यहाँ पर लेखक ने बड़ी ही सजीव शैली में किया है। इन समस्त दृश्यों में मानव की मनोप्रवृत्तियों, समाज की बनती-बिगड़ी रूपरेखा आदि के दर्शन होते हैं।

कुल मिलाकर 'झूठा-सच' एक नई जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करता है। देश की एक महान् घटना को लेकर लिखा हुआ यह एक महान् उपन्यास है। जाने कितनी महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान इस वृहत् उपन्यास में किया गया है और मानव-जीवन के अनेक प्रश्नों को और भी लेखक ने अपने ढंग से इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। उसके एक-एक वाक्य में सत्य और गूढ़ तथ्य सचमुच चित्रित हुए हैं। यशपाल ने अपने पात्रों के द्वारा अनेक स्मरणीय कथनों को प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए प्रेम जीवन का यथार्थ व्यवहार है। वह केवल कल्पना और स्मृति में ही सफल नहीं हो सकता। जनता सदा मूक भी नहीं रह सकती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में ही नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

भूले बिसरे चित्र

पचास वर्ष की दीर्घ अवधि की पटभूमि पर लिखा गया श्री भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' बहुवर्णी जीवन का मार्मिक चित्र अंकित करता है। कथा-पट पर दिल्ली-दरवार से भी पूर्व की स्थितियों से लेकर इलाहाबाद में नमक-कानून भंग किए जाने तक के अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक चित्र उभरते हैं और गाँव और शहरों की गलियों से गुजरते हुए बदले हुए जीवन-मूल्यों और पीढ़ियों के बीच हुए अन्तर को स्पष्ट करते हुए लुप्त हो जाते हैं।

पाँच खण्डों में विभक्त इस उपन्यास का केन्द्रवर्ती पुरुष है ज्वालाप्रसाद, किन्तु उससे सम्बद्ध रहकर भी कथा उसके पिता मुंशी शिवलाल से लेकर उसके पौत्र नवल तक की पूरी चार पीढ़ियों की इतिहास-कथा है। मोटे तौर पर सारी कथा एक परिवार—एक ऐसा परिवार जो निम्न स्तर से ऊपर उठा है और जिसने देश की अनेकानेक संघर्षपूर्ण स्थितियों को भोगा और अनुभव किया है—की कथा है। केन्द्रवर्ती पुरुष पर ध्यान दें, तो सारी कथा उसके उत्थान और परिस्थितियों में उसके टूट-बिखर जाने की कथा है, उस पुरुष की कथा है, जो परिस्थितियों का दासत्व स्वीकार न करते हुए भी उन्हें सहज-भाव से स्वीकार करता चलता है। प्रत्येक खण्ड में एक नया कथानायक सामने आता है और कथा को विकसित करता हुआ किसी ऐसे बिन्दु पर ले जाकर छोड़ देता है जहाँ से कथा-सूत्र दूसरे नायक के हाथ में पहुँच जाता है और फिर भी किसी-न-किसी घटना-सम्बन्ध से ज्वालाप्रसाद सारी कथा का संयोजक-

२०६ : आलोचना

सूत्र बना रहता है। कभी-कभी एक खण्ड की कथा उसी खण्ड में समाप्त नहीं होती, अगले खण्ड में कुछ दूर आगे बढ़कर समाप्त होती है। ज्वालाप्रसाद केन्द्र बनकर उपस्थित अवश्य होता है, किन्तु पहले दो खण्डों के पश्चात् उसका अस्तित्व छाया-मात्र सा रह जाता है। विशेषतः तीसरे और चौथे खण्ड में जहाँ कथा का नायक उनका पुत्र गंगाप्रसाद और उसका सहयोगी ज्वालाप्रसाद का भमेरा भाई ज्ञानप्रकाश प्रधान भूमिका का निर्वाह करता है। गंगाप्रसाद की मृत्यु पुनः ज्वालाप्रसाद को प्रधान पर प्रतिष्ठित कर देती है और अन्तिम खण्ड की कथा का प्रमुख पात्र नवल भले ही हो, किन्तु पारिवारिक दायित्व को सँभालनेवाला और जीवन का वास्तविक भोक्ता ज्वालाप्रसाद ही रहता है। पिछले पचास वर्ष जैसे ज्वालाप्रसाद में मूर्तित हो उठते हैं, एक टूटा हुआ व्यक्तित्व, एक हारा हुआ अस्तित्व प्रत्यक्ष हो उठता है।

प्रेमचंद का होरी परिस्थितियों से जूझकर टूटता है और एक गहरी निराशा के वातावरण में 'गोदान' की कथा समाप्त होती है। ज्वालाप्रसाद न होरी के समान जीवन-संघर्ष को भोगता है, न उसके समान टूटता ही है। कारण स्पष्ट है; होरी की कथा आद्यन्त, ऋण-भार से दबे विपन्न व्यक्ति की कथा है और ज्वालाप्रसाद की कथा नायक तहसीलदारी से आरम्भ करनेवाले समर्थ व्यक्ति की कथा है, जिसे परिस्थितियाँ चक्कर देती तो अवश्य हैं, किन्तु वैसी त्रासदायिनी नहीं बनती।

'गोदान' की कथा ग्रामीण जीवन को शहरी जीवन से जोड़ती है, परन्तु प्रधानतः ग्राम्य-जीवन की कथा ही बनी रहती है। 'भूले विसरे चित्र' की कथा मूलतः ग्रामीण या अर्द्ध-ग्रामीण जीवन और उसकी समस्याओं से जुड़ी रहकर भी प्रधानतः और अन्ततः शहरी और राजनीतिक जीवन की कथा है। इस दृष्टि से प्रथम दोनों खण्ड केवल स्वयं एक-दूसरे से ही पृथक् नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण शेष तीनों खण्डों से भी पृथक् ही हैं। कथा जोड़नेवाले सूत्र तो केवल पात्रों के नाम हैं, जिनके सहारे घटनाएँ घटित होती हैं। निश्चय ही एकसूत्रता का निर्वाह एक कठिन कार्य था, जिसे लेखक ने सफलतापूर्वक निबाहा है।

प्रथम दो खण्डों की कथा में पहले में सक्रियता और दूसरे में स्थिरता पाई जाती है। तीसरे में कथा की स्थिरता बनी रहती है, किन्तु चौथे और पाँचवें खण्ड में घटनाओं में तीव्रता और सघनता के साथ परिवर्तन होता है। अभिप्राय यह कि अन्य खण्डों की अपेक्षा दूसरे-तीसरे खण्ड की कथा अलग-अलग एक-एक परिवार से सम्बद्ध होकर बहुत-कुछ आन्तरिक बन गई है, जबकि अन्य खण्डों की कथा का क्रिया-क्षेत्र समाज का खुला क्षेत्र है। प्रथम दो खण्डों की कथा में केवल कर्मशीलता का निर्वाह है और शेष खण्डों में कर्म बहुत-कुछ बौद्धिकता का आश्रय ग्रहण कर लेता है, संघर्ष वैचारिक-संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। पहली कथा में घटनाएँ ही-घटनाएँ हैं, दूसरी कथा में घटनाओं के पीछे और उनके परिणाम पर विवेक और विचार की छाप है। वस्तुतः पचास वर्ष का अन्तर इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है। सामन्तशाही युग से कल्युग की ओर बढ़ती हुई कथा अन्ततः उससे भी आगे सत्याग्रह और स्वातन्त्र्य-युग की राजनीतिक परिणति को स्वीकार करती है, अतः घटनाओं से

वैचारिकता की ओर की यह यात्रा स्वाभाविक ही है।

शायद यह कहना आज कुछ विचित्र लगे कि 'भूले विसरे चित्र' की कथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की कथा है, किन्तु यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि सारी कथा का विकास आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में हुआ है—आर्थिक स्थिति ने ही नए मोड़ लेकर धर्म, काम और मोक्ष (या त्याग-वृत्ति) की विविध भूमियों का उद्घाटन किया है। कथा के विस्तार में इसीलिए अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलू अपना रूप प्रत्यक्ष कराते हैं। मुंशी शिवलाल की पारिवारिक स्थिति, राधेलाल और उनके परिवार की अर्थ-लोलुपता, ज्वालाप्रसाद की पदावनति और प्रभुदयाल या जैदेई से उसका सम्बन्ध, राधाकिशन, संतो और कैलासो, सिद्धेश्वरी, बिन्देश्वरी और कामतानाथ, रिपुदमनसिंह, बरजोरसिंह सबकी परिस्थितियों को बनाने-बिगाड़ने वाला है अर्थ; कहीं रिश्वत का रूप धारण करके, कहीं ऊँचे समाज में बैठने का दम्भ लेकर कर्जभार से लद जाने, कहीं विलास-मग्न हो जाने, और कहीं विवाह-सम्बन्ध टूट जाने जैसे अनेक परिणामों का एकमात्र कारण है अर्थ। धर्म यद्यपि अपने साम्प्रदायिक रूप में ही इस उपन्यास में चित्रित हुआ है; बरजोर की ओर से प्रभुदयाल के अपमान का कारण वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता-हीनता का दम्भ है, कुएँ पर अछूतों के न चढ़ने देने और गंगाप्रसाद द्वारा गेंदालाल के तिरस्कार किए जाने के पीछे भी यही व्यवस्थागत संस्कार काम करता है, हिन्दू-मुस्लिम दंगे इसी साम्प्रदायिकता के कुपरिणाम हैं; तथापि इस बहाने लेखक को सामाजिक धरातल पर नवीन भारत में पनपे विचारों को प्रस्तुत करने और धर्म में साम्प्रदायिक रूप के प्रति पाठक में विवृण्णा जगाने में सहायता मिली है। ज्वालाप्रसाद को दाय-रूप में जो वंशगत संस्कार प्राप्त हुए हैं काम उनमें सर्वाधिक प्रबल है। परस्त्रीगमन जैसे उस कुटुम्ब का जन्मगत संस्कार ही है, गंगाप्रसाद तक की तीन पीढ़ियों में इसी की परिव्याप्ति है, साथ ही राधाकिशन, संतो, कैलासो तथा राजा-रानियों के खानदान केवल काम के पुतले हैं। स्वच्छन्द कामाचार मनुष्य की मौलिक वृत्ति के रूप में ही चित्रित हुआ है, जो समस्त विहित-अविहित कर्म कराता रहता है। अन्ततः नई पीढ़ी, गांधीयुग में चली पीढ़ी; इस सारी परम्परा को तिलाञ्जलि देकर स्वतन्त्र समाज के निर्माण की नींव डालती दिखाई पड़ती है। नारी-स्वातन्त्र्य और विवाह से मुक्ति इसकी चरम परिणति है, जिससे सम्बन्धित मुख्य पात्र हैं नवल और विद्या। सामन्तशाही से पूँजीवाद, कलियुग में व्यतीत होती हुई उपन्यास-कथा, इस प्रकार, राजनीतिक और स्वातन्त्र्यसत्तात्मक स्थिति पर आकर समाप्त होती है।

विभिन्न स्थितियों के संगठन के समान ही उपन्यास में एक और प्रकार का संगठन सहज ही लक्षित किया जा सकता है। उसे हम विभिन्न परिवारों का संगठन कहेंगे। कालिदास ने केवल 'रघुवंश' की कथा को काव्यरूप दिया था, किन्तु भगवती-चरण वर्मा ने 'भूले-विसरे चित्र' में एक-साथ तीन परिवारों की कथा प्रस्तुत की है और बड़े कौशल से तीनों कथाओं को एकसूत्रित किया है। मुख्यकथा शिवलाल और उनकी अगली तीन पीढ़ियों की है जिसका प्रधान पात्र है ज्वालाप्रसाद। सहयोगी कथा

के रूप में प्रथम महत्त्व की कथा है छिनकी और भीखू की, जो केवल दो पीढ़ियों की कथा होते हुए भी ज्वालाप्रसाद की कथा के विकास में जितनी सहायक है उसके कम उसके कमजोर पक्षों को, अपनी एकान्तनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और त्याग की भावना से, उद्घाटित करने वाली नहीं है। तीसरी कथा प्रभुदयाल, जैदेई और उसके पुत्र लक्ष्मीचन्द की कथा है। तीनों कथाओं का सहज विकास और उनकी परस्पर अन्विति प्रशंसनीय है, जिसमें जीवन की अनेक समस्याएँ (रिश्वत, कर्ज, कामाचार, आत्मसम्मान का झूठा दम्भ, टूटते रिश्ते, वर्ण-व्यवस्था, हिन्दू-मुसलिम समस्या, वेद-समस्या, राष्ट्रोत्थान, जनान्दोलन, दहेज और तलाक, स्त्री-स्वातंत्र्य और आत्मनिर्भरता आदि) प्रभावशाली ढंग से उभार पाएँ, और कहीं वातावरण चित्रण के द्वारा, कहीं घटनाओं की आकस्मिकता की नाटकीयतावश, कहीं घटनाओं को रहस्यात्मक सस्पेंसपूर्ण मोड़ देकर, कहीं व्यंग्य करके, कहीं दंगल और शास्त्रार्थ का आयोजन करके उन्हें शैलिक विशिष्टता के साथ प्रस्तुत किया जाए; ऐसी विस्तृत कथा उपस्थित करके वर्माजी ने निःसन्देह विषय और शिल्प को नवीन मोड़ दिया है। न्याय और सत्य, ममता और न्याय, कानून और नैतिकता अथवा न्याय और कानून के बीच उपस्थित होनेवाले द्वन्द्व का विभिन्न परिस्थितियों के माध्यम से दर्शन कराकर जीवन-संघर्ष को आँकने में लेखक सफल हुआ है।

वर्माजी के उपन्यास परिस्थिति और परिवेश को प्रधान स्थान देते हैं, पात्रों की सत्ता उनके प्रवाह में प्रवाहित होने मात्र की है। 'भूले विसरे चित्र' के पात्र भी उसी साँचे में ढले हुए हैं। उनमें ज्वालाप्रसाद के समान रिश्वत से दूर रहने, न्याय का मार्ग अपनाने और गंगाप्रसाद के समान आत्मसम्मान अथवा राष्ट्रसम्मान के लिए त्यागपात्र दे देने का विद्रोह साँस तो लेता है किन्तु विजयी नहीं हो पाता। पुरुष-पात्रों की अपेक्षा उनके स्त्री-पात्र अधिक सबल, आत्मविश्वासी और एकनिष्ठ दिखाई देते हैं। उच्चवर्गीय पात्रों की अपेक्षा निम्नवर्गीय पात्रों का चरित्र अधिक सन्तुलित और अधिक उज्ज्वल जान पड़ता है। जैदेई की अपेक्षा छिनकी (जो ज्वालाप्रसाद की दूसरी माँ होने का अधिकार प्राप्त कर लेती है), लक्ष्मीचन्द और गंगाप्रसाद की अपेक्षा भी अधिक उदात्त और अपने प्रति सम्मान जागृत करने वाले पात्र हैं। काम-तृप्ति की पात्र रहकर भी छिनकी इतनी सेवामयी, आत्मत्यागशील और विवेकशील है कि कुलीन सन्तो हो चाहे कैलासो या जैदेई हो या रानी कहलाने वाली देवी, उसके चरित्र की तुलना में सभी तुच्छ और क्षुब्धतम सिद्ध होती हैं। सन्तो के साथ लेखक की वैसी सहानुभूति नहीं है। दुर्बलताओं की शिकार ऐसी नारियों की कमी हमारे समाज में नहीं है, किन्तु लेखक उसे जिस ऊँचाई से खींचकर नीचे लाता है, वह जैसे एक सहजक्रम की उपेक्षा करना है। उसकी आन्तरिक द्वन्द्वहीनता चरित्र-चित्रण में कुछ प्रभाव का सृजन करती है। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि वर्माजी के चरित्र अपने-आपमें विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि और टाइप हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में घटना-विन्यास में वर्माजी का जितना कौशल दिखाई पड़ता है और अन्य सन्दर्भों में घटित घटनाएँ भी मुख्य कथा या भावी कथा की समानस्तरीय

बनकर जैसे उनके कथा-शिल्प में सौंदर्य ला देती हैं, वैसे ही उनकी वातावरण, भाव एवं पात्र के अनुकूल भाषा भी उनके उपन्यास की गरिमा बढ़ाने में सहायक होती है। उदाहरणतः, उपन्यास के आरम्भ में ही मैकूलाल महाजन और भूपसिंह की कथा वस्तुतः आगे आनेवाली लाला प्रभुदयाल तथा बरजोरसिंह की कथा की पृष्ठभूमि या संकेत-कथा का उदाहरण बन जाती है। इसी प्रकार उनके इस्तगासे की भाषा और अभिव्यक्ति कचहरी की निश्चित भाषा के अनुकूल होने के साथ ही जालसाज शिवलाल के चरित्रोद्घाटन में भी समर्थ है। वर्माजी अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं। व्यंग में भाषा की वक्रता, वाक्य-गठन में स्वर की दृढ़ता, गम्भीर स्थिति में सांकेतिकता आदि गुण उनके इस उपन्यास में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। सरलता, स्पष्टता और अर्थगौरव के साथ ही नाटकीयता, चुटीले और चटकीलेपन के कारण उनके कथनों में स्वाभाविकता और आकर्षण दोनों का समावेश हुआ है। हिन्दी के साथ अंग्रेजी का मेल नौकरशाही में पले व्यक्तियों का रूप उधारता है तो हिन्दी-उर्दू का मिश्रण हिन्दू-मुसलमान के बीच सहज अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है और भोजपुरी का प्रयोग निम्नवर्गीय व्यक्तियों के लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति का सहारा बन जाता है। जैसे शराब, नाच और खानपान से ठाकुर परिवार का चित्र उभरता है, वैसे ही उनकी आत्माभिमान की प्रवृत्ति उनकी भाषा में बलक बाली है।

इस प्रकार, 'भूले बिसरे चित्र' कथा और शिल्प, भाषा और अभिव्यक्ति, दोनों में नवीन दृष्टि का उन्मीलन करता है और हिन्दी-कथा-साहित्य में एक महत्वपूर्ण कृतिके रूप में सम्मान्य सिद्ध होता है।

REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितगित नहीं की जाय
NOT TO BE ISSUED

धूप के धान

'धूप के धान' श्री गिरिजाकुमार माथुर का तृतीय काव्य-संग्रह है। श्री माथुर के स्वयं के काव्य में ही नहीं, यह संग्रह सामयिक काव्य में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। गिरिजाकुमार माथुर के इस संग्रह से पूर्व दो संग्रह और प्रकाशित हुए हैं, एक 'मंजीर' और दूसरा 'नाश और निर्माण'। 'मंजीर' में कवि के छायावादी संस्कारों से युक्त कविताएँ हैं। 'नाश और निर्माण' में छायावादी संस्कारों के साथ सामाजिक चेतना के स्पर्श भी होते हैं। आशा और उल्लास के, आस्था और भविष्य के प्रति विश्वास के, स्वर भी इस संग्रह में मुखरित हुए हैं। इस विचारधारा का परिपक्व रूप 'धूप के धान' में अभिव्यक्त हुआ है। प्रयोगवादी काव्यधारा के ज्ञापक प्रथम 'तार सप्तक' के कवि माथुर, इस काव्यधारा से कुछ अलग-से पड़ते हैं। वह इस अर्थ में कि वे प्रयोग को साधन मानते हैं और वर्तमान सामाजिक यथार्थ को साहसपूर्वक झेलते हुए आस्था से दूँते नहीं। मानवता की स्थापना में विश्वास उन्हें है। उन्होंने 'धूप के धान' के

२१० : आलोचना

‘निवेदनम्’ में मानव-मूल्यों के प्रति अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

“आज के विरोधी मतवादों के समन्वय से भयरहित, कष्ट-त्रास-रहित, मुक्त मानवता के एक सर्वांगीण दर्शन की उत्पत्ति होगी जिसमें श्रद्धा, निष्ठा, आत्मविनय, शील, प्रेम, जीवन-सम्मान, सामाजिक न्याय, अन्तःकरण की नैतिक स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित होगी।” (पृ० ११ ‘धूप के धान’)

प्रयोगवादी काव्यधारा में वास्तविक प्रयोगों के अतिरिक्त तथाकथित प्रयोग होने लगे थे। अपनी कमी को विशिष्ट वर्ग की वस्तु कहकर और अपने अज्ञान को नए प्रयोग कहकर गर्व भी किया जाता था। श्री गिरिजाकुमार माथुर प्रयोग की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कहा है—

“अध्ययन या अनुभव की कमी के कारण यदि छन्दों में भूलें हैं तो नये भूलों को नया प्रयोग या विशेष वर्ग के पाठकों की चीज कहकर रखे लाइज नहीं करना चाहिये।”

(पृ० १४, ‘धूप के धान’)

कवि, यदि वह है तो सामाजिक यथार्थ उसमें अभिव्यक्ति पायेगा ही। यथार्थ ओढ़ा हुआ अथवा मसीहाई का नहीं होगा वरन् कवि का भोगा हुआ, अनुभव होगा। इसीलिए उसकी तीव्रता भी पाठक को प्रभावित करेगी, वह विशिष्ट वर्ग की नहीं होगी।

‘धूप के धान’ की कविताओं में यही तत्त्व है। प्रस्तुत संग्रह में कवि की ४५ से लेकर ५३-५४ तक की कविताएँ हैं। यह समय भारतीय इतिहास का नवीन पृष्ठ है—ऐसा, जिसमें अनेक उथल-पुथलें हुई हैं। रूढ़ि और परम्पराओं का टूटना नवीन आस्था और विश्वासों का जन्म और मानवता के नवीन मूल्यों के प्रति आस्था इस समय में विशेष रूप से सामने आया था। इस सबकी कथा ‘धूप के धान’ में व्यक्त है। जैसा कि मैंने कहा, ‘धूप के धान’ की कविताएँ ४ वर्गों में विभाजित हो सकती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) नवीन और आगत स्वतन्त्रता की अनुभूति से उत्पन्न उत्साह, आत्मविश्वास और निश्चय से गुम्फित भावना की अभिव्यक्ति वाली कविताएँ। इस वर्ग में ‘भोर : एक लैंडस्केप’, ‘युगारम्भ’, ‘एशिया का जागरण’, ‘पहिये’ आदि कविताएँ रखता हूँ।

(२) दूसरा वर्ग उन कविताओं का है, जिन में कवि का उत्साह कुछ खटित हुआ है—सामाजिक यथार्थ की अनुभूति से। वह विश्वास और आशा, जो प्रथम वर्ग की कविताओं में थी, चोट खाती है। इस वर्ग में मैं, ‘प्रौढ़ रोमांस’, ‘शाम की कुँआ’ आदि कविताओं को रखता हूँ।

(३) तृतीय वर्ग है उन कविताओं का जिनमें कवि की रोमानी वृत्ति व्यक्त हुई है, मांसल सेक्स के प्रति आसक्ति प्रकट हुई है, जैसे ‘सावन के बादल’, ‘रात के तारों की’, ‘धूप का ऊन’, ‘मुहूर्त ज्वलित श्रेयो’, ‘चाँदनी गरबा’ आदि।

(४) चतुर्थ वर्ग में विविध कविताएँ हैं, जैसे निराला के प्रति, गांधी के प्रति

पर लिखी गई कविता तथा इन्दुमती, इतिहास आदि ।

यहाँ इसी क्रम से इस काव्य-संग्रह का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

‘भोर : एक लैंडस्केप’ कविता का रचना-काल है, फरवरी १९४५ । प्रथम १ पंक्तियों में व्यतीत होती रात्रि का सजीव अंकन है, विम्ब शैली का प्रयोग है । परन्तु, अन्तिम छः पंक्तियाँ स्वतन्त्र होते भारत की ओर संकेत करती हैं, युग की अँधियारी रजनी मिटने की प्रसन्नता, जीवन के नये जागरण के प्रति उत्साह और सोती मानवता के उन्मुक्त होने की आशा व्यक्त की गई है—पंक्तियाँ हैं—

यह प्रथम प्रदोष निमिष है नये उजले का
जीवन के नये जागरण का
अब युग की अँधियारी रजनी मिटने को है
जन रवि का अग्र प्रकाश चरण
अंकित हो रहा धरा के मैले आँचल पर
जिसमें मानवता छिपी धूप बन सोती है ।

(पृ० ३, ‘धूप के धान’)

‘युगारम्भ’ (अप्रैल ’४६) स्वतन्त्र भारत के नवयुग की आकांक्षा से पूर्ण कविता है । नवीन क्षितिज की कामना इससे व्यक्त की गई है । सदियों से परतन्त्रता-तिमिर में बाबूत मानवता की स्वतन्त्रता की प्रशस्ति इस कविता में है । वास्तव में गुलामी की तीव्र पीड़ा के उपरांत मिलने वाली स्वतन्त्रता की आशा अनेक, विचित्र भावनाओं को जन्म देती है । मानव-हृदय, विचित्र स्थिति में अपने को पाता है, उसे विश्वास और उत्साह के नवीन क्षितिज उदित जान पड़ते हैं । यही भावना ‘युगारम्भ’ कविता में व्यक्त हुई है—

यह विकास पंथ जमे,
शिला खण्ड धुल गये
तिमिर घिरे जन मन के
नये क्षितिज खुल गये ।

(पृ० ६, ‘धूप के धान’)

‘एशिया का जागरण’ कविता भी स्वतन्त्रता के अभिनन्दन का गीत है । इस लम्बी कविता में, गुलामी का इतिहास, स्वतन्त्रता-प्राप्ति करने के प्रयत्नों की, उत्साह की गाथा और अन्त में स्वतन्त्रता का अभिनन्दन निहित है । भारत की स्वतन्त्रता की गाथा ओज-पूर्ण शैली में कही गई है । इसका एक उद्धरण है—

मेरी गुलाम तलवारों का
है सामूहिक संकल्प जगा,
बन्धन टूटे, सीसा फेंली
फिर जल-प्लावन सा कल्प जगा

(पृ० ११, ‘धूप के धान’)

मानवता के जागरण से उत्पन्न उत्साह के समक्ष ‘मनुज दासता के प्रहरी’ कब तक

२१२: आलोचना

रुक सकते थे। उनका दुर्ग ध्वस्त हुआ और एशिया की मिट्टी का प्रत्येक कण मुक्त
उठा, मुक्ति मिली, हम स्वतन्त्र हुए। आजादी का वन्दन हुआ—

नयनों में अग्नि शिखाएँ हैं
मुख पर मानवता का चन्दन
जनता जनार्दन आज बढ़ी
करने आजादी का वन्दन

(पृ० ६ 'धूप के धान')

अंग्रेजों के शासन ने इस देश में जो कुछ किया, किसीसे छिपा नहीं है। अपनी स्वाभि-
सिद्धि के लिए वे किसी भी सीमा तक उतरे, आपस में झगड़ा कराया, भेद की दीवारें
उठायीं, जब-जब उनका दाव लगा, उन्होंने चाल खेली—इस सबका वर्णन 'एशिया का
जागरण' कविता में है। जब उनके अत्याचार की सीमा हो गई तो—

मुड़ गये समय के चपल चरण
आया कृतान्त बन मुक्ति काल
मिट्टी का हर कण सुलग उठा
जल उठी एशिया की मशाल

'पहिये' शीर्षक कविता में, परिवर्तन—चिरपरिवर्तनशील सृष्टि का इतिहास है।
विकास के क्रम में मानव की आदिम अवस्था से आज तक की कथा है। मानव के भविष्य
में आस्था प्रकट की गई है। मानव का मानव पर शोषण समाप्त होगा, दुःख का
सत्ता समाप्त होगी, युग-युग से पीड़ित मानवता मुक्त होगी। ऐसे भविष्य के प्रति
विश्वास इस कविता में व्यक्त हुआ है। 'धूप के धान' की अधिकांश कविताओं में
माथुर के मानवतावादी स्वर मुखरित हुए हैं। इस उदात्त मानवतावाद का एक
उद्धरण प्रस्तुत है—

बस इसीलिये होगा विनाश,
मानव का मानव पर
दुःख, दोहन, अनाचार
इसलिये कि रुकता नहीं कभी गति का पहिया,
अविरल चलता विकास का क्रम
वह पास लिये आता मनुज समाज नया
जब दुःख की सत्ता मर जायेगी।
पीले बासी फूलो

(पृ० २१ 'धूप के धान')

इस प्रथम वर्ग की कविताओं में आशावादित्व है, मानव के भविष्य के प्रति अ-
आस्था है। द्वितीय वर्ग की कविताओं में सामाजिक यथार्थ की तीव्र अनुभूति व्यक्त
हुई है। 'प्रोढ़-रोमांस' ऐसी ही कविता है। इसमें जीवन की यथार्थता को प्रकट किया
गया है। विरह का दुःख वास्तव में शारीरिक है। दैनिक जीवन की भट्टी में तप कर
यह सत्य कवि पर उजागर हो गया है। वह भी पहले यही समझा था कि कोमलभाव

मूल्यवान होते हैं, पर अनुभवों ने उसे सिखा दिया कि मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष अधिक कठिन हैं—बोझिल हैं। यह जीवन इतना सरल नहीं है, यहाँ पल-पल पर संघर्ष है। आशा और विश्वास भी संघर्ष से ही फलीभूत होते हैं—

पर ठोकर पर ठोकर खाकर हमने जाना

तोल तराजू के पलड़ों में

मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष

अधिक बोझिल हैं।

(पृ० २३, 'धूप के धान')

इसीलिए वह संघर्ष करता है, विरही बनकर आहें भरना उसे नहीं रुचता, अपने भजबल से मार्ग प्रशस्त करना उसे रुचिकर है। वह जानता है कि जीवन-मिठास का रस संघर्ष में है, कोरी रंगीन कल्पनाओं में नहीं, मिथ्या आदर्शों में नहीं। जैसा कि अन्य आलोचकों ने कहा है, श्री माथुर में एकांत वैयक्तिकता अथवा पलायन नहीं है, वरन् संघर्षों में अनुरक्ति ही अधिक है। 'शाम की धूप' कविता सामाजिक यथार्थ का चित्रण है। कवि ने अत्यन्त कलात्मकता के साथ प्रसंग उठाया है। शाम की धूप मिली हवा, जो लहर-सी आकर लिपट जाती है, की बात से कविता प्रारम्भ हुई है, और धीरे-धीरे पूरा, सायंकाल का समाज, थका-हारा, बोझिल समाज, प्रत्यक्ष होने लगता है। सड़कों पर घर को लौटता शोर, रिक्शा और साइकिल की घण्टी की आवाजें। साइकिल के आगे लगी खाली टोकरी और खाली टिफिन। दफ्तर में खत्म न होने पर साथ लाई जाने वाली फ़ाइलें, सब पर कवि की दृष्टि जाती है। यह मध्य-वर्गीय कहलाने वाले समाज का यथार्थ चित्रण है। अभाव-ही-अभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। शायद ही कोई ऐसी टोकरी हो जो फलों से अथवा अन्य किसी वस्तु से भरी हो, अन्यथा सभी रिक्त है। यह सामाजिक रिक्तता है जो व्यापक बनकर घुसी बैठी है। अन्न का अभाव, वस्त्र का अभाव, आवश्यक वस्तुओं की अलभ्यता ही आज का सामाजिक यथार्थ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तथा मिलने के प्रथम कुछ वर्षों में जो आशा-आकांक्षाएँ थीं, वे जैसे कुण्ठित हो जाती हैं। पर इस कुण्ठा के बावजूद, निराशा के बावजूद माथुर में हारने का, टूटने का भाव लक्षित नहीं होता। यही वह बिन्दु है जहाँ श्री माथुर अन्य नये कवियों से भिन्न हो जाते हैं। मन के हारने पर ही हार है। मन यदि नहीं हारा तो मानव का कुछ भी नहीं बिगड़ सकता, वह देर-सवेर लक्ष्य पा ही लेगा।

आज इंसान हो गया है कैद

पर न मन हार मान सकता है।

(पृ० ३० १, 'धूप के धान')

'धूप के धान' में तृतीय वर्ग उन कविताओं का है जिनमें कवि की रोमानी वृत्ति प्रकट हुई है। गिरिजाकुमार माथुर में यह रोमानी स्वर आरम्भ से ही रहा है और धूप के धान की कविताओं में भी है। मांसल सेक्स के कुछ चित्र इस प्रकार हैं। 'रात हेमंत की' कविता में रात को कामिनी कहा है, जो अपने कन्त की सेज को उष्ण करने के लिए

२१४: आलोचना

लिपटकर सो गई है, जिसके नयन स्नेह की लालिमा से रंजित हैं। भुज मिलन और तन गन्ध तथा नुकीले वक्ष की छुअन, उकसन, चुभन सभी कुछ कवि द्वारा वर्णित है—

नयन लालिम स्नेह दीक्षित,
भुज मिलन तन गन्ध सुरभित
उस नुकीले वक्ष की
वह छुअन, उकसन, चुभन अलसिन

(पृ० ५४, 'धूप के धान')

'हेमन्त की रात' का यह चित्रण कवि की अपनी अनुभूति और आसक्ति का परिणाम ही है। इसकी अधिक व्याख्या अपेक्षित भी नहीं है। 'सावन के बादल' कविता में शृङ्गार के प्रतीक ही हैं। नहाई हुई—'ऋतुमती वनस्पति', 'नितम्बिनी धरा', 'रसवती कुंवारी सी' और सबसे बढ़कर ये पंक्तियाँ—

चमक बिजलियों की पलक चाँदनी सी
खुले चाँद तन की झलक दामिनी सी
झुके मेघ गीले अधर ज्यों झुके हों
लिपटती हवा मस्त गजगामिनी-सी

(पृ० ४१ 'धूप के धान')

'चाँदनी गरबा' में चाँदनी भी मादक रूप में चित्रित है—कामिनी-रूप में प्रेषित है—

उड़ती भीनी गन्ध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुन्तल कामिनी
उभरे रोए छुवा गई है चाँदनी
सींग नुकीले चुभा गई है चाँदनी।

'सावन की रात' कविता भी इसी प्रकार की रोमानी प्रवृत्ति से पूर्ण है। अब थोड़ा शैली की दृष्टि से भी विचार किया जाए। शैली-शिल्प की दृष्टि से भी श्री माथुर विशिष्ट हैं। सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहते हुए भी श्री गिरिजाकुमार ने शिल्प की उपेक्षा नहीं की है। उनके शिल्प में विकास हुआ है। चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता, विम्ब आदि के बहुत सुन्दर उदाहरण धूप के धान की कविताओं में हैं। उपमानों की योजना नवीन होती हुई भी यथार्थ है। नवीनता के लिए नवीनता नहीं है। उदाहरण के लिए चाँदनी रात के इस दृश्य को लें। इसमें पूर्णचन्द्र से युक्त रात्रि का वर्णन है—यह वर्णन अनुभूतिजन्य होने के कारण ही इतना सच्चा बन पाया है। रात एकदम 'झकाझक' हो रही है—ऐसी उजली चाँदनी कि सुई में तागा पिरो लो, यहाँ तक कि सफ़ेद रात को दिन समझकर कौए बोलने लगे। सारे घर-द्वार जैसे सफ़ेद ताजे चूने से पुते हों—और आकाश में पूरा चाँद है—ऐसी रात को शब्द-शिल्पी श्री गिरिजाकुमार माथुर ने इस प्रकार उतारा है।

यह झकाझक रात.

चाँदनी उजली कि सुई में पिरो लो ताग

चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग

हो रही ताज़ी सकेदी नये चूने से
 पुत रहे घर द्वार
 चाँद पूरा साफ़

(पृ० ६४, 'धूप के धान')

कम-से-कम शब्दों में चित्र उतारने में श्री माथुर विशेष सिद्ध हैं। ऐसे चित्रों के लिए बहुत चुनाव की आवश्यकता है, शब्दों के भी और वर्णों के विशिष्ट अंगों के भी। 'हेमन्ती रात' को स्पष्ट करने के लिए—चाँद, ठण्डी, कँटीली हवा और ओस यही पर्याप्त है—

चाँद हेमन्ती
 हवा बहती कटीली
 चाँदनी फैली हुई है
 ओस नीली

और इसका मन पर प्रभाव भी वर्णित है—

चाँदनी डूबी हवा सुधि गन्ध लाती।

(पृ० १११, 'धूप के धान')

श्री माथुर ने भाषा के प्रयोग भी किये हैं। एक प्रयोग है जनपदीय बोली के शब्दों के उपयोग का। जनपदीय बोली के शब्दों के प्रयोगों से तद्विषयक चित्र बहुत सफलता से अंकित हो पाए हैं। 'ढाक बनी' ऐसी ही कविता है। कुछ शब्दों का निर्माण भी किया गया है—जैसे नुकीले वक्ष के स्पर्श के लिए—'छुअन' 'उकसन' 'चुभन' आदि। ये शब्द न केवल चित्रांकन में समर्थ हैं, वरन् अनुभूति-प्रेषण में भी सफल हैं। एक और चित्र लें—धूप मिली हवा, छत पर बैठी ललनाओं के बाल उड़ाती है, आँचल भी उड़ाती है, आँचल जो सोंधे, तन-गन्ध भरे हैं—

कभी छत पर बैठी ललनाओं के
 सोंधे तन—गन्ध भरे आँचल को
 गोरे कन्धे से उड़ा देती है।

यह चित्र गोरे कन्धे ही नहीं, तन—गन्ध को भी स्पष्ट कर रहा है। चित्र-शिल्प, ध्वनि-शिल्प के अनेक उदाहरण 'धूप के धान' संग्रह में उपलब्ध हैं।

श्री माथुर ने छन्द के क्षेत्र में भी प्रयोग किये हैं। सवैया को तोड़कर नवीन छन्द का निर्माण किया है। उर्दू की छोटी बहर के आधार पर, लोकगीतों के आधार पर नवीन छन्द बनाये हैं। छन्द और उसके मूल तत्त्व—लय के प्रति श्री गिरिजाकुमार माथुर विशेष सतर्क रहे हैं।

अतः गिरिजाकुमार माथुर का यह संग्रह, वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से नई कविता में स्थान रखता है। नई कविता जब दुरुह हुई है, विशिष्ट वर्ग के पाठकों की चीज़ बनने लगी है। निराशा, कुण्ठा के स्वरो से संपृक्त हुई है। 'धूप के धान' की कविताओं ने नवीन आयाम प्रस्तुत किया है। संप्रेषण के नूतन स्तर प्रस्तुत किये हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में 'धूप के धान' कवि माथुर का तो प्रतिनिधि संग्रह है ही, नयी कविता का भी महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

कोणार्क : शिल्प और मूल्य

साहित्य की समीक्षा की तुलना में नाटक का मूल्यांकन इस अर्थ में भी अलग है कि लिखित साहित्य की विधाएँ प्रेषणीयता के लिए प्रस्तुत पूर्णरूप हैं जबकि नाटक का लिखित रूप कलारूप की पूर्णता नहीं है, हालाँकि एक स्तर पर अभिव्यक्ति की पूर्णता वह है। रूप की यह अपूर्णता लिखित नाटक को पूर्णता के साथ संप्रेषित होने में बाधा डालती है, क्योंकि रूप ही संप्रेषणीयता का मूलाधार है। परिणाम यह होता है कि नाटककार की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर भी लिखित नाटक नाटक के बहुत-से सौन्दर्यात्मक मूल्य विहित ही रह जाते हैं और नाटककार के कृतित्व का मूल्यांकन कठिन हो जाता है। नाटक के लिखित रूप के समीक्षक की सबसे बड़ी समस्या इस अधूरे रूप के सहारे रूप की सम्भव पूर्णता का अनुमान और उसके आधार पर नाटककार के कृतित्व का मूल्यांकन करना है। ऐसी स्थिति में लिखित नाटक की समीक्षा एक हद तक संभावना या अनुमान का ही मूल्यांकन है।

कोणार्क के नक्शे के आधार पर नाट्य-सौन्दर्य के स्थापत्य को कल्पना में रूपायित करते समय कोणार्क भग्न-मन्दिर की भाँति रंग-सौन्दर्यभवन भी खण्डित ही बनता है। नाट्यानुभूति मानो रूप ग्रहण करना ही नहीं चाहती। निर्माण के लिए एकत्र उपकरण किसी अन्य उद्देश्य के लिए संकल्पित प्रतीत होते हैं। कोणार्क में रेडियो नाटक के उपकरण लेकर रंगमंचीय नाटक तैयार करने की कोशिश की गई है।

रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक के बीच माध्यम का अन्तर ऐसी विशिष्ट तकनीकी और सौन्दर्यशास्त्रीय स्थितियाँ उत्पन्न करता है कि दोनों परस्पर भिन्न स्वतन्त्र कलारूप बन जाते हैं और एक के सौन्दर्य नियम दूसरे पर लागू नहीं होते। जिन कारणों से एक माध्यम की रचना सशक्त हो उठती है वे ही कारण दूसरे माध्यम में उसे दुर्बल बना सकते हैं। कोणार्क ऐसी ही स्थिति का उदाहरण बनकर रह गया है। यही नियति हिन्दी के और भी अनेक प्रतिष्ठा-प्राप्त नाटकों की है।

दोनों कलारूपों के कुछ साम्याभासों ने कुछ हिन्दी नाटककारों को भ्रम में डाल दिया और वे गलत निष्कर्ष निकालने के लिए विवश हुए। रंगमंच के अभाव ने इसमें योग दिया और फलस्वरूप रंगमंच के लिए बेकार एवं रेडियोधर्मी न केवल तथाकथित एकांकियों की ही धूम मच गई बल्कि बहुत-से बड़े नाटकों पर भी रेडियो तकनीक का गहरा असर पड़ा और प्रसाद के नाटकों की अनभिनेयता का रोना रोते हुए भी बहुत-से नाटककारों ने ऊपरी दृष्टि से अभिनेय प्रतीत होने वाले किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त असमर्थ नाटक रच डाले। कुछ लोगों ने तो मूलतः रेडियो नाटक ही लिखा और कुछ परिवर्तन कर उसे रंगमंचीय नाटक के रूप में छपवा दिया।

दो माध्यमों के लिए लिखे जाने वाले नाटकों के बीच भ्रम पैदा होने का एक मुख्य कारण यह समझ बैठना है कि दोनों प्रकार के नाटक संवादों के सहारे ही चलते

हैं और नाटककार का सबसे बड़ा कर्त्तव्य और अवसरसंवाद लिखना ही है। वास्तव में शेष रूप में कुछ रंगसंकेतों के अलावा दोनों प्रकार के नाटक एक समान ही जान पड़ते हैं। दूसरे, रंगमंचीय नाटक की तुलना में रेडियो नाटक साहित्य के अधिक निकट हैं जिससे साहित्यकारों ने अनायास ही इसकी तकनीकों को अपना लिया। नाटक की भ्रामक साहित्यिक समीक्षा ने इस स्थिति पर और रंग चढ़ाया। चरित्र-चित्रण, अंतर्द्वन्द्व, चरमोत्कर्ष, रसबोध और साहित्य की दार्शनिक मान्यताओं के चक्कर में फँसी हुई नाट्य-समीक्षा रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक के स्वरूपगत अन्तर को स्पष्ट न कर सकी। इनसे नाटककारों को नाटक की आन्तरिक बुनावट, अनुभूतियों के नाटकीय बिम्बों और माध्यम की शक्तियों को पहचानने में कोई सहायता न मिल सकी। अभिनेयता और अनभिनेयता के आधारहीन किन्तु व्यापक विवाद ने इतना ज़रूर किया कि नाटककार स्थूल रूप से अपने नाटकों के खेले जाने की परवाह करने लगे और कुछ अधिक सावधान नाटककारों ने नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी कुछ मोटी-मोटी बातों के ब्योरोँ का परिशिष्ट भी अपने नाटकों के साथ जोड़ना आरम्भ किया। किन्तु रंगमंच पर किसी कृति को उतार लेना एक बात और उसका उत्कृष्ट नाट्य-कलाकृति होना दूसरी बात।

कोणार्क सुविधापूर्वक रंगमंच पर खेला जा सकता है, इसका प्रमाण नाटक का परिशिष्ट और इसके अनवरत प्रदर्शन हैं। इसमें कोई नारी पात्र न आने से अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों के लिए यह नाटक बड़ा ही सुविधापूर्ण हो गया। इस दृष्टि से कोणार्क को इस बात का महत्वपूर्ण श्रेय है कि इसने बहुत-सी स्वल्प साधनों वाली अव्यवसायी मंडलियों को पूरा नाटक खेलने का अवसर दिया और इस प्रकार हिन्दी-रंगमंच के विकास के आधार को चौड़ा किया। यदि कहीं इसमें नाटकीय बिम्बों की त्रिआयामात्मकता होती तो यह नींव गहरी भी हो जाती।

मूल नाटक को ध्वनिबिम्बों में रूपायित किये जाने के कारण कोणार्क द्विआयामात्मक हो गया और रंगमंच का तीसरा आयाम चिपकाया हुआ निष्क्रिय तत्त्व मात्र लगने लगा। रंगमंच के नाटकीय बिम्बों का मूल उत्स जिस सौन्दर्यमूलक प्रत्यक्षीकरण और अनुभूति में निहित है, उसमें व्यक्ति अपने परिवेश के साथ घनिष्ठता के साथ जुड़ा रहता है और नाटक की प्रभाव-इकाइयाँ व्यक्ति एवं परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से बनती हैं। व्यक्ति और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया भी परिवेश के सक्रिय योगदान से संवलित रहती है। रंगमंचीय नाटककार की सफलता इस बात में है कि वह इस तात्कालिक परिवेश की सक्रियता को पहचाने और अपने नाटकीय बिम्बों को इस प्रकार रूपायित करे कि व्यक्ति अपने परिवेश में से उगता-बढ़ता मालूम पड़े।

रेडियो नाटक के रूप में अभिनीति होने पर तो कोणार्क के व्यक्ति अपने वातावरण से जुड़े मालूम पड़ते हैं, लेकिन रंगमंच पर वे अपने तात्कालिक परिवेश से कटे हुए लगते हैं। वातावरण निर्जीव पृष्ठभूमि बनकर रह जाता है। कोणार्क में नाटकीय क्रिया का विकास पूर्णतया संवादों के सहारे होता है, क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र भाषिक है। अंगस्थितियाँ, मुख-मंडलीय भावाव्यक्तियाँ, आकस्मिक क्रियाएँ, गतियाँ, मंच-सामग्री और दृश्यपीठ जैसे तत्त्व प्रतिक्रिया की उत्तेजना नहीं बनते, विकास में सक्रिय

२१८ : आलोचना

योग नहीं देते, बल्कि अधिक-से-अधिक चित्रण (इलस्ट्रेशन) मात्र करके रह जाते हैं।

उपक्रम और उपसंहार को लेखक ने अपना नवीन प्रयोग माना है जिसमें संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पश्चिमी नाटकों के एपीलोग, प्रोलोग एवं कोरस के समन्वय का दावा किया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि रेडियो नाटक के लिए लिखी गई कमेंट्री को नाटककार ने ज्यों-का-त्यों लेकर और उसके दुर्बल चित्रण की व्यवस्था देकर उसे रंगमंच के लिए एक नवीन प्रयोग मान लिया है। वास्तव में नाटक के ये सर्वथा अकिञ्चन अंश हैं जो रेडियो की विधा में भले ही प्रभावशाली सिद्ध हों रंगमंच के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पश्चिमी प्रोलोग एपीलोग तथा कोरस में केवल स्वर नहीं रहता बल्कि व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को उसी प्रकार अभिव्यक्त करते हैं जिस प्रकार नाटक के अन्य पात्र। वे दर्शकों को अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के दृश्य और श्रव्य बिंबों से प्रभावित करते हैं, फलतः दर्शकों की नाटकीय अनुभूति अधिक समृद्ध होती है। प्रस्तुत प्रयोग में रंगमंचीय माध्यम की वक्तियों की अवहेलना हुई है। उपक्रम उपसंहार की भाषा भी उस काव्य-शक्ति से वंचित है जो कोणार्क मन्दिर की भव्यता के बिंब को रूपायित कर सकती।

रेडियो विधा के अनुकूल भाषा को मुख्य आधार बनाने का ही परिणाम यह हुआ कि मंच पर व्यक्ति जो कुछ भी कहते हैं उसकी अभिप्रेरणा स्थापित नहीं होने पाती और बोलने की अनिवार्य मनोवैज्ञानिक स्थिति के अभाव में संवाद में उस आकर्षण की कमी प्रतीत होने लगती है जो रंगशाला में दर्शकों को एक-एक शब्द पी जाने को विवश करता है। कथा के सूक्ष्म अंशों का संवाद में वितरण अकुशल, स्थूल, प्रत्यक्ष, और रूढ़ है। संवादों में गूढ़ सांकेतिकता और अन्तर्मन के उद्घाटनों के अवसरों का बहुत कम उपयोग हुआ है। तब भी कोणार्क के संवादों का गठन सुडौल और मितव्ययितापूर्ण हो पाया है, किन्तु रेडियो शिल्प के कारण उनकी गति अत्यन्त क्षीण है। संवादों के मध्य नाटकीय क्रिया का अवकाश नहीं।

भाषा के सम्बन्ध में कोणार्क के नाटककार को एक अभूतपूर्व सफलता मिली है। वे ऐतिहासिक नाटक की भाषा को कृत्रिमता की उस शृंखला से युक्त कर सके हैं जो हिन्दी नाटकों को असें से जकड़े रही है। ऐतिहासिक वातावरण के सृजन में भाषा की कृत्रिम संस्कृतमयता नाटक को उस प्रकार योग नहीं दे सकती जिस प्रकार कहानी या उपन्यास को देती है। वह तो विश्वासबोध और भावमग्नता को—जो नाटकीय अनुभूति के महत्वपूर्ण उपकरण हैं, कदम-कदम पर खण्डित करती जाएगी। कोणार्क में पुराने पारिभाषिक शब्दों और कुछेक अभिव्यक्तियों के लिए संस्कृत पदावली के उपयोग ने काल-बोध कराने में अद्भुत सफलता दी है।

भावानुभूति का तनिक सा भी अवसर मिलते ही भाषा को बोझिल गद्य-काव्य बना डालने का जो शौक छायावादी नाटककारों और बँगला के अनुवादकों से शुरू हुआ वह अब तक काफ़ी मात्रा में मौजूद है। कुछ संयत रहने पर भी कोणार्क का नाटककार इसका अपवाद नहीं। भावानुभूति के गहन क्षणों में भाषा का काव्यमय हो उठना अनिवार्य है किन्तु वह काव्य-तत्त्व स्थूल और प्रत्यक्ष होने की बजाय पारदर्श

होना चाहिए ।

सम्भवतः रंगमंचीय सुविधा की भावना ने ही नाटककार को कोणार्क के व्यापार-स्थल के रूप में कमरे के अन्दर के हिस्सों को चुनने की प्रेरणा दी । किन्तु इससे न केवल इस नाटक की दृश्यपीठ-सम्बन्धी समृद्ध सम्भावनाएँ अत्यन्त सीमित हो गईं बल्कि वातावरण की निष्क्रियता का कारण बहुत दूर तक यही बना । यदि नाटकीय क्रियाओं का स्थान सीधे कोणार्क के निर्माण-स्थल पर शिखर की छाया में कहीं रखा गया होता तो इस भव्य मन्दिर का दबा हुआ व्यक्तित्व भास्वर हो उठता, निर्देशक को शैलीकरण और प्रतीक योजना का अवसर मिलता, दृश्यांकनकार की कल्पना को अवकाश मिलता, प्रकाश योजना विविधतामय हो पाती, और अभिनेताओं को गतियों, क्रियाओं और विभिन्न धरातलों की सुविधा मिलती । तभी दर्शकों के लिए दृश्य-तत्त्व भी अधिक सार्थक हो पाता ।

नाटक को ऐतिहासिक, पौराणिक, समस्या आदि वर्गों में बाँटने की जो प्रथा हिन्दी नाट्य-समीक्षा में चल पड़ी वह बहुत भ्रामक है । वस्तुतः नाटक केवल नाटक होता है । इतिहास, पुराण आदि नाट्य-विधा में आकर अपना रूप इस कदर बदल लेते हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । इस परिवर्तन का प्रधान कारण स्वयं नाट्य-कला की प्रकृति है जो अपने दर्शकों की तात्कालिक सन्तुष्टि से घनिष्ठता से जुड़ी रहती है । यही कारण है कि पुराने युग के सभी नाटककारों ने पुरानी ऐतिहासिक, पौराणिक कहानियों को ही मुख्य रूप से अपने नाटकों का विषय बनाया; फिर भी वे ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसन्धान की ओर कभी प्रवृत्त नहीं हुए, बल्कि कहानी के उपलब्ध प्रारूप को भी अपने लिए आवश्यक रूपों में बदल डाला । वास्तव में नाटककार सदा से यह महसूस करते आये हैं कि रंगशाला में दर्शक अनुभूतियों को जिस भव्य पैमाने पर जीना चाहता है उसके लिए समकालिक जीवन छोटा पड़ता है । दूसरी ओर शक्तिशाली सजीव अनुभूतियों का उद्गम-क्षेत्र समकालिक सांस्कृतिक आदतों-मान्यताओं के बहुत परे नहीं जा सकता । इसका परिणाम यह होता है कि नाटक में ऐतिहासिक-पौराणिक कथा के साँचे में नाटककार सदा समकालिक जीवन-मूल्यों को ही ढालता है । यही कारण है कि महाभारतकालीन शकुन्तला का पौराणिक आख्यान अभिज्ञान शाकुन्तल में गुप्तयुग की संस्कृति की इतनी गहरी झलक देने लगता है । समकालिक वैवाहिक जीवन का प्रतिबिम्ब ही वह मूल कारण है जिसमें 'अंधायुग' और 'आपाढ़ का एक दिन' प्रबुद्ध वर्ग में इतनी लोकप्रियता अर्जित कर सके ।

नाटक को अपने ऐतिहासिक अनुसन्धान और नवीन तथ्यों के उद्घाटन का वाहक बनाकर जिस व्यूह में प्रसादजी की प्रतिभा उलझकर रह गई उसमें स्वेच्छा से उलझते रहने की हिन्दी के कुछ नाटककारों ने परम्परा ही बना डाली । प्रसादजी फिर भी इतिहास के नाटकीय मूल्य के प्रति सजग रहे और अपने समकालिक परतन्त्र जीवन की कुण्ठा की निष्कृति अतीत गौरव के उद्घाटन में ढूँढ़ते रहे ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् गुजरे जमाने की रौनक में मन रमाए रखना पुनर्निर्माण के आकांक्षापूर्ण क्षणों में आत्मघात-सा होता । अब तो इतिहास से अपने वर्तमान संघर्ष

२२०। आलोचना

का समर्थन और नव-निर्माण के लिए पोषण प्राप्त करना था। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दू नाटकों में इसीलिए कोणार्क का महत्त्व युग-प्रवर्तक का है कि इसमें पहली बार इतिहास के इस बदले हुए दृष्टिकोण का प्रतिफलन शक्तिशाली ढंग से हुआ है।

कला-समृद्धि से परिपूर्ण कोणार्क मन्दिर की भग्न-स्थिति, जनश्रुतियों और कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों की प्रेरणा से नाटककार का सृजनशील मानस एक ऐसी कथावस्तु का ताना-बाना बुन सका जो आधुनिक मानस के लिए अर्थपूर्ण थी। राजनृमीनार की ऐकांतिक दुनिया से बाहर निकलकर, सामाजिक जीवन में सक्रिय हिस्सा लेने के लिए कलाकार को अछूत करना और प्रतिभा और कला सृजन-शक्ति को आवश्यकता पड़ने पर आत्म-रक्षार्थ न्याय-युद्ध में योगन्तरित करना कोणार्क का मूल स्वर है, जिसकी संगति करने वाले दूसरे स्वर, कलाकार की अपने उत्तराधिकारी की खोज (कला परम्परा का नवयुग में संक्रमण), और सौन्दर्य-सृजन के मूलस्रोत को मानवीय अनुभूति (सृजन का रोमांटिक मनोविज्ञान) का उद्घाटन है। किन्तु नाटककार इन स्वरों में सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाया और विशु और धर्मपद के मानवीय विषय इन्हें ठीक से रूपायित नहीं कर सके। पूरा नाटक स्थायी भक्ति और राज-लिप्सा के संघर्ष के स्थूल विवरणों में उलझकर रह गया।

इस उलझाव का ही परिणाम है कि कोणार्क में उस गहरी नाट्यानुभूति का नियोजन नहीं हो सका जिसे प्रदान करना नाटककार का सबसे बड़ा कर्तव्य है। जन-रुचि को सन्तुष्ट करने की पतनोन्मुखी प्रवृत्ति कुछ निश्चित फार्मूलों को जन्म देती है जिसका उत्तरदायित्व व्यावसायिक भावना पर है। किन्तु जनता की आधारभूत मांगों को समझने की शक्ति नाटककार की पूंजी है। जैसे देकर रंगशाला में आने के लिए दर्शकों को नाटककार मजबूर कर सके, इसके लिए उसे दर्शकों को इस बात का प्रलोभन देना होगा कि वहाँ उसे एक विशिष्ट सन्तुष्टि प्राप्त हो सकेगी। दर्शकों को नाटक मूलतः कल्पनालोक में रमण करने का अवसर प्रदान करता है, वह उन्हें कल्पना के स्तर पर अनुभूतियों को जीने का मौका देता है। प्रत्येक युग और देश में यथार्थ परिवेश की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ विशेष प्रकार का काल्पनिक जीवन दर्शक चाहते हैं जिसके अनुसार नाटक की रूप-रूढ़ियाँ बनती हैं। ट्रेजेडी, कामेडी, मेलोड्रामा जैसे नाट्य-रूप और रस-सिद्धान्त एवं शृंगार की प्रमुखता देश-काल के ऐसी ही मांगों के परिणाम हैं। इन सभी रूपों में कुछ चुनी हुई गहरी जीवन-अनुभूतियाँ कुछ चुने हुए व्यक्तियों के माध्यम से शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत की जाती रही हैं। इस प्रकार की किसी गहरी जीवन-अनुभूति को कोणार्क का कोई व्यक्ति साकार नहीं कर सका है।

रेडियो शिल्प के प्रतिमानों के आधार पर मूल्यांकन किये जाने पर कोणार्क अधिक उत्कृष्ट रचना प्रमाणित हो सकती। इतिहास के मलबे से एक स्पन्दनपूर्ण जीवन की खोज और कोणार्क मन्दिर की कला-सम्पदा एवं सांस्कृतिक गौरव के साहस्यर्थ के आकर्षण के कारण यह नाटक लोगों को आकर्षित करता रहेगा।

आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य व्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

फार्म ४

[नियम ८ देखिए]

- | | |
|--|--|
| १. प्रकाशन का स्थान | दिल्ली |
| २. प्रकाशन की अवधि | त्रैमासिक |
| ३. मुद्रक का नाम | श्रीमती शीला संधू |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६ |
| ४. प्रकाशक का नाम | श्रीमती शीला संधू |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६ |
| ५. संपादक का नाम | श्री शिवदानसिंह चौहान |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६ |
| ६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयरहोल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों। | राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६ |

मैं श्रीमती शीला संधू इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो व्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) श्रीमती शीला संधू

प्रकाशक

(कवर २ का शेष)

- | | |
|--------------------------------|--------------------------------|
| — उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' | डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित २०० |
| विजेन्द्र नारायणसिंह १८८ | — भूले बिसरे चित्र |
| • पुनर्मूल्यांकन | डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित २०५ |
| — 'लोकायतन' | — धूप के धान |
| शान्तिप्रिय द्विवेदी १९६ | कृष्णकुमार शर्मा २०६ |
| — झूठा-सच : यशपाल की नवीन कृति | — कोणार्क : शिल्प और मूल्य |
| | कुंवरजी अग्रवाल २१६ |



सर्वेक्षणमाला : एक नई पुस्तक माला

सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य सजग पाठक को साहित्य की प्रवृत्तियों, विधाओं और प्रमुख साहित्यकारों का परिचय देना है।

छायावाद
रहस्यवाद
प्रगतिवाद
प्रयोगवाद

हिन्दी उपन्यास
हिन्दी कहानी
हिन्दी नाटक
हिन्दी आलोचना

प्रेमचन्द
प्रसाद
निराला
पन्त



- विषय के विशेषज्ञ लेखक
- आकर्षक छपाई और साज-सज्जा
- राजकमल की गौरवपूर्ण परम्परा

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६

पटना-६



श्रीमती शीला संघू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,

८ फ्रीज बाजार, दिल्ली के लिए, मधोनी प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

विशेषांक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग : ४

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

आर्य समाज

संस्कृत-ग्रन्थान्तर

हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

गुरुकुल

त्रै मासिक आलोचना

गांक ३६

नवांक १०

अप्रैल, १९६६

प्रक मूल्य १२)

अंक का ४)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री
से पाने के लिए १४)

सम्पादकीय

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य :

नया मोड़—नये सन्दर्भ—नये

वि प्रश्न

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप

पुस्तक

विजयकुमार शुक्ल

६

स्वातन्त्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा

ग्रन्थ

मानवतावादी चिन्तनधारा और

नया साहित्य

देवीप्रसाद गुप्त

२४

ल

स

● स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-
साहित्य

—अस्तित्ववाद और नई कविता

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ३०

—नई कविता : क्षणवाद के संदर्भ में

डॉ० छोटेलाल दीक्षित ३८

—नये कवि का दृष्टिकोण

विजय बहादुर सिंह ४४

नयी कविता और सामाजिक

रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ५०

—नया हिन्दी नाटक :

—आत्मक सर्वेक्षण

—आलोचना

—साहित्य

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

—नवकविता

● हिन्दी में भारतीय साहित्य

—हिन्दी में मराठी साहित्य

डॉ० प्रभाकर सांचवे

६८

● हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं

का स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य

—निमाड़ी का प्राचीन तथा आधु-

निक साहित्य

रामनारायण उपाध्याय

१०३

● व्यक्तित्व और कृतित्व

—बाबू गुलाबराय

डॉ० सत्येन्द्र

१११

—माखनलाल चतुर्वेदी : एक

राष्ट्रीय कवि

डॉ० रामाधार शर्मा

१३३

—सियारामशरण गुप्त के उपन्यास :

एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० सियारामशरण प्रसाद १४३

—डॉ० रामकुमार वर्मा

डॉ० केदारनाथ लाभ

१४६

—इलाचन्द्र जोशी 'धृणामयी' से

'जहाज का पंछी' तक

नवलकिशोर

१५५

—डॉ० रामविलास शर्मा—

कवि-आलोचक

श्री कृष्णबिहारी मिश्र

१६३

—गिरिजाकुमार माथुर और

नयी कविता

राजकुमार शर्मा

१७१

—मुक्तिबोध का आलोचना-दर्शन

डॉ० नरेन्द्रदेव वर्मा

१७६

—भारती का काव्य

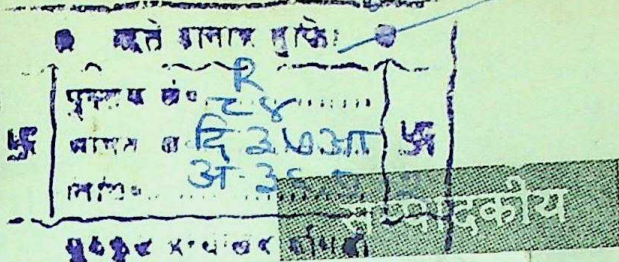
—नन्ददेवसिंह

१८०

(शेष कवर ३ पर)

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

मार्गदर्शक



सन्दर्भ

नये प्रश्न

: १ :

१९४७ में भारत ने अंग्रेजों की राज-
कुलामी से मुक्ति प्राप्त की। यह
राष्ट्रीय इतिहास की एक महती
है और एक महत्वपूर्ण मोड़ भी।
आलोचकों और स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी
का रचनाकारों का तो प्रायः यह मत
स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय
जने नयी दिशाओं और नये आयामों
कास किया है, जिससे हम कह सकते
हैं कि १९४७ भारतीय साहित्य में एक
मोड़ का सूचक है। 'आलोचना' के
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक
योजना बनाते समय हमारे सामने
विचार था कि हिन्दी के सभी प्रबुद्ध
विचारशील आलोचक स्वातंत्र्योत्तर
साहित्य की उपलब्धियों का जायजा
उन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार
जो इस बीच साहित्यकारों को
चिन्तित करते रहे हैं या जो दार्शनिक
राजनीतिक क्षेत्र के होकर भी
साहित्यिक चिन्तन और सर्जन को प्रभा-
वित करते रहे हैं ताकि हिन्दी लेखक और
अपने साहित्य के विकास को
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और वर्तमान
सन्दर्भों में देख सकें। हम
जारी हैं उन सभी आलोचकों और
लेखकों के, जिन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य

में मुक्त हृदय से योग दिया, जिससे हम
बहुत थोड़े परिवर्तनों के साथ विशेषांक की
अधिकांश योजना को पूरा कर सके। इससे
अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस
योजना के अन्तर्गत सभी विचारों और
दृष्टिकोणों के आलोचकों ने अपने मत
और अध्ययन पेश किए। जरूरी नहीं है
कि हर पाठक विशेषांकों में प्रकाशित हर
निबन्ध की हर बात से सहमत हो—ऐसा
कभी होता ही नहीं। दरअसल ऐसे
आयोजनों का उद्देश्य ही यह होता है कि
पाठक विभिन्न दृष्टिकोणों और मतों को
समझें और स्वयं अपने मत का निर्णय
करें। अपनी सारी खामियों के बावजूद,
यह विशेषांक हिन्दी साहित्य के
स्वातंत्र्योत्तर विकास के बारे में पाठकों की
जानकारी में वृद्धि कर सकेगा और इसके
अनेक निबन्ध विचारोत्तेजक सिद्ध होंगे।
वर्तमान जीवन के सन्दर्भ में जो प्रश्न इस
बीच उठे हैं, विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में,
उनको समझने में इनसे मदद मिलेगी और
उन प्रश्नों को नये सिरे से, अधिक व्यापक
सन्दर्भों में रखकर देखने और विचारने की
प्रेरणा जगेगी, ऐसा हमारा अनुमान है।

: २ :

फिर भी कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गए हैं
या उनका समुचित उत्तर नहीं दिया गया।

हमारा अभिप्राय नये सिरे से उत्तर पेश करना नहीं है, बल्कि यह संकेत देना मात्र है कि किन सन्दर्भों में उनका उत्तर खोजना चाहिए। मिसाल के लिए स्वतन्त्रता के बाद जब कुछ मित्रों के मतवादी संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन बदनाम होने लगा और प्रयोगवाद, नई कविता और नई कहानी के आन्दोलन उठे तो इनके प्रवक्ताओं ने परम्परा से विद्रोह के नाम पर यह दावा भी किया कि वे साहित्य में जिस शिल्प और तकनीक का प्रयोग कर रहे हैं, केवल वही नवीन नहीं है, बल्कि उनकी जीवन-दृष्टि, उनका भाव-बोध और युग-बोध भी पहले से भिन्न है। इस प्रकार यह दावा किया गया कि स्वतन्त्रता से बाद का साहित्य ही 'आधुनिक' है, नया है और वर्तमान जीवन को सही अर्थ में रूपायित करता है। यह सब कैसे घटित हुआ, इसकी व्याख्याएँ लगातार बदलती रही हैं। युद्ध के बाद पाश्चात्य साहित्य में सात्रे, कामू, फॉक्नर और 'एंग्री यंग मैन' की पीढ़ी ने या उनके दृष्टिकोणों की वकालत करने वाले आलोचकों ने इस 'नयेपन' के बारे में जब-जब नये विचार-सूत्र गढ़े, हमारे यहाँ भी अपनी या अपने समानधर्मी कवियों और कथाकारों की रचनाओं और साहित्य-प्रवृत्ति पर उनका आरोपण करके, नयी व्याख्याएँ पेश की गईं। एक समय साहित्य में 'गत्यवरोध' की दुहाई मचायी गई, एक समय पुराने साहित्य की 'आदर्श-वादिता' के विरुद्ध आवाज उठायी गई, एक समय 'अस्तित्ववादी' दर्शन के स्तोत्र पढ़े गए, एक समय साहित्य में कथ्य से कथन को ही सब-कुछ समझा गया, एक समय युद्ध की विभीषिका और अणु-अस्त्रों के त्रास से पीड़ित मानवता की सहानुभूति में नये साहित्यकारों ने अनास्था, कुण्ठा और निराशा की मुद्रा बनाकर मानव-मूल्यों के लिए लड़ना व्यर्थ घोषित किया

और पुराने साहित्य की एकात्मता को कोरी बकवास कहकर दबा दिया। आज का मनुष्य चरित्रहीन लघु-पुरुष का चित्रण आधुनिक साहित्य अभीष्ट नहीं हो सकता, आज केवल ऐसे निरीह, लघु-मानव ही हैं, जो पैदा होते हैं केवल झलते हुए मरने की खातिर, न तो महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए हीन, पीड़ित मनुष्यों का जीवनदर्शन नहीं हो सकता और दिनों से नीत्से की इस घोषणा पीटा जा रहा है कि 'ईश्वर मर गया' और जब ईश्वर ही मर गया तो का संवल कहाँ रहा ?

ये सब नारे नये भी हैं और पिटे पुराने भी। एक सीमा तक साहित्य की परम्परा के सन्दर्भों की बातें लगती हैं, क्योंकि प्रसाद, निराला, पंत ने ऐसी घोषणाएँ की थीं। लेकिन विश्व-साहित्य में देखें तो इन नारों में कोई भी नहीं है। कई पीढ़ियों से, समय से ही जब भारतेन्दु हिन्दी (यौ, जिन्हें बोलो) में आधुनिक गद्य अभ्यास कर रहे थे और हिन्दी की रचना के लिए अयोग्य समझा जाता था, पाश्चात्य साहित्य में इन प्रश्नों को विचार-मंथन और शिल्पगत प्रयोग नहीं लगे थे। इसीलिए पाठकों को भ्रम हो जाता है कि हमारा नया पाश्चात्य की नकल है और हमें हिन्दी फ़िल्मों की तरह उसको स्थान प्राप्त नहीं हो पाता एक अलग प्रश्न है, जिस पर हम स्थान विचार करेंगे)।

हमने कहा कि नये साहित्य हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भी एक

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : नया मोड़ : ३

जाएगी ।

आप कहेंगे, जब ये सब बातें पहले ही हो चुकी थीं, तो स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में क्या कुछ भी नया नहीं है, क्या छायावाद और प्रगतिवाद के बाद हमारे साहित्य में कोई नया मोड़ नहीं आया ?

लेकिन हमारे कहने का आशय यह नहीं है । स्वतन्त्रता के बाद कुछ तो बाह्य प्रभावों से, कुछ हमारे अपने राष्ट्रीय जीवन की आन्तरिक विसंगतियों के परिणाम-स्वरूप हमारे यहाँ हर पीढ़ी के लोगों के चिन्तन और भाव-बोध में एक ज्वरदस्त परिवर्तन आया है, जिसका व्यक्त और अव्यक्त प्रभाव साहित्य के विकास पर भी पड़ रहा है । निश्चय ही नई कविता या नई कहानी आदि के नाम पर जो नये ढंग का साहित्य रचा जा रहा है, वह शिल्प और तकनीक के नये प्रयोगों का ही परिणाम नहीं है, न 'नयेपन' की व्याप्ति केवल अभिव्यक्ति की नवीनता तक ही सीमित है । यह सामान्य तथ्य है कि जब जीवन को देखने और समझने की दृष्टि बदल जाती है या जब किसी नये सत्य की खोज की जाती है तो अभिव्यक्ति के ढंग भी बदल जाते हैं । छायावाद की शरीर-सौन्दर्य तक ही सीमित पुराने रीति-काव्य की दृष्टि संकीर्ण लगी और उसने काव्य के माध्यम से एक नये मानववाद की खोज आरम्भ की । प्रगतिवाद ने छायावादी (रोमाण्टिक) मानववाद को संकीर्ण माना, क्योंकि उसे लगा कि वास्तविक जीवन की विषम स्थितियों की व्यापक चेतना का उसमें अभाव था, जबकि ज़रूरत ऐसे मानववाद की थी जो वर्ग-वैषम्य से पीड़ित अपार जन-समूह की पीड़ा और वेदना के प्रति संवेदनशील हो और उन वैषम्यों के प्रति आधुनिक मानव को सचेतन बना सके । स्वातन्त्र्योत्तर नई कविता और नई कहानी का 'मोह-भंग'

तक ही नये हैं । अगर इतिहास को विस्मृत न करें तो निश्चय ही परम्परा से विद्रोह आज के 'नये साहित्य' की ही विशेषता नहीं है । छायावादियों ने भी परम्परा से विद्रोह किया था और डंक की चोट पर । उनके बाद प्रगतिवादियों का विद्रोह भी परम्परा से विद्रोह था । हर नये विद्रोह के आरम्भ में 'गत्यवरोध' दिखाई देता ही है और पुराने की जड़ीभूत मान्यताओं पर इस गत्यवरोध को तोड़ने के लिए ही प्रहार किया जाता है । रही पुरानी आदर्शवादिता से मोह-भंग की बात, तो प्रगतिवाद तो पूँजीवादी समाज की वर्ग-व्यवस्था और वर्ग-नैतिकता के प्रति प्रवृद्ध लेखक की आत्मचेतना के परिणामस्वरूप ही पैदा हुआ था । युद्धों की विभीषिका और फ्रांसिज्म के उदय से मानव-सभ्यता के हास और विनाश का त्रास भी प्रगतिवादियों को भरपूर था । अपनी रचनाओं में प्रगतिवादियों ने ही प्राचीन काव्य-शास्त्र की मान्यता के उच्चवर्गीय धीरोदात्त-धीर-ललित नायक का बहिष्कार कर आमतौर पर उन गरीब, असभ्य, अशिक्षित मजदूर-कामियों को नायक की भूमिका प्रदान की है, जिन्हें कुछ लोग मध्यवर्गीय समवेदना के नाँव पर 'लघु-मानव' कहना पसन्द करते हैं, लेकिन प्रगतिवादियों ने इन 'लघु-मानवों' को सामाजिक संघर्ष के बीच जब प्रदर्शित किया तो उनमें, समूह के रूप में भी उन नैतिक गुणों, उन सामर्थ्यों और उन मानव-गुणों का अजल स्रोत पाया जो अनेक विद्रोह-साहित्य-प्रसिद्ध 'धीरोदात्त-धीरललितों' में नहीं था । 'ईश्वर मर गया है' यह खोज नहीं है, चाहे ठूठात चौकाने वाले अंश में इसे एक घोषणा का रूप क्यों दे दिया गया हो । ईश्वर और धर्म पर आक्रमण तो पहले प्रगतिवादियों ने ही किया था, लेकिन ऐसा करते समय हमारा ध्यान यह नहीं था कि मानव-मूल्यों और सामाजिक दायित्वों से सर्वथा मुक्ति मिल

दरअसल एक नये किस्म के मानववाद की आन्तरिक माँग से उत्पन्न मनःस्थिति है, जिसका प्रभाव शैली और शिल्प पर दिखाई दे रहा है। छायावाद में रोमाण्टिक उदात्त भावना का शिशुवत् सारल्य था, प्रगतिवाद में क्लासिकी यथार्थवाद की प्रौढ़ बौद्धिक चेतना व्यवृत हुई, लेकिन नई कविता और नई कहानी में उस कैशोर औद्धत्य की भावना प्रमुख है जो पश्चिमी साहित्य में इस बीच एक 'आधुनिक मिथ' का दर्जा पा चुकी है। कैशोर औद्धत्य इसलिए कि आज के विषम समाज में, जहाँ सभी मूल्यों का विघटन तेजी से हो रहा है और अन्याय के साथ, स्वार्थपरता ही सर्वोच्च मूल्य बन गया है, विशेषकर अवेड़ पीढ़ी के लोग आदर्शों की बातें तो करते हैं लेकिन हर कदम पर अन्याय से समझौता करते चलते हैं, केवल किशोर वय के लोग ही ईमानदार हो सकते हैं, उनकी आत्मा ही पवित्र हो सकती है और वे ही साहसपूर्वक पुरानी नैतिकता को चुनौती दे सकते हैं, और चूँकि उनकी आत्मा शुद्ध और पवित्र है, इसलिए झूठ पर आधारित इस समाज में वे बेगाने हैं, अजनबी हैं और आवारागर्दी ही उनकी नियति है। कामू और ऑसबर्न, जॉन वेन आदि 'एंग्री यंग मैन' पश्चिम में या नई कविता, नई कहानी से लेकर 'भूखी पीढ़ी' के तरुण लेखक इन्सानियत के प्रतीक 'उद्धत किशोर' के उद्देश्यहीन विद्रोह को रूपायित करके किसी नये उच्चतर मानववाद को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके हैं, यह सन्दिग्ध है, लेकिन खोज जारी है, इसमें सन्देह नहीं। हमारे यहाँ साहित्य की प्रगतिवादी धारा से, जिसमें यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन और 'रेणु' की कृतियाँ मिसाल हैं, स्वातंत्र्योत्तर नया साहित्य इसी अर्थ में 'नया' है।

इस प्रसंग में विचारणीय केवल इतनी बात है कि पश्चिम में भी 'उद्धत किशोर'

की 'मिथ' का आश्रय लेकर साहित्य नये मानववाद की खोज एक 'डेड एण्ड' पर पहुँच चुकी है, क्योंकि प्रतिभाशाली कथाकारों के अलावा इस री में बढ़ते काम सामान्य लेखक अपने 'उद्धत किशोर' पात्र के अनियंत्रित सेक्स के अनुभवों के विवरण ही पेश करते हैं, जो सस्ते किस्म के सेक्स थ्रिलर्स से सिर्फ इस हद तक ही भिन्न होते हैं कि उनमें सेक्स के साथ हत्या और जुर्म का संयोग नहीं होता। हमारे यहाँ अभी कामू और सार्त्र जैसी प्रतिभाओं का अभाव है, इसलिए सामान्य रचनाकारों की दृष्टि 'परम्परा से विद्रोह' को अगले ओछे स्तर के अनियंत्रित सेक्स चित्र में ही सीमित कर देती है, कोई बड़ा सावर्जन्य आशय उसमें निहित नहीं रहता।

प्रश्न उठता है कि क्या इतने संकीर्ण क्षेत्र के विद्रोह से मानव-जीवन की स्थितियों में कोई व्यापक परिवर्तन आ सकेगा? आज मनुष्य इतना त्रस्त, दुःखी, संतप्त, पीड़ित और अभाव-ग्रस्त है, इसका मूल कारण क्या उस समाज व्यवस्था में नहीं खोजना चाहिए, जो इन स्थितियों को पैदा करने के लिए जिम्मेदार है? लेकिन इस दशा में खोज का परिणाम शायद प्रगतिवादी विचारधारा तक नये मानव-पहुँचना हो—किन्तु उस 'डेड एण्ड' से टक रहने से तो यह यात्रा साहित्य के लिए फलवती हो सकती है। पुनः व्यापक सामाजिक सन्दर्भों की स्वीकृति रचनात्मक प्रयत्न के नये क्षितिज खोल सकेगी।

: ३ :

एक और प्रश्न है जो सामान्य मनुष्य का है, किन्तु जिस पर विशेषज्ञों में विचार नहीं हो सका। हम यहाँ उस प्रश्न को पेश करके साहित्यकारों को अपेक्षा करेंगे कि वे उस पर अगले में विचार प्रकट करें।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : नया मोड़ : ५

प्रश्न यह है कि क्या 'भारतीय-साहित्य' जैसी कोई चीज है, यदि नहीं है तो उसका विकास क्या और कैसे सम्भव है? कई साल पहले, जहाँ तक याद आता है, श्री बालकृष्ण राव ने किसी अन्य प्रसंग में यह प्रश्न उठाया था। दरअसल उन्होंने कहा था कि अभी तक 'भारतीय-साहित्य' जैसी कोई चीज नहीं है और न 'भारतीय लेखक' जैसा कोई 'जन्तु' ही। हमारा प्रश्न इस वक्तव्य में ही निहित है। पश्चिम में अंग्रेजी, स्पैनिश, फ्रांसीसी, जर्मन, अमरीकी, इतालवी आदि भाषाओं के अलग-अलग अत्यन्त समृद्ध साहित्य हैं, लेकिन हम उनको सामान्य रूप से 'पाश्चात्य साहित्य' के अन्तर्गत रखकर भी पुकारते हैं। सोवियत यूनियन में दशों भाषाओं का अपना-अपना साहित्य विकसित हो रहा है, लेकिन दुनिया के लिए वह रूसी या उजबेक साहित्य के अलावा 'सोवियत साहित्य' भी है।

इसके विपरीत हमारे यहाँ बंगाली, तमिल, गुजराती, पंजाबी, असमिया, हिन्दी आदि अलग-अलग साहित्य तो हैं लेकिन उन्हें हम 'भारतीय साहित्य' जैसी किसी परिकल्पना में नहीं बाँध सकते। इसी तरह हम किसी को बंगाली, तमिल या हिन्दी लेखक तो कह सकते हैं लेकिन 'भारतीय लेखक' नहीं, जैसे सोवियत लेखक या पाश्चात्य लेखक सामान्यतः कहे जाते हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों है? क्यों हमारी विभिन्न भाषाओं के साहित्य इतने दीर्घकालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता-विधायक प्रेरणाओं के बावजूद परस्पर ऐसी सामान्य परम्पराओं का विकास नहीं कर सके कि वे अपनी-अपनी अलग हैसियत रखकर भी एक व्यापक समष्टि के अंग बन सकते? क्यों विभिन्न भाषाओं के साहित्य अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर प्रभावशाली नहीं हो पाते? क्या कारण है कि रवीन्द्रनाथ, शरत्, बंकिमचन्द्र,

गालिव और इकबाल को छोड़कर अन्य भाषाओं के बड़े लेखक सार्वदेशिक महत्ता नहीं प्राप्त कर सके? ये और इनसे सम्बन्धित अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिन पर समुचित विचार होना चाहिए।

: ४ :

अन्त में एक प्रश्न राजनीतिक है; किन्तु जिसका उत्तर व्यक्तिगत रूप में हर लेखक को स्वयं अपने-आप देना होगा। साहित्यिक शब्दावली में पिछले कई वर्षों से हमारे यहाँ लेखक और उसकी प्रति-बद्धता का प्रश्न उठाया जाता रहा है। लेखक एक व्यक्ति नागरिक या एक रचनाकार के रूप में किसीके प्रति उत्तरदायी है या नहीं—इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और सर्वमान्य उत्तर इस बीच नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले इस प्रश्न में कोई जटिलता नहीं थी। लेखन का एक सामाजिक उद्देश्य है और लेखक नागरिक की हैसियत से ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के चितरे के रूप में भी अपने देश और काल की केन्द्रीय समस्याओं और संघर्षों में भाग लेना अपना नैतिक दायित्व समझे, यह उस समय की सामान्य धारणा थी और प्रगतिवादियों ने जब 'लेखक और समाज' का प्रश्न उठाया तो केवल इस सामान्य धारणा को अधिक मूर्त सामाजिक सन्दर्भ देने की खातिर। देश और काल के प्रति यह लेखक की जागरूकता का नया आयाम था, राजनीतिक चेतना जिसका अभिन्न अंग थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक समस्याओं को नई पीढ़ी के लेखकों ने एक साहित्येतर चेतना माना। इसके कई कारण थे। यद्यपि पूंजीवादी समाज की विषमताओं और अनैतिकता के प्रति वे बेखबर नहीं थे लेकिन स्तालिन कालीन अतिवादों का पर्दाफाश होने से साम्यवाद के प्रति उनकी आस्था अडिग नहीं रह सकी और हर प्रकार की राजनीतिक विचारधाराओं,

६ : आलोचना

पाठियों और आन्दोलनों के प्रति उनमें एक अनास्थापूर्ण अविश्वास का भाव पैदा हो गया। पूँजीवाद और समाजवाद का संघर्ष वर्तमान युग का केन्द्रीय संघर्ष है और दोनों तरफ़ के अतिवादों के बावजूद हर व्यक्ति को इस संघर्ष में भाग लेने के लिए कूदना पड़ेगा—इस बात की सामान्यतः उपेक्षा की गई। लेखक किसी बाह्य सत्ता, वर्ग, विचार, दल या आन्दोलन के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, बल्कि उसकी प्रतिबद्धता केवल अपनी भावनाओं, अपने अनुभवों और अपनी रचना के प्रति ही है—इस धारणा को पहले की धारणा के मुकाबले में रखकर जैसे दोनों परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी धारणाएँ हों, स्वीकारा गया। लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, यह एक नारा बन गया जिसमें हर प्रकार की सामाजिक प्रतिबद्धता और दायित्व को नकारने का भाव जैसे अन्तर्निहित था। पिछले तीन दशकों के अपने साहित्यिक जीवन में हमने ऐसे अनेक एकांगी मतवादों को साहित्य में उभरते और गिरते देखा है। उनमें सत्य का एक अंश ही रहता है, जो उनकी शक्ति का स्रोत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की प्रतिबद्धता सम्बन्धी ये दोनों धारणाएँ परस्पर-विरोधी नहीं हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं और एक जागरूक लेखक की शक्ति इसमें है कि दोनों ही उसके भावबोध और विश्वबोध का अभिन्न अंग हों। उसकी सम्पूर्ण चेतना का अन्तःसंस्कार हों। लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, और अपने देश और काल के प्रति ईमानदार हो, एक समर्थ रचनाकार से यह अपेक्षा ही नहीं की जाती, यह उसकी बौद्धिक चेतना का सहज गुण भी होता है।

यह माना कि विश्व पर युद्ध और आणविक अस्त्रों का आतंक छाया है और किसी समय भी सभ्यता और संस्कृति

उनकी ज्वाला में भस्म हो सकती है लेकिन इस आतंक के आगे अपनी सामाजिक चेतना को मूर्छित करके तटस्थ हो जाना या अपने मन की कन्दराओं में घुसका केवल क्षणों में जीना ही आदमी की नियति नहीं है। दरअसल यह न तो एक दार्शनिक प्रश्न है न नैतिक, बल्कि एक सीधा-सारा व्यावहारिक प्रश्न है। अगर आँख खोलकर दुनिया को देखें तो मालूम होगा कि आने के अनेक सन्दर्भों में इस तरह का तटस्थतावादी-अनास्थावादी दृष्टिकोण एकांगी ही नहीं, एक हास्यास्पद भंगिमा मात्र है जिसके बगैर भी लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार रह सकता हुआ उस साहित्य का सृजन कर सकता है जो युग की समस्त वेदना को अभिव्यक्ति देता है और जो युग के संघर्षों में मनुष्य मात्र की प्रेरणा भी बनता है। युद्ध के मनुष्य-जाति का सर्वनाश आज सम्भव है और यह चेतना ही कर्म की प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे सर्वनाशी युद्ध के खतरे के बावजूद साम्राज्यवादी दूसरे देशों में हस्तक्षेप करके या वहाँ नए-से-नए युद्धाभ्यास का प्रयोग करके लाखों निरीह और निरस लोगों को मारने और तबाह करने से बाध नहीं आ रहे। वियतनाम इसकी मिसाल है। अगर वियतनाम के लोग भी उनके अन्दाज में युग के भावबोध और युद्ध के त्रास और आतंक की बातें करके तटस्थ बैठ जाते जिस अन्दाज में इन धारणाओं का प्रचार हमारे यहाँ किया गया है, तो वे अब तक न केवल अपनी आजादी के हाथ धो बैठे होते, बल्कि अमरीकी साम्राज्यवाद के कब्जे में सारा दक्षिण पूर्वी एशिया होता और शायद तीसरे महायुद्ध की आग में हम सब भी भस्म हो चुके होते। वियतनाम की जनता आज अपनी आजादी और विश्वशान्ति दोनों के लिए एक साथ ही अपना खून बहा रही है, यह बात लेखक की प्रतिबद्धता के प्रसंग को हमारे देश में एक नया सन्दर्भ प्रदान

करती है और इस पर बहुत गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

जापान एशियाई देशों में सबसे उन्नत और समृद्ध देश है। उसकी उन्नति और समृद्धि अमरीका के समकक्ष है। पिछले युद्ध के बाद से जापान में अमरीकी प्रभाव जितना प्रबल रहा है उतना अन्यत्र नहीं। अमरीकी साहित्य, अमरीकी जीवन-पद्धति, अमरीकी संगीत और कला का जैसा अध्यानुकरण जापान में हुआ है वैसा एशिया में और कहीं नहीं हुआ। कुछ समय पहले तक वहाँ के तरुण लेखक और बुद्धिजीवी प्रगतिशील राजनीति और सामाजिक दायित्वों की बात पर उसी तरह नाक-भौं सिकोड़ते थे जिस तरह हमारे यहाँ अब एक फ्रैशन बनता जा रहा है। जापानियों के मुक्ताबले में हमारे देश का जीवन, यहाँ तक कि दिल्ली, कलकत्ता जैसे महानगरों का जीवन भी देहाती है और वहाँ के लेखकों के रहन-सहन, सोचने और विचारने के मुक्ताबले में हमारे तरुण लेखकों के रहन-सहन और सोचने-विचारने का स्तर ठेठ गँवारू है। यह बात मैंने इस बार जापान जाकर महसूस की। लेकिन आधुनिक जीवन तथा अमरीकी दवावों के बावजूद वियतनाम के युद्ध ने जापान के नए-पुराने लेखकों और बुद्धिजीवियों को इतने जोर से झकझोरा है कि उन्होंने आज प्रगतिशील राजनीतिज्ञों से भी एक कदम आगे बढ़कर समस्त जापानी जनता का बौद्धिक नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया है और अमरीकी साम्राज्यवाद और वियतनाम में उसके बर्बर कारनामों के विरुद्ध जापानी जनता को उभारने में वे एक सशक्त भूमिका अदा कर रहे हैं।

हीरोशीमा और नागासाकी में एटम और हाइड्रोजन बम के विरुद्ध विश्व सम्मेलन में भाग लेने के बाद जब मैं

टोकियो पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि वहाँ के लेखकों और बुद्धिजीवियों ने 'वेहरिन' नाम की एक संस्था बनाई है, जिसका अर्थ है 'वियतनाम में शान्ति के लिए दो देशों का सम्मेलन'—अर्थात् जापान और अमरीका के बुद्धिजीवियों का सम्मेलन। दो देशों का सम्मेलन इसलिए कि अमरीका वियतनाम में हमलावर है और जापान उसका एशिया में सबसे बड़ा हवाई और समुद्री अड्डा है जहाँ से वियतनाम के लोगों की हत्या के लिए फ़ौजी कुमक भेजी जाती है। इसलिए अगर वियतनाम का युद्ध विश्वयुद्ध में परिणत हुआ तो अमरीका के साथ-साथ जापान भी एटम बमों का शिकार बनेगा और तबाह होगा। यह चेतना हर जापानी के मन में जागृत हो रही है और इसीलिए जापान में वियतनाम युद्ध के विरुद्ध और ओकीनावा तथा अन्य स्थानों से अमरीकी फ़ौजी अड्डों को हटाने के लिए इतना प्रबल आन्दोलन है। जापानी इक्कीस साल पहले हीरोशीमा और नागासाकी में अमरीकी एटम बमों की तबाहकारी देख चुके हैं और नहीं चाहते कि दुनिया के किसी भी हिस्से में फिर कोई हीरोशीमा और नागासाकी बने। इसीलिए अमरीकी हमले के विरुद्ध वियतनाम की जनता के संघर्ष को वे अपनी आजादी का संघर्ष मानते हैं। यह भावना नई नहीं है। वहाँ का समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन इसके लिए वर्षों से संघर्ष करता आ रहा है, लेकिन पिछले दो साल से इस संघर्ष में लेखकों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, कलाकारों आदि का आगे बढ़कर हिस्सा लेना और अपनी सरकार को चुनौती देना वहाँ के बौद्धिक जीवन में एक नया मोड़ है जो आधुनिक जापानी साहित्य और कला के लिए भी एक मुक्तिदायी विकास है। वेहरिन की कान्फ़रेन्स में मैंने अन्य देशों से निमन्त्रित किये गए दर्शक प्रतिनिधियों के रूप में भाग लिया और जब पन्द्रह अगस्त को

८ : आलोचना

बेहरिन की ओर से टोकियो में एक विशाल पब्लिक रैली हुई जिसमें कान्फ्रेंस के निर्णय जनता को बताये गए तो मैंने अपने भाषण में भारत की ओर से उन्हें आश्वासन दिया कि भारत की जनता और, बुद्धि-जीवी भी वियतनाम युद्ध के विरुद्ध हैं और उन्हीं की तरह चाहते हैं कि अमरीकी वहाँ से अपनी फ़ौजें हटाकर वियतनाम के लोगों को अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करने दें।

कहने का तात्पर्य यह है कि उन राजनीतिक प्रश्नों से तटस्थता, जिन पर विश्वशान्ति का प्रश्न निर्भर करता है, लेखक के लिए आज की स्थिति में उचित नहीं है। स्वयं लेखक के अपने साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी क्योंकि वह उसके जीवन बोध को संकीर्ण बनाता है। युद्ध के आतंक से संसार को मुक्ति दिलाने का एक ही रास्ता है और वह यह कि जहाँ कहीं की जनता बाह्य हस्तक्षेप और आक्रमण के विरुद्ध अपनी आजादी के लिए

संघर्ष कर रही हो उसका मुक्त हृदय से साथ दें, उसके संघर्ष को अपना संघर्ष समझें। विश्व की जनता के साथ जब तक लेखक के रूप में हम ऐसा अटूट और अभिन्न सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तब तक साहित्य और कला को भी उन मानव-द्रोही संकीर्ण भावनाओं से निकालकर विश्वजनीन साहित्य की रचना नहीं कर सकते जो कुण्ठा और अनास्था के वर्तमान वातावरण में ही सार्थक न लगे बल्कि आगे भी जिसकी सार्थकता रहे। वियतनाम का प्रश्न ऐसा है जिस पर लेखकों को व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक रूप से भी अपने अन्तःकरण को कुरेदकर अपनी मान्यताओं की घोषणा करनी चाहिए ताकि भारतीय जन-मानस उद्वुद्ध हो सके और अमरीकियों द्वारा किए जाने वाले उस हत्याकाण्ड को बन्द कराया जा सके, जिसके प्रति तटस्थ रहना हर व्यक्ति को असंवेदनशील, अमानवीय और बर्बर बनाता है।

श्री यशोशिक्षा चोपड़ा

साहित्य

बाज हिन्द
नयी कवि
भाषिक अ
ना हास
समझता हूँ
दल-प्रभा
मूल प्रवृत्ति
दोपी वह
उनकी स
प्रकाशन
स्तर पर
के मुख
लिखा न
बल्लभ
उसके अ

जायगा
कृतियों
पूर्व सा
बोर अ
प्रवृत्ति
की परि
टांकने
शुक्ल
प्रमुख
अधिक
के धर्म
आचा

स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त-चर्चा

विजयकुमार शुक्ल

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप

आज हिन्दी-भाषा-साहित्य में 'साहित्येतिहास' के प्रकाशन का स्तर गिरता जा रहा है। नयी कविताओं व कहानियों द्वारा नवलेखन के सन्दर्भ में 'आधुनिकता-बोध' को पारिभाषिक अर्थ-बोध मिलता जा रहा है। और वहीं साहित्येतिहास के माध्यम से मूल्यों का हास हो किन्तु चिन्तकों को इस दिशा में चिन्तना न हो, आश्चर्य की बात है। मैं समझता हूँ कि छायावाद के पश्चात् साहित्येतिहास-लेखन या तो पूर्वग्रहमूलक है या दल-प्रभावित है या आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास का अनुकरण व मात्र नकल है। मूल प्रवृत्ति की गहराइयों में पैठ करने की मानो क्षमता रही नहीं, इसका दोषी कौन? दोषी वह प्राध्यापक समाज है जिसके पास पाठक के रूप में विद्यार्थी वर्ग है, वे उनकी सामग्री के ग्राहक हैं और छपास की पूर्ति के लिये उनके पास उक्त कारण से प्रकाशन संस्थाएँ भी हैं। साधन व सुविधा से सम्पन्न होने पर भी विश्वविद्यालयीन स्तर पर अभी तक ठीकठिकाने के साहित्येतिहास ग्रन्थ नहीं हैं, प्रायः बुर्जुआ प्राध्यापकों के मुख से सुना जाता है कि आचार्य शुक्ल का इतिहास ही श्रेष्ठ है और वैसा इतिहास लिखा नहीं जा सकता। साहित्येतिहास का श्रेष्ठ होना केवल काल-निर्धारण पर मात्र अवलम्बित नहीं, न उसके मूल्य-बोध के समाविष्ट पर ही। श्रेष्ठ साहित्येतिहास के गुण उसके अनेक समाविष्ट गुणों व तत्त्वों की सम्पूर्णता पर निर्भर करते हैं।

आचार्य शुक्ल कृत साहित्येतिहास हिन्दी में प्रथम बार ऐसा प्रयास माना जाया जिसमें वैज्ञानिक काल-निर्धारण करके प्रवृत्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में कृतियों के मूल्य-बोध को प्रस्तुत किया गया है। उक्त गुण-वैशिष्ट्य के कारण अपने पूर्व साहित्येतिहासों से पृथक् माना गया आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास। जहाँ एक ओर आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास में गुण-सम्पन्नता है, वहाँ काल-निर्धारण करने में प्रवृत्ति एवं समय के बीच साम्य नहीं है बल्कि पृथक्ता है। कवि-क्रम के प्रस्तुत करने की परिचायक पद्धति, पूर्व साहित्येतिहासों की भाँति, सूची पेश करने का जैसा टाँकने का कार्य भी आचार्य शुक्ल ने भी सम्पादित किया। दूसरे शब्दों में, आचार्य शुक्ल ने काल-निर्धारण का वैज्ञानिक आधार अवश्य स्वीकार किया लेकिन कहीं प्रवृत्ति प्रमुख है, कहीं कवि का व्यक्तित्व अथवा मात्र कृतित्व। आज शोध-मूल्यों का परिप्रेक्ष्य अधिक व्यापक हो गया है जिन्हें समाविष्ट करना उनके बाद के साहित्येतिहासकारों के धर्म में था। यह अधिक उचित होता, यदि समस्त मान्यताओं को समाविष्ट करके आचार्य शुक्ल की अशोधित सामग्री के पठन से हिन्दी पाठकों को बचा लिया जाता।

१० : आलोचना

आचार्य शुक्ल का काल-निर्धारण आउट ऑफ़ डेट है, उसमें वैज्ञानिकता आचार्य शुक्ल की समय-दृष्टि से अवश्य रही होगी। आचार्य शुक्ल के मूल्य-बोध का स्तर आज तो एकांगी कहा ही जाता है, उनके वर्तमान रहने पर ही अनेक उनके समकालीन लोगों ने उक्त आरोप किया था, चुनौती दी थी। मूल्य-बोध का स्वरूप सदैव आलोचक की निजी मान्यताओं के अनुसार निर्धारित होता है। 'मूल्य', प्रतिमान आलोचक व रचना-कार के अनुसार अनुदृष्टि-प्रधान हुआ करता है। आचार्य शुक्ल के काव्यगत प्रतिमान उनके तर्क पर आधारित हैं, उनका दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्त्व रखता है, यही कारण है कि कबीरदास व सूरदास तथा छायावाद के कवि आचार्य शुक्ल के प्रतिमान के सम्मुख उतना महत्त्व नहीं रखते जितना तुलसीदास या बाबू मैथिलीशरण गुप्त। सत्य तो यह है कि आलोचना व मूल्यांकन साहित्येतिहास का अनिवार्य गुण-तत्त्व नहीं है, यदि वह न भी हो तो भी साहित्येतिहास को कोई क्षति न होगी। यदि हो, तो प्रतिमान की स्थिति-बोध उसके आलोचक-व्यक्तित्व का बोध माना जायगा।

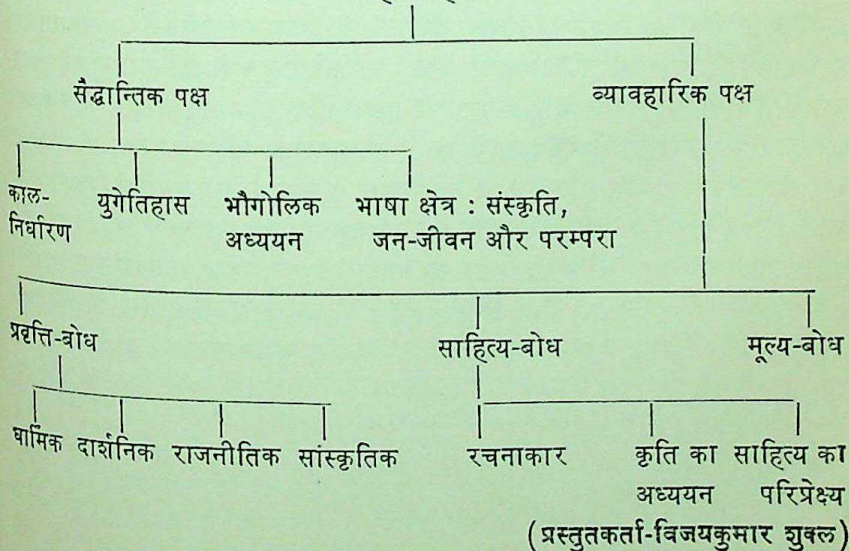
आचार्य शुक्ल का इतिहास ठीक से देखा जाय तो उनके पूर्व के इतिहास-परम्परा में भी वह व्यवस्थित हो जाता है और उससे हटकर भी दिशा-बोध देने में समर्थ है क्योंकि वह आज भी मूल्य-बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संकलन की प्रवृत्ति कवियों को काल-क्रम के अनुसार या कवि की कविता के उदाहरण पेश करने की शैली आदि वास्तव में शुक्लजी पर पूर्व-परम्परा का ही प्रभाव कहा जायगा। मूल्य-बोध को स्थिर करने का पक्ष वहाँ है जहाँ आचार्य शुक्ल अपनी आदर्शवादी काव्य-मान्यता या सिद्धान्त का व्यवहार आरम्भ से अन्त तक एक अविरल धारा के रूप में प्रवाहित करते हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत इतिहास समसामयिक राजनीति, सामाजिक, धार्मिक स्थिति की व्याख्या में रचित 'प्रकार' की स्थूलता मात्र नहीं है, बल्कि यह तो है ही, उसमें उनकी काव्यगत मान्यताओं का स्थिर संस्कार भी संयोजित है। वे यदि स्वयं में स्थिर न होते तो कबीर, सूर और छायावादी कवियों की आलोचना करने के लिए उद्यत न होते। छायावाद अल्पायु हो गया, कारण था—उनका इतिहास जिसमें सतर्क था उनका आलोचक या कहिए उनकी काव्य-मान्यताएँ। यदि आचार्य शुक्ल ने जीवन-मूल्यों के विकास के लिए आदर्शवादी, समाजोपयोगी, लोकसंग्रहमूलक भावना प्रधान प्रबन्ध-काव्य की मान्यता को उसकी व्यापकता और गहराई के आयाम (डाइमेंशन) में सेट करके पेश न किया होता तो उनका आलोचक व्यक्तित्व छाया-वाद को क्षत-विक्षत न कर सका होता। जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही काव्य की गहराई में पाठक डूबता है और उसका विस्तार ही समाज के पक्षों का उद्घाटन करता है। जीवन के परिवेश में व्यष्टिगत तत्त्वों का संयोजन आचार्य शुक्ल नहीं चाहते बल्कि समष्टिगत संयोजन चाहते हैं ताकि समाज-बोध के साथ साहित्य-बोध भी सम्भव हो। उनकी प्रबन्ध-काव्य या कहिए लोकसंग्रह-भावना की माँग स्थूल व्यापकता मात्र नहीं है, बल्कि विचारों की सूक्ष्म गहराई लिये हुए है। उनके प्रबन्ध में समाज की जीवन-गत आवश्यकताओं की पूर्ति का विधान है और काव्य-मान्यताओं में जीवन की लघु-लघु

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप : ११

अनुभूतियों का संकलन है। आचार्य शुक्ल समुद्र के विस्तार में जल-राशि की एक बूंद भी उपेक्षित नहीं होने देना चाहते। प्रबन्ध-शिल्प के फ्रेम में काव्य-चित्रों का अलवम कलात्मक रूप से सज्जित हो, उनका यही अभीष्ट है। इस प्रकार शुक्लजी में कण्टेट पूर्व इतिहासकारों की परम्परा है और 'फार्म' के अन्तर्गत उनकी मान्यताएँ सुस्थिर होकर इतिहास-काया को प्राणान्वित करती हैं। जहाँ तक प्रश्न 'औसतवाद' का है, वह इतिहास में लेकर चलना ही पड़ता है। इसी औसत से दूर होने के कारण आज भी आचार्य शुक्ल के बाद कोई ठीक-ठिकाने का साहित्येतिहास सामने नहीं आया।

साहित्येतिहास को विधा-रूप दिया जाना चाहिए अन्यथा साहित्य-जगत् में संकट उत्पन्न हो सकने की सम्भावना है। विधा ललित व रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अंग-रूप में स्वीकृत होती आई है। निःसन्देह, विधा-बोध रचनात्मकता व कृतित्व में है किन्तु विवेचन, आलोचन, समीक्षा में भी है, क्या उसके मूल उत्स में रचना का मूल्य ही विकसित होता है? विधा की परिभाषा होगी—वह साहित्य का अंग-विशेष जिसकी पूर्णता में अनेक सहायक तत्त्वों का समावेश हो और वह अपनी प्रपणीयता में अथवा अभिव्यक्ति शैली में मौलिक भिन्नता व अस्तित्व रखता हो। साहित्येतिहास का उद्देश्य मूलतः अपनी अभिव्यक्ति में समूचे देश या प्रदेश की भाषा के साहित्य-दर्शन द्वारा विभिन्न युग व काल की संस्कृति व सभ्यता, मानवता व जाति-गत गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करना है। साहित्येतिहास-लेखन प्रबन्धात्मक है। साहित्येतिहास विधा इसलिए भी मैं मानता हूँ कि उसके अन्तर्गत निश्चित नियम, सिद्धान्त मान्यता व कसौटियाँ हैं, और उक्त शर्तों की पूर्ति के लिए साहित्येतिहास-लेखन बाध्य है और शर्तों के अभाव में वह विधा-रूप में पारिभाषित नहीं होगा।

साहित्येतिहास



साहित्येतिहास साहित्य और इतिहास दोनों की सन्धि से बना एक शब्द-रूप

१२ : आलोचना

है। स्वर्गीय पंडित नलिन विलोचन शर्मा ने इस शब्द का प्रयोग किया है, लेखक उनका आभारी है। किन्तु उन्होंने विभ्रमित होकर 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' में उक्त शब्द का प्रयोग करके भी साहित्येतिहास को कहीं साहित्य का इतिहास और कहीं साहित्यिक इतिहास लिखा है। उन्होंने पश्चिमी भाषाओं के साहित्येतिहासों से सामग्री लेकर केवल अनुवाद करने का कार्य सम्पादित किया है। उन्होंने साहित्येतिहास को विधा रूप में व्याख्या कर उसके मौलिक पक्ष को उद्धाटित नहीं किया। हाँ, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं 'विधा' का रूप प्रकट करने के उद्देश्य को अस्पष्ट रूप में व्यक्त अवश्य किया है। मैंने 'साहित्येतिहास' शब्द को एक 'टर्मनोलॉजी' रूप में अनेक आंग्ल कोशों में देखने की व्यर्थ चेष्टा की। साहित्येतिहास शब्द की आंग्ल टर्म क्या हो? मैंने उसे पहले 'हिस्ट्री ऑफ़ लिटरेचर' मानकर सन्तोष किया था। किन्तु हिस्ट्री व लिटरेचर की सन्धि से क्या आंग्ल टर्म नहीं बनायी जा सकती। दुस्साहस ही है कि मैंने हिस्ट्री (History) से हिस्टो (Histo) और लिटरेचर (Literature) से लिट् लेकर सन्धि-रूप में हिस्टॉलिट् (Histolite) कहना उचित समझा। मैं समझता था कि आंग्ल-भाषा में दुनिया की हर बात मौजूद है।

साहित्येतिहास के अन्तर्गत 'विकास' प्रस्तुत करनेवाली कृतियाँ भी स्वीकृत हैं। इतिहास और विकास में शाब्दिक अन्तर के साथ ही साहित्येतिहास सन्दर्भ में भी भिन्न अर्थ होगा। इतिहास में विकास अन्तर्भूत होता है और नहीं भी, किन्तु विकास में इतिहास पूर्णतः अन्तर्भूत रहता है। इतिहास में विकास का उतना ही आग्रह है जितना पतन का। अतएव साहित्येतिहास विधा के दो पक्ष स्वाभाविक रूप में स्पष्ट हो जाते हैं—(१) इतिहास-पक्ष^१ और (२) विकास-पक्ष^२।

साहित्येतिहास में इतिहास की परिभाषा में यथातथ्य रूप में स्वीकृत भूत-कालीन घटनाओं का विवरण निश्चय ही मान्य है किन्तु इतिहास के अपने यथारूप व रूढ़ रूप से भिन्न साहित्येतिहास में होगा। साहित्येतिहास में इतिहास गुण व तत्त्व-रूप में है। साहित्येतिहास में इतिहास की घटना गौण है किन्तु प्रवृत्ति की प्रधानता अनिवार्य है। जहाँ साहित्येतिहास में घटना की प्रधानता उसे स्थल बना दे, वहाँ वह वृत्त संकलन बन जायगा और वह साहित्येतिहास न कहा जाकर 'साहित्येतिहासाभास' कहा जायगा। यही कारण है कि शुक्ल पूर्व इतिहास-सामग्री साहित्येतिहास नहीं कही गयी, उसे वृत्त-संकलन मात्र कहा गया या साहित्येतिहासाभास कहा जा सकता है।

१. "साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर, युग-विशेष के लेखक-समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुँथी आलोचना का रूप ग्रहण करता रहा है।"

—नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', भूमिका।

२. "साहित्य का इतिहास सामाजिक अथवा साहित्य में व्यक्त तथा उदाहृत विचारों का इतिहास अथवा काल-क्रम से उल्लिखित विशिष्ट कृतियों के सम्बन्ध में भावनाओं तथा निर्णयों का इतिहास-मात्र होता है।"

नलिन विलोचन शर्मा, 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', पृ० ३४।

साहित्येतिहास में प्रवृत्ति की प्रमुखता होने से आचार्य शुक्ल को विशेष गौरव प्रदान किया गया। प्रवृत्तियों के संश्लेषण व विश्लेषण के अभाववश कृतियों का व्यापक रूप में मूल्य-निर्धारण भी नहीं हो पाता और साहित्येतिहास का इस अभाव में हृदय की गति-जैसा बन्द होने का परिणाम होता है। वृत्त के घटनामूलक रूप में प्रस्तुत होने से क्या प्रवृत्ति उसमें अन्तर्भूत होने की स्थिति को खो बैठती है? प्रवृत्तियों के स्थूल व्यापार घटनाप्रधान तो होते ही हैं, इसी प्रकार साहित्येतिहास में वृत्त को उपेक्षित रखकर मात्र प्रवृत्ति-व्याख्या से क्या वह सोद्देश्य हो सकेगा? ऐसे प्रश्न के लिये मेरा कहना है कि किसी शासन या राज्य के इतिहास में^१ प्रवृत्ति के स्थान पर घटनाओं का साध्य प्रस्तुत करना उसे सोद्देश्य बना सकता है किन्तु साहित्येतिहास में प्रवृत्ति-विश्लेषण की और उसके तथातथ्य प्रस्तुत दर्शन की महत्ता रहती है। प्रवृत्ति-विश्लेषण में घटनाएँ या तो साम्य दिखाने के लिए या पुष्टिकरण की निमित्त बनती हैं। साहित्येतिहासकार युग-प्रवृत्ति-बोध को रचना व साहित्य की निर्माणोन्मुख दिशाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने में यदि सफलता पा जाय तो निश्चय ही उसके ऐसे कृतित्व को कलात्मक प्रयास माना जायगा।

विकास (डेवलपमेंट या ग्रोथ) में इतिहास का अस्तित्व प्रधान होता है। सामान्यतः जब कोई साहित्येतिहास-लेखक किसी विधा के उद्भव को ध्यान में रखते हुए 'विकास' लेखन-कार्य सम्पादित करता है तो उसके दो उद्देश्यों पर दृष्टि जाती है प्रथम, क्या वह विधा-विशेष के माध्यम से प्रवृत्ति-बोध का विकास दे रहा है अथवा द्वितीय, विधा के शैलीगत बाह्य-रूप का विकास दे रहा है। प्रवृत्तियों का विकास दर्शाना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रवृत्तियाँ विकासमान नहीं होतीं बल्कि वे व्यापक गहराई के बीच जाकर प्रसरित होती हैं। 'विकास' (Growth) ऊँचाई का बोध अधिक देता है। 'विकास' शब्द-प्रयोग का औचित्य विधा के बाह्य अंग-रूप में अधिक है। आज शोध-प्रबन्ध-लेखन में 'उद्भव और विकास' की जो परम्परा रुढ़ हो चली है, उसे देखते हुए शोध-कर्त्ताओं पर दया अधिक आती है कि वे 'विकास' को प्रवृत्तियों के अर्थ में भी ले लेते हैं। प्रवृत्ति अर्थ का सन्दर्भ फैलने तक ही लिया जा सकता है। विधा-विशेष के बाह्य-रूप प्रचलन को 'विकास' किसी सीमा तक स्वीकारा जा सकता है।

साहित्येतिहास के इतिहास पक्ष की स्थिति-निदर्शन से जानना चाहिये कि इतिहास के अन्तर्गत विवेचन प्रवृत्ति-दर्शन का स्वरूप क्या होगा? मैं समझता हूँ कि साहित्य के माध्यम से जो युग-समाज में फैली प्रवृत्ति है, वही यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करना साहित्येतिहास-लेखन-धर्म में स्वीकृत होगा। विचारणीय है कि साहित्येतिहास

१. इतिहास (हिस्ट्री) का ++ लौकिक और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'गवेषणा या गवेषणा से प्राप्त जानकारी या गवेषणा की किसी प्रक्रिया से उपलब्ध ज्ञान।' +++ यह अन्वेषण की प्रणाली है, ++ उदाहरणार्थ, राजनीतिक इतिहास में राज्य की अतीत घटनाओं का विवेचन रहता है। ++ विज्ञान के रूप में इतिहास की प्रक्रियाएँ क्या हैं। इसका प्रथम कार्य है प्रामाणिक तथ्यों का संकलन।

में इतिहास पर साहित्य प्रवृत्तियाँ आच्छादित होती हैं या साहित्य पर इतिहास प्रभावशाली होता है ? इतिहास स्वयं में साहित्य से उतना ही निर्मित होता है जितना मूर्तिकला, चित्रकला या शासन-प्रबन्ध से । युग-बोध जो साहित्य द्वारा हो, वह इतिहास में स्वीकृत होगा ही । इतिहास की सम्पूर्णता में साहित्य सहायक व पूरक तत्त्व है । इसीलिए साहित्य में युग-सत्य को प्रधानता देते हुए उसे इतिहास-रूप मान लेने में मैं पीछे हटने के लिए विवश होता हूँ, क्योंकि साहित्य तो इतिहास देता है और इतिहास-क्रम में साहित्य-विवेचन होने से साहित्य इतिहास से कहीं भी हीन नहीं है । साहित्य का इतिहास, साहित्य-इतिहास, साहित्येतिहास नामकरण में साहित्य-निर्माण का स्थूल-क्रम-निर्धारण, 'सूचीपत्र' प्रधान हो जाता है । दोनों के बीच एक सन्धि की खोज होनी चाहिए । केवल 'लिटरेरी हिस्ट्री' को साहित्येतिहास मान लेने से किसी भी अभीष्ट की पूर्ति नहीं होगी । 'लिटरेरी हिस्ट्री' को अनेक आंग्ल विद्वान साहित्येतिहास-सन्दर्भ में पारिभाषिक अर्थ-बोध देते हैं, किन्तु 'लिटरेरी' शब्द 'हिस्ट्री' का विशेषण है । इतिहास से साहित्य-निर्माण-क्रम और साहित्य से प्रवृत्ति-दर्शन का सत्य-बोध, दोनों का समन्वय होना चाहिये ।

काल-निर्धारण : साहित्येतिहास में काल-निर्धारण इतिहास के स्थूल आधार पर किया जाना चाहिए । मैं समझता हूँ कि क्रम-निर्धारण के दो मुख्य भेद होंगे— (१) साहित्य-निर्माण तिथि-क्रम और (२) साहित्य-प्रवृत्ति-क्रम । उक्त दो के बीच मूल भेद स्पष्ट करना चाहिए । साहित्य-निर्माण तिथि-क्रम में वृत्तमूलकता की प्रधानता होगी । कहने का तात्पर्य है कि इस प्रकार रचना-तिथि-क्रम, क्रमशः रचना-निर्माण का समय व उसके अंग-उपांगों का वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया विवरण और लेखक की जीवनी (Biography) के कारण, वह मात्र संकलन (Collection) बन जाता है । इसे इतिहास का 'कंकाल' मात्र कहा जायगा । प्रवृत्ति-क्रम में साहित्य को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक प्रवाह की गति को प्रधानता दी जायगी । समस्या है कि उक्त दोनों के मध्य वह मूलकेन्द्र-बिन्दु कहाँ होगा जिस पर अध्ययन की वैज्ञानिकता को टिका सकें ? प्रवृत्ति-क्रम मात्र को महत्ता देने से साहित्येतिहास कंकाल-रहित हो जायगा और साहित्य-रचना के निर्माण-क्रममात्र को महत्ता देने से (वृत्त-संकलन प्रधान हो जाने से) कंकाल तो रहेगा किन्तु प्रवृत्ति के अभाव में प्राण का स्पन्दन होगा नहीं, अतएव दोनों के सामंजस्य में साहित्येतिहास का काल-निर्धारण स्वयं में पूर्ण होगा । साथ ही एक-दूसरे की अनुपूरकता के परिप्रेक्ष्य में सोद्देश्यता की प्रधान शर्त को पूरा किया जा सकेगा । आचार्य शुक्ल ने उदाहरण के लिए केशवदास को भक्तिकाल के फुटकल कवियों के खाते में रखा है, दूसरी ओर रीतिबद्ध प्रवृत्ति का उन्हें प्रवर्तक कवि माना है । किन्तु समय व प्रवृत्ति में अन्तराल है ।^१

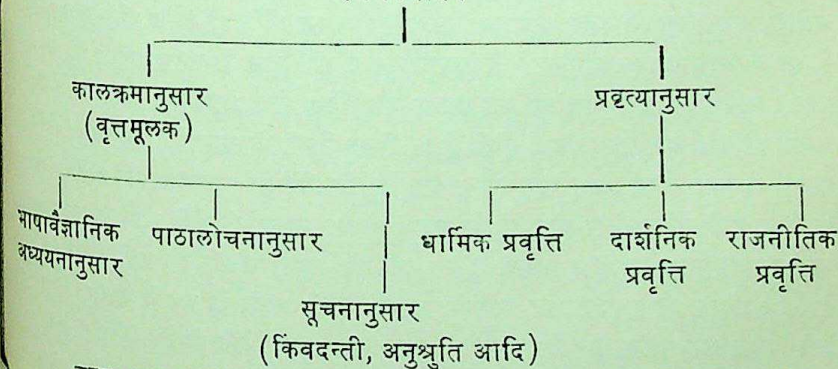
१. मेरे अनुसार क्रम-निर्धारण के वर्गीकरण की रूपरेखा है । यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि मात्र कालक्रमानुसार साहित्येतिहास लेखन नितान्त स्थूल व वृत्तमूलक होगा इसलिए उक्त लेखन में प्रवृत्ति-बोध का सामंजस्य भी होना चाहिये । —लेखक

२. देखिए—हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ एवं काल-निर्धारण । भाषा, सितम्बर, ६४ ।

काल-विभाजन की वैज्ञानिकता वर्गीकरण (Classification) में है। वर्गीकरण किसी प्रवृत्ति का अथवा रचना-निर्माण या कवि के जीवन-वृत्त के आधार पर करना सम्भव है। मेरा मत है कि यदि काल-विभाजन की साहित्येतिहास में वैज्ञानिक आधार-भूमि होगी तो यही कि एक कोण (Angle) से समय (काल) क्रम को अनु-दृष्टि में रखकर प्रवृत्तियों को देखा जाय और दूसरे कोण से प्रवृत्तियों को परिप्रेक्ष्य में रखकर समय (काल) की संस्थितियों को देखा जाय। सांस्कृतिक वाद-विवादों की पृष्ठभूमि इसलिए हो कि सम्पूर्ण कृतित्व वस्तुतः युग-सत्य का परिणाम है, यह भी परिलक्षित हो। काल-विशेष में प्रवृत्तियाँ पृथक् व भिन्न न बनें तभी साहित्येतिहास का यह पक्ष पूर्ण माना जायगा। काल-निर्धारण में समय व प्रवृत्ति में सामंजस्य होना चाहिए।

‘काल-निर्धारण’ के अव्यवस्थित होने के कारण भी शुक्ल-पूर्व साहित्येतिहास लेखक किंचित् साहित्येतिहासकार कहे गये, कारण कि उनमें वस्तु संकलन, वृत्त संकलन और जीवनी प्रस्तुत करने का आग्रह अधिक रहा। उनमें कवि अथवा रचना-क्रम प्रस्तुत करने के अतिरिक्त देश-काल का समसामयिक प्रवृत्ति-निरूपण या उसके प्रभाव की स्थिति को अध्ययन-पृष्ठभूमि में अवस्थित करने की अतिरिक्त योजना का अभाव रहा। काल-निर्धारण साहित्येतिहास में अध्ययन के पक्ष मात्र की स्थूल आवश्यकता है। किसी भी अध्ययन को व्यवस्थित रूप देने में वर्गीकरण का महत्त्व होता ही है, अतएव काल-निर्धारण के लिए कवि-रचना-क्रम की समन्विति आवश्यक है। यह भी विचारणीय है कि कृतियों के सृजन के परोक्ष में प्रवृत्ति-धारा का प्रवाह होता है, इसलिए परिवर्तित प्रतिमान सृजन के माध्यम से विदित होंगे, अतएव कृतियों का मूल्य परोक्ष रूप में प्रवृत्तियों का मूल्य-बोध बन जाता है। काल-क्रम-निर्धारण का निम्नलिखित स्वरूप है—

क्रम-निर्धारण



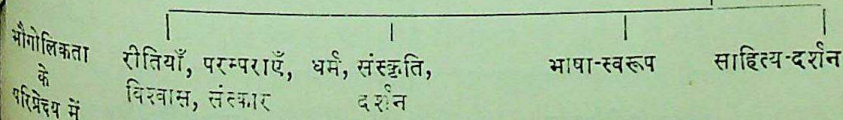
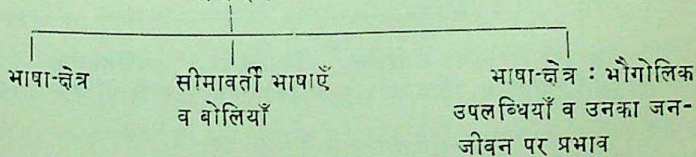
तत्त्व प्रकार (Content) एवं स्वरूप बोध (Form), ये दो पक्ष साहित्ये-तिहास में आन्तरिक एवं बाह्य सन्दर्भों में अर्थ रखते हैं। बाह्य पक्ष मात्र शिल्प या अस्थि-कंकाल या ढाँचा तथा आन्तरिक पक्ष उक्त अस्थि-कंकाल में स्थित मांसल व आत्मागत चेतना-गुणों की सम्पन्नता का भावाशय रखेगा। स्वरूप-बोधक (फार्म)

के अन्तर्गत रचना-क्रम, कवि-जीवनी-पक्ष, वंशावली अथवा वहिर्साक्ष्य से प्राप्त सूचनाओं का वर्गीकरण, काल-विभाजन या युग-विभाजन आदि स्वीकृत होंगे। तत्त्व प्रकार के अन्तर्गत साहित्य की मूल संवेदनशीलता, भावनागत चेतना, प्रवृत्ति, जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-बोध, संस्कृति, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग-बोध, सभ्यता, धर्म, विश्वास, परम्परा, प्रकृति-चित्रण-सन्दर्भ में भौगोलिक ज्ञान आदि स्वीकृत होंगे। सामान्यतः जीवनी, वंशावली, परिचय, रचना-परिचय के प्रस्तुतीकरण से साहित्येतिहास की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। 'स्वरूप' (फार्म) से केवल कंकाल की सृष्टि ही सम्भव है, केवल साहित्येतिहास को आकार दिया जा सकता है किन्तु इतने मात्र संयोजन से किसी भी विधा में चेतना या गति नहीं उत्पन्न की जा सकती। दूसरे शब्दों में, तत्त्व-प्रकार (कॉन्टेंट) किसी भी विधा के आन्तरिक चेतना-शक्ति के बोध देने में समर्थ होता है। परिणामस्वरूप तत्त्व-प्रकार (कॉन्टेंट) और स्वरूप-बोध (फार्म) के परस्पर अनुपूरकतादात्म्य से ही वह पूर्ण बनता है। तत्त्व-प्रकार के स्थापन का कार्य (संस्कृति-दर्शन, प्रवृत्ति-दर्शन, युग-दर्शन, मानव-दर्शन) वस्तुतः साहित्येतिहास के प्रबन्धत्व में निहित औदात्य जैसी अपेक्षा का महत् कार्य है। साहित्येतिहास में इतिहास-क्रम या क्रम (क्रानॉलॉजिकल ऑर्डर) और उसके वर्गीकरण द्वारा प्रस्तुत काल-निर्धारण स्थूल अंग-प्रत्यंग बोधक कार्य मात्र है।

'साहित्येतिहास' विधा में अतिरिक्त आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए—भाषा, भाषा-क्षेत्र, भाषा-क्षेत्र का भौगोलिक अध्ययन आदि। इसके पश्चात् साहित्य-अध्ययन का पक्ष स्वीकार होना चाहिए। मैं हिन्दी को 'भाषा' नहीं मानता क्योंकि हिन्दी वस्तुतः उत्तर भारत की बोलियों की सामूहिक एकता का प्रतीक मात्र है। दूसरे शब्दों में, उत्तर भारत की बोलियों का साहित्येतिहास ही हिन्दी का साहित्येतिहास है। जिस प्रकार वादों का उद्भव होता है और उसके माध्यम से प्रवृत्ति-दर्शनों का घटाटोप किसी एक युग-विशेष को प्रभावित करता है, उसी प्रकार हिन्दी के अन्तर्गत बोलियों को विभिन्न युगों में महत्त्व मिलता रहा, जैसे आरम्भ में अपभ्रंश, मैथिल, ब्रज, अवधी और आज खड़ी-बोली। अन्य बोलियाँ केवल लोक-वाचनों में अपभ्रंश केवल बकवास बनकर जीवित रहीं इसलिए साहित्येतिहास में उनका कोई महत्त्व नहीं रहा। प्रत्येक भाषा व बोलियों का अपना भौगोलिक क्षेत्र होता है। भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ एवं उपबोलियाँ होती हैं। किन्तु हिन्दी के साथ ऐसी मान्यता व्यवहार करना असंगत होगा। यह कहा जा सकता है कि 'हिन्दी' संस्कृति को जीवित रखने के लिए बोलियाँ साहित्य-बोध देने में सक्षम होकर 'भाषा' ही थीं। जब उनका उपयोग या व्यवहार सभ्य साहित्य समाज से उठ गया तो वे पुनः 'बोली' हो गयीं। मेरा कहना यह है कि साहित्य की समृद्धता पा जाने के कारण बोली भाषा के रूप में मान्य हो गई है। प्रश्न उठ सकता है कि 'संस्कृत' आज व्यवहार में नहीं तो 'बोली' क्यों नहीं मानी गयी? इसका मात्र उत्तर है कि हिन्दी बोलियाँ अपने भौगोलिक क्षेत्र सीमा-आज भी जीवित हैं, किन्तु सभ्यता के आवरण में उनके भाषा-गुण को ढँक लिया गया है। संस्कृत जीवन में भी नहीं है किन्तु जीवित साहित्य के कोश के कारण एवं प्राच्यता के कारण 'क्लासिकल' भाषा के रूप में मान्य है।

भाषा-क्षेत्र-सीमा^१ का निर्धारण-कार्य भौगोलिक प्रतिमानों पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए, 'अवधी' का अध्ययन भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में यदि किया जाय तो बस्ती, गोंडा, बहराइच, फैजाबाद, सुल्तानपुर, पूर्वा इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, जौनपुर (आजमगढ़ मार्ग पर १० मील छोड़कर) आदि के माध्यम से एक क्षेत्र-सीमा-रेखा तैयार की जा सकती है और उसकी सीमावर्ती बोलियों (जैसे भोजपुरी, बैसवाड़ी, खड़ी-बोली) के प्रभाव आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है। इसके पश्चात् ही उस क्षेत्र की भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में रीति-रिवाज, परम्परा, विश्वास-धर्म, संस्कृति, साहित्य का अध्ययन करना न्याय-संगत होगा। भौगोलिक विशेषताओं के ज्ञापन से ध्वनि, उच्चारण आदि का भी महत्त्व सहज ही बोधगम्य हो सकता है। साहित्येतिहास के विधागत गुण को स्पष्ट करने की उद्देश्य-पूर्ति में बोली या भाषा की भौगोलिक सीमान्तर्गत प्रकृति-वैभव और उससे उद्भूत व विकसित परम्पराओं व धारणाओं का ज्ञान व बोध करना नितान्त आवश्यक है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई रचनाकार अपने भूगोल व प्रकृति से पोषित जीवन-परम्पराओं से पृथक् रहता है। वह अपने भाषा या बोली-क्षेत्र की वनस्थली, प्राकृतिक सुपमा, पादप-पुष्प, पशु-पक्षी एवं जलवायु से भिन्न दिशा में यदि जाता है तो वह अपने जीवित रहने के धर्म से विपरीत जायगा। क्षेत्रीय संस्कृति का निर्माण भौगोलिक परिवेश में भाषा व बोली-साहित्य के माध्यम से होता है। जैसा मैं कह चुका हूँ कि हिन्दी के स्वरूप-निर्माण में बोलियों के साहित्य-सृजन का ही अस्तित्व है। 'हिन्दी' भाववाचक एकता-बोधक संज्ञा है। यदि पूर्णतः शास्त्रीय दृष्टि को रखकर भौगोलिक क्षेत्र-सीमा की मान्यता को व्यवहृत कर दिया जाय तो विघटन की प्रवृत्ति अधिक उभर सकती है। उस दशा में बोलियों के साहित्येतिहास की बात आ जायगी, सभी बोली इकाइयाँ स्वतन्त्र सत्ता रखने लगेंगी। उर्दू खड़ी-बोली की शैली मात्र है तो उसे हिन्दी साहित्येतिहास में स्वीकृति न देने से उसकी स्वायत्तता को मान बैठने के लिए कभी-कभी विद्वान विवश हो जाते हैं। भौगोलिक परिवेश केवल साहित्य के अध्ययन की कृष्णभूमि होनी चाहिए ताकि प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन साहित्येतिहास में गुणात्मकता उत्पन्न करने की दृष्टि से हो और भाषा व बोली क्षेत्र की संस्कृति व जन-जीवन में भौगोलिक प्रभाव किन रूपों में उपलब्ध है, यह भी जाना जा सके।

भाषा-क्षेत्र



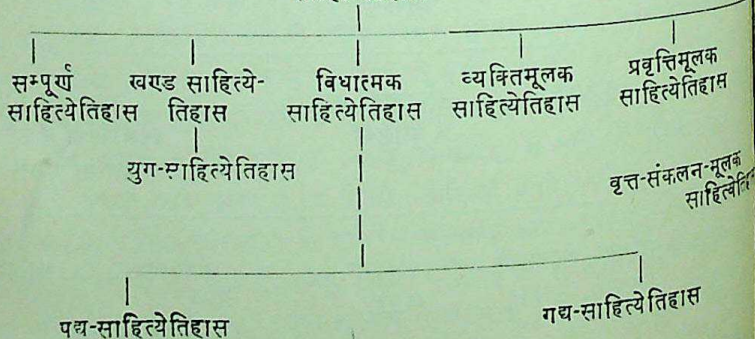
भौगोलिकता
के
परिप्रेक्ष्य में

युगेतिहास—प्रत्येक युग की भाषा व बोलियाँ युग-बोध देने में तथा इतिहास बोध देने में समर्थ होती हैं। हिन्दी-साहित्येतिहास साक्षी है कि उत्तर भारत के मध्य युगीन धार्मिक आन्दोलन को हिन्दी बोलियाँ-ब्रज एवं अवधी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। साहित्य के मान्य स्तर की बुन्देली या अन्य बोलियाँ नहीं स्पर्श कर सकी। इसलिए उनका युग आया ही नहीं, जबकि मैथिल का युग हिन्दी साहित्येतिहास में ब्रज व अवधी से पूर्व विद्यापति के माध्यम से आ चुका था। युगेतिहास साहित्येतिहास का एक अविर्भूत गुण है। प्रत्येक साहित्य-कृति अपने युगेतिहास को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। युग-बोध, युग-समाज, साहित्य-समाज का दर्पण आदि शब्दों व वाक्यों का प्रयोग वस्तुतः युगेतिहास के लिए सन्दर्भ रूप में होता है। युगेतिहास एक ऐतिहासिक है जिसके अभाव में रचना का जीवन नहीं होता। सामयिकता युगेतिहास का गुण बिन्दु-क्षण है। युगेतिहास स्थानीयता, देश-काल, वातावरण की प्रधानता, युगीन जीवन दर्शन, युग-विशेष की सामाजिक परम्पराओं व विश्वासों की सम्पूर्णता को कहेंगे। इस प्रकार युगेतिहास का सम्बन्ध रचना की कथानक रूढ़ियों से भी है।

वर्गीकरण : साहित्येतिहास का वर्गीकरण युगेतिहास, विधा, प्रवृत्ति, युग-बोधक व्यक्ति-विशेष, शैलियों के आधार पर ही सम्भव है। आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास 'सम्पूर्ण' (१) के अन्तर्गत स्वीकृत होगा क्योंकि उसमें सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन हुआ है। 'खण्ड' (२) साहित्येतिहास एवं युग-साहित्येतिहास (३) में क्रमशः डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' एवं डॉ० शम्भूनाथ सिंह कृत 'छायावाद युग' स्वीकृत होगा। 'हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास', 'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास' आदि कृतियाँ विधात्मक (४) साहित्येतिहास के अन्तर्गत स्वीकृत होंगी। व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास की कोटि पर श्रेणी भी हो सकती है? मैं समझता हूँ कि व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास उस श्रेणी में स्थान रखेगा, जिसमें किसी महान् व्यक्तित्व व उसके कृतित्व दोनों का प्रभाव सम्पूर्ण युग पर पड़ता हो या युग अपने अस्तित्व को उक्त प्रकार के व्यक्तित्व व कृतित्व के समाविष्ट कर लेता हो। व्यक्तित्व व युग-विशेष की प्रवृत्ति, विचारधारा, मान्यता आन्दोलन, जब एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर लें तो निश्चय ही

१.

साहित्येतिहास



व्यक्तित्व अपने कृतित्व के माध्यम से साहित्येतिहास दे सकने के कारण एक कोटि या श्रेणी बन जाता है। जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व उनके जीवन व जीवन के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिन्दी-भाषी जन-जीवन पर समकालीन कृतिकारों के माध्यम से छाया हुआ था, यदि भारतेन्दु के नाम पर ही उन्हें उनके युग में, केन्द्रीय रूप में देखने की चेष्टा की जाय तो साहित्येतिहास की पूर्ति होगी ही। हिन्दी में कतिपय ऐसी कृतियाँ हैं, जो साहित्येतिहास के व्यक्तित्वमूलक श्रेणी के अन्तर्गत मान्य होंगी, जैसे—स्व० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'महाकवि हरिऔध'; गंगाप्रसाद पाण्डेय कृत 'महाप्राण निराला' आदि। उक्त कृतियाँ कृतिकार के माध्यम से साहित्येतिहास की पर्याप्त प्रवृत्तिमूलक एवं वृत्तमूलक सामग्री प्रदान करती हैं।^१

प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास उसी प्रकार एकांगी है जिस प्रकार वृत्तसंकलन प्रधान साहित्येतिहास। वृत्त-संकलन में रचनाकार की जीवनी, उसके जीवन से सम्बन्धित प्राप्त किंवदंतियाँ, अनुश्रुतियाँ (घटनामूलक), कृतियाँ व उसके सम्बन्ध, समय आदि पर उठाये गए तर्क-वितर्क, रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से कृतियों का अवलोकन मात्र रहता है। दूसरे शब्दों में, 'सूची-पत्र' ही साहित्येतिहास नहीं है और उसी प्रकार मात्र प्रवृत्तिमूलकता को प्राधान्य मानकर किया गया कार्य भी साहित्येतिहास नहीं है। प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास की, इसीलिए वर्गीकरण में, एक कोटि या श्रेणी निर्धारित कर देना उचित है। प्रवृत्ति-विश्लेषण साहित्येतिहास का विशिष्टतम गुण है। प्रवृत्तियों के निरूपण करने में ही विभिन्न युगों के धार्मिक आन्दोलन, जन-जीवन, रहन-सहन, उपासना-पद्धति, संस्कृति, सभ्यता के रूप, आचार-विचार, दार्शनिक प्रवाह-गति, राजनीतिक गतिविधि और उससे प्रभावित जीवन व समाज आदि के दिग्दर्शन को लेखक अपना मूल-धर्म मान बैठता है। यह प्रधान हो जाने के कारण कृति, कृतिकार व उसके माध्यम से प्रस्तुत साहित्य गौण हो जाता है। इसके साथ ही घटनाएँ भी प्रवृत्तियों का निर्माण करती हैं, उनकी उपेक्षा हो जाती है। प्रवृत्तियों के साथ घटनाएँ व कृतियों के सामंजस्य प्रस्तुत करने की चेष्टा होनी चाहिए। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' कुछ इसी प्रकार का प्रवृत्ति-मूलक साहित्येतिहास है। संस्कृति के इतिहास से अधिक भिन्न नहीं होता प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास।

साहित्य-बोध : साहित्येतिहास में साहित्य-बोध न हो तो निश्चय ही वह साहित्येतिहासकार के लिए दोष माना जाएगा। आलोचक के लिए जेम्स स्कॉट ने जैसा कहा है कि उसमें आलोचना के गुण में, परिष्कृत रूप में आलोचना की कलात्मक अनुदृष्टि व अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए अन्यथा वह रचना की आत्मा का संस्पर्श न कर सकने के कारण, आलोचक-धर्म का निर्वाह न कर सकेगा। जेम्स स्कॉट की उक्त मान्यता कि आलोचक में कलाकार या रचनाकार के गुण व धर्म की सम्पन्नता होनी चाहिए, साहित्येतिहास-लेखन में मूल्य-निर्धारण की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रस्तुत

१. उक्त दोनों कृतियाँ हिन्दी समालोचना में चरितमूलक या जीवन-वृत्तान्तीय समालोचना (Biographical Criticism) कही जाती हैं। —लेखक

साहित्य के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से कलात्मकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। साहित्येतिहास केवल क्रमानुसार रचना-नामावली मात्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, यह सहायक तत्त्व ही हो सकता है। साहित्येतिहास का आन्वेषक ही है, प्रस्तुत करना—साहित्य-बोध। साहित्य-बोध द्वारा साहित्येतिहास अपने अर्थ को पाता है और अभीष्ट की पूर्ति करता है। एक प्रश्न उठ सकता है कि साहित्य-बोध व प्रवृत्ति-बोध की क्या साहित्येतिहास में भिन्न सत्ताएँ होंगी ? मैं समझता हूँ कि प्रवृत्ति-बोध साहित्य-बोध के भीतर अवस्थित है। किन्तु बाह्य जीवन-विधान में उसका व्यवहार भिन्न होता है। दूसरे शब्दों में, यों कहें कि साहित्य-बोध की भूमिका है—प्रवृत्ति बोध। प्रवृत्ति-बोध के परिप्रेक्ष्य में साहित्य-बोध देखना-परखना चाहिए। साहित्य-बोध की क्या कसौटी होगी ? इस प्रश्न पर विचारने पर यही स्पष्ट होता है कि साहित्य में अवस्थित मात्र रस व प्राकृतिक-छटा को ही आधार नहीं बनाया जा सकता बल्कि उसके सौन्दर्य-बोध पक्ष को, मानवीय-पक्ष को, जीवन-दर्शन पक्ष को, रचना-दर्शन पक्ष को, संवेदन व भावना पक्ष को, विचार-बोध पक्ष को युग-बोध, युगेतिहास की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। उसे देखने में, साहित्येतिहासकार में अन्तःको स्पर्श करने के निमित्त स्वयं में कलात्मकता होनी चाहिए अन्यथा वह यदि अपने साहित्यिक ठूठपन का परिचय देगा तो निश्चित ही साहित्येतिहास का 'आन्वेषक' अर्थहीन हो जायगा।

साहित्येतिहासों में साहित्य-बोध की सदैव उपेक्षा होती रही है। उसे या तो रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से देखा गया या प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से। यही कारण है कि रचना-दर्शन से अपरिचित होकर हिन्दी साहित्येतिहास यह सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो सका कि कृति-विशेष का युग-परिधि में केन्द्र-बिन्दु कहाँ है ? हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक मनीषी आँकड़ों का ही झमेला बना, अपनी प्रतिभा-प्रकाश को एक क्षण देकर बुझ गये। यदि साहित्येतिहास में युग-प्रवृत्ति व रचना-दर्शन का सम्यक-बोध दिया जाना अभीष्ट मान लिया जाय तो निश्चय ही 'मूल्य' पक्ष भी ऊँचा होगा। आलोचनात्मक अध्ययन-शैली की वर्तमान स्थिति में साहित्येतिहास भी जकड़ा हुआ है। चाहे कबीर हों, चाहे तुलसी, चाहे जायसी या पन्त, निराला, प्रसाद हों, उनके रचना-दर्शन को प्रस्तुत करने की एक सामान्य प्रचलित शैली है। भाषा, शैली, भाव-प्रवणता, कथानक, पात्र, उद्देश्य, अलंकार, रस, छन्द की दृष्टि से, जैसे बाजारू आलोचनात्मक अध्ययनों में साहित्य को समझा व समझाया जा रहा है, वही साहित्येतिहासों में। यह केवल प्रचलित साहित्येतिहासों मात्र की दशा नहीं है, बल्कि सामान्यतः उद्भव और विकास वाले विधात्मक साहित्येतिहासों व खण्ड-साहित्येतिहासों की भी दशा है जिनके सम्बन्ध में अनेक तथाकथित स्तर के पत्रों से प्रशंसा या सरकारी पुरस्कार पा जाने के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

शोध-बोध : शोध-कार्य में अनुपलब्ध या अप्राप्य को उपलब्ध या प्राप्त करने की अभीष्टा की पूर्ति में शोधकर्ता जितना सजग होता है उतना ही उसे सजग होना

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप : २१

चाहिए स्थापना के लिये भी। इस प्रकार शोध-कार्य के दो पक्ष हो जाते हैं। यदि सामग्री (मैटीरियल) विखरी है तो उसे ठोस रूप व क्रम देना ही उसका मात्र ध्येय नहीं, बल्कि उसकी क्रम व व्यवस्था से क्या निष्कर्ष युग-बोध के लिये होता है, भी देना चाहिए। स्थापना की दरिद्रता से पीड़ित आज का शोध-कार्य केवल एरेंजमेंट देकर अपना कार्य पूरा मान बैठता है। जहाँ स्थापना नहीं है, वहाँ शोध की सम्पूर्णता विकेंद्रित होगी और उसे अपने सम्पूर्ण शोध-कार्य का बोध भी नहीं होगा। माने गये विद्वान कहते हैं कि शोध-कार्य में आवश्यक नहीं कि निष्कर्ष या स्थापना को महत्त्व दिया जाय, यह तो आलोचक के लिये है, न कि शोधकर्ता के लिए। वस्तुतः उक्त कथन पलायनवादी दृष्टिपरक है। शोध-बोध के लिए शोधकर्ता क्या मात्र, 'स्टेटिस्टिकल डेटाज' से प्रमाण पेश करेगा। आज उद्भव व विकास वाले साहित्येतिहास केवल 'कोटेशन' से थोसिस भरते हैं और 'स्टेटिस्टिकल डेटाज' से अपनी विद्वता का कागजी प्रमाण-पत्र लेकर बुझ जाते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध को आत्मसात् करना चाहिए। खेद है कि हिन्दी-शोध पर दम्भ भरनेवाले तथा शोध-कारखानों के संचालक अर्थात् विद्वान, जितना बोध हुआ है, उतना साहित्येतिहास में आत्मसात् होने के विधान पर ध्यान न दे सके। आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास के दस वर्षों बाद आरम्भ हुआ हिन्दी-साहित्य-शोध अपनी जगह है और आज भी 'आउट ऑफ डेट' पुरानी अशोध की वस्तुएँ विद्यार्थी पढ़ते हैं और वे दम्भ करने वाले विद्वान अपने विद्यार्थी द्वारा कराये गये शोध की चर्चा नहीं करते, जबकि ये विद्यार्थी अपनी एक तिहाई थोसिस केवल गाइड के उद्धरणों से सँवारते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध इसीलिये आवश्यक है कि उससे वह जड़ न हो, चेतन हो। कहनेवाले कह सकते हैं कि शोध-कार्य इसलिए सम्पादित होता है कि वह समीक्षा व साहित्येतिहास के लिए सामग्री दे सके, किन्तु मैं नहीं मानता।

शोध-बोध के एक पक्ष के सम्बन्ध में कह चुका हूँ कि उसमें रचना-क्रम, वर्गीकरण, स्टेटिस्टिकल डेटाज आदि को प्रमुखता दी जाती है। रचना-पाठ के अध्ययन के लिये पाठालोचन (टेक्स्टुअल क्रिटिसिज्म) व भाषा के अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञान (फाइलालॉजी) व भाषा-शास्त्र (लिन्ग्विस्टिक्स) आदि का भी अध्ययन-पक्ष प्रमाण व साक्ष्य प्रस्तुत करने के उद्देश्य से साहित्येतिहास में होना चाहिए। यह कार्य वस्तुतः साहित्येतिहास के सैद्धान्तिक परिप्रक्ष्य में होगा।

मूल्य-बोध : मूल्य-शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू' का पर्यायवाची है।^१

१. मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानव-निर्मित निकष और मापदण्ड हैं, जिनके सहारे साहित्य की परख की जाती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है, उसके अपने मूल्य मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति-मनुष्य एक बृहत्तर मानव-समाज का परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर स्थापित हो भी है, अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। — प्रभाकर माचवे, 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ६०४, भाग १।

२२ : आलोचना

मूल्य-निर्धारण के लिये साहित्येतिहासकार जागरूक हो, यह अनिवार्य नहीं, किन्तु गुण अवश्य है। वैसे मैं अनिवार्य गुण मानूँगा क्योंकि रचना (ओं) के माध्यम से युग-बोध, मूल्य-निर्धारण द्वारा ही सम्भव होगा। मूल्य, जैसे कहा गया है—‘प्रतिमान का समानार्थी शब्द है।’ मूल्य व प्रतिमान का परिप्रेक्ष्य केवल समीक्षा के स्वरूप को साहित्येतिहास में स्पष्ट करता है। यदि ‘मूल्य’ नहीं तो साहित्येतिहास का नम्र समाप्त माना जाएगा। मूल्य वस्तुतः कृति व कृतिकार की स्थिति का ही बोध करायेगा। साहित्येतिहासकार जिस साहित्य की सामग्री को उक्त विधा के आधारभूत सिद्धान्तों पर रखता है तो उसे कम-से-कम यह बताना होगा कि क्या वह साहित्य बोध कर पाया है? क्या उसमें साहित्य-बोध की योग्यता है? यदि नहीं तो वह साहित्य के मूल्य-निर्धारण की भी योग्यता नहीं रख सकता। साहित्येतिहासकार ने स्थित मूल्य-बोध-क्षमता ही उसके साहित्य-बोध की क्षमता की कसौटी मानी जाएगी। साहित्येतिहास-वस्तु अपने निष्कर्ष में साहित्य-बोध प्रदान करने में ही मूल्य-बोध भी दे सकेगी। ‘मूल्य’ के पूर्वग्रह की अवस्था में सम्भव है कि वह एकपक्षीय हो जाए। ऐसी अवस्था में उसके एकांगी होने के आरोप को स्वीकार करना होगा। किन्तु यह दोष स्वीकार्य है, समीक्षा में मूल्य-बोध की भाँति। फिर भी “मूल्य-निर्धारण के लिये यदि सामाजिक व वैयक्तिक स्तरीय मानवतावादी दृष्टिकोणपरक ‘निकष’ होंगे तो निश्चय ही साहित्येतिहास सही पथ पर अग्रसर होगा।” “मूल्य युग-सन्दर्भ प्रधान होता है किन्तु साहित्येतिहास ‘मूल्य’ को इतिहास-आकलन रूप में प्रस्तुत कर अपने विधात्मक गुण के स्वरूप को निखार देता है।”

“साहित्येतिहासकार को जिस भाषा का इतिहास लिखना है, उस भाषा की ओर प्रदेश-विशेष की संस्कृति, सभ्यता, साहित्य कला के अन्य उपकरणों की, जन-जीवन की, तथा भाषा के प्रदेश की, राजनीतिक विकास सम्बन्धी समस्त उत्थान-पतन की, गतिविधियों से सुपरिचित होना चाहिये। साथ ही भाषा जिन प्रभावों से युक्त हो, वह भी अपने अध्ययन के सन्दर्भ में रखकर इतिहासकार को इतिहास-लेखन कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को हिन्दी की जनता की संस्कृत-भाषा एवं साहित्य तथा अन्य सम्बन्धित अभिविकसित प्राचीन भाषाओं का भी सन्दर्भ में ज्ञान होना चाहिए। विदेशी भाषाओं की साहित्यिक विचारधाराओं का क्रमशः किन रूपों में प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है, इसका भी अध्ययन अपेक्षित है। इन उपर्युक्त आवश्यकताओं की संपूर्ति से इतना लाभ होगा कि इतिहासकार को सामग्री संकलन तो देगा ही, साथ ही तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करना उसके लिये सम्भव होगा और मूल्यांकन, निर्णय, गुण-दोष-विवेचन का भी अभाव न होगा। ऐसा न हो सकने पर इतिहासकार अपने धर्म का पालन करने में सक्षम नहीं हो सकेगा इसलिए जब हम सूक्ष्म रूप से देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन को सोद्देश्य माना है।”^१ आचार्य शुक्ल ने माना है कि “प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है तब

साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप : २३

निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास है'।^१

मैंने अत्यन्त संक्षेप में साहित्येतिहास के कुछ प्रतिमान स्थिर किये हैं। वस्तुतः साहित्येतिहास-लेखन को विभिन्न पृथक तत्त्वों के एकता-सूत्र में आवद्ध न किया गया तो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के स्तर का ह्रास होगा। मैंने हिन्दी साहित्येतिहास पर शोध के लिये एक शोध-छात्र को ऐतिहासिक दृष्टि से 'विकास' के लिये एक वर्गीकरण का सुझाव दिया था। यद्यपि डॉ० तास कृत साहित्येतिहास का समय १८३८-३९ बताया जाता है किन्तु वह फ्रेंच में है। इसलिये मैं भारतेन्दु-युग के वास्तविक आरम्भ सन् १८६३ से भारतेन्दु-युग के अन्त सन् १८९३ और काल्पनिक कथा-युग सन् १९१२ तक के समय को हिन्दी साहित्येतिहास का प्रस्तावित युग था प्रवर्तन युग मानता हूँ, सन् १९१३ से २५ तक के समय को (जिसमें मिश्रबन्धु प्रमुख हैं) हिन्दी साहित्येतिहास का निर्माण-युग मानता हूँ, सन् २५ से ४० तक के समय को प्रसार-युग का प्रथम चरण मानता हूँ; सन् ४० से अब तक को प्रसार-युग का द्वितीय चरण स्वीकार करता हूँ।^२

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

२. हिन्दी साहित्येतिहास

प्रस्तावित युग

सन् १८६३-१९१२

निर्माण युग

सन् १९१३-२५

प्रसार युग

सन् १९२५ —

पूर्वाद्ध

सन् १९२५-४०

उत्तराद्ध

सन् १९४०—

देवीप्रसाद गुप्त

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य

आज स्वदेश और विदेश के साहित्य में सर्वत्र ही मानवतावाद का स्वर एक उद्धोष के रूप में सुनाई देता है। साहित्य ही क्यों, मानवीय चिन्तन के सभी क्षेत्रों में मानवतावाद की विचारधारा को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी है। यही नहीं, मानवतावाद की विचारणा को हमारे जीवन की महत्वपूर्ण उपपत्ति के रूप में भी स्वीकृत किया जा चुका है। साहित्य, क्योंकि सामाजिक चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास है, अस्तु उसमें युग-जीवन की उत्कृष्ट विचार-सम्पदा और भाव-राशि का आत्मसात् होना स्वाभाविक ही है। आज साहित्य का प्रत्येक प्रणेता अपनी रचनाओं को मानवतावादी कहने-कहलाने में गर्व और गौरव का अनुभव करता है। इस युग के साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह मानव के द्वारा, मानव के लिए, मानव को आधार बनाकर लिखा जाता है। मानवीय मूल्यों की महिमा का आख्यान, मानवीय जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा, मानव-मन की इच्छाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति, मानव-जीवन के अन्तर्बहिर् संधर्षों की स्पष्ट व्यंजना, मानव की मर्यादा और महता की स्थापना आदि साहित्य में मानवतावादी चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में मानवतावादी साहित्यिक विचारधारा की विशेषताएँ भी कहा जा सकता है। इस चिन्तनधारा के साहित्य में प्रवेश और उसके शुभाशुभ परिणाम जानने से पूर्व मानववाद की विचारणा को समझ लेना उचित होगा।

मानवतावादी विचारधारा का आगमन मध्ययुगीन धार्मिक व्यवस्था की समाप्ति के बाद हुआ। एक प्रकार से मानववाद की वह विचारधारा जिसे नवमानववाद और वैज्ञानिक मानववाद अभिधान दिया जाता है, उन धार्मिक मान्यताओं का विरोध करने के लिये आयी जिनमें मानव का व्यक्तिगत गौण और किसी कल्पित एवं अज्ञात दिव्य सत्ता के अस्तित्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। विकासवाद के सिद्धान्त और विज्ञान की प्रगति ने मानव को चिन्तन की नयी दिशाओं की ओर अभिमुख किया। विज्ञान की सहायता से मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को ज्यों-ज्यों समझने लगा त्यों-त्यों उसमें आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन, विश्वास, आस्था एवं तर्कसम्मत विवेक की प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। मनुष्य ने असंख्य देवी-देवताओं की उपासना और अज्ञात सत्ता की प्रभुता को छोड़कर स्वयं की शक्ति और सामर्थ्य पर विश्वास करना प्रारम्भ किया। बीसवीं शताब्दी के मनुष्य में जिस नवीन बोध और जागृति ने जन्म लिया उसके कारण उसने धार्मिक रूढ़ियों का उच्छेदन कर दिया, परम्परा-समर्थित अन्धविश्वासों को तिलांजलि दे दी। विंशति शताब्दी के विश्वयुद्धोपरान्त तो मनुष्य ने सम्पूर्ण मानवोत्तर शक्तियों और सत्ताओं का एक प्रकार से तिरस्कार ही कर दिया। आज स्थिति यह है कि मनुष्य धर्म को ढकोसला समझता है, अपरोक्ष सत्ता या परमात्म तत्त्व की हँसी

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य : २५

उड़ाता है, परम्पराओं के अनुमोदन को पराभव का चिह्न मानता है। आज का युग विज्ञान का युग है क्योंकि विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र में एकछत्र साम्राज्य है। विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति का एक कारण मानवतावादी जीवन-दृष्टि भी है। वास्तव में विज्ञान के विकास की परिधि का केन्द्र मानव था। मानव की सुख-सुविधाओं की सामग्री जुटाना, मनुष्य को प्रत्येक प्रकार से निरापद और निःशंक बनाना वैज्ञानिक प्रगति का मूल लक्ष्य था। अतः विज्ञान की प्रगति ने संसार में एक आपातक परिवर्तन ला दिया। यह परिवर्तन था—मानव के चिन्तन-क्रम में, जीवन की व्यवहार प्रणाली में, चेतना के गतिमान स्तरों में, समाजों की व्यवस्था में, राष्ट्रों की संचालित शक्ति में और विश्व भर की सांस्कृतिक गतिविधियों में। फलस्वरूप मानवतावादी चिन्तनधारा को स्वीकृति मिली और आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई गई, राजनीतिक अधिकारों की मांग की गई, समानता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया गया। इन समस्त प्रक्रियाओं से साहित्य भी अप्रभावित न रहा। साहित्य में भी मानव की महत्ता के स्वर मुखरित हुए और नव-साहित्य चेतना मानव के मंगलगान के लिए व्यंजित हुई। अस्तु—

मानवतावादी चिन्तनधारा मेरी दृष्टि में नवचेतना और चिन्तन क्षेत्र की जागृति का परिणाम है। इस प्रकार का चिन्तन अतीत काल में भी होता रहा है किन्तु मनुष्य की सर्वोच्चता की विचारणा को जितना महत्त्व वैज्ञानिक युग के प्रभाव से मिला है उतना पहले कभी नहीं मिला। मध्ययुगीन समाज में ईश्वरीय सत्ता और प्राकृतिक शक्तियों को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि मनुष्य की स्थिति नितान्त तुच्छ और गौण ही बनी रहती थी। विज्ञान के ज्ञान द्वारा मनुष्य ने प्रकृति के गूढ़तिगूढ़ रहस्यों को जानकर प्राकृतिक साधनों को अपने वश में कर लिया और वह अब प्रकृति का दास नहीं, स्वामी है। श्री एम० एन० रॉय ने लिखा है—

"In the past also, Humanism proclaimed the sovereignty of man. But man remained Unexplained, and speculation about the essence of man led to mysticism and revival of religion. Thus Humanism defeated itself. Thanks to the enrichment of scientific knowledge, it can now be freed from all falacies. It needs no longer be misguided by mystic and metaphysical notions about the essence of man..." New Humanism proclaims the sovereignty of man on the authority of the Modern Science, which has dispelled all mystery about the essence of man."

(Reason, Romanticism & Revolution

By M. N. Roy, p. 308)

आधुनिक साहित्यकार इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। इसलिए आधुनिक साहित्य के मूल में मानवतावादी जीवन-दृष्टि एक महत्त्वपूर्ण विधायक तत्त्व के रूप में कार्य कर रही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—“भारतवर्ष की विशाल

२६ : आलोचना

साहित्यिक परम्परा पर दृष्टि दीजिये तो इससे अनेक साहित्यिक युगों में सर्वत्र किसे विशेष मानवीय विश्वास को प्रेरणा देते पायेंगे... विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का व्यापक विश्वास मानवतावाद है... इस युग में मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, परम्परा-समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर सन्देह किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़तापूर्वक आस्था बनाये रखी। मनुष्य सब-कुछ कर सकता है, प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि-परम्परा की सबसे उत्तम परिणति है। नवीन-साहित्य के मूल में यही विश्वास कार्य कर रहा है।” (विचार और विर्तक—साहित्य की नयी मान्यताएँ शीर्षक निबन्ध—पृ० ६१)

मानवतावादी जीवन-दृष्टि के विकास का साहित्य के सृजन और समीक्षा दोनों ही क्षेत्रों में बड़ा शुभ प्रभाव पड़ा है। साहित्य-निर्माताओं ने मानव को लक्ष्य बनाकर उसका सर्वांगीण चित्रण प्रारम्भ किया। साहित्य में लोक-जीवन की विवशताओं, विभीषिकाओं और वैषम्यों का निरूपण प्रारम्भ हुआ। मानवीय सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए साहित्यकार ने दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भौतिक-विज्ञान आदि साहित्योत्तर ज्ञानराशि को भी कलात्मक सृजन के लिए स्वीकार किया। साहित्य रचना का क्षेत्र केवल आह्लादकारी प्रसंगों की योजना तक ही परिसीमित न रहकर गहिर्, तिरस्कृत, विद्रूप और भ्रमदेश की स्थितियों को भी अपने परिधि-विस्तार में समेटने लगा। यथार्थवादी और तथ्याधारित शैलियों का विकास हुआ। सच तो यह है कि आज का साहित्य-प्रणेता मानव को उसके व्यापकतम परिवेश में प्रस्तुत करना चाहता है। अतीत के साहित्य-विधायकों की भाँति जीवन के केवल उज्ज्वल, आदर्श, शिष्ट, सभ्य और समुन्नत पक्षों के ही चित्रण में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेता। क्योंकि उसकी दृष्टि में वह सृष्टि-प्रक्रिया का एकांगी रूप या एकपक्षीय चित्रण ही होगा। जीवन की सम्पूर्णता का निरूपण तभी सम्भव है जब हम उसे सभी दृष्टियों, सभी कोणों से देखें, परखें और कृतियों में उतारें।

यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से होता है; किन्तु सन् १९३६ के पश्चात् अर्थात् प्रगतिवादी साहित्य-रचना के साथ ही वास्तव में नवमानवतावादी जीवन-दृष्टि का विकास हम साहित्य में पाते हैं। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य-युग तक साहित्य में उस मानवतावादी जीवन-दृष्टि का अभाव ही था जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रगतिवादी रचनाओं के भी अपने अभाव, त्रुटियाँ और सीमाएँ हैं किन्तु एक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय उपलब्धि इस साहित्य की यह है कि इसने सृजन की नवीन दिशाओं और चिन्तन की युगीन सम्भावनाओं को साकार किया और आगे आनेवाली पीढ़ी के साहित्यकारों को आह्वान किया कि आओ! और मानव की दुर्बलताओं, दीन-दुखियों की आहत शोषित और पीड़ित वर्ग पर हो रहे अत्याचारों, जीवन के अभावों, विवशताओं और विडम्बनाओं का भी चित्रण करो। क्योंकि—“साहित्य अमरावती में प्रवाहित होने वाली कोई प्रीयुषधारा नहीं वरन् हमारे हिमालय की कल-कल करती धरती पर बहने

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य : २७

वाली मंदाकिनी की शीतल-उष्ण धारा है।" अथवा "साहित्य सुरसभा में तिनादित होनेवाली उर्वशी के ताल-नुपूरों की मादक झंकार नहीं बरन् हमारे प्राणों से पुलकित बन में बजनेवाली व्याकुल विपंची है जो नित हमारे सुख-दुःख के तारों से झंकृत हुआ करती है।" या "काव्य, नन्दन कानन का कल्पतरू नहीं, वह हमारी ही दुनिया का आम्र वृक्ष है।" इस प्रकार की विचारधाराओं के फलस्वरूप साहित्य में जनसाधारण को स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ। उदाहरण के लिए, काव्य क्षेत्र में महाकाव्यों को लीजिये। महाकाव्यों में अब तक धीरोदात्त और इतिहास-पुराण प्रसिद्ध (जैसे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, रघु, हर्ष आदि) ही नायक हुआ करते थे। वर्तमान युग के रावण, मेघनादवध, दैत्यवंश जैसे महाकाव्यों में राक्षस और दैत्य कहे जानेवाले पात्र भी नायक के पद पर आसीन हुए हैं। निपादपुत्र एकलव्य पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने महाकाव्य लिखा है। सूतपुत्र कर्ण पर श्री रामधारीसिंह दिनकर ने 'रश्मिरथी'; श्री आनन्दकुमार ने 'अंगराज' और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सेनापति कर्ण' (अपूर्ण) नामक महाकाव्यों की रचना की है। उपेक्षित पात्रों को लेकर 'उर्मिमला' (बालकृष्ण नवीनकृत) और कैकेयी जैसे सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द के समय से ही, विशेष रूप से प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य में असंख्य उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, एकांकी आदि दैनन्दिन सामाजिक समस्याओं और मध्यवर्गीय लोगों के जीवन की हलचलों पर लिखे गये हैं। प्रयोगवादी काव्य, नयी कविता और नयी कहानी के विधायक भी अन्ततः मनुष्य के सभी रूपों और उसके समस्त क्रिया-कलापों, आचार-व्यवहारों, मन-मस्तिष्क के संघर्षों एवं संवेदानाओं को ही व्यक्त करने को व्यग्र हैं। मानव व्यक्तित्व के सभी आयाम और जीवन की सभी जटिलताएँ अभिव्यक्त हैं। मानव व्यक्तित्व के सभी आयाम और जीवन की सभी जटिलताएँ अभिव्यक्ति पा सकें—यही तो नये साहित्यकार का प्रयास है। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में इस प्रकार की विचारणा का प्रादुर्भाव निश्चित रूप से मानवतावादी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। जीवन के भव्य और विराट, आदर्श और महिमामय रूप का मात्र चित्रण तो आज के साहित्यकार को अभीप्सित भी नहीं।

नये साहित्य के रचनात्मक आदर्शों को लक्ष्य करके उसकी पर्याप्त आलोचना भी की जाती है। कहा जाता है कि आज के अधिकांश साहित्य का लक्ष्य कुंठाओं की अभिव्यक्ति, अनास्था का प्रदर्शन, विकृत रुचियों का प्रचार और क्षणिक मनोरंजन है। आधुनिक साहित्य का ऐतिहासिक मूल्य और चिरन्तन पक्ष कुछ है ही नहीं। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस मध्यमवर्गीय समाज से साहित्यकार सृजन की प्रेरणा प्राप्त कर रहा है उसकी वस्तुस्थिति (दशा) में दैन्य, अतृप्ति, अस्थैर्य, अनास्था, आशंकाएँ और विकृतियाँ व्याप्त हैं। बेरोजगारी, महँगाई, शोषण, घूसखोरी, निरक्षरता, भ्रष्टाचार आदि ऐसे समाज-विरोधी तत्त्व हैं जिनसे वर्तमान सामाजिक जीवन जर्जरित, पीड़ित एवं दीन हो रहा है। सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में विघटनकारी स्वार्थमूलक शक्तियाँ परम्परा-स्थापित मूल्यों के मूलोच्छेदन में रत हैं। आज के विश्व-जीवन में मानव-मात्र की संकटापन्न स्थिति, कंठित आत्मचेतना और भयावह वातावरण के कारण मानवीय चिन्तन-बोध के स्तरों में व्यतिक्रम और अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया है।

२८ : आलोचना

भौतिकतावादी जीवन-मूल्यों की पराकाष्ठा के कारण मनुष्य एकमत से आध्यात्मिक आस्थाओं को भी एकांगी स्वीकृति नहीं दे सकता। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का एक दायित्व कटु जीवन-सत्यों को यथार्थ रूप में चित्रित करके सजगता और जागरूकता का वातावरण निर्मित करना है। इस दृष्टि से नया साहित्य अपने अस्तित्व की पूर्ण सार्थकता सिद्ध कर रहा है क्योंकि उसी के माध्यम से ऐसे प्रयास हो रहे हैं।

समालोचना के क्षेत्र में मानवतावादी चिन्तन-पद्धति को ग्रहण करने का सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ है कि साहित्य-रचना के निरर्थक प्रयोजनों की उपेक्षा प्रारम्भ हो गई है। आज का समीक्षक साहित्य में छन्द, अलंकार या काव्य-दोषों की गणना, रसात्मक स्थलों के निर्देश, कथानक के स्रोत संकेतों या पात्रों के गुण-दोष-विवेचन तक ही अपनी दृष्टि परिसीमित नहीं रखता। वह आलोच्य कृति की सृजन संवेदना, अन्तरंग दर्शन, युगप्रभाव, परिस्थितिजन्य परिणामों, जीवन-मूल्यों की व्याख्या, विचार-संयोजन और भाव-सम्प्रेषण आदि की दृष्टि से रचना की परख करेगा। समालोचना में शास्त्रीय नियमों के प्रति आग्रह रूढ़ साहित्यिक परम्पराओं का जन्मदाता होता है। जैसे रीतिकाल तक के कवि महाकाव्य-लेखन के लिए कुछ काव्यशास्त्रीय नियमों (जैसे मंगलाचरण, छन्दविधान, सर्ग-योजना, विविध चित्रण आदि) के निर्वाह पर ही ध्यान देते थे। उन महाकाव्यों में संजीवनी-शक्ति या युग-चेतना के आकलन का अभाव ही होता था। किन्तु आज का कृतिकार रचना के बाह्य उपकरणों की चारुता पर विशेष बल न देकर उसके अन्तरंग पक्ष के निर्माण में सृजन-क्षमता का व्यय करता है। दिनकर जी का 'कुरुक्षेत्र' नामक प्रबन्ध-काव्य इस दृष्टि से विचारणीय है। इसके अतिरिक्त मानवतावादी जीवन-दृष्टि के विकास से प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हुआ है। आज की समीक्षा में विवेचना की अपेक्षा विश्लेषण पर बल दिया जाता है। समीक्षा-दृष्टि के परिवर्तन के मूल में विज्ञान युग की चेतना, राजनीतिक जागृति एवं सांस्कृतिक अवधारणाओं का परिवर्तित परिवेश भी कार्यरत हैं।

इस प्रकार मानवतावादी चिन्तनधारा के आगमन से हिन्दी का आधुनिक साहित्य सृजन और समालोचन दोनों ही क्षेत्रों में निर्माण की नयी दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ है। हमारी चिन्तन-दृष्टि व्यापक और सहिष्णु भी हुई है। यद्यपि नये साहित्य पर भी देश, काल और समाज की सीमा-रेखाओं का प्रभाव है, फिर भी उसमें अन्तर्राष्ट्रीय भाव साम्य और वैचारिक एकता स्पष्ट देखी जा सकती है। पूर्व (भारत-वर्ष) के मानवतावादी दृष्टि-सम्पन्न नये कवि और कथाकार की अनुभूतियों और पाश्चात्य देशों के साहित्य निर्माताओं की सृजन संवेदनाओं में आजकल आकाश-पाताल का अन्तर नहीं है। कम-से-कम वह अन्तर नहीं है जो अंग्रेजी के चॉसर, शेक्सपीयर और मिल्टन युगों के काव्यों-नाटकों और हिन्दी के भक्तिकालीन काव्यों-नाटकों में है। इसी प्रकार जो अन्तर ड्राइडेन, पोप, जॉनसन या रोमांटिक युगों (Romantic Revival) के काव्यों और रीतिकालीन काव्यों में है। अंग्रेजी के वर्जिनिया वुल्फ, प्रीस्टले, मॉम, वेनेट, आल्डस हक्सले, जार्ज मूर, गाल्सवर्दी, ज्वाएस, आर्वेल, एच० जी० वेल्स आदि कथाकारों—सिटवैल, एडिथसिटवेल, किप्लिंग, हाउसमैन, चेस्टर्टन,

मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य : २६

डी० ला० मेयर, राबर्ट ग्रेन्ज, वेल्क, टी० एस० इलियट आदि कवियों और जार्ज बर्नर्ड शा, बैरी, मेट्स, रैटिंगन, ब्रिडी, ग्रैनविल वॉकर आदि नाटककारों की रचनाओं और प्रेमचन्द, अश्व, यशपाल, रांगेय राघव, अज्ञेय, रेणु, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, रामविलास, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल, नरेन्द्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रघुवीरसहाय, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, रघुवंश एवं अन्य अनेक कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों, आलोचकों की रचनाओं में चमत्कृत कर देने वाला साम्य दिखाई देता है। कुछ प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों का पाश्चात्य कृतिकारों से तुलनात्मक अध्ययन करके इसी प्रकार के कतिपय निष्कर्ष हिन्दी के समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत भी किये गए हैं। वैचारिक एवं भावगत साम्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रगति, प्रेस का प्रचलन, चिन्तन का आदान-प्रदान आदि अनेक कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु मेरे मत में सबसे बड़ा कारण चिन्तनधारा में मानवीय विश्वासों को महत्त्व देने का है। मनुष्य को महत्त्व देने की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के नये विचारक दो खेमों में बँटे हुए नहीं हैं।

इस प्रकार सृजन और समीक्षण की आधुनिक प्रक्रियाओं में रूप-परिवर्तन समान जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। मानवतावाद की विचारधारा किसी सिद्धान्त या आन्दोलन के रूप में पूर्वी या पश्चिमी साहित्यकारों पर थोपी नहीं गई है। वह तो सामान्य ज्ञान (बोध ?) के रूप में आज के साहित्यकार ने ग्रहण की है। मानवतावादी चिन्तनधारा का कार्य किसी कट्टर सैद्धान्तिक मतवाद या दार्शनिक मान्यता का प्रतिपादन है भी नहीं। टी० एस० इलियट ने उचित ही लिखा है कि—

“The function of Humanism is not to provide dogmas or philosophical theories. Humanism, because it is general culture, is not concerned with philosophical foundations, it is concerned less with reason than with common sense. When it proceeds to exact definitions it becomes something other than itself.”

(SELECTED ESSAYS BY T. S. Eliot, p. 488)

वस्तुतः मानवतावादी चिन्तनधारा चिन्तन-जगत की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। राजनीति, दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति की नवीनतम और उत्कृष्ट विचार-सम्पदा द्वारा मानवतावादी चिन्तन पुष्ट और समृद्ध हुआ है। नये साहित्य के निर्माण में इस विचारधारा का योगदान अभूतपूर्व एवं उल्लेखनीय है। इस विचारधारा के फलस्वरूप साहित्य के नये प्रतिमान स्थापित हुए हैं, जीवन के प्रति नयी धारणाओं ने जन्म लिया है, सामाजिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है और कला-जगत् में सृजन की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। वर्तमान विश्व-जीवन की संकटापन्न दारुण स्थिति से मुक्ति का उपाय आज मानवीय विश्वास और आस्था द्वारा ही सम्भव है, कल्पित किंवा अज्ञात सत्ता द्वारा नहीं। चिन्तन राशि के अन्य रूपों की भाँति अभी साहित्य भी संक्रमण की स्थिति में है। विश्व-युद्धों के आतंक का निवारण होने और मनुष्य-मनुष्य में विश्वास-भाव के बढ़ने पर ही मानवतावादी चिन्तनधारा के अपेक्षित महत्त्व को और भी गहराई से समझा जा सकता है।

साल्त्ववाद हिन्दी कथा-साहित्य

—डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

अस्तित्ववाद और नयी कविता

(क) नयी कविता की चेतना के दो प्रवाह

हिन्दी की नयी कविता चेतना के दो प्रमुख प्रवाहों में अभिव्यक्ति पा रही है। पहला प्रवाह व्यक्ति-निष्ठ है और दूसरा समाज-निष्ठ। राष्ट्रीय चेतना आदि का इनमें किसी-न-किसी रूप में समाहार हो जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के पश्चात् मानव की बौद्धिकता इन दो चेतना प्रवाहों में विशेष रूप से विभाजित हो गई थी। युद्ध की समाप्ति के अनन्तर विश्व में ऐसा वातावरण बना, जिसने उन दोनों प्रवाहों को आज तक निकट नहीं आने दिया है। हिरोशिमा का अणु-विस्फोट, भारत-चीन आदि के राज्य परिवर्तन, शीत-युद्ध की संशयात्मक स्थिति तथा जीवन-यापन के साधनों का विशेष व्यक्तियों के हाथों केन्द्रीकरण आदि कतिपय ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिन्होंने उन दोनों के मिलन की भावी सम्भावना को भी कम कर दिया है।

मानव-चेतना के इस बाह्य-खण्डित रूप को लेकर विश्व का साहित्य आगे बढ़ रहा है। अतः वह एक भयंकर संशयात्मक स्थिति के मध्य से अग्रसर हो रहा है। इस स्थिति के अनुकूल यूरोप में कुछ नये दर्शनों का विकास हुआ है। यूरोपीय कविता उन दर्शनों से समझौता करके अपनी नयी दिशा बनाई है। हिन्दी की नयी कविता उसी दिशा में यूरोपीय कविता के पीछे-पीछे चलना चाहती है। अतः उसमें भी चेतना के दोनों प्रवाह स्पष्टतः दूर-दूर चलते दिखाई देते हैं। व्यक्ति-निष्ठ प्रवाह की समाज-निष्ठ प्रवाह से निरन्तर दूर होती जा रही है।

जहाँ तक व्यक्ति-निष्ठ चेतना का प्रश्न है, उसका दर्शन अस्तित्ववाद प्रभावित है तथा समाज-निष्ठ चेतना पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक है।

(ख) अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि

अस्तित्ववादी चेतना हिन्दी की नयी कविता में अधिक स्थान घेरती जा रही है। अतः अस्तित्ववाद के दर्शन को समझकर ही नयी कविता के साथ उसके सम्बन्ध को सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। यों अस्तित्ववाद का आरम्भ जर्मन दार्शनिक हरसेल तथा हेडेगर एवं डेनिश विचारक कीर्कगार्ड के तत्त्व-चिन्तन से ही हो गया

किन्तु उसका वास्तविक प्रचारक जाँ पाल सार्त्र ही माना जाता है। प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यूरोप में मानवीय सांस्कृतिक तत्त्वों के विकास एवं मानव-सभ्यता की प्रगति के प्रति अविश्वास तथा अश्रद्धा की भावनाएँ पनपने लगी थीं। फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के प्रचार ने मनुष्य की अवचेतना के भीतर निहित गन्दगी का उद्घाटन करके उसे अत्यन्त निर्बल, इच्छा-शक्ति-हीन तथा मनोग्रन्थियों द्वारा परिचालित जीव सिद्ध कर दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों की उथल-पुथल तथा द्वितीय महायुद्ध की भूमिका ने सांस्कृतिक मानव के हताश-हृदय में आत्म-विद्रोह के भाव जाग्रत कर दिये थे। इन सभी कारणों से साहित्य और संस्कृति में ह्रासोन्मुखता के तत्त्वों को पनपने का अवसर मिला। अस्तित्ववाद के मूल में ये ही तत्त्व वर्तमान हैं। सार्त्र (१९०५ ई०) ने इन्हीं तत्त्वों पर फ्रांसीसी कला का मुलम्मा चढ़ाकर द्वितीय महायुद्ध से त्रस्त विश्व को चमत्कृत करने की चेष्टा की। सीमाभ्युदय यूरोप तो शीघ्र सार्त्र की मान्यताओं की भयंकर विडम्बनाओं को समझ गया, किन्तु भारतीय जनता के दुर्भाग्य से वह अनास्थावादी जीवन-दर्शन हिन्दी के नये कवियों और लेखकों के लिए अनुकरणीय हो गया। राष्ट्रीय महासभा तथा उसके नेताओं और समाजवादी विचारकों के प्रयत्नों से जो सामाजिक चेतना भारत को मिली थी एवं जिससे हिन्दी कविता का भाव-जगत् ही समृद्ध नहीं हुआ था, शिल्प और रूप भी गौरवान्वित हुए थे, उसे अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन ने समाप्त कर देने का भयंकर षड्यंत्र रचा। वह षड्यंत्र अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। फलतः अब भी अधिकांश नयी कविता व्यक्ति-निष्ठ चिन्तन पर आधारित होकर भारतीय जन-जीवन के आन्तरिक स्वरूप को अपनी अभिव्यक्ति का विषय न बनाकर, यूरोपीय जीवन का आवरण उस पर डालने की चेष्टा कर रही है। काँफ़ी-हाउस और रेस्तराँ जैसे स्थानों से वह आवरण अपना रूप-विस्तार करता है और भारतीय जीवन की समस्त यथार्थ स्थितियों को ढँककर अस्वाभाविक बनाता जा रहा है। न तो वह आवरण भारतीय जीवन की मूल भावनाओं को स्वीकार करता है और न विकासशील चेतनाओं को ही ग्रहण करता है।

सार्त्र ने अपने साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन को निरर्थक मानने वाली विचारधारा दी है। वह तर्क को व्यर्थ और प्रभावहीन मानकर त्यागता है। ईश्वर में उसे विश्वास नहीं है। ईश्वर के प्रति अविश्वास की बात कई भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी स्वीकृत है, किन्तु सार्त्र के समान वे सम्प्रदाय समाज का तिरस्कार नहीं करते। सार्त्र ने मानव-जीवन को अवश, निरुपाय तथा निरर्थक माना है, भले ही वह उसे इस स्वीकृति के द्वारा कोई नया अर्थ देना चाहता हो। उसने समाज का तिरस्कार करके व्यक्ति को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। दार्शनिक दृष्टि से उसकी यह मान्यता कितनी ही तर्कसम्मत क्यों न हो, व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है।

सार्त्र मानव-जीवन की अवशता को नष्ट करने के लिये मानवीय स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है। वह अस्तित्व की स्थिति तत्त्व से पूर्व मानता है। उसके अनुसार जब मनुष्य कार्य करता है, तभी उसके (मनुष्य के) अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। अतः

अस्तित्ववाद में मनुष्य का चिन्तन उसके जीवन के सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता ।

अस्तित्ववादी दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह मृत्यु के सन्दर्भ में जीवन पर विचार करता है । उसके अनुसार मृत्यु जन्म के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है, अतः जीव अपने लिए कोई भी चुनाव करने को स्वच्छन्द नहीं है । कीर्कगार्ड ने यास्पर्स ने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन से मानव को इतना असहाय नहीं बनाया था, जितना सार्त्र ने बना दिया है, क्योंकि वे ईश्वर-विश्वास पर कुठाराघात नहीं कर सके थे ।

सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन ने जहाँ ईश्वर से मानव को अलग किया है, वहाँ उसे समस्त परम्परागत चिन्तन और मूल्यों से भी दूर करने की चेष्टा की है । वह न केवल मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए आतुर रहा है । अवसाद, अनास्था और निराशा से प्रेरित होकर सार्त्र का अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन कभी स्थिर नहीं रह सका । सार्त्र स्वयं ज्यों-ज्यों सोचता गया है, त्यों-त्यों वह अपने विचार बदलता गया है । अतः कहीं-कहीं सार्त्र प्रगतिवादी चिन्तन के निकट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति-निष्ठ चेतना से आक्रान्त होने के कारण वह वास्तव में प्रगतिवाद से कोसों दूर है । भले ही मानव-मुक्ति में उसे आस्था हो, किन्तु मानव-जीवन के मूल्यों एवं समाज में अनास्था रखने के कारण वह मानव-जीवन के परिवर्तित मूल्यों को खोज सकने की दृष्टि खो बैठा है ।

आत्म-चेतनात्मक स्वतन्त्रता का प्रचारक सार्त्र यह मत स्थापित करता है कि किसी परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान तभी सम्भव है, जब कि व्यक्ति की चेतना उस परिस्थिति से पृथक् होकर स्वयं को उससे पूर्णतः विच्छिन्न करके उसका अनुभव करे । मनुष्य के इस चेतनात्मक स्वातन्त्र्य से शून्य की उत्पत्ति होती है । स्वयं सार्त्र ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति का अस्तित्व ही शून्य-तत्त्व की सृष्टि करता है । उसने जिस चेतना की स्वतन्त्रता पर बल दिया है, वह भौतिक तथा यथार्थ परिस्थितियों का निराकरण करती हुई मात्र स्वानुभूति में लय होती है । इसलिए सार्त्र की दृष्टि में जीवन अर्थ-हीन वासना का पर्याय है । अतः एक तीसरा तथ्य 'घृणा' जिसे सार्त्र ने 'उबकाई' माना है, सामने आता है । यों स्वतन्त्र-चेतना, शून्यता और घृणा (या उबकाई) के तत्त्वों पर अस्तित्ववाद का वह वायवी दर्शन खड़ा है, जिसकी प्रधान देन है—अनास्था, अविश्वास, कुण्ठा, निराशा और आत्म-ग्लानि ।

पतनशील प्रवृत्तियों के आधार-तत्त्वों का निर्माण करने वाले अस्तित्ववादी दर्शन ने नग्न वासना को स्वीकार कर यौन-भावना के बीभत्स प्रदर्शन को कृतियों में स्थान दिलाया है तथा मानसिक अस्वस्थता के चरम रूप की अभिव्यक्ति की है । फ्रायड आदि के मनोवैज्ञानिक तथ्यों की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन ने उन यौन-प्रवृत्तियों को अधिकाधिक गले लगाने की चेष्टा प्रदर्शित की है, ताकि कोई फ्रायडवादी किसी भी अस्तित्ववादी व्यक्ति को यौन-वृत्तियों से उत्पन्न मनोग्रन्थियों का शिकार न बतला दे (सार्त्र यह प्रमाणित करना चाहता है कि समस्त मानव-जीवन यौन-

क्रियाओं और प्रवृत्तियों के भीतर ही समाहित होने के कारण अर्थ-हीन है)। अतः अस्तित्ववादी चेतना जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर अस्वस्थ जीवन-मूल्यों का समर्थन करती है। भारतीय दर्शन में भी कुछ ऐसे सम्प्रदाय रहे हैं, जो जीवन की ही नहीं जगत् की भी नश्वरता बतलाकर उनकी निरर्थकता घोषित करते हैं, किन्तु वे आस्थावादी स्वस्थ दृष्टि देने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिसके पीछे सामूहिकता की चेतना वर्तमान है। परन्तु अस्तित्ववादी दर्शन किसी भी स्थिति में स्थिरता का कोई बिन्दु स्वीकार नहीं करता है। इसलिए उसकी दृष्टि में जीवन एक संकट है, जिससे उत्पन्न होने वाली 'घृणा' को व्यक्ति आत्म-चेतना के विद्रोहात्मक स्वरूप से ठुकरा कर ही कोई मार्ग पा सकता है। मार्ग प्राप्ति का यह उपचार व्यक्ति को घोर अहंवादी बनाता है। यही कारण है कि अस्तित्ववादी चेतना घोर वैयक्तिक तथा 'अहं-ग्रस्त' है। सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होकर अस्तित्ववादी व्यक्ति चेतना के विराट् वृत्त में घबराया हुआ घूमता है।

(ग) नयी कविता में अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ

ऊपर हमः अस्तित्ववाद की जिन प्रवृत्तियों पर संक्षेप में विचार किया है, उनसे हिन्दी की नयी कविता पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। उसमें मानव का सामाजिक रूप तिरस्कृत होता चला जा रहा है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन-सम्बन्धों और सामाजिक चिन्तनों को अयथार्थ तथा अस्वाभाविक बताकर तिलांजलि दी जा रही है। अब तक अस्तित्ववादी जो मुख्य प्रवृत्तियाँ नयी कविता में अवतीर्ण हुई हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(१) जीवन की निरर्थकता और व्यक्ति की अवशता

व्यक्ति-निष्ठ चेतना का नया कवि जीवन के प्रति आस्था खो बैठा है। वह भयंकर अवशता का अनुभव करता हुआ जीवन के मार्ग पर अभिशप्त की भाँति निरर्थक यात्रा कर रहा है। प्रयागनारायण त्रिपाठी कहते हैं :

यह यात्रा कब आरम्भ हुई थी ?

क्यों ?

किस अर्थ से ?

किन मोड़ों से होकर इस इतिहास तक आया हूँ ?

किन्तु काल की शत-सहस्र परतों के पीछे

काली काली चट्टानों के पास झाँकने के प्रयत्न सब व्यर्थ हुए हैं।

यात्रा का कुछ स्पष्ट अर्थ

चेतना पटल पर नहीं सँवरता

लगता है धारा में बहते बहते सहसा

नाव भँवर में उलझ गई है

३४ : आलोचना

लगता है : हर नया मार्ग गंतव्य-हीन
आगे-आगे-आगे प्रतिक्षण बढ़ता जाता है
जिस पर बस चलते जाने का निष्कारण अभिशाप मिला है
मुझको
अन्त-हीन यात्री को^१

(२) क्षण का महत्त्व और विराट् काल की अस्वीकृति

अतीत, वर्तमान और भविष्य की परम्परा के प्रति अश्रद्धालु बनकर नया काल के अखण्ड प्रवाह में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह किसी एक क्षण से अपना अस्तित्व सिद्ध करना चाहता है। नयी कविता में क्षण को महत्त्व देने वाले ऐसे काल उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। कीर्ति चौधरी की एक कविता है :

मैं प्रस्तुत हूँ
इन कई दिनों के चिन्तनों संघर्षों के बाद
यह क्षण जो अब आ पाया है
उसमें बँधकर मैं प्रस्तुत हूँ
तुमसे सब कुछ कह देने को ।

×

×

×

मैं प्रस्तुत हूँ
यह क्षण भी कहीं न खो जाए ।
अभिमान नाम का पद का भी तो होता है
यह कुछ ऐसी मेरी आत्मा
पंजे फेला
असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को
उत्सुक हो बँठी है
क्या जाने अगले क्षण की ही आहट को पा
सब कुछ अपने में फिर समेट ले शट अन्दर ।^२

(३) शून्यता की अनुभूति

नया कवि अस्तित्वाद से प्रभावित होकर जीवन में शून्यता की अनुभूति कर रहा है। ज्यों-ज्यों वह व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना का समर्थक बनता जा रहा है। त्यों-त्यों वह भौतिक एवं यथार्थ परिस्थितियों का एकदम निराकरण करके शून्य महत्त्व दे रहा है। 'तिलमिलाती संध्या' कविता की कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

कभी पृथ्वी अँधेरे से
पहलू से लगी हो परछाईं जब

१. नयी कविता अंक ३, पृष्ठ २३-२४ ।

२. नयी कविता अंक ३, पृष्ठ २३-२४ । Gurukul Kangri Collection, Haridwar

आवरण से भिन्न भी कोई नग्नता है
या यह विराट् आडम्बर
नग्नता छिपाने को नहीं
पर घेरने शून्य को ।^३

(४) निराशा और अनास्था का बोध

नयी कविता में अस्तित्ववाद के प्रभाव से निराशा और अनास्था का अत्यधिक

विस्तार हुआ है । यथा :

प्रकाश के रंगीन झरने
जो असंभव ऊँचाइयों से गिर रहे हैं
पत्थर को गुदगुदा कर
एक तरल संगीत जगाकर
कहीं दूर चले जाएँगे
और तब मैं बंद आँखों के अपार अँधकार में
झूलते हुए अपने ही चित्रों को नोचकर कहूँगा
कि सब कुछ
शायद मेरे उन्माद की छाया थी,
तुम नहीं ।^४

निराशा-जन्य अवसाद में ग्रस्त मन का एक चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत

हुआ है :—

नदी है, नाव है
किन्तु यहाँ कहीं भी
रुकता नहीं पाँव है

×

×

×

भँवर के बाद भँवर
आते हैं

और चले जाते हैं
किन्तु भीतर क्या है
ऊपर नहीं लाते हैं

×

×

×

उस पार कोई हो
या न हो

पर आज

गहरी उदासी में डूबा

३. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ६३-६४ कवि अनाम ।

४. नयी कविता अंक ३ पृष्ठ ४३ कवि-कुंवर नारायण ।

३६ : आलोचना

मेरा ही मन
भीतर ही भीतर
मुझे छल रहा है ।^५

निराशा की अभिव्यक्ति इस सीमा तक पहुँची है :—

बाहर ये राहें हैं
किन्तु एक बिन्दु पर
सब में
विराम है

×

×

×

पर अब
भीतर के हर मोड़ पर
उनका पहरा है
ये राहें जहाँ पहुँचकर
बन गई हैं
ऊँची तम की दीवार ।^६

निराशा का अस्तित्वादी चिन्तन नए कवि को इस चित्रण तक ले पहुँचा है

ये हाथ
जिनमें रहते थे
फूल
अब इनमें श्वेत काँटे हैं...
जैसे बबूल ।
माथे की चिता की रेखाएँ
जो कभी थीं
पानी की लकीर
बनती जा रही हैं
पत्थर की लकीर ।^७

(५) घृणा या उबकाई की अभिव्यक्ति

सात्र ने अपने अस्तित्वादी दर्शन में जिस उबकाई (लानोसे) या घृणा जीवन की मूल सत्ता का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है, उसे नये हिन्दी-कवि पर्याप्त आत्मीयता से ग्रहण किया है । धर्मवीर भारती की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

थाहा था अनस्तित्व का सागर
पतनोन्मुख होकर ?

५. आयाम, डॉ० दिनेश, पृष्ठ १२ ।

६. आयाम, डॉ० दिनेश, पृष्ठ १४ ।

७. नयी कविता अंक १ कवि श्याम मोहन श्रीवास्तव, पृष्ठ ५१-५२ ।

दिग्भ्रम

भटकन

सीलन

कौचड़ काई

पाप उबकाई के

स्तर छुए थे...? ५०

(६) ईश्वर में अविश्वास और 'अहं' का विस्तार

नयी कविता में अस्तित्ववाद के प्रभाव से 'ईश्वर' का अस्तित्व अस्वीकार किया गया है। कवि अपनी नई दृष्टि और विवेक पर गर्व करता हुआ झूठे 'अहं' में फूल रहा है। निश्चय ही प्रगतिवादी दृष्टि को साथ लेकर कहीं-कहीं नये कवि ने अपने अस्तित्ववादी अविश्वास को अनजाने समाज-हित में नियोजित कर दिया है, किन्तु वह स्वतः ईश्वर की अस्वीकृति में अपने 'अहं' के प्रति ही अधिक सजग है। विजयदेव-प्रयाण साही की निम्नांकित कविता इस संदर्भ में प्रस्तुत है :—

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?

बंजर मिट्टी

पंगु तरलता

झूठी ज्वाला

रुद्ध हवाएँ

×

×

×

प्रथम बार जब तुमने झूठा ईश्वर देखा
मानव के घायल मस्तक की साक्षी देकर
मैंने अस्वीकार किया था ।

×

×

×

नबी तुम्हारी कुण्डलों से निर्मित प्रभुता
केवल आत्मा की तेजाबी आभा थी, जो
जीती नहीं कलंकित होकर
मुर्दा परतों पर कुम्हलाया जहर छोड़कर
कुछ दिन बाद उतर जाती है ।^६

(७) यौन-भावना का नग्न रूप

अस्तित्ववाद के प्रभाव से यौन-भावना अपनी समय नग्नता के साथ नयी कविता में प्रस्तुत होना चाहती है। फ्रांज़ आदि मनोविश्लेषणवादियों को नया कवि चुनौती देता है कि अब हमारी समस्त प्रयाण-कुण्डल अपनी परिधि तोड़कर अभि-नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ५७ ।
नयी कविता के प्रतिमान पृष्ठ १०१-२ से उद्धृत ।

३८ : आलोचना

व्यक्त होने को प्रस्तुत है। अज्ञेय से लेकर पन्त तक ने नग्न यौन-चित्रण प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत नयी कविता के प्रतिनिधि संग्रह "कला और बूढ़ा चाँद" (पंत) में इस प्रकार की नयी कविताएँ मिलती हैं। पत्रिकाओं में तो ऐसी कविताओं के उदाहरण आये दिन मिल जाते हैं। अतः नग्न यौन-चित्रण के प्रमाण देना यहाँ अभीष्ट नहीं हैं।

(घ) अस्तित्ववाद का नयी कविता पर शुभ प्रभाव

अब तक हमने नयी कविता पर अस्तित्ववाद के प्रभाव का एक पक्ष प्रस्तुत किया है, किन्तु उसका दूसरा शुभ पक्ष भी है। सामाजिक चेतना से प्रभावित नयी कविता ने समूह को इतना अधिक महत्व दिया था कि व्यक्ति की उपेक्षा हो गई। अस्तित्ववादी दर्शन ने एक उपेक्षित व्यक्ति को महत्व देकर समाज की परिधि में स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्थापित किया तथा उसकी व्यक्तिगत स्थितियों को बतला कर उसके अस्तित्व का प्रकाशन किया। अतः इस दृष्टि से लिखी गई नयी कविता एक शुभ प्रभाव लेकर भी चली हैं। उनमें व्यक्ति की स्थिति को नए आयामों पर प्रस्तुत किया गया है तथा समाज में खोए हुए उसके व्यक्तित्व को नए आकारों में उभारा गया है।

(ङ) उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की नयी कविता को अस्तित्ववाद ने जिस सीमा तक प्रभावित किया है, उस सीमा तक वह भारतीय जीवन की अनुभूति से कटकर योरपीय वातावरण के प्रभावों को स्वीकार करने के लिए विवश हुई है। अस्तित्ववाद ने उसे व्यक्त के निकट पहुँचाकर कितना ही प्रोत्साहित किया हो, किन्तु वह उसे वैयक्तिक सामर्थ्य और जिजीविषा का अमृत अधिकृत नहीं कर पाया। आज हिन्दी कविता में जहाँ-कहीं भी निराशा, अनास्था, अविश्वास, घृणा आदि का चित्रण मिलता है, उसके लिए अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन बहुत कुछ उत्तरदायी है।

डॉ० छोटेलाल दीक्षी

नई कविता : क्षणवाद के सन्दर्भ में

नया कवि वर्तमान में ही जीता है। वह वर्तमान अनुभव-क्षण को ही सत्य मानता है। वह केवल अनुभूति के महत्व को स्वीकारते हुए सौन्दर्यानुभव के क्षण को ही रचना में व्यक्त करता है। उसका लक्ष्य अनुभूति के विशिष्ट क्षणों को पकड़कर के माध्यम से उन्हें स्थायी बनाना है। नई कविता के इस क्षणवाद के सम्बन्ध में

कहने के पूर्व में क्षणवाद के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलू पर विचार करना चाहूँगा।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन में सर्वप्रथम क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध-दर्शन में क्षण की सत्यता परिवर्तनशीलता के अर्थ में स्वीकारी गई है : दो क्षणों में कोई वस्तु परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती, अतएव सत्य क्षण ही है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक हैराक्लितस ने भी 'तुम उसी नदी में दो बार पैर नहीं रख सकते, क्योंकि ताजा पानी हर वक्त तुम्हारे ऊपर से बहता रहता है' कहकर क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया था। भगवान शंकराचार्य ने उत्तरोत्पादे च पूर्व निरोधात्, अनुस्मृतेश्च और क्षणिकत्वाच्च, आदि ब्रह्म सूत्रों का विश्लेषण करते हुए क्षणवाद का विरोध किया। क्षणवाद के अनुसार उत्तर क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व क्षण का नाश होता है। इस दृष्टि से पूर्व और उत्तर क्षण का कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नष्ट हुआ पूर्व-क्षणिक कार्य उत्तर क्षणिक कार्य का कारण नहीं हो सकता। अतः पूर्व क्षण का विनाश नहीं होता। अनुस्मृति से भी प्रतीत होता है कि अनुभव करने वाली आत्मा क्षणिक नहीं है। दर्शन और स्मरण में एक ही साथ दो क्षणों का सम्बन्ध प्रतीत होता है। तीनों कालों के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अव्ययी सर्वार्थ-दर्शी कूटस्थ स्थिर आत्मा न हो, तो देश-काल-निमित्त की अपेक्षा से जो वासनाओं का आधान होता है, वह और इनके अधीन स्मृति-प्रतिसन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे। वस्तुतः वर्तमान क्षण के अस्तित्व के साथ पूर्व क्षण का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता है। भूत बीते होने पर भी अपने प्रभाव के द्वारा वर्तमान में स्थिर है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने विचारों के प्रवाह पर प्रकाश डालते हुए क्षण और निरन्तरता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया उस क्षण तक के विश्व के विभिन्न अनुभवों का प्रतिफल होती है। संसार जिसका हम अनुभव करते हैं वह मेरे और भूत की चेतना के संग्रह और त्याग से बना है। वर्तमान मानसिक-स्थिति भूत के सत्यों को एक-दूसरे के साथ और अपने साथ जोड़ती है। वर्तमान विचार भूत की अपनेपन की शृंखला के वास्तविक रूप में और कानूनन रूप में उत्तराधिकारी हैं। मनःस्थिति कभी विनष्ट नहीं होती। वही विद्यमान रहते हुए नई स्थिति के परिणाम को बदलती है। डॉ० जैनेट के अनुसार हिस्टीरिया के रोगी की जब कुछ किस्म की सम्वेदना नष्ट कर दी जाती है तो उसके साथ ही भूत की एकत्रित सम्वेदना-पुंज, जो उससे सम्बन्धित होती है, समाप्त हो जाती है। वस्तुतः वर्तमान क्षण की अनुभूति मात्र वर्तमान ही की नहीं होती, उसके साथ भूत के संस्कार विद्यमान रहते हैं। आधुनिक चिन्तक हेनरी वर्गसां के मतानुसार प्रत्येक अनुभूति वह चाहे जितनी साधारण हो अपने में सम्पूर्ण भूत और वर्तमान अनुभव के अस्तित्व को संजोये रहती है। चेतना स्मृति के बिना नहीं होती। स्मृति भूत की वर्तमान में लाती है। आन्तरिक-अस्तित्व स्मृति के जीवन की निरन्तरता है। वर्तमान निरन्तर अपने गुणों को बदलते हुए उम्र के बढ़ने के साथ हमसे भारी बोझा ढुलवाता

है। हमारी बौद्धिक चेतना ठोस अनुभव, ज्ञान और स्थिर अवधारणाओं के साथ बढ़ती है। हमारा भीतरी जीवन एक साथ गुणों की विभिन्नता, प्रगति की निरन्तरता और दिशा की एकता को संजोये रहता है। प्रत्येक वस्तु अवधारण को महत्त्व के पर आधारित है। वस्तु की अवधारणा अपने-आपमें महत्त्व की नहीं है। यह महत्त्व की अवधारणा और वस्तु के बीच की मध्यस्थता करती है। विचार प्रायः अवधारणा के वस्तु न कि वस्तु से अवधारणा की ओर गुजरते हुए बनते हैं। अवधारणा निरन्तरता का प्रतीक है। विचारों के बनने में अवधारणा से वस्तु की ओर आया जाता है, अतएव किसी वस्तु से सम्बन्धित विचार क्षणिक अनुभूति पर आधारित नहीं है।

क्षणवादी चिन्तनधारा के अनुसार जीवन एक प्रक्रिया अथवा आन्तरिक सम्बन्धों का बाह्य सम्बन्धों के साथ निरन्तर सामंजस्य है, प्रक्रिया जीवन की लालसा, घृणा, ईर्ष्या, लोभ और इसके प्रमुख सिद्धान्तों में कहीं टिकती नहीं है क्योंकि उसमें स्थायित्व नहीं है। आधुनिक कला में क्षण का महत्त्व प्रभाववाद के कारण स्वीकारा गया। प्रभाववाद में प्रत्येक अवस्था को क्षणिक माना गया जिसकी पुनरावृत्ति कभी नहीं होती। कवि और चित्रकार भी केवल अपनी एक मनःस्थिति को, न कि व्यावहारिक जगत के तन्त्रात्मक विस्तार को, रचना में व्यक्त करता है।

आधुनिक युग में क्षण के महत्त्व के प्रतिपादन का कारण यान्त्रिक प्रगति के द्वारा जीवन-चेतना में आया शीघ्र परिवर्तन है जिसके कारण स्थायित्व और निरन्तरता के स्थान पर क्षण ही सत्य दिखाई देने लगा। क्षण के महत्त्व की प्रतिष्ठा में आधुनिक जीवन की भयानकता भी सहायक हुई। आधुनिक मानव के भीतर से ईश्वर और धर्म के प्रति विश्वास जाता रहा। वह धीरे अनिश्चय और जीवन की दुर्दान्त विभीषिकाओं के समक्ष अपने को असहाय पा रहा है। कुछ उसके भीतर अज्ञात भय का एक स्थायी वास हो गया है। उसे सब कुछ क्षणभंगुर लगता है। अतएव वह क्षण ही केन्द्रित हो गया है।

प्रश्न यह है कि काव्य में अनुभूति के क्षण को महत्त्व देना कहाँ तक उपयुक्त है, रचना का लक्ष्य अनुभूति के कतिपय क्षणों को निरन्तर बनाना या तात्कालिक प्रभाव डालना हो अथवा नैतिक या सांस्कृतिक उत्कर्ष प्रदान करने वाले सामाजिक जीवन के स्थायी प्रेरक तत्त्वों की अभिव्यक्ति हो। यह सत्य है कि सौन्दर्यानुभव का क्षण रचनाकार के लिए स्थायी महत्त्व का होता है। बाह्य संघात से प्राप्त अनुभव सौन्दर्यानुभव के विशिष्ट क्षणों में अनुभूति बनते हैं और बाह्य माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर रूप पाते हैं। सौन्दर्यानुभव के इन विशिष्ट क्षणों में हमारी संवेदना निजता से कटकर सार्वजनीनता के स्तर पर आ जाती है, हम अपनी संवेदना का विश्लेषण सार्वजनिक संवेदना के रूप में करने लगते हैं। सौन्दर्यानुभव के इसी क्षण की अभिव्यक्ति रचना में की जानी चाहिए। जो सौन्दर्यानुभव के इस क्षण की अभिव्यक्ति न करके निजी क्षणिक अनुभवों को व्यक्त करता है या विभिन्न मतवादों में बँधकर नारेबाजी करता है वह अपनी रचना के प्रति ईमानदार नहीं होता।

सौन्दर्यानुभव के क्षण और अनुभव के क्षण में अन्तर है। रचनाकार सौन्दर्या-

अनुभव के क्षणों में अपनी संवेदना को सार्वजनीन स्तर पर रखकर अपनी भीतरी जीवन दृष्टि के अनुसार उसका विश्लेषण करते हुए उसे रूप प्रदान करता है। भीतरी जीवन दृष्टि कवि की जीवनी-शक्ति का प्रतीक होती है। मृजक की जीवन-दृष्टि के निर्माण में केवल वर्तमान, जिसमें वह जीता है, का ही हाथ नहीं होता। जीवन-दृष्टि के निर्माण में अतीत के विभिन्न अनुभवों के साथ ही मुख्य होता है अपने उस विवेक का जिसके अनुसार वह सम्यक् संगत, असंगत, अच्छे, बुरे का विश्लेषण करता है। अपनी संवेदना को सार्वजनीन स्तर पर रखकर अनुभव करने की क्षमता तो सभी में होती है। हम अनेक स्थितियों में अपनी संवेदना को सबकी बनाकर सोचते हैं। कलाकार की विशेषता सार्वजनिक स्तर पर आई संवेदना का अपने जीवन के निजी दृष्टिकोण के अनुसार विश्लेषण कर रूप प्रदान करना है। तब वह संवेदना क्षण की नहीं रह जाती वरन् समग्र जीवन के रस से संपृक्त हो जाती है।

साहित्यकार का व्यक्तित्व निरन्तर उसके साहित्य को प्रभावित करता है। अपवादों को छोड़कर यह सत्य नहीं माना जा सकता कि साहित्यकार के चरित्र या व्यक्तित्व के साथ उसकी रचना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। साहित्य में उसके सर्जक साहित्यकार के खुले हुए अन्तःकरण की सहज प्रतिछवि देखी जा सकती है।

जो कवि जीवन के व्यापक अनुभव, जिससे उसकी भीतरी दृष्टि का निर्माण होता है, को छोड़कर केवल वर्तमान क्षण में जीना चाहता है, मुक्तिबोध के शब्दों में वह अपने समस्त व्यक्तित्व को भूमिगत करके ऊपरी सतह पर उछाले गए बिन्दुओं में अपने को तृप्त मान लेता है। वह समग्र मानव-सत्ता को छोड़कर क्षण को, उसके विशिष्ट अनुभव को महत्त्व देता है। वह जीवन के उस आत्म-रूप से कटता है जो उस क्षण को उत्पन्न या आविर्भूत करते हैं। वास्तव में क्षण-सत्ता की परिधि से बाहर न जाना अपने प्रति वैश्यानी है और रचना को व्यापक जीवन-संवेदना से रिक्त करना है।

वर्तमान अनुभव-क्षण की परिधि में ही रहने वाले, भीतरी जीवन-दृष्टि से हीन आज के कतिपय कवियों को आधुनिक जीवन में अनिश्चय, अविश्वास, भयानकता, संयास, आशंका, व्यग्रता, अकुलाहट के तत्त्व ही मिलते हैं। निश्चय ही ये सारे तत्त्व बाज के जीवन में हैं पर, केवल यही नहीं है और सब कुछ यही नहीं है। आधुनिक जीवन दृष्टि में इन्हीं को सब कुछ मान लेना भ्रामक और गलत दिशा में सोचना होगा। जो नितान्त क्षण-धर्मी न होकर व्यापक अतीत के अनुभव से प्राप्त जीवन-दृष्टि के आधार पर युग-जीवन का विश्लेषण करेगा उसे निश्चय ही आज के जीवन में केवल अकुलाहट और व्यग्रता ही न मिलेगी। इस सारी अव्यवस्था के बीच भी कहीं कुछ हो रहा है जो व्यवस्था और सृजन का प्रतीक है। प्रसाद ने तप को 'क्षणिक दीन अवसाद' की संज्ञा दी। अकुलाहट और व्याकुलता भी जीवन का स्थायी तत्त्व न कभी रहा है और न रहेगा। जीवन की भीषण विभीषिकाओं के बीच भी व्यक्ति में आशा और आह्लाद की किरण रहती है :

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।

हम डॉ० देवीशंकर अवस्थी के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि आज का व्यक्ति जिन्दगी के पास विश्वास भरी आस्था से नहीं आता। वास्तव में जिन्दगी प्रति यह विश्वास भरी आस्था ही उसे प्रगति की ओर उन्मुख होने और श्रेष्ठ मानव-मूल्यों के लिए जूझने की शक्ति और साहस प्रदान करती है। यहाँ मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन की कटुता को न व्यक्त किया जाय। उस कटुता को व्यक्त करने के क्षण की अनुभूति या केवल अनुभूति को मात्र महत्ता न देकर अतीत के व्यापक अनुभव से समन्वित विवेक-युक्त जीवन-दृष्टि को महत्त्व दिया जाय। मूल्यहीनता का संकेत करके बुराई की शक्ति नापते हुए, नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करना उपादेय और आवश्यक है। यह क्षणधर्मी कलाकार नहीं कर सकता। क्योंकि यह मूल्य-हीनता का अपनी जीवन-दृष्टि के अनुसार विवेचन करने पर ही सम्भव होगा।

मुक्तिबोध का सारा काव्य इसका सही प्रमाण है कि क्षण की अनुभूति या केवल अनुभूति अथवा सौन्दर्यानुभव का क्षण ही नहीं वरन् जीवन की दृष्टि को सौन्दर्यानुभव का विश्लेषण करके उसे रूप देती है वही रचना को सार्थकता प्रदान करती है। मुक्तिबोध की कविताओं में अनुभूति के साथ गहरी और व्यापक चिन्तन प्रक्रिया चलती है। उनकी कविताएँ भी जीवन की भीषणता और कटुता को व्यक्त करती हैं पर, जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं की तरह केवल अनास्था और कटुता को ही नहीं, जिनमें विश्लेषणात्मक जीवन-दृष्टि का अभाव है।

यहाँ तो सभी चेहरों पर चढ़ा है मायूसी का पलस्तर

नल हीनों का क्रदन

मुझे ले चलो इस खोखली नगरी से बहुत दूर

मेरी अस्थियाँ गल रहीं हैं

मेरी जिन्दगी उखड़ रही है

छूट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें ॥ प्रारम्भ

मुक्तिबोध अपनी एक कविता में संयुक्त परिवार की कटुता और विघटन का संकेत करते हुए भी एक ऐसी दृष्टि देते हैं जो हमें अपने पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरणा देती है।

अजीब संयुक्त परिवार है—

अपने ही वक्ष को

खुरदुरा-वक्ष-धड़

मान कर घिसती है, घिसते हैं

अपनी छाती पर ज़बर्दस्ती

विष दन्ती भावों का सर्प-मुख।

विद्रोही भावों का नाग-मुख

रक्त प्लुत होता है।

चेहरे के भाव सरोमृप होते हैं,
 आँखों में जहर का नशा रंग लाता है ।
 बहुएँ मुडेरों से कूद अरे ?
 आत्म हत्या करती है ??
 ऐसा मकान यदि ढह पड़ा,
 हवेली गिर पड़ी,
 महल धराशायी, तो
 बुरा क्या हुआ ?

+ +
 लेकिन, दबी धुक-धुकियों,
 सोचो तो कि
 अपनी ही आँखों के सामने
 खूब ? हम खेत रहे ।
 खूब काम आए हम ??
 आँखों के भीतर ही आँखों में डूब-डूब
 फँस गए हम लोग ??
 आत्म-विस्तार यह
 बेकार नहीं जायेगा ।
 जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से
 शरीर की मिट्टी से धूल से
 बिलेंगे गुलाबी फूल ।

आज के कवियों में केदार नाथ अग्रवाल, कुंवर नारायण, नागार्जुन, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह आदि अन्य विभिन्न कवियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व इसीलिए रखते हैं क्योंकि उनकी कविताएँ केवल क्षण की अनुभूति या अनुभूति को ही नहीं व्यक्त करतीं वरन् अनुभूति के साथ ही व्यापक जीवन-दृष्टि को भी सामने रखती हैं । उनकी कविताओं को सार्थक बनाती हैं ।

आचार्यों ने काव्य के तत्त्वों की विवेचना करते हुए शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना, तत्त्वों के साथ विचार-तत्त्व या बुद्धितत्त्व को भी महत्त्व दिया है । यान्त्रिकता के साथ आज के जीवन में जटिलता आई है जिससे जीवन की संवेदनाएँ भी जटिल हो गई हैं । इन जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति केवल क्षण-धर्मी बनकर नहीं की जा सकती । अनुभूति को सही रूप प्रदान करने वाली व्यापक जीवन-दृष्टि के अभाव में रचनाकार युगीन जीवन-चेतना की सही अभिव्यक्ति नहीं कर सकता और इसके बिना उसकी रचना में वह पैनापन नहीं आ सकता जो हमारे भीतरी जीवन के पतों का उद्घाटन कर हमें अपने विषय में पुनः विचार करने के लिए प्रेरित कर सके । वस्तुतः क्षण के साथ निरन्तरता, अनुभूति के साथ व्यापक जीवन-दृष्टि-संवेदना रचना को सार्थकता प्रदान करने वाले आवश्यक तत्त्व हैं ।

विजय बहादुर सिंह

नये कवि का दृष्टिकोण

नये के नाम पर इधर बहुत कुछ लिखा गया है। जितना लिखा गया है उसी अनुपात में भ्रम का फैलाव भी हुआ है। हर लेखक चिन्तन के स्तर पर नई माँग करता है, हर चीज की अपने ढंग से परिभाषा देना चाहता है और उसी के सहारे सम्पूर्ण नव-लेखन को बाँधने की कोशिश करता है। नवलेखन की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। उसे सही माने में किसी परिभाषा में बाँध सकना आज असम्भव है। उसके अनेक दिगन्त और छोर हैं। काव्य रचना को ही यदि लें तो कई विभाजक रेखाएँ खींची जा सकती हैं। कुछ लोग अब भी जीवन की मार्दवता, भास्वरता एवं प्रकृति की रमणीयता से प्रेरित एवं प्रभावित हैं जबकि दूसरे लोग एकवारगी कविता ही इसलिए लिख पाते हैं कि जीवन में ढेर सारी कुरूपता, नग्नता एवं भयंकरता उन्हें संवेदन देती है। कुछ लोग ग्रामीण जीवन परिवेश को महत्व दे रहे हैं तो कुछ आधुनिक भावबोध का नारा बुलन्द करते हुए सतही नागरिक-जीवन की अनुभूतियों में डूब गये हैं। इन अनेक दृष्टियों के बीच रचनाधर्मी कविता और सही आधुनिक भावबोध को पहचानना आसान नहीं रह गया है। किन्तु यह पहचान जरूरी है। आखिर किसे कब तक इस अपरिचय में भटकना पसन्द है? निश्चय ही आज की कविता की मूल दृष्टि को पहचानना होगा। यह इसलिए भी जरूरी है कि जो रचनाकार इस नयी दृष्टि से सम्पन्न हैं वे निश्चित रूप से आज के विविधतापूर्ण जीवन को बहुत ईमानदारी के साथ भोग रहे हैं और यह भी कहा जा सकता है कि इन सारी स्थितियों ने उनके जीवन और व्यक्तित्व पर प्रश्न-चिह्न जैसा लगा दिया है। उनमें हताशा नहीं और न भावी विजय के प्रति दम्भ ही है। और न कुछ वैसा जो उनके व्यक्तित्व को लिजलिजा बना दे बल्कि वे सब बड़े धैर्य के साथ रुढ़िग्रस्त व्यवस्था के गुजरते हुए कारवाँ को देख रहे हैं और आगाह कर रहे हैं अपने समाज और राष्ट्र को कि वह समूहले और इस अत्याचार का विरोध करे। यह विरोध भाव ही मुझे दृष्टिगत नवीनता का पर्याय लगता है जिसकी पुष्टि मैं अ-कविता, अ-कहानी जैसे शब्दों के द्वारा कर सकता हूँ।

‘माध्यम’ में प्रकाशित एकाध निबंधों में ‘अनुभववाद’ जैसी-निष्पत्तियाँ आधुनिक लेखन के संदर्भ में प्रस्तुत की गई हैं और उन्हें उसका बुनियादी दर्शन स्वीकार किया गया है; किन्तु यह ‘अनुभव’ वैयक्तिक प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो नयी कविता की एक सीमा की ओर इंगित करता है। मुक्तिबोध जैसे समर्थ विचारक और कवि ने इसी प्रकार की काव्य-रचनाओं को ‘पर्सनल सिचुएशन’ की कविताएँ कहकर उनके सीमित-संकुचित दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है। यही नहीं और भी आरोप लगाते हुए उन्होंने उसकी असंतुलित भूमिका के प्रति अपनी खीझ व्यक्त की है और सम्पूर्ण जीवन और साहित्य में ‘अनिवार्य मूल्यगत आवयवकता’

का स्पष्ट आग्रह किया है। मुझे लगता है इधर की सभी कविताएँ इस आग्रह से रिक्त हैं। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि इन कविताओं में कोई दृष्टि नहीं है बल्कि यह लेखन संक्रान्ति-संघर्ष का लेखन है। संक्रान्ति-क्षण में उसकी पीड़ा को भोगने वाले कवियों की एक लम्बी कतार यहाँ की पत्रिकाओं में देखी जा सकती है। इस पीड़ा का कारण वह वंजर व्यवस्था है जो कुछ भी उगाह सकने में अक्षम है। ऐसी स्थिति में पूरी सम्बन्ध निष्ठा से संक्रान्तिकालीन अनेक दृष्टि प्रतिमानों पर नये निर्माण की आशा लगाये हुए अनेक कवि अपनी खीझ और आक्रोश व्यक्त कर रहे हैं। श्रीराम तिवारी और कैलाश बाजपेयी की कविताओं को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है। श्री तिवारी जहाँ-जहाँ इस जीवन की विरूपताओं की भीषणता में पीड़ा भरे मन से डूब गये हैं और उसीके व्यक्तित्व को सही प्रस्तुति देने की चेष्टा करते हैं वहीं कैलाश बाजपेयी के शब्दों में एक ताप है जो कुछ तोड़ने के लिए तिलमिला रहा है। दोनों के एक-एक उदाहरण मेरी बात को और भी स्पष्ट कर सकेंगे :

एक साजिश हुई है इन दिनों

कि सत्ताएँ और प्रवंचनाएँ

सर्जना से बड़ी हो गई हैं

तिवारी जी की यह साजिश भोग की पीड़ा कैलाश बाजपेयी को क्षुब्ध कर देती है और उनकी चेतना का आक्रोश इन शब्दों में फूट पड़ा है :

जहाँ हर यात्रा का अर्थ

दुर्घटना है

और अस्पतालों में मृत्यु अधिक निश्चित है

उस निचूड़े देश के

किसी घिरे घर से

एक धड़हीन कण्ठ आवाज देता है

सुनो सुनो ! दूर देश के लोगो—

मुझे शर्म आती है कहते—

कि मैं भारतीय हूँ—

तरसे हुए देश के एक जागरूक बौद्धिक व्यक्तित्व की इस खीझ को यों ही टाला नहीं जा सकता। इन दोनों कवियों में विपर्यस्त जीवनस्थिति का सही बोध देखा जा सकता है। यहाँ इनकी 'दृष्टिचर्चा' के सन्दर्भ में या इनकी काव्यगत सच्चाई के सन्दर्भ में इन्हीं पंक्तियों की साक्षी दी जा सकती है। नयी कविता की वास्तविक दृष्टिमता यही है कि वह इस जीवन के बीच चिपकी हुई तमाम अर्थहीनता का भण्डा-फोड़ करे। इस वंजर और ढकोसलावादी व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट करना तथा उसके धराशायी होने का स्वप्न देखना ही सही आधुनिक बोध है। नये कवि धूमिल की रचनाओं में यह आक्रामकता व्यंग्य स्तर पर उभरी है। वैसे व्यंग्य की प्रवृत्ति नयी कविता के लिए कोई नवीनता नहीं है, किन्तु यह ऐसी स्थिति है जहाँ कवि केवल व्यंग्य नहीं करता बल्कि उसके व्यंग्य छेड़-छाड़कर अगले को उत्तेजित करने के लिए

होते हैं जिनसे उन पर आक्रमण करने का एक ईमानदार अवसर मिले ।

धूमिल की विशेषता केवल यही नहीं बल्कि वे उसकी निरर्थकता को भी प्रमाणित करने की कोशिश में हैं । उनकी शब्दावली को देखने पर ज्ञात होगा कि किस प्रकार वे आभिजात्य की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं । जो एक संकोच और लिहाज है वह धूमिल की प्रकृति नहीं । वे अपने रचनाधर्म के प्रति अत्यधिक ईमानदार हैं । इन सभी कवियों में जो आलोचनशक्ति है वही इनकी मूल बात नहीं । बल्कि इनकी मूल बात किसी नये निर्माण की कामना है और यह नया निर्माण आकाश में तो होने से रहा । फिर नया कवि इतना अधिक कल्पनावादी भी नहीं है । इसलिए इस निर्माण के पहले उसे प्राक्तन जीवन के नास्तित्व का बोध-निरीक्षण जरूरी है । दूधनार्थसह की इन पंक्तियों में यह बोध कितना सही है :

लेकिन कहीं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
कोई इतिहास नहीं, कोई आतंक नहीं, कोई यादगार
या कोई स्मारक नहीं ।

‘तैमूरलंग’

नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में उठे हुए अनेक मतवादों और पीढ़ियों में यह अविश्वास और पुराने के प्रति अनास्था गहरी होती जा रही है, यह शुभ लक्षण है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नयी पीढ़ी की यह अनास्था उस विघटित जीवन-चेतना के प्रति है जो उसका साथ नहीं दे पा रही है । जीवन को तेजी से भागते हुए देखकर जो लोग किसी किनारे खड़े होकर प्रतीक्षा करना चाहते हैं वे करें या बलराम की तरह कन्धे पर हल रखकर तटस्थता का फलसफा झाड़ना चाहें तो झाड़ें पर इससे कुछ होने वाला नहीं है । सक्रियता आज की सबसे बड़ी माँग है । निर्माण और क्रान्ति को जन्म देने वाले लोग इस सक्रियता को जीने के लिए विवश है यद्यपि वे इसे उत्साह के साथ अपनाए हुए हैं । यह और बात है कि अनेक वैचारिक मतवाद और रास्तों का चलन इस समय अत्यधिक हो गया है । विवेकशील होते हुए भी संशय और द्विधा का क्षण हम पर कहीं-न-कहीं हावी हो ही जाता है; किन्तु इसे गतिरोध नहीं कहा जा सकता । इस सम्बन्ध में साहित्य के शीर्षस्थ चिंतक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन याद किया जा सकता है—‘मतभेदों का होना संशय या चिंता की बात नहीं है बल्कि एक सीमा तक स्वागत-योग्य भी है । किसी भी साहित्य में सार्वत्रिक मतैक्य का होना चिन्ता की बात अवश्य है, क्योंकि इससे साहित्यिक अगतिकता की सूचना मिलती है । जनतांत्रिक व्यवस्था के देश में मतभेदों का होना, यदि मतभेद स्वस्थ हैं, जीवन्त प्रगति की निशानी है ।’ अनेक कवि और कथाकार इसी स्वस्थ मतभेद में जी रहे हैं और सबका अपने पर विश्वास है यद्यपि इसका अर्थ औरों पर अविश्वास नहीं होता । इसीलिए यह संघर्ष वैयक्तिक भूमिकाओं का संघर्ष है जो किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है । दूसरे, आज के जीवन की विविध भूमिकाओं में सम्पूर्णता की हामी न तो भरी जा सकती है और न वैसा सम्भव है । सम्पूर्णता को जीने और अभिव्यक्ति देने का प्रयास फ़िलहाल एक व्यक्ति नहीं कर सकता आगे की राह जाने ।

इसीलिए जो जितना कुछ भोग रहा है उसे सच्चाई के साथ रख रहा है चाहे वह कुमारेंद्र पारस नाथसिंह हो या पद्मधर त्रिपाठी और ओम प्रभाकर हों या अजित पुष्कल और नहीं तो कान्ता, ममता अग्रवाल और नीलमसिंह। इनसे अधिक की माँग करना एक अतिरिक्त माँग है।

इसके मूल में साहित्यकार का अपना व्यक्तित्व और उसकी जीवन-स्थितियाँ और परिवेश भी है। ये न केवल उसके रचनाक्षेत्रों की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं बल्कि उसके मूल चिन्तन को प्रभावित भी करते हैं। निश्चय ही मैं यहाँ कोई वादी भूमिका की बात नहीं कर रहा हूँ, यद्यपि यह बात किसी 'वाद' से जुड़ी हुई हो सकती है। आज का रचनाकार दिन-रात एक समूह से गुजरता है—जो गया-गुजरा नहीं है, किन्तु उसके अपने पारिवारिक दायित्व और मँहगी जीवन-व्यवस्था उसे गरदन मोड़ने की फुरसत नहीं देते। लेखक या कवि इसी समूह के पीछे दौड़ रहा है। उसे आत्म-विश्वास देने के लिए। शायद यह उसकी बात माने या स्वीकार करे। इसीलिए वह इस पर अपना राग-द्वेष उसी प्रकार व्यक्त करता है जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र पर। नये कवि की मित्रता इसी समूह से है। आज की कविता की यही सामाजिक भूमिका है। कवि विवश है इसके साथ चलने के लिए क्योंकि उसका प्यार, उसकी घृणा, उसका क्रोध और उसकी प्रसन्नता के चारों ओर एक भीड़ फैली हुई है जो इन्हें अस्तित्व देती है। भीड़ में होने के कारण ही वह इतना 'बोल्ड' है। उसकी कविताओं में जो सीधी पहुँच (डायरेक्ट एप्रोच) है वह इसीलिए। घुमा-फिराकर बात को कहना उसकी प्रतिभा का अपव्यय है। यह और बात है कि वह सपाट कथन न कर संकेत-कथन का सहारा लेता है।

आज की नव्यतम कविता की यही स्वीकृति है। कहानी-लेखन ने यद्यपि एक प्रतिस्पर्धी भूमिका का निर्माण कर दिया है फिर भी चिन्तक की लाचारी उसे काव्य के पास आने को विवश करती है चाहे वह मुक्तिबोध हों या अज्ञेय, धर्मवीर भारती हों या कुँवर नारायण। आज का पाठक इस स्थिति को पूरी तरह समझता है क्योंकि वह स्वयं इसी जीवन से जी रहा है। अब किसी भी कवि को यह कहने की विवशता नहीं भोगनी होती—'फूल लाया हूँ कमल के क्या कहूँ इनका'। पाठक कवि के समानान्तर हैं। वैसे जो समानान्तर नहीं हैं उन्हें यह सब कुछ इस लोक का नहीं लगता। उनकी आँखों में एक अर्थहीन विस्मय का भाव झलकता है; किन्तु जो इस सामाजिकता को सही अर्थों में जी रहे हैं और जिनमें अपने अनुकूल निर्माण करने की आकांक्षा है—न कि स्वयं परम्परित व्यवस्था के प्रति समर्पित हो जाने की विवशता—उन्हें एक तिक्तता का अनुभव बार-बार होता है। नई पीढ़ी को साफ़ साफ़ दिखाई दे रहा है कि जो प्रचलित सत्य है वह अन्ततः एक बड़ा भारी झूठ है और वह इस लिए है कि झूठ की मूल्यवत्ता सुरक्षित रह सके। मूल्यों के अवमूल्यन की यही स्थिति है जिसे हम या हमारी पीढ़ी सहज ही मान नहीं लेगी बल्कि उसको नये सिरे से ईमानदार आकार देगी। ऐसा करते हुए उसे एक अपरिचय की स्थिति से गुजरना होता है जिसको पार करके उसे सम्पूर्ण बिखरे हुए को पुनः सहेजना है—यह सम्पूर्ण

४८ : आलोचना

बिखराव अनेक आयामों पर लक्षित होता है जिसे एक सन्तुलित आकार देना युग का कवि-धर्म है। कठिनाई कम नहीं है—कवि शलभ की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

दोड़ते अनगिनत प्रश्नों की कतारें

कैसे जाने दें ? कैसे किंचित विरमने को कहें ?

किसको पुकारें ?

सभी चेहरों पर बँधे हैं मुँह चिढ़ाते हुए दर्पण ।

यह केवल 'शलभ' की परेशानी नहीं—हम सबकी है—इसे हम सभी देख रहे हैं। इतिवृत्तता के बीच भी कवि की सहेजने की यह आकांक्षा एक नये यथार्थपरक आकांक्षालोक का निर्माण करती है।

इस तिक्तता के मूल में आज के कवि की सामाजिक जागरूकता और वैयक्तिक सामंजस्य की समस्या भी प्रमुख है। छायावादी कवि ने अपने को बहुधा अतीत और भविष्य के छोरों के बीच फैलाया है—उसके सामंजस्य की समस्या इसीलिए उतनी प्रकट नहीं हो पाई—यद्यपि निराला इसके अपवाद रहे हैं। नया रचनाकार चाहे कथाकार हो या कवि—इस सामंजस्य को तात्कालिक वर्तमान में चाहता है। व्यवस्था की प्राचीन प्राचीरों में यह सम्भव नहीं दीखता और वह अतीत या भविष्य की ओर प्रत्यावर्तन करने को भी तैयार नहीं। उसके असामंजस्य या विरोध का दूसरा कारण अन्तर्राष्ट्रीय धरातल का उभरना है। समग्र मानव-जाति का जीवन उसके सामने खुली हुई पुस्तक की भाँति पड़ा है। अनेक साम्प्रदायिक आवेशों से मुक्त होकर उसकी दृष्टि इस ओर जाती है। उसके लिए मनुष्य केवल मनुष्य ही है। वह सम्प्रदायों में धर्मों और आस्तिक उन्मादों में नहीं बाँटा जा सकता। अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों की नई पीढ़ी तथा भारत की नई पीढ़ी की मंत्री का, आपसी आदान-प्रदान का यही कारण है। अब तक भारतवर्ष की नई पीढ़ी ने दर्द को झेला था; किन्तु दर्द के अव्यवस्था के मूल कारण पर प्रत्यारोप या उसको ढहाने की चेष्टा नहीं की थी। स्थिति इससे आगे बढ़ गई है। व्यक्ति व्यक्ति की पीड़ा आज सामूहिक आद्वान का रही है—उस भीड़ को छाँटने के लिए जो अर्थ की जड़ता तक पहुँची हुई है—

हमारे बीच

एक भीड़ फिर पंदा हो गई

किन्तु अब भी हमारे पास चिनगारी है

चलो। धुआँ उठाएँ।

अपना होना तो इन्हें महसूस होने दें।

यह भीड़ शाखाओं से फिसलेंगी गिरेगी।

और शताब्दियों से चिपकी हुई

अर्थहीनता छंटेगी

फुनगियों पर शायद फिर कोई नया अर्थ उभरे, आओ।

चलो धुआँ उठाएँ।

आज की कविता का यह संकल्प-स्वर ही उसकी दायित्व-निष्ठा और आत्मसाक्षात्कार का प्रमाण है। उसके स्वर में एक संयत और विवेक-सम्पन्न विरोध है जो 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' जैसे निवेदन से भिन्न है। निवेदन उसकी पूर्वज पीढ़ी ने बहुत किया है। वह तो पूरे विश्वास के साथ अपनी आँखों देख रहा है—

दीवार पर कोई जमने लगी है

दो-तीन अंकुर फूट निकले हैं

पत्ते झूलने लगे हैं

शायद कभी बैजनी रंग का फूल भी खिलेगा।

दीवार की पिछली तरफ

खिड़कियाँ हैं

खिड़कियों पर लटकते हुए पदें।

एक दिन

शायद आँधी बोले—खुल जा सिम सिम।

कितनी आशा और कितना विश्वास अपने भविष्य के प्रति इस पीढ़ी में है उसे 'नवल' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है।

नये कवि का यह दृष्टिकोण भावुक दृष्टिकोण नहीं है। तात्कालिकता से वह उतना सम्बद्ध नहीं है जितना एक समग्र ऐतिहासिकता से। इसलिए वह समसामयिक से कहीं अधिक आधुनिक है। आधुनिक होना कोई फ्रैशनवाली बात नहीं रह गई है बल्कि यह तो उसकी आन्तरिक विवशता है। यद्यपि कुछ सतही लोग इसे खाल की तरह ओढ़ने की कुचेष्टा कर रहे हैं।

आधुनिकता को लेकर उठाये गए अनेकानेक प्रश्नों में भारतीयता और अभारतीयता का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। नया कवि या कथाकार या रचनाकार अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक निष्ठा के साथ भारतीय है। किन्तु वह अपने राष्ट्र की झूठी प्रशंसा नहीं करता। उसे न तो पूर्व के प्रति झूठा मोह है और न पश्चिम के प्रति घृणा या हीन-भाव। वस्तुतः वह सम्पूर्ण विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय चेतना को तोलने का आकांक्षी है। वह जानना चाहता है कि संस्कृतियों और वैज्ञानिक प्रगति की इस भागदौड़ में उसका अपना राष्ट्र कहाँ है? और यह तभी सम्भव है जबकि उसके लेखन में अन्तरराष्ट्रीय मूल्य उभरें। पिछले दिनों श्री सुमित्रानन्दन पंत ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि 'आज अन्तर-राष्ट्रीय मूल्यों का उभार अत्यावश्यक है किन्तु इससे राष्ट्रीय मूल्यों की कोई क्षति नहीं दीखती। उनकी क्षति वहीं है जहाँ वे अन्तरराष्ट्रीय जीवन-मूल्यों के विरोधी बनकर आएँगे—जैसे हिटलरिज्म।' उनकी यह बात आज के सन्दर्भ में एक हकीकत है और इस हकीकत को बिना हिचक स्वीकार करना चाहिए। इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम अपने राष्ट्रीय मूल्यों को अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों के लोभ में खो दें और न इसकी ही कि राष्ट्रीय मूल्यों को किसी हठवादिता तक ले जाकर अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों को अस्वीकार करें। वस्तुतः ऐसा करने का अवकाश अब नहीं रह गया है और

न कोई कर ही सकता है ।

इन सब प्रश्नों को यदि केवल रचना के सन्दर्भ में ही सोचें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रचना के ईमानदार धरातल पर कभी इस प्रकार का संकट ही उत्पन्न नहीं होता । शेक्सपीयर और कालिदास की विश्वजनीन लोकप्रियता इसका ज्वलन्त प्रमाण है । दोनों में राष्ट्रीयता के विशिष्ट मूल्यों की स्वीकृति होते हुए भी दोनों विश्व-स्तर पर बहुपठित हैं । सच तो यह है कि रचना की प्रकृति ही विश्व-जनीन होती है चाहे वह ताजमहल हो या बीनस की मूर्ति । वह एक मनुष्य की वाणी है जो अनेक-अनेक मानवों के लिए होती है । वहाँ भारतीय-अभारतीय का प्रश्न उठाना रचना-धर्म का अपमान करना है । कविता की प्रकृति का बोध जिन्हें है वे तो उसे यहाँ तक मानने को तैयार हैं—

नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती

कि वह आवेग-त्वरित काल यात्री है ।

व मैं उसका नहीं कर्ता,

पिता-धाता

कि वह कभी दुहिता नहीं होती

परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है ।

गहन-गम्भीर छाया आगमिष्यत की

लिये, वह जन-चरित्रो है ।

(पृ० १६४, चाँद का मुँह टेढ़ा है)

कविता की यह प्रकृति ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है । उसकी इस प्रकृति को पहचानकर ही हमें कुछ कहने का अधिकार माँगना चाहिए । अन्यथा समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए—वह समय—जो अपनी अन्तता में सम्पूर्ण चिन्तना को सही ऐतिहासिक प्रस्तुति देगा ।

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

नयी कविता और सामाजिक चेतना

नयी कविता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए परिप्रेक्ष्य की नवीनता, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, भाव-बोध के नये स्तर, सौन्दर्य-बोध के नए तत्त्व, यथार्थ के नए धरातल, मानव-विशिष्टता और आत्म-विश्वास के आधार, आधुनिकता आदि की बात की जाती है । उसकी ये सभी विशेषताएँ कथ्य-गत हैं । शिल्प-गत विशेषताओं की गणना कराते समय नूतन विम्ब-विधान, नयी प्रतीक योजना, नवीन सादृश्य-संयोजन, भाषा की व्यंग्यात्मकता तथा शब्द में नए अर्थों का संक्रमण आदि का उल्लेख आवश्यक हो जाता है । निःसंदेह ये सभी प्रवृत्तियाँ संख्या में इतनी अधिक हैं कि उनके होते हुए नयी-

प्राचीन का अन्तर कर पाना कठिन नहीं है। प्रथम कोटि की अर्थात् कथ्य गत-प्रवृत्तियाँ नयी कविता की आत्मा के परिवर्तन का संकेत करती हैं, तो द्वितीय कोटि की प्रवृत्तियाँ उसके शरीर की सूचना देती हैं। यहाँ हमें काव्य-पुरुष के शरीर में घटित होने वाले परिवर्तनों पर विचार नहीं करना है, क्योंकि सामाजिक चेतना का मूल अन्वय कथ्य से ही है।

नयी कविता का कथ्य नितान्त नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर रूपाकार ग्रहण कर रहा है। अतः उसमें स्थान पाने वाली हर बात नयी प्रतीत होती है। किन्तु जहाँ तक 'नयी कविता' की नवीनता से सम्बन्ध है, मेरी दृष्टि में वह चमत्कृत करने देने वाली नवीनता नहीं होनी चाहिए। युग बोध के अनुसार नये का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। आज के युग में मानव-जीवन के स्तरों और व्यवस्था-प्रवृत्तियों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे ही 'नये' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। जो कुछ युगों से घटित होता आ रहा है, किन्तु जिसे वाणी से अभिव्यक्त करने का अवसर देना उचित नहीं समझा गया, उसे अभिव्यक्त करने का अवकाश निला भी 'नयापन' है। नयी कविता इसी अर्थ में 'नयी' है कि वह उस रहस्य को उद्घाटित करने में संकोच नहीं करती जिस रहस्य ने मानव-जीवन को प्राचीनता से बांध रखा था। निश्चय ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति सामाजिक चेतना पर आघात-प्रतीत होगी। इसका एक कारण है प्राचीन काल से अबतक लिखे गए साहित्य में अभिव्यक्ति का लक्ष्य व्यक्ति रहा है, समाज नहीं; यद्यपि व्यक्ति को समाज में रखकर रखा गया है, व्यक्ति में समाज को कभी नहीं देखा गया। आज की नयी कविता के रूप में एक रूप व्यक्ति को परखता है, किन्तु समाज में रखकर नहीं, उसके व्यक्ति में ही उसे रखता है। यही इस कोटि की—व्यक्ति-निष्ठ चेतना वाली—कविता का नयापन है। किन्तु, समाज को—उसी में व्यक्ति को रखकर—परखने का काम भी नयी कविता कर रही है। यहाँ परखने से तात्पर्य जीवन की विभिन्न व्यवस्थाओं और अनुभूतियों के चित्रण से ही है। वस्तुतः यही—द्वितीय कोटि की—सामाजिक चेतना वाली कविता ही नयी कविता है, जबकि व्यक्ति-निष्ठ चेतना वाली कविता मानव-सभ्यता की बहुत पुरानी—सहस्रों वर्ष पूर्व की वैयक्तिक स्थिति पर चर्चाना चाहती है। अतः वह तथाकथित 'नयी कविता' है।

आज नयी कविता के सर्जकों में इसीलिए स्पष्टतः दो वर्ग बनते जा रहे हैं। एक वर्ग उन कवियों का है, जो समाजनिष्ठ चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं और दूसरा वर्ग उनका है, जो सबसे दो कदम आगे आने के लिए वैयक्तिकता की आवाजें उठाकर पाठकों को चौंकाना चाहते हैं। ऐसे अर्थात् द्वितीय वर्ग के नए कवियों के पास चेतने के लिए वह सब कुछ नहीं है, जिसे अपना कहा जा सके। वे चमत्कार में विश्वास करते हैं। अतः वे रूप और शिल्प का चमत्कार तो दिखाना ही चाहते हैं, कथ्य में भी चमत्कार लाने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में वे पाश्चात्य-साहित्य में पतनवाले अस्तित्ववाद आदि आन्दोलनों का ऋण लेते हैं। प्रथम वर्ग के अर्थात् सामाजिक चेतना वाले नए कवि अपने युग-जीवन की ठोस धरती पर खड़े होकर

समाज की सामूहिक आशाओं-आकांक्षाओं के मध्य अपने विराट मानव को अस्तित्व-वादी बौने मानव की तुलना में खड़ा करते हैं। निःसंदेह उनका प्रयास नयी कविता को समृद्धतर करता जा रहा है और उसीके कारण आज तथाकथित 'नयी कविता' का कूड़ा-कर्कट पर्याप्त मात्रा में साहित्य-मन्दिर में फैलने पर भी वास्तविक नयी कविता की गरिमा में ह्रास उत्पन्न नहीं हुआ है। सच पूछा जाय तो नयी कविता का आन्दोलन भी सामाजिक चेतना वाले कवियों द्वारा ही हिन्दी साहित्य में आरम्भ हुआ था। अब भी वे संख्या में कम होने पर भी नयी कविता का विकास-पथ प्रयास कर रहे हैं।

नयी कविता का यह महत्त्वपूर्ण वर्ग सामाजिक चेतना के रूप को लेकर कि प्रकार उसे समृद्ध बना रहा है, यह समझने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं। परन्तु, उसके साथ यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है कि नयी कविता का किसी 'वाद' से कोई सम्बन्ध नहीं है—चाहे वह प्रगतिवाद हो चाहे प्रयोगवाद। सामाजिक चेतना-प्रधान नयी कविता किसी वाद की संकीर्णता स्वीकार कर समाज को शोषक-शोषित या बुर्जुआ और सर्वहारा के वर्गों में नहीं बाँधती और न वह केवल प्रयोगों के लिए लक्ष्य-हीन स्थिति के शिल्प प्रयोग ही करती है। उसका एक सुनिर्दिष्ट मार्ग है कि व्यक्ति समाज का ही एक अखण्ड अंग है। अतः उसकी व्यक्तिगत स्थितियाँ, अनुभूतियाँ, चेतन-अवचेतन की विभिन्न आकृतियाँ—सब समाज के विभिन्न सन्दर्भों की ही देन हैं। अतः सामाजिक चेतना को प्रधानता देने वाली नयी कविता व्यक्ति की कुण्ठाओं, निराशाओं, अनास्थाओं आदि के घरोंदे बनाना, अनावश्यक और प्राचीनता के निकट मानती है। उसका मार्ग सुस्पष्ट है। वह व्यक्ति का भीतरी-बाहरी पूरा चित्र उतारना चाहती है, पर उसे समाज से अलग रखकर नहीं, समाज के विराट आकार में यथा-स्थान बिठाकर, ताकि उसके चित्र के समस्त सन्दर्भ भी प्रकाश में आ सकें। इस प्रकार सामाजिक चेतना वाली नयी कविता व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करती, अपितु उसे पूर्णता देती है तथा उसके साथ जल के आवर्तों की तरह घूमने वाले समाज को भी सही संदर्भों के रूप में समझना चाहती है। वह यह स्पष्ट अनुभव कराना चाहती है कि व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है, अपने परिवेशों की ही देन है। अतः व्यक्ति की चेतना का भी सामाजिक संदर्भों से कटकर अपना स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं है।

सामाजिक चेतना को नयी कविता में प्रतिष्ठित करने वाले नये कवियों का वर्ग अब भी, जबकि आज आधुनिकता के नाम पर, पाश्चात्य जीवन का हिन्दी-काव्य में बड़ी तीव्र गति से अनुवाद हो रहा है, सबसे बड़ा वर्ग है और सर्वाधिक समर्थ भी। इस वर्ग के कवियों ने समाज का महत्त्व स्वीकार किया है, समाज की व्यवस्थाओं को बदलकर नए रूपाकार देने की चेष्टा की है तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने के लिए व्यक्ति के चेतन व अवचेतन, दोनों ही रूपों का स्वस्थ रूप में अनावरण कर उन्हें समाज से जोड़ा है। अतः सामाजिक चेतना की नयी कविता बौनों का चित्रण नहीं करती, बौने में विराट का दर्शन कराती है। उदाहरणार्थ,

भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता लीजिए। इसमें बोलने वाले अवसाद और निराशा से भरा हुआ व्यक्ति पाठक को अपने भीतर की किसी अंधकारपूर्ण गुहा में दम घोटने के लिए नहीं ले जाता, बल्कि अपने माध्यम से समाज के विराट् समुद्र का कोढ़ चित्रित करता है। निम्नांकित पंक्तियों में इस तथ्य का साक्षात्कार कीजिए—

यह गीत रेशमी है
यह खादी का
यह गीत पित्त का है यह द्वादी का
कुछ और डिजाइन भी हैं, ये इल्मी—
यह लीजे चलती चीज़, नयी फिल्मी
है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप
क्या करूँ अगर लाचार हारकर
गीत बेचता हूँ।

जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।^१

विजयदेव नारायण साहू की निम्नांकित पंक्तियों में उनका नया कवि सामाजिक चेतना से शक्ति पाकर ही व्यक्ति को समूह की दृष्टि से देखता है—

सच भानो प्रिय

इन आघातों से दूट-दूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिपकर
हर आँसू कायरता की खीज नहीं होता।^२

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की निम्नांकित कविता निश्चय ही सामाजिक चेतना का एक विराट् आयाम पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस कविता का संदर्भ समाज की विभिन्न स्थितियों को छूता हुआ मानव-चेतना का विस्तार करता है तथा उसे समूह से जोड़कर जीवन की विभिन्न स्थितियों के पर्त खोलने की प्रेरणा देता है। कवि ने लिखा है—

लिपटा रजाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी
मैंने इस जीवन की गली-गली नापी
हाथ कुछ लगा नहीं
कोई भी भाव कमबख्त पर जगा नहीं
मुझसे अच्छी तुम ही
सूप उठा तुमने सब चावल फटक डाले

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ ७६ से उद्धृत।

२. " " " " पृष्ठ १२१ से उद्धृत।

५४ : आलोचना

मुझसे अच्छा यह है
 डब्बा फाड़ जिसने सब बिस्कुट गटक डाले
 सूप की फटर-फटर
 'अम्मा पापा' की रट
 मुझसे कहती है
 जीवन ले कविता से हट
 थैला उठाओ, जाओ—
 तरकारी लाओ
 आफिस का समय हो गया है
 नहाओ, खाओ,
 यह सब लिखना-पढ़ना कल्पना-दिलास है
 चीख-चीख कहता यह मेरा आस-पास है
 लेकिन मैं इस पर भी कलम लिए बैठा हूँ
 कवि हूँ, अपनी कविताई पर ऐंठा हूँ ।^१

सामाजिक चेतना को स्वर देने वाला नया कवि अपनी दृष्टि को व्यापक बनाकर
 व्यक्ति के अन्तर्बहिर्ब स्व रूपों का उद्घाटन करता है। वह व्यक्ति की विवशता
 और बन्धनों की उपेक्षा करता हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि वह उन्हें जन्म देने वाले
 संदर्भों के बोध से भी संश्लिष्ट करता है। कुछ पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं—

ताज बदल रहे हैं
 आदमी की आवाज़ बदल रही है
 धरती से चाँद मिलने आ रहा है
 किन्तु
 मेहनत-कश हाथों की रोटी का सवाल
 उलझता जा रहा है ।

× ×
 गुलाब के फूलों में
 दुर्गंध आ रही है
 और चाँद की रोशनी
 गीले जीवन के धुएँ में
 घुटने लगी है
 क्या होगा उस सभ्यता का
 और उस नयी समाज-रचना का
 जिसकी हर नींव
 युद्ध की खाइयों में

भरी जा रही है ।^१

दुष्यन्त कुमार ने भी निम्नांकित पंक्तियों में सामाजिक संदर्भों से अपनी दृष्टि का निर्माण किया है । वे लिखते हैं—

वे जो पसीने से दूध से नहाए थे
वे जो सचाई का झंडा उठाए थे
वे जो हमसे पहले इन राहों में आए थे
वे जो लौटे तो पराजित कहाए थे
क्या वे पराए थे ?

सच बतलाना तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ?^२

सामाजिक चेतना की 'नयी कविता' का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है केदारनाथ अग्रवाल की 'याद' शीर्षक कविता । वे लिखते हैं—

याद ?—है आवाज

पथ के पेड़ की

राहगीरों के लिए—

जो गए

लौटे नहीं

इस राह से ।

वह सुबह की चांदनी है

ओस से भीगी

घूप का दर्पण लिए

ओट में गूंगी खड़ी ।^३

पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नयी कविता में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति पर्याप्त-मात्रा में तथा अत्यन्त सशक्त भाषा में हो रही है । नयी कविता का यह सामाजिक चेतनावादी वर्ग उसके विकास का वास्तविक आयाम है । उसमें मनुष्य को व्यक्ति की इकाई से लेकर उसके सामाजिक विराट् तक विस्तृत करके देखा गया है । उसकी संवेदना-भूमि अत्यन्त व्यापक तथा युग-सत्य के सभी आयामों का स्पर्श करती है । उसने व्यक्ति को कुण्ठा-ग्रस्त एक क्षुद्र और बौना प्राणी बनाने वाली संभावनाओं से बचाया है तथा आधुनिक-जीवन के विषम संघर्षों में अपनी समस्त जिजीविषा और निष्ठा एकत्र कर जीवित रहने की प्रेरणा दी है । निश्चय ही सामाजिक चेतना की यह नयी कविता हिन्दी साहित्य को विकास की नितान्त नूतन दिशा में ले जा रही है । हिन्दी-कविता का यह एक महान् और शुभ प्रस्थान है ।

१. आयाम—डॉ० दिनेश ।
२. नयी कविता, अंक ३, पृष्ठ ७२ ।
३. लहर, वर्ष ६, अंक १, पृष्ठ २७ ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक :

एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण

नई कविता या नई कहानी की चर्चा इधर बहुत जोर पर रही है, पर नए नाटक का उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिलता, यह कुछ आश्चर्य का विषय है। युग की नयी संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कविता और कहानी जितने सशक्त माध्यम हैं, उतने अधिक सक्षम एवं सशक्त माध्यम नाटक और रंगमंच का होता है। सामूहिकता की कला होने के नाते नाटक का सम्पर्क अपने युग-जीवन से प्रत्यक्षतः रहता है। नाटक अपने युग का बैरोमीटर कहा जाता है। अपनी युग-चेतना का संवाहक बनकर ही नाटक जीवित रहता है, और किसी भी युग में साहित्य की शक्तिशाली विधा के रूप में स्वीकृत होता है। पर नाटक के विकास के लिए रंगमंच या किसी भी प्रदर्शन-माध्यम का रहना अनिवार्य है। नाटक साहित्य की अन्यान्य विधाओं की तरह पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होता—रंगमंच या किसी अन्य प्रस्तुतीकरण-माध्यम के अभाव में इसका कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब तक रंगमंच का विकास नहीं होता और देश के विभिन्न भागों में रंगमंचों की स्थापना नहीं होती, तब तक नाटक का विकास सम्भव नहीं। यह हिन्दी का दुर्भाग्य रहा है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी क्षेत्रों में रंगमंच की स्थापना एवं विकास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था और रंगमंच तथा नाटक का सम्बन्ध एक प्रकार से विच्छिन्न ही रहा। साहित्य के इतिहास का यह एक स्वीकृत तथ्य है कि जिस युग में नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध विच्छिन्न रहता है, उसमें मुख्यतः पाठ्य नाटकों की रचना होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी में भी अधिकतर पाठ्य नाटकों की रचना हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद स्थिति परिवर्तित हुई है : जहाँ एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में रंगमंच के विकास पर ध्यान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर आकाशवाणी केन्द्रों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है, और इनके फलस्वरूप हिन्दी नाटक का एक नया युग प्रारम्भ हुआ है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में उत्साहवर्धक कार्य हुआ है। कला और संस्कृति के विकास को राष्ट्रीय शासन ने अपनी बहुमुखी विकास-योजनाओं का अंग माना है, और इसने रंगमंच की स्थापना में स्वयं भी योग दिया है और नाट्य-प्रदर्शन एवं नाट्य-लेखन को प्रोत्साहित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है। रंगमंच के विकास एवं सफल अभिनेय नाटकों के लेखन को राष्ट्रीय शासन से पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। रंगमंच या तो जन-जीवन से सहज रूप में उद्भूत होता है या साधन-सम्पन्न संरक्षण की प्रेरणा से। साहित्यिक नाटक तो विशेष रूप से किसी-न-किसी प्रकार के संरक्षण में ही पल्लवित-पुष्पित होता है। प्राचीन काल में भी कभी घर्म ने और कभी राज्य ने ही नाटक और रंगमंच को संरक्षण प्रदान किया था। हिन्दी के नये नाटक के विकास में भी शासन का प्रोत्साहन काम करता रहा है।

सरकार की संगीत नाटक अकादमी ने देश में रंगमंच को विकसित करने और भारतीय भाषाओं में नाटकों की रचना तथा उनके प्रदर्शन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से समय-समय पर पुरस्कारों की व्यवस्था की है। अकादमी ने अव्यावसायिक संस्थाओं को अनुदान देने की भी व्यवस्था रखी है। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि अनेक राज्यों में भी अकादमी-जैसी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। व्यावसायिक रंगमंच भी नाट्य-लेखन को प्रभावित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, पर हिन्दी क्षेत्र में इनका अभाव रहा है। प्रारम्भ में पृथ्वी थिएटर ने देश के विभिन्न भागों में घूम-घूमकर अपने नाटक प्रदर्शित किये, पर उसके टूटने के बाद व्यावसायिक रंगमंच नहीं के बराबर रह गया है। दूसरी ओर, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में जो नया सांस्कृतिक जागरण हुआ है, उसकी प्रेरणा से देश के विभिन्न भागों में अव्यावसायिक रंगमंच का उदय हुआ है—लगभग सभी बड़े नगरों में अव्यावसायिक संस्थाएँ काम कर रही हैं। रंगमंच के इस नवोन्मेष से नये नाटक के विकास को गति मिली है। रंगमंच के प्रति हिन्दी के नाटककारों और आलोचकों की सजगता भी बढ़ी है, और रंगमंच एवं नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी टिप्पणियाँ विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। किसी भी साहित्य के नाट्य-लेखन को जहाँ एक ओर प्रदर्शित नाटकों की व्यावहारिक समीक्षा प्रभावित करती है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक कृतियों के रूप में नाटकों की समीक्षा भी। यह ध्यातव्य है कि मात्र साहित्यिक दृष्टिकोण से नाटकों की समीक्षा नहीं की जा सकती, और अगर की जाती है, तो वह नाट्य-साहित्य के विकास को प्रेरक शक्ति न बनकर उसके लिए बाधक ही सिद्ध होती है। आलोच्य काल में हिन्दी के नाट्य-समीक्षकों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर्गत आया है, और नाटकों के साहित्यिक मूल्य को स्वीकार करते हुए भी उनकी समीक्षा मुख्यतः प्रदर्शन से उन्हें सम्बद्ध करके ही की गयी है। अत्याधुनिक नाट्य-समीक्षाएँ मुख्यतः पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों पर आधारित हैं। नये नाटक के स्वरूप-निर्धारण में ऐसी समीक्षाओं का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रंगमंच के नवोन्मेष तथा नव्य नाट्य-चेतना के उदय की इस पृष्ठभूमि पर हिन्दी के नये नाटक साहित्य को देखा जा सकता है। समसामयिक समग्र नाट्य-लेखन पर इनका प्रभाव पड़ा ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर इनसे नवीनतम नाट्य-साहित्य को नया आयाम मिला है, इसमें सन्देह नहीं। इस नये युग में भी ऐसे अनेक नाटककार काम करते रहे हैं, जिनके संस्कार पहले निर्मित हो चुके थे। पहले हम उस पुरानी परम्परा का ही परिचय प्रस्तुत करते हैं जो इस नये युग में भी चलती रही है।

प्रसादजी ने जिस नाट्य-रूप को अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से गौरवान्वित किया था, उसकी परम्परा उनके बाद भी दिखाई पड़ती है। प्रसाद का नाट्य-लेखन किसी रंगमंच को आधार मानकर नहीं हुआ था, जिसके फलस्वरूप ऐसे नाटकों की रचना हुई थी जिनमें अवधि एवं रंगमंच की सीमाओं को स्वीकार नहीं किया गया था। उन नाटकों में दीर्घकालीन कथानकों को आधार बनाया गया था और उनमें नाटकीय वस्तु-विन्यास की अपेक्षा इतिहास के आग्रह को ही मुख्य रूप में स्वीकार

किया गया था। उनमें न वस्तु की संश्लिष्टता पर ध्यान था, न कार्य-व्यापार की पर, और न प्रभाव की अन्विति पर ही, अंकों और दृश्यों का विभाजन भी हारिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से बहुत प्रशंसनीय नहीं था। उनकी विवेक उनके उदात्त उद्देश्य एवं साहित्यिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा में थी। प्रसाद की काव्य-प्रतिभा ने उनके नाटकों को काव्यात्मक शैली दी, उन्हें गीतयोजना से अलंकृत किया, उन्हें ऐसी साहित्यिक गरिमा प्रदान की कि वे महान् कृतियों के रूप में स्वीकृत हो सके। प्रसाद के पदचिह्नों पर चल सकना सामान्य कोटि की प्रतिभा के लिए नहीं है, पर उनका प्रभाव उनके परवर्ती नाटककारों पर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में जिन अनेक नाटककारों ने योगदान दिया है, उनमें सबसे उल्लेखनीय नाम हरिकृष्ण प्रेमी का है। प्रेमीजी पहले के ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते आ रहे थे, और स्वातन्त्र्योत्तर-युग में भी उनका नाट्य-लेखन चलता रहा है। उनके 'कीर्ति-स्तम्भ', 'विदा' और 'रक्तदान' नाटकों ने पुरानी परम्परा में ही आते हैं। इन नाटकों की रचना महान् उद्देश्यों की प्रेरणा हुई है। राजपूत-काल की वीरगाथाओं पर आधारित 'कीर्ति-स्तम्भ' में लेखक ने सिद्धांत दिखलाकर कि व्यक्तिगत मानापमान एवं स्वार्थ को सर्वोपरि समझने के कारण देश का नाश हुआ था, यह संकेत दिया है कि हमें स्वार्थ की अपनी संकीर्ण सीमाओं ऊपर उठकर व्यापक राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रेरित हो कार्य करना चाहिए। 'विदा' की रचना औरंगजेब के शासन-काल के अन्तिम दिनों की राजनीतिक स्थितियों एवं घटनाओं के आधार पर की गयी है, और इसमें लेखक का उद्देश्य भारतीय की राष्ट्रीय एकता को बल प्रदान करना है। 'रक्तदान' में सन् १८५७ के स्वाधीन संग्राम में अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह द्वारा किये गये त्याग और बलिदान का अंकित किया गया है। कला की दृष्टि से ये नाटक दुर्बल लगते हैं। इनके कथनों में अनावश्यक विस्तार है, कार्य-व्यापारों की गति में शिथिलता। ये नाटक हास अधिक लगते हैं, नाटक कम। इनमें प्रभावान्विति का अभाव स्पष्ट रूप से दिखा पड़ता है। इसका कारण यही है कि ये किन्हीं निश्चित नाटकीय स्थितियों पर आधारित नहीं हैं, और न इनके कार्य-व्यापार एक निश्चित दिशा में ही चलते हैं। इन कथनोपकथन के माध्यम से दीर्घकाल में बिखरी हुई कहानियाँ कह दी गयी हैं। इन संवाद भी नाटकीय नहीं हैं—शिथिलगति कथा-शैली में इन संवादों की रचना हुई है। दृश्यों की संख्या भी कथा-विस्तार के अनुरूप ही काफी बड़ी है। इस दृष्टि से नाटकों का साम्य प्रसाद के नाटकों से भले ही हो, पर इनमें प्रसाद का उदात्त और काव्यत्व का उच्च धरातल नहीं मिलते।

समस्या नाटकों के लेखक के रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसिद्ध रहे हैं। आलोच्य अवधि में मिश्रजी ने भी अनेक नाटकों की रचना की है, यद्यपि उनका कलात्मकता का स्तर समान नहीं रहा है। 'वितस्ता की लहरें' इनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। भारत पर सिकन्दर का आक्रमण और चाणक्य के बुद्धि-कोण द्वारा उसका विफल बना दिया जाना नाटककारों का प्रिय विषय रहा है, और मिश्रजी ने भी इस विषय पर एक नाटक लिखा है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण : ५६

ने भी उसी पर इस नाटक की रचना की है। इस नाटक की विशेषता इस बात में अवश्य है कि इसमें प्रसंगों के विस्तार में न जाकर एक नाटकीय प्रसंग विशेष को ही आधार बनाया गया है, पात्रों की संख्या कम है, और एक-एक दृश्य के तीन अंकों में ही पूरा नाटक है। वस्तु-योजना में प्रभावान्विति पर ध्यान रखा गया है। अपनी समयता में यह नाटक स्वयं मिश्रजी के पहले के नाटकों की तुलना में पर्याप्त सशक्त लगता है। लेकिन इसके बाद लिखा गया 'मृत्युंजय' नाटक बहुत सन्तोषजनक नहीं जाना जाता। लेखक ने इसमें महात्मा गांधी के जीवन को अंकित करने का प्रयत्न किया है। गांधी, पटेल, नरेन्द्र देव, आज़ाद, देवदास आदि इसके पात्र हैं। गांधीजी के जीवन के अन्तिम वर्षों की घटनाओं को नाटक में प्रस्तुत किया गया है। रचना में न कोई नाटकीय स्थिति है, न कोई कार्य-व्यापार। नाटक में संस्मरणों की प्रधानता है और स्थान-स्थान पर पात्रों द्वारा विभिन्न विषयों पर उनके विचार प्रस्तुत किये गये हैं। दृश्य-परिवर्तन भी सुविधानुसार बार-बार किया गया है। एक प्रकार से नाटक का स्थापत्य ही विशृंखल-जैसा लगता है।

जीवनचरितात्मक नाटकों के प्रसंग में सेठ गोविन्ददास का भी स्मरण किया जा सकता है जिन्होंने 'वल्लभाचार्य', 'रहीम', 'भारतेन्दु' और 'महात्मा गांधी' लिखकर हिन्दी नाट्य-लेखन के क्षेत्र में एक 'नया प्रयोग' करने का प्रयत्न किया है। इन कृतियों में इन महान् व्यक्तियों का जीवनचरित संवादों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जीवनचरित होने के कारण इन रचनाओं में बड़ी लम्बी-लम्बी अवधियों की कहानियाँ आई हैं। 'भारतेन्दु' में २६ वर्षों की घटनाएँ हैं, 'रहीम' में ५० वर्षों की, और 'महात्मा गांधी' में ८३ वर्षों की। घटना-स्थलों का विस्तार भी बहुत दूर तक है। 'महात्मा गांधी' में भारत, अफ्रीका और इंग्लैण्ड के विभिन्न नगरों के दृश्य आये हैं। ये दृश्य भी क्षण-क्षण बदलनेवाले हैं। इन नाटकों में सुसम्बद्ध कथानक नहीं हैं, जीवनियाँ हैं; मुख्य पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं है, उनकी चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण है; घटनाओं में स्वयं गति नहीं आती, उन्हें गति दी जाती है। नाटक में जो सुसंगठन और संश्लिष्टता चाहिए, उनका इनमें अभाव है। 'अम्बपाली' के प्रसिद्ध लेखक रामवृक्ष बेनीपुरी का 'तथागत' भी जीवनचरितात्मक ही कहा जाएगा। इसमें भी जीवन के अधिकाधिक प्रसंगों को चित्रित करने का आग्रह विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। इसका कथानक भी किसी नाटकीय स्थिति पर आधारित नहीं है। विस्तार में जाने और नाटकीय दृष्टि से अनावश्यक प्रसंगों को नाटक में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध कृति 'अम्बपाली' में भी है। इन जीवनचरितात्मक नाटकों को देखते हुए लगता है, जैसे लेखकों ने जीवनचरित और नाटक के अन्तर की ओर ध्यान न दिया हो। किसी व्यक्ति के जीवन की एक-एक घटना का अंकन नाटक में नहीं किया जा सकता। किसी के सम्पूर्ण जीवन पर आधारित रचना सफल नाट्य-कृति नहीं हो सकती, क्योंकि तीव्र नाटकीय प्रभाव के लिए जिस केन्द्रीभूत सामग्री की आवश्यकता होती है, उसका उसमें नितान्त अभाव रहेगा। सम्भवतः इसीलिए अरस्तू ने लिखा है कि महाकाव्यात्मक योजना पर नाटक की रचना नहीं होनी चाहिए, और महा-

६० : आलोचना

काव्यात्मक से उसका तात्पर्य उस कथा से है जिसमें अनेक कथाएँ हों। निष्कर्ष स्पष्ट है कि सफल जीवनचरितात्मक नाटक की रचना किसी के जीवन के कुछ गिने-गुने मार्मिक एवं नाटकीय प्रसंगों पर ही हो सकती है। जीवनचरितात्मक नाटक और जीवनचरित में केवल यही अन्तर नहीं है कि एक का माध्यम संवाद है और दूसरे का नेरेशन; दोनों में शिल्पगत सौन्दर्य और उससे उद्भूत आनन्द एवं प्रभाव का भी अन्तर है। इस तथ्य की ओर हिन्दी के सब नाटककारों का ध्यान नहीं जा सका है।

रंगमंच-विवर्जित ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा को स्वातन्त्र्योत्तर-युग ने कुछ नाटककारों ने नया मोड़ दिया है। इन्होंने नाटक को रंगमंच से सम्पृक्त कर देना है, और उसे नया रूप प्रदान किया है। ऐसे नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इनकी नाट्य-कृति 'कोणार्क' प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। सन् १९५० और १९५५ के बीच लिखित हिन्दी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ घोषित होने का गौरव 'कोणार्क' को प्राप्त हुआ था—विहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने सर्वश्रेष्ठ स्वीकृति कर उसे पुरस्कृत किया था। 'कोणार्क' उड़ीसा के प्रसिद्ध कोणार्क मन्दिर से सम्बद्ध इतिहास एवं किम्बदन्तियों पर आधारित है। माथुरजी की दूसरी कृति है 'शारदीया' जो महाराष्ट्र के एक ऐतिहासिक प्रसंग पर आधारित है—इसमें तत्कालीन राजनीतिक हलचलों की पृष्ठभूमि पर बायजा बाई और नरसिंह राव का प्रेम-प्रसंग मार्मिकता के साथ अंकित किया गया है। दोनों नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित हुए हैं—'कोणार्क' तो विभिन्न स्थानों पर अभिनीत हुआ है। श्री माथुर ने अपने नाटकों में संश्लिष्टता पर ध्यान रखा है। दोनों नाटकों का अपना-अपना एक निश्चित गन्तव्य है, प्रभाव-सृष्टि का एक निश्चित बिन्दु है जिसकी ओर नाटक का कार्य-व्यापार गतिशील रहता है। अप्रासंगिक घटनाओं एवं प्रसंगों को नाटक में स्थान नहीं दिया है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर ने विशेष कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने नाटकीय घटनाओं के प्रारम्भ, विकास तथा उनकी चरम परिणति एवं अन्त का निर्माण इस प्रकार किया है कि उनकी सजीवता अन्त तक बनी रहे, और वे दर्शकों की जिज्ञासा जगाए रख सकें। इसके लिए लेखक अन्त तक एक रहस्यात्मक संकेत अपने हाथ में रखता है—'कोणार्क' के अन्तिम अंश में ही विशु और धर्मपद को ज्ञात हो पाता है कि दोनों का सम्बन्ध पिता-पुत्र का है। यह उद्घाटन नाटक के अन्त को एक कारण स्पर्श दे जाता है। 'कोणार्क' के नाट्य-शिल्प की विशेषता यह भी है कि तीन अंकों के इस छोटे-से नाटक में घटनाएँ क्षिप्र गति से आगे बढ़ती जाती हैं, और दर्शकों की भावनाओं को उद्बेलित करती जाती हैं। अन्तिम अंक में घटनाओं की गति और नाटकीयता जितनी तीव्र है, उतनी ही उसकी हृदयस्पर्शिता की शक्ति भी। नाटकत्व और काव्यत्व का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है इस नाटक में। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' के प्रयोग भी बड़ी कुशलता से किये गए हैं—ये जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के प्रोलॉग, एपिलॉग और कोरस का स्वरूप दिलाते हैं, वहीं दूसरी ओर नाटक को एक उच्च काव्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इस प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में प्रसाद के काव्यत्व-प्रभाव

ऐतिहासिक नाटकों का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप देख पड़ता है। इन नाटकों में कार्य-व्यापार की गति में बाधक होने वाले सभी अनावश्यक तत्वों का परिहार हो गया है। इनमें काव्यात्मकता रह गयी है, काव्यात्मक अतिरंजना शेष हो गयी है; इनमें रंगमंच और अभिनय की सीमाओं और सम्भावनाओं का ध्यान रखा गया है। 'लोणार्क' हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की प्रगति एवं विकास का निश्चित सूचक है।

जगदीशचन्द्र माथुर की कृतियों के बाद भी अनेक ऐतिहासिक नाटकों (सर्वदा-नन्द वर्मा, चतुर्भुज आदि के) की रचना हुई है, पर काव्यत्व प्रधान ऐतिहासिक नाटक का उत्कृष्ट रूप फिर मोहन राकेश के नाटकों में मिलता है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस', दोनों ही सफल अभिनेय नाटक सिद्ध हुए हैं। आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के जीवन से सम्बद्ध है, और लेखक ने कालिदास के नाय-सृजन के प्रेरणा-स्रोत को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। नाटक इस सम्भावना पर आधारित है कि कालिदास की प्रेमिका मल्लिका ने महाकवि के लिए किस प्रकार प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया होगा। नाटक में इतिहास का उतना प्रग्रह नहीं है जितना नाटकीय स्थितियों के निर्वाचन और निर्वाह का। इसीलिए नाटककार ने कालिदास के समग्र जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न न कर उनके जीवन के कुछ विशेष प्रसंगों को ही अपना आधार बनाया है। नाटक की शक्ति और सरलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है। नाट्य-कृति में विरोधात्मक प्रसंगों का झुलता से संयोजन किया गया है—मन से कालिदास से प्रेम करती हुई भी मल्लिका परिस्थितियों से विवश होकर उस व्यक्ति से विवाह कर लेती है जो स्वभाव और गुण, सब प्रकार से कालिदास के विपरीत है। कालिदास जब कुछ वर्षों बाद मल्लिका के पास वापस आते हैं, तब उन्हें ज्ञात होता है कि मल्लिका उनकी होती हुई भी उनकी नहीं है, उसका विवाह विलोम से हो गया है और वह एक बच्ची की माँ बन चुकी है। इससे नाटक के अन्त में मर्मस्पर्शिता विशेष रूप से आ जाती है। नाटक एक-एक दृश्य के तीन अंकों में है, और तीनों में घटनास्थल एक ही रहता है। इससे नाटक में स्थान सघनता बनी रहती है, व्यावहारिक रंगमंचीय सुविधा तो इससे हुई ही है। वंशदाओं में काव्यत्व का स्पर्श सरलता से देखा जा सकता है। मोहन राकेश का दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' भी इसी प्रकार का है। 'लहरों के राजहंस' का कथानक महाकवि अश्वघोष की प्रसिद्ध काव्य-कृति 'सौन्दरनन्द' पर आधारित है। इसमें कपिल-वस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध भिक्षु बनने और उसकी पत्नी सुन्दरी के रूप-गर्व की कथा है। इस कृति में लेखक का ध्यान मुख्य पात्रों के मानसिक द्वन्द्व पर विशेष रूप से है। इसके तीनों अंकों में भी स्थान एक ही रहता है। इसमें समय के विस्तार को भी समेटने का प्रयत्न किया गया है—'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक जहाँ अनेक वर्षों में फैला हुआ है, वहाँ 'लहरों के राजहंस' का कथानक दो रातों में ही सिमटा हुआ है। इस नाटक में लेखक ने राजकर्मचारी श्यामांग के शब्दों को नेपथ्य से प्रस्तुत करने का एक प्रयोग किया है, पर वह बहुत प्रभावशाली नहीं दीखता। यह श्यामांग-प्रसंग वास्तव में विशेष नाटकीय प्रयोजन भी सिद्ध करता हुआ नहीं दिखायी पड़ता।

जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश के नाटक सूचित करते हैं कि प्रसाद के काव्यत्व प्रधान नाटकों की परम्परा विकसित एवं परिष्कृत होती हुई कहाँ तक आई है। रंगमंच के प्रति क्रमशः विकसित होती हुई जागरूकता ने इस परम्परा के संस्कार में विशेष योग दिया है—इसने नाटककारों को निर्दिष्ट किया है कि वे काव्य को नाटकीय चेतना द्वारा अनुशासित करें। शिल्पगत कुशलता इन नाटकों की विशेषता है, इसमें सन्देह नहीं लेकिन प्रसाद-जैसी युग-चेतना इन नाटकों में नहीं दीख पड़ती। प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटक ही लिखे थे पर उन्होंने इतिहास के केवल उन्हीं प्रसंगों को अपना आधार बनाया था जिनके माध्यम से वर्तमान की समस्याओं को अतीत की पृष्ठभूमि पर रेखांकित किया जा सकता था। शिल्प की दृष्टि से विकसित होते हुए भी उपर्युक्त नाटकों में अपने युग के प्रति जागरूकता क्रमशः कम होती गई है। यद्यपि जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणाक' में 'व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओं का गठबन्धन' किया है, पर वे नहीं चाहते कि उसे 'समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि' कहा जाय। मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दी में नाटकों के नियमित प्रदर्शन की व्यवस्था न रहने से, युग-जीवन का जितना प्रभाव नाटक पर पड़ना चाहिए था, नहीं पड़ सका है। जीवन्त रंगमंच जहाँ एक ओर नाटक का स्थापत्य निर्दिष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर उसे अपने समसामयिक जीवन से सम्पृक्ति बनाये रखने में सहायक होता है, हिन्दी नाटक को यह सुविधा बहुत कम मिल सकी है, फिर भी पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ इस युग से उत्पन्न विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि समस्याओं पर भी नाटकों की रचना होती रही है। पुराने और नए, दोनों प्रकार के नाटककारों ने इस क्षेत्र में काम किया है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश की व्यवस्था एवं चेतना में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। देश के बहुमुखी विकास की योजनाएँ कार्यान्वित होने लगी हैं, पर व्यक्तिगत स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार के फलस्वरूप अपेक्षित सुविधाओं की प्राप्ति अभी तक नहीं हो सकी है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ परम्परागत सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था क्रमशः परिवर्तित होती जा रही है। देश में साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता आदि की समस्याएँ समय-समय पर उभरकर सामने आती रही हैं। तात्पर्य यह कि हमारा वर्तमान जीवन इतनी ज्वलन्त समस्याओं से समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है कि हमारा नाट्य-साहित्य उससे पर्याप्त जीवन-रस ग्रहण कर सकता है। इस दिशा में थोड़ा-बहुत काम अवश्य ही हुआ है। इस क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्व, शील के नाम लिये जा सकते हैं।

राजनीतिक समस्याओं पर इने-गिने नाटकों की ही रचना हुई है। 'दाहर', 'मुक्ति पथ', 'शक-विजय', 'अम्बा', 'सगर-विजय'—जैसे ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के प्रसिद्ध लेखक उदयशंकर भट्ट ने युग-जीवन से सम्बद्ध नाटकों की भी रचना की है। सन् १९५४ में प्रकाशित 'क्रान्तिकारी' नाटक का विषय यद्यपि राजनीतिक जीवन है, पर उसका सम्बन्ध वर्तमान से उतना नहीं जितना स्वाधीनता-प्राप्ति के

के क्रान्तिकारियों के जीवन से है। उसका कथानक स्वाधीनता-पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर आधारित है। लेखक ने सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रयत्नशील नवयुवकों के चरित्रिक दृढ़ता का कुशलता से अंकन किया है। वर्तमान अनुशासनहीनता के युग में उससे प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है। स्वाधीनता-पूर्व के राजनीतिक जीवन पर ही नरेश मेहता ने 'सुबह के घण्टे' की रचना की है। इसमें एक ऐसे क्रान्तिकारी की कहानी है जो एक राजनीतिक दल की परिवर्तित होती हुई नीतियों के बीच स्थायी नीतिक मूल्यों की खोज करता है। रचनाकार की सजगता के लिए इस कृति की संज्ञा भले ही की जाय, नाट्य-कृति के रूप में इसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इसका कथानक बिल्कुल विशृंखल-सा लगता है, और कहीं नाटकीयता के दर्शन नहीं होते। दृश्य अनेक हैं, और क्षण-क्षण बदलने वाले हैं। इसके भाषा-प्रयोग भी यथार्थ जीवन से विच्छिन्न-जैसे लगते हैं। श्याम मोहन अस्थाना का 'पूर्व और पश्चिम' भी स्वाधीनता-पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर ही आधारित है।

चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया समग्र देश में बड़ी तीव्रता से हुई थी। उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी नाटक में भी हुई है। चीनी आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों की प्रेरणा से जिन नाटकों की रचना हुई, उनमें उल्लेखनीय हैं—'घाटियाँ गूँजती हैं' (शिव-सादसिंह), 'नेफा की एक शाम' (जानदेव अग्निहोत्री) और 'अपनी घरती' (रेवती सरन शर्मा)। ये तीनों नाटक अभिनेय हैं, और अनेक स्थानों पर अपनी सफलता सिद्ध कर चुके हैं। 'घाटियाँ गूँजती हैं' एक-एक दृश्य के तीन अंकों में है, और चीन-भारत-संघर्ष की व्यापक पृष्ठभूमि पर इसकी रचना हुई है। 'नेफा की एक शाम' एक-एक दृश्य के दो अंकों में है—दोनों का घटनास्थल एक ही है और नाटक की घटना-विधि भी कुछ ही घण्टों की है। नाटक के वस्तु-विन्यास में पर्याप्त संश्लिष्टता बनी रहती है। रचना में नेफा के एक स्थान पर चीनी आक्रमण के समय वहाँ के लोगों की जागरूकता, कर्तव्यनिष्ठा एवं साहस का सजीव अंकन हुआ है। रेवतीसरन शर्मा लिखित 'अपनी घरती' नाटक भी सशक्त है। यह भी तीन अंकों का नाटक है। इसमें यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार युवकों ने चीनी आक्रमण के प्रतिकार में अपनी शक्ति और साहस का परिचय दिया। नाटक अपनी समग्रता से दर्शकों और पाठकों को प्रभावित कर सकता है।

वर्तमान सामाजिक जीवन को आधार बनाकर अनेक नाटकों की रचना की गई है। पुराने प्रसिद्ध नाटककारों में उदयशंकर भट्ट और उपेन्द्रनाथ अश्व ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। भट्टजी के सामाजिक नाटक हैं—'नया समाज' और 'पार्वती'। दोनों नाटकों की सामग्री मध्यवर्गीय समाज से ली गई है। पार्वती में पारस्वत्य सभ्यता से प्रभावित एक अर्धशिक्षित मध्यवर्गीय नारी पर व्यंग्य किया गया है। 'नया समाज' में जमींदारी-उन्मूलन के कारण दुखी हुए एक परिवार का चित्र अंकित किया गया है। इसके कथानक-निर्माण में आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र की आधिपस और आत्मरति ग्रन्थियों के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है। इसकी मुख्य स्त्री-पात्र कामना काम-वृत्ति की अतृप्ति के कारण मानसिक रोग से ग्रस्त है। कामना

की आत्मरति-ग्रन्थि का चित्रण ही मुख्य रूप से नाटक में किया गया है। अश्व के नये नाटकों में 'पैतरे', 'अलग-अलग रास्ते' और 'अंजो दीदी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पैतरे' हास्य और व्यंग्य-प्रधान नाटक है। इसमें बम्बई के फिल्मी क्षेत्र में काम करनेवाले नये पुराने कवि, लेखक, अभिनेता, निर्देशक आदि के जीवन की झांकियाँ व्यंग्य की तूलिका से अंकित की गई हैं, साथ ही बम्बई में मकानों के अभाव की समस्या को भी तीखे रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक तीन अंकों में है, और प्रत्येक अंक में दो-दो दृश्य हैं। समय और स्थान की अन्विति की रक्षा नहीं की गई है, फिर भी प्रभाव की अन्विति बनी रहती है। नाटक के सम्वाद पात्रों के व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। बम्बईया हिन्दुस्तानी और पंजाबी के सम्वादों से नाटक में स्वाभाविकता भी आई है, विश्वसनीयता भी। 'अलग-अलग रास्ते' अश्व का कोई नया नाटक नहीं, बल्कि बहुत पहले लिखे गए 'आदि मार्ग' नाटक का ही परिष्कृत रूप है। यह एक समस्या नाटक है, जिसमें विवाह और प्रेम की समस्या के साथ-साथ समाज में नारी की प्रतिष्ठा की समस्या प्रस्तुत की गई है। इसमें अपने समाज की नारी के पुराने संस्कारों का, नव-जागरण की भावना के साथ संघर्ष चित्रित किया गया है। तीन अंकों के इस नाटक में लेखक ने स्थान की अन्विति का पूर्णतः निर्वाह किया है। कथानक का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि अन्त तक आकर्षण बना रहे। स्थान-स्थान पर व्यंग्य के स्पर्श ने नाटक को सजीव बना दिया है। 'अंजो दीदी' का पहला अंक सन् १९४३ में लिखा गया था, और दूसरे अंक की रचना १९५४ में हुई। इस नाटक में अंजलि और उसके परिवार के चित्रण के माध्यम से लेखक ने अभिजात वर्ग में सम्मिलित होने की आकांक्षा रखनेवाले मध्यवर्गीय व्यक्तियों के संस्कारों का अंकन किया है। नाटक चरित्र प्रधान है। मुख्य पात्र अंजलि है जिसके निर्देश पर उसका पूरा परिवार चलता है। दूसरे अंक की घटनाएँ बीस वर्ष बाद की हैं जबकि अंजलि जीवित नहीं रहती, फिर भी उसके संस्कार सबको प्रभावित करते रहते हैं। इस नाटक में ऐसी अनेक विरोध-पूर्ण स्थितियों एवं प्रसंगों की अवतारणा की गई हैं जिनसे रचना के आकर्षण में वृद्धि हुई है। इसमें हास्य-व्यंग्य का पुट भी कुशलता से दिया गया है। अभिनेयता की दृष्टि से भी यह नाटक काफी सफल रहा है।

समसामयिक राजनीतिक स्थिति एवं सामाजिक-आर्थिक वैषम्य की पृष्ठभूमि पर भी कुछ नाटकों की रचना हुई है। शील ने अपने नाटकों में आर्थिक वैषम्य को बड़ी तीव्रता के साथ चित्रित किया है। 'तीन दिन : तीन घर' में लेखक ने वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न जनजीवन की संकटग्रस्त स्थिति और उसके विरोध में उभरती हुई क्रांति-चेतना को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इसमें एक मुहल्ले के तीन घरों की कहानी कही गई है, और उसके माध्यम से समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से नाटक काफ़ी सशक्त है, पर साम्यवादी विचारों के प्रति लेखक का आग्रह स्पष्टतः परिलक्षित होता है। नाटक तीन अंकों में है, पर घटना-स्थल एक ही रहता है। नाटक में कोई सुसम्बद्ध कथानक नहीं है, और न कोई निश्चित कथा-विकास ही, फिर भी प्रारम्भ से अन्त

क इसमें आकर्षण बना रहता है। युग की ज्वलन्त समस्याओं को चित्रित करने वाले अभिनेय नाटकों में ऐसी कृतियों का महत्त्व होना चाहिए। सीताराम चतुर्वेदी का 'वसन्त' भी आधुनिक युग के सामाजिक यथार्थ पर आधारित है। इसमें बेकारी, घूस-खोरी आदि को चित्रित किया गया है, पर लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। नाटक अभिनेय है, और अनेक स्थानों पर अभिनीत हुआ है। विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ' भी वर्तमान सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। यह नाटक कलकत्ता के थिएटर सेण्टर द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी नाटक प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ था। जमींदारी समाप्त हो जाने के बाद अभिजात वर्ग के संस्कारों-विचारों में किस प्रकार परिवर्तन होते जा रहे हैं, इसे विनोद रस्तोगी ने प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है। आनन्दप्रकाश जैन ने अपने नाटक 'मास्टरजी' में अस्पृश्यता की समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। यह एक सामाजिक समस्याप्रधान नाटक है—इसमें समस्या को इतनी प्रधानता दी गई है कि कथानक और पात्र सब कुछ गौण हो गए हैं। तीन दृश्यों का यह नाटक एक सेट पर प्रस्तुत किया जा सकता है। राजकुमार का नाटक 'ज्वार-भाटा' वेश्याओं की समस्या पर आधारित है। लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि समाज में वेश्याओं को यदि सम्मान नहीं मिलता है, तो क्या उनकी सन्तान को भी नहीं मिलना चाहिए? यह एक विचारोत्तेजक समस्या है, और लेखक ने इसे कुशलता से उपस्थित किया है। आज समाज में भ्रष्टाचार और अनैतिकता है, वह भी इस नाटक में उभरकर आया है। नाटक सुसंगठित है, पर इसमें आकस्मिकता का बार-बार सहारा लिया गया है, जो बहुत स्वाभाविक और विश्वसनीय नहीं लगता। समस्याप्रधान नाटकों में यह खतरा हमेशा बना रहता है कि कहीं पात्र व्यक्ति न रहकर विचारों के प्रतीक न बन जाएँ। इस नाटक में भी कुछ ऐसी ही बात लगती है। सूर्यनारायण अग्रवाल का 'माँ' नाटक भी सामाजिक है। इसमें सामाजिक विषमता का भी चित्र आया है, दहेज-मुक्ति और निर्भोज विवाह की ओर भी संकेत किया गया है। मुख्य पात्रों की संघर्षशीलता के कारण नाटक में गति आई है। इसमें गीतों का व्यवहार सम्भवतः हिन्दी फ़िल्मों द्वारा विकृत जन-रुचि की तृप्ति के लिए किया गया है। राजेन्द्रकुमार शर्मा का अभिनेय नाटक 'रेत की दीवार' भी विवाह की समस्या से सम्बन्ध रखता है। विवाह और प्रेम पर आधारित होने पर भी 'रेत की दीवार' कोई समस्या नाटक नहीं है, हास्यप्रधान नाटक है। इसका उद्देश्य मनोरंजन है जिसमें इसे सफल कहा जा सकता है। हास्यप्रधान नाटकों में चरित्रों की अपेक्षा नाटकीय स्थितियों और संलापों पर अधिक जोर रहता है। इस नाटक में भी यही बात है। कृष्णकिशोर श्रीवास्तव का नाटक 'नींव की दीवारें' राष्ट्र की भावनात्मक एकता पर लिखा गया है, और सरकार द्वारा सन् १९६२ में आयोजित नाटक प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ है। सन्तोष नारायण नौटियाल का नाटक 'चाय पार्टीयाँ' व्यंग्यप्रधान है, और इसमें समाज के अवसरवादी समझदार लोगों का चित्र अंकित किया गया है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अनेक बड़े नाटकों की भी रचना की है। 'अन्धा

कुआँ' में इन्होंने समाज के निम्नतम वर्ग का जीवन अंकित करने का प्रयत्न किया है। ग्रामीण समाज की कटुताएँ और अस्त-व्यस्तताएँ इसमें अंकित की गई हैं। गाँव के सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से यह नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि ग्रामीण जीवन में नाट्यलेखन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध रहने पर भी अन्य नाटककारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। नाटककारों ने अधिकतर नगर के मध्य-वर्गीय समाज को ही अपनी कृतियों का उपजीव्य बनाया है। नाटक अभिनेय है और रंगमंच पर प्रदर्शित हो चुका है। यहीं डॉ० लाल के दूसरे नाटकों की भी चर्चा की जा सकती है। 'मादा कैवटस' इनका प्रतीकात्मक नाटक है जिसमें लेखक ने विवाह से सम्बन्धित एक समस्या उठाई है कि क्या विवाह प्रतिभा के विकास में बाधक होता है? स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का चिरन्तन प्रश्न प्रस्तुत नाटक में आधुनिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। नाटक का स्थापत्य सुदृढ़ है। वस्तु-विन्यास में पर्याप्त संश्लिष्टता है, और प्रभाव-सृष्टि की श्रमता भी। प्रतीकों का व्यवहार कुशलता से किया गया है।

प्रसिद्ध रेडियो नाटककार विष्णु प्रभाकर ने 'डॉक्टर' नामक रंगमंचीय नाटक भी लिखा है। इसे मनोवैज्ञानिक नाटक कहकर एक स्वतन्त्र वर्ग में रखा जा सकता है, यद्यपि किसी भी नाट्य-कृति का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्वसनीय होना उसकी अनिवार्य विशेषता होती है। 'डॉक्टर' में लेखक का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या या सामाजिक यथार्थ के चित्रण का उतना नहीं है जितना एक मनोवैज्ञानिक समस्या के चित्रण का। इसमें एक ऐसी नारी का मानसिक द्वन्द्व चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है जो अपने पति द्वारा परित्यक्ता होने पर डॉक्टर बन जाती है और जिसे अपने पति की दूसरी पत्नी का ऑपरेशन करने का अवसर मिलता है। उसके मन में द्वन्द्व होता है—वह अपने पति से प्रतिशोध ले या अपने यानी डॉक्टर के कर्तव्य का पालन करे? लेखक ने इस द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है पर नाटकीय स्थिति के अनुपात में कथानक में विस्तार अधिक लगता है। नाटक के तीन अंकों में पाँच दृश्य रखे गए हैं।

इन मौलिक नाटकों की रचना के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं की उत्कृष्ट नाट्यकृतियों के अनुवाद भी स्वातन्त्र्योत्तर युग में हुए हैं। जब कभी साहित्य की विधा विशेष के प्रति जागरूकता होती है, तब उस विधा की दृष्टि से समृद्ध अन्त्या साहित्यों की ओर भी लेखकों की दृष्टि जाती है और महत्त्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद एवं रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। आलोच्य अवधि में संस्कृत के जिन नाटकों के हिन्दी अनुवाद विभिन्न रंगमंचों पर प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किये गए, उनमें 'शकुन्तला' और 'मृच्छकटिक' विशेष उल्लेखयोग्य हैं। अपने यहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं—मराठी के मामा वरेरकर, बंगला से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मलयालम से तोप्पिल भासी, तमिल से श्रीमती स्वामीनाथन, पंजाबी से परितोष गागी आदि के नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है। विदेशी लेखकों में शेक्सपियर, शॉ, इब्सन, मिहेल, मिबाश्चियन आदि के नाटक हिन्दी में अनूदित हुए हैं।

अभी तक हमने हिन्दी के केवल अनेकोंकी नाटकों की चर्चा की है, पर स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी का नया नाटक अनेक रूपों में विकसित होता रहा है—एकांकी नाटक, रेडियो नाटक और पद्य नाटक के रूप में इसने अपना बहुमुखी विकास किया है। इनमें सबसे समृद्ध रूप है एकांकी नाटक का। संख्या की दृष्टि से जितने एकांकी नाटकों की रचना इस अवधि में हुई है, उतने बड़े नाटकों की नहीं।

हिन्दी एकांकी को विकास की प्रेरणा अनेक दिशाओं से मिली है। इस व्यस्तता-युग ने लघु नाट्य-रूप की समृद्धि के लिए उर्वर भूमि तो दी ही है, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में नया सांस्कृतिक जागरण हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए एकांकी का माध्यम काफ़ी सुविधाजनक रहा है। विभिन्न प्रकार के नाट्य-नमरोहों में जो नाट्य-प्रतियोगिताएँ होने लगी हैं, उनसे भी एकांकी के लेखन को प्रोत्साहन मिला है। आकाशवाणी केन्द्रों के विस्तार का प्रभाव भी अत्याधुनिक हिन्दी एकांकी पर पड़ा है। यह सही है कि रेडियो नाटक रंग-नाटक से भिन्न होता है, पर हिन्दी में प्रसारण के बाद अनेक रेडियो नाटक दृश्य संकेतों के साथ इस तरह प्रकाशित कर दिये गए हैं कि वे रंग-नाटक-जैसे ही लगते हैं।

जिन लेखकों ने सन् १९३० के बाद हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में प्रवेश किया और जिन्हें उसे नव्य स्वरूप प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है, उनमें से कुछ का लेखन-काल स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी चलता रहा है। ऐसे लेखकों में डॉ० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अक्षक, जगदीशचन्द्र माथुर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० वर्मा के नये एकांकी मुख्यतः ऐतिहासिक हैं। अन्य लेखकों ने सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की है। पुराने नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, रामवृक्ष बेनीपुरी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि ने अनेक एकांकी नाटकों की रचना की है, पर इनमें कोई विविष्टता नहीं दीखती। इन्होंने सामान्यतः अपने कथ्य और विषय-वस्तु को ही अधिक महत्त्व दिया है—नाटकीय चेतना एवं स्थापत्य के दर्शन कम ही नाटककारों की कृतियों में होते हैं। आलोच्य अवधि में ऐसे अनेक नये नाटककार भी उदित हुए हैं जिन्होंने एकांकी को विशेष रूप से समृद्ध किया है। नये एकांकीकारों की कृतियों में विषय और प्रस्तुतीकरण, दोनों की विविधता दिखाई पड़ती है। नये लेखकों की संख्या तो काफ़ी बढ़ी है, पर कुछ नाम बड़े स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आये हैं—सत्येन्द्र शर्मा, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, राजेन्द्रकुमार शर्मा आदि। इनकी कृतियों से स्पष्ट है कि रंगमंच के प्रति सजगता ने एकांकी के शिल्प को विकसित करने में योग दिया है। नये एकांकी की प्रवृत्ति कथानक के विस्तार की ओर नहीं, सघनता की ओर है, जीवन के मार्मिक क्षणों को चित्रित करने की ओर है, चरित्र के आकर्षक पहलुओं को प्रस्तुत करने की ओर है, अन्वितियों के निर्वाह की ओर है, अभिनेयता और प्रदर्शन की ओर तो है ही।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद की अवधि में हिन्दी के रेडियो नाटक ने पर्याप्त विकास किया है। हिन्दी क्षेत्र में रेडियो स्टेशनों की संख्या बढ़ी है, और उनके लिए

नाट्य-लेखन में वृद्धि हुई है। अनेक नये लेखक इस क्षेत्र में सामने आये हैं। इस अवधि में सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई है कि रेडियो नाटक को एक स्वतन्त्र नाट्य-विधा के रूप में स्वीकृति मिली है। रेडियो नाटक के शिल्प पर 'रेडियो नाटक' (हरिश्चन्द्र खन्ना) और 'रेडियो-नाटक-शिल्प' (सिद्धनाथ कुमार) नामक दो पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले पुराने और नये लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है, पर रेडियो माध्यम की विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर नाटक लिखने वालों में विष्णु प्रभाकर, हरिश्चन्द्र खन्ना, चिरंजीत, रेवतीसरन शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि लेखकों के नाम स्मरण किये जा सकते हैं। इस अवधि के रेडियो नाटकों में विषय और शिल्प, दोनों दृष्टियों से पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व रेडियो से प्रसारित अधिकतर नाटकों के विषय ऐतिहासिक और रोमांटिक होते थे, पर अब सामाजिक विषयों पर भी नाटकों की रचना होने लगी है। इस सम्बन्ध में यह अवश्य ध्यातव्य है कि रेडियो नाटक के विषयों एवं दृष्टि की सीमा राष्ट्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित है—युग की स्वाधीन चिन्ता की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी रेडियो नाटक में अवकाश नहीं रहता। रेडियो के लिए मनोवैज्ञानिक नाटकों की रचना विशेष रूप से हो रही है। इधर 'विविध भारती' कार्यक्रम के प्रारम्भ के बाद से हास्य और मनोरंजन-प्रधान नाटकों को विशेष स्थान मिलने लगा है, पर इनमें सामाजिक विकृतियों पर हो सकने वाले व्यंग्य का अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। विधा की दृष्टि से पर्याप्त अवकाश रहने पर भी स्वगतनाट्यों और अतिकल्पनाओं की रचना बहुत कम हो पाई है। हिन्दी में रेडियो नाटक का जीवन अभी पचीस वर्षों का ही है, फिर भी इस नव्य विधा ने पर्याप्त विकास किया है। इस क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ सामने आई हैं, पर इस माध्यम की सम्भावनाओं का जितना उपयोग होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

हिन्दी नाटक का एक रूप पद्य नाटक का भी है। प्रसाद ने लगभग पचास वर्ष पूर्व 'करुणालय' गीतिनाट्य की रचना की थी। उनके बाद मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि ने कुछ पद्य नाटकों की रचना की थी, पर वे कृतियाँ काव्य-नाटक के स्वरूप-विधान की सार्थकता नहीं सिद्ध करतीं। वे नाटक की अपेक्षा काव्य के अधिक निकट हैं। उनमें न रंगमंच का ध्यान रखा गया है, न किसी अन्य प्रदर्शन माध्यम का ही। सही अर्थों में हिन्दी के काव्य-नाटक का उदय स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ही हुआ है। आकाशवाणी केन्द्रों के विस्तार के साथ काव्य-नाटक के प्रस्तुतीकरण को नया माध्यम प्राप्त हुआ है। रेडियो का अदृश्य माध्यम अपने स्वभाव से ही कल्पना और काव्यप्रधान होता है। पुराने प्रसिद्ध कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि ने रेडियो के लिए पद्य नाटक लिखे हैं, पर इन सबकी रचनाएँ रेडियो माध्यम के उपयुक्त काव्य-नाटक हैं ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, सिद्धनाथ कुमार आदि ने भी प्रसारणार्थ पद्य नाटक लिखे हैं, जिनमें वस्तु एवं शिल्पगत दृष्टि

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण : ६६

जा सकता है। आलोच्य अवधि में धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' से हिन्दी नाटक का नया चरण प्रारम्भ हुआ है। यह हिन्दी का पहला काव्य नाटक है जो रंगमंच पर अभिनीत हुआ है। पौराणिक आख्यान के माध्यम से लेखक ने आधुनिक युग की निराशा, कुण्ठा, अनास्था आदि का सशक्त अंकन इस रचना में किया है। 'अन्धा युग' की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसने हिन्दी काव्य-नाटक की सम्भावनाओं का विकास किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक के इस सर्वेक्षण के बाद कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। हिन्दी के नये नाटक साहित्य को उसकी समग्रता में देखते हुए उसकी समृद्धि में सन्देह नहीं किया जा सकता, पर कविता, कहानी और उपन्यास की रचना इस अवधि में जितनी हुई है, उसकी तुलना में नाटकों की संख्या बहुत कम है। नाटकों का प्रकाशन भी बहुत कम हुआ है। ऐसी अनेकानेक नाट्य-रचनाएँ हैं जो रंगमंच पर प्रदर्शित हुई हैं अथवा रेडियो से प्रसारित, पर प्रकाशित रूप में नामने नहीं आई हैं। दूसरी बात यह है कि सम्पन्न रंगमंचों ने जितना अधिक समय संस्कृत या अन्यान्य भाषाओं से अनूदित नाटकों अथवा मौलिक ऐतिहासिक नाटकों को दिया है, उतना समसामयिक जीवन पर लिखित नये नाटकों को नहीं। सुकारों से भी ऐसे ही नाटकों को प्रोत्साहन मिला है। तीसरी बात यह है कि रंगमंच के नवोन्मेष ने हिन्दी नाटक को नई दिशा दी है, और अब सफल अभिनेय नाटकों की रचना होने लगी है। इसका प्रभाव नाटक के स्थापत्य पर भी पड़ा है। अधिक नाटक तीन अंकों में आये तीन दृश्यों में लिखे गए हैं जिनमें नाटक का घटना-क्रम परिवर्तित नहीं होता। जिन नाटकों में तीन से अधिक दृश्य हैं, उनमें भी प्रदर्शन को व्यावहारिकता को ध्यान में रखा गया है। कथा-विन्यास में संघर्ष, कौतूहल, चरम परिणाम आदि की चिन्ता की जाने लगी है। चरित्रप्रधान नाटक बहुत कम लिखे गए हैं, पर जो लिखे गए हैं उनमें नाटक के विकास की उज्ज्वल सम्भावनाओं का परिचय मिलता है। चौथी बात यह है कि एकांकी के क्षेत्र में हिन्दी नाटक विशेष रूप से सम्पन्न-समृद्ध हुआ है, पर वह अधिकांशतः रेडियो से प्रभावित है। रेडियो ने छोटे-छोटे नाटकों के लेखन के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया है। अनेक लेखकों ने एक ही नाटक को रंगमंच और रेडियो, दोनों के लिए लिखने की कोशिश की है, पर इससे दोनों नाट्यरूपों के स्वतन्त्र विकास में बाधा पड़ी है—यह बात रेडियो नाटक पर विशेष रूप से लागू है। पाँचवीं बात यह है कि काव्य नाटक रंगमंच की ओर उन्मुख हुआ है, और उसके भविष्य का शुभ लक्षण कहा जा सकता है।

नये युग में भी पुराने नाटकों की परम्परा चलती रही है, पर नई चेतना का परिचय नये नाटककारों की कृतियों में मिलने लगा है। हिन्दी का नया नाटक कितना विधा का रूप ग्रहण करता जा रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

विश्वनाथप्रसाद तिवारी

आंचलिक उपन्यास : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की नवीन उपलब्धि

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में एक विशेष प्रकार के आभिजात्य का दर्शन प्रायः सर्वत्र होता है। अज्ञेय के कथा-साहित्य में यह विशेषता बहुत प्रमुख है। उनके प्रायः सभी पात्र (शेखर, शशि, भुवन, रेखा आदि) अत्यन्त शिक्षित और चिन्तनशील हैं। वे जगह-जगह श्रेष्ठ कवियों की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए विश्व-साहित्य के पंडित मालूम होते हैं। इसी प्रकार इस काल की अन्य प्रसिद्ध कृतियों में भी एक प्रकार का आभिजात्य प्राप्त होता है। किन्तु इधर आकर हमारे साहित्यकारों की दृष्टि लोक-संस्कृति की ओर भी उन्मुख हुई है। आज हिन्दी में जनवादी साहित्य-निर्माण का नारा बुलन्द पर है। लेखकों ने जीवन के यथार्थ में गहरे उतरकर जनवादी साहित्य-सृजन की आवश्यकता महसूस की है। जो सबसे-अधिक उत्पीड़ित, उपेक्षित और शोषित को अपनी सहानुभूति दे सके, उससे गले मिलकर रो सके वही लेखक सच्चा जनवादी है। जो कलाकार भारतीय जन-जीवन का सच्चा चित्रण करना चाहता है उसे निश्चित रूप से आधुनिक सभ्यता से दूर गाँवों में रहने वाले संघर्षरत किसान तक पहुँचना पड़ेगा।^१ भारतीय संस्कृति मूलतः एक होते हुए भी हिन्दुस्तान के अनेक अनदेखे अंगों में बिखरी हुई है। चाहे लखनऊ हो या बनारस, दरभंगा हो या पूर्णिया (बिहार), बरसोवा के मछुओं की जिन्दगी हो या नटों की—सबकी संस्कृति अपने में विशिष्ट है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य में—विशेषतः कथा-साहित्य में, इस अनदेखी संस्कृति और कौमार्य सौन्दर्य को सहानुभूति के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जागरूक मानस में देशभक्ति की जो लहर देश को पराधीनता से मुक्त करने के लिये उठ रही थी, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात वह एक दूसरी दिशा में मुड़ी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन को जगाना और गतिशील रखना ही प्रमुख उद्देश्य था किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात देश-प्रेम की यह भावना जन-विकास की शिक्षा में उन्मुख हुई है। सहृदय लेखक पिछड़े जन-

२. “कला गाँवों में पनपती है, शहरों में नहीं। हम पकवान खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं—काश किसान पर रीझते तो कितना अच्छा होता। जिस समय सिर पर से पानी बहता हो गले में साँप सोने न दे रहा हो, बदन पर चिथड़ा लिपटा हो और पास में पार्वती—पर्वत पुत्री खड़ी पसीना पोंछ रही हो, जब उस गरीब पर मस्तक झुके तभी कला की सच्ची पूजा है—शंकर पूजा है। वह किसान ही हमारा शंकर है। साँप टैंक्स है—चिथड़े गरीबी है—पार्वती उसकी पत्नी है। साहित्यिक कहता है, “मेरी कविता में अलंकार है, मेरी कला उबल रही है। मुझे उस किसान से क्या सम्बन्ध—भाड़ में जाय तेरा अलंकार और तेरी कला, तिल करोड़ अलंकार खेतों में लहलहा रहे हैं और तू अपने अलंकारों और कला को बिल्ला खा रहा है। मानव के इतने बड़े दुश्मन तुम्हें हम साहित्यिक कहें।”

—माखनलाल चतुर्वेदी : नया जीवन, मई १९५५, पृ० ४८।

आंचलिक उपन्यास : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक नवीन उपलब्धि : ७१

जीवन की ओर लौटा है। उसकी दृष्टि साधारण जीवन और साधारण मनुष्य की ओर है। युगों से शोषित और उपेक्षित जीवन जर्जर विश्वासों का पुलिन्दा बन गया था। इस प्रकार शोषण के आर्थिक पहलू से ऊपर उठकर इन उपेक्षितों के समूचे अस्तित्व को उभारने की आवश्यकता महसूस हुई है।¹ साहित्यकारों में स्थानीय प्रेम प्रगाढ़ हुआ है। सन् १९४० ई० के आस-पास से ही हिन्दी उपन्यासों में स्थानीय रंग झलकने लगा था और स्थानीय भाषा प्रयुक्त होने लगी थी। श्री राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने इस बात पर बल दिया था कि प्रत्येक जनपद की संस्कृति की रक्षा होनी चाहिये। सन् १९३५ ई० में इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से महात्मा गांधी ने भी साहित्यकारों को भारतीय गाँवों का स्मरण कराया था। प्रारम्भ में हमारे उपन्यासों में स्थानीय जीवन का केवल खण्ड-चित्र उभरा। श्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा गणु शिवपूजन सहाय के उपन्यासों में आंचलिक विशेषताओं के चित्रण हुए। वर्माजी ने कुन्देलखण्ड तथा सहायजी ने बिहार के अंचलों की झाँकी दिखाई। बाद में यह प्रवृत्ति एक नये स्तर पर एक अंचल विशेष की संस्कृति तथा जनपदीय लोक-जीवन के संस्कारों को अपनाकर स्थानीय जीवन के व्यापक चित्रण की ओर बढ़ी। फलस्वरूप आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई। आंचलिक उपन्यास हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की एक अत्यन्त नवीन-उपलब्धि है जिसका विकास पिछले दो दशकों में हुआ है।

आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें एक विशेष अंचल (क्षेत्र) के निवासियों का जीवन अपने समग्र रूप में विस्तार के साथ चित्रित होता है। “आंचलिकता लेखक की अपनी कृति को एक अंचल विशेष की आधारभूति पर निर्मित करने तथा वहाँ के निवासियों के जीवन और प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति है”।² आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय रंग-प्रधान होता है किन्तु उन सभी उपन्यासों को जिनमें स्थानीय रंग हो, हम विशुद्ध आंचलिक नहीं कह सकते। दोनों में अद्वैत और चित्रण का मौलिक अन्तर होता है। उपन्यास में स्थानीय रंग प्रभावात्मकता तथा स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये होते हैं। इनका उपयोग मूल तत्त्व के रूप में

1. “प्रेमचन्द के समय में राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी के विरुद्ध था, अतः उस समय राष्ट्रीयता का ही महत्व उनके उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचन्द आदर्शवादी भी थे। गाँव की बहुतसी असलियत वे इसीसे स्पष्ट नहीं लिख सके थे, क्योंकि उस समय उनकी समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन को बल देने की ही थी। किन्तु अब युग प्रेमचन्द से है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों में बैठने वाले आधुनिकता के नजरिये से सब कुछ देख डालते हैं। पर असली भारत गाँव में है, जो अब भी मध्यकालीन-विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित है। मैंने उनको स्पष्ट करने का यत्न किया है।”

—रांगेयराधव : ‘कब तक पुकारूँ’, दि० सं० १९६० ई०, भूमिका।

2. The tendency of some writers to set their works in a particular locality, presented in some detail as affecting the lives and fortunes of the inhabitants...”

Joseph T. Shipley: 'Dictionary of World Literary Terms, p.337-38.

न होकर साज-सज्जा के रूप में होता है।^१ दूसरी ओर आंचलिक उपन्यासों में उस अंचल का समग्र चित्रण होता है। स्थानीय रंग ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के उपन्यासों में हो सकता है। इस प्रकार के उपन्यास हिन्दी में बहुत हैं। वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, रांगेयराघव, निराला और अमृतलाल नागर के कई उपन्यासों में स्थानीय रंग देखा जा सकता है। विष्णुप्रभाकर के 'निशिकान्त', सर्वदानन्द के 'माटी खाई जानवरा' (१९६० ई०) तथा शिवसागर मिश्र के 'हूब जनम आई' (१९६० ई०) आदि उपन्यासों में स्थानीय रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु इन उपन्यासों को विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आंचलिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन-चित्रण में पाई जाती है।"^२ वाजपेयीजी का यह कथन हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में शत-प्रतिशत सही उतरता है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यास प्रमुख रूप से या तो किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण करते हैं या किन्हीं अपरिचित और आदिम जातियों के जीवन का चित्रण करते हैं। नीचे हम हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों पर विचार करेंगे।

हिन्दी के विशुद्ध आंचलिक कहे जाने वाले उपन्यासों के दो प्रधान भेद किए जा सकते हैं।

१. पहले प्रकार के वे उपन्यास हैं जिनमें किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला-आंचल' (१९५४ ई०) और 'परती पत्किथा' (१९५७ ई०), नागार्जुन का 'बलचनमा' (१९५२ ई०), देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' (१९५२ ई०), राजेन्द्र अवस्थी 'तृपित' का 'जंगल के फूल' (१९६० ई०), बलभद्र ठाकुर के 'नेपाल की वो बेटी' (१९५६ ई०), 'आदित्यनाथ' (१९५६ ई०) तथा 'घने और बने' (१९६० ई०), दयानाथ झा का 'जमींदार का बेटा' (१९५६) तथा

1. The use of environmental detail in a story differs from regionalism in its mainly picturesque intent. It's interest lies in exploring a new or unfamiliar setting or in preserving the record of a changing or dying locale while the regionalist sees in each region different conditions that operate profoundly in the lives of its people and thus develop different patterns of culture and character, the local colourist takes rather the tourist's view of a countryside;... local colour thus presents superficial elements of the setting, dialect, custome, customs, not as a basic element of the story, but as decoration..." Ibid., p. 257.

२. सारिका : नवम्बर १९६१ ई०, पृ० ६१

रामदरस मिश्र का 'पानी के प्राचीर' आदि प्रमुख हैं।

रेणु के 'मैला आंचल' में पूर्णिमा (बिहार राज्य का एक जिला) के मेरीगंज तथा 'परती परिकथा' में परानपुर गाँव का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही उपन्यासों में रेणु ने उस अंचल के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन का आँखों से चित्रण किया है। गाँव की विभिन्न जातियों, उनके आपसी मन-मुटाव और झगड़ों, उनकी अज्ञानता, अन्धविश्वास, पक्षपात, भ्रष्टाचार, सरकारी कर्मचारियों की घूस-बोरी, स्थानीय त्योहारों, लोकगीतों और लोककथाओं का उपन्यास में सूक्ष्म चित्रण हुआ है। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' के लेखक में अपने अंचल का मोह प्रबल है। वह अपने अंचल के हर चप्पे, हर कण और हर धड़कन से परिचित है। रेणु को अपने अंचल की धरती, वनस्पति, नदी-ताल, खेत-खलिहान—मग कुछ सुन्दर दिखाई पड़ता है। यह मैला आंचल नहीं स्वर्णिम आंचल है। गेहूँ की सुनहरी बालियों से भरा हुआ खेत मानो सोने की नदी है। बहती हुई पुरवैया हवा मानो नदी में उठती हुई लहर है और उन खेत में खड़े किसान मानो सोने की नदी में क्रीड़ा कर रहे हैं।^१ 'मैला आंचल' के डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया। उसे लगता है, मानो वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है। यह अपनी मिट्टी है। नदी-तालाब, पेड़-पौधे, जंगल-मैदान, जीव-जानवर, कीड़े-मकोड़े सभी में वह एक विशेषता देखता है।^२

नागार्जुन के 'बलचनमा' में दरभंगा (बिहार का एक जिला) तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास का जीवन चित्रित हुआ है। 'रुद्र' के 'बहती गंगा' में काशी-निवासियों का जीवन चित्रित है। इसमें एक दूसरी से अलग, परस्पर स्वतन्त्र, परन्तु धारा और तरंग न्याय से आस में बँधी हुई^३ सत्रह तरंगों (कहानियों) के द्वारा काशी के पिछले लगभग दो सौ वर्षों (१७५० ई० से १८५० ई०) का इतिहास (प्रमुख घटनाओं तथा व्यक्तियों के माध्यम से) प्रस्तुत हुआ है। उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों की गाथा, अंग्रेजों के अत्याचार, उसके विरुद्ध काशी की वीर जनता की प्रतिक्रिया, उनकी देशभक्ति, 'घरफूंक मस्ती', हृदय की कोमलता तथा साहस चित्रित है। किन्तु 'बहती गंगा' में कहीं-कहीं घटनाएँ अलौकिक और अस्वाभाविक होने से काल्पनिक प्रतीत होती हैं।

राजेन्द्र अवस्थी 'तृपित' का 'जंगल के फूल' मध्य प्रदेश के दक्षिण में स्थित बस्तर जिले के निवासियों के जन-जीवन पर आधारित है। यहाँ के पचहत्तर प्रतिशत निवासी अब भी आदिम सभ्यता में हैं जिनकी अपनी अलग संस्कृति है और अलग मान्यताएँ हैं। इस उपन्यास में बस्तर जिले के इन्हीं निवासियों का जीवन चित्रित है। बलभद्र ठाकुर के उपन्यास 'नेपाल की वो बेटी' में पश्चिमी नेपाल के एक विशेष क्षेत्र—कालीगंड की उपत्यका—के ग्रामीण पहाड़ी जीवन को कथा-क्षेत्र चुना गया है,

१. मैला आंचल, १९५४ ई०, पृ० १८१

२. वही, पृ० २२७

३. बहती गंगा, १९५२ ई०, 'सन्दर्शिका', पृ० १०

किन्तु लेखक ने उपन्यास में प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी-नेपाल के ग्रामीण पहाड़ी जीवन का स्तर का खींच दिया है। इस उपन्यास का कथा-काल सन् १९२० से १९२३ ई० तक है। ठाकुर साहब के दूसरे उपन्यास 'आदित्यनाथ' में कुल्लूघाटी के अंचल का बड़ा ही आकर्षक चित्रण हुआ है। ठाकुर साहब के ही उपन्यास 'घने और बने' में पूर्वी हिमालय के दार्जिलिंग क्षेत्र के शहरी एवं चायबगानी जीवन का चित्रण हुआ है। दयानाथ झा का उपन्यास 'जमींदार का बेटा' मिथिला के जन-जीवन पर आधारित है। उदयशंकर भट्ट का 'लोक-परलोक' पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गंगा तट स्थित पद्मपुरी नामक तीर्थग्राम पर आधारित है। रामदरस मिश्र का 'पानी के प्राचीर' गोरखपुर—देवरिया जिलों (पूर्वी उत्तर प्रदेश) के दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र के जन-जीवन पर आधारित है। अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' यद्यपि त्रिविद्ध आंचलिक उपन्यास नहीं है किन्तु उसका भी कथानक मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश के लखनऊ शहर पर ही आधारित है।

इस प्रकार इस कोटि के आंचलिक उपन्यासों का प्रमुख लक्ष्य किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का यथार्थ और समग्र चित्रण करना है।

२. दूसरे प्रकार के आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमें किसी जाति विशेष (प्रायः अपरिचित और आदिम जातियों का) का जीवन चित्रित होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' (१९५७ ई०) तथा देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' (१९५३ ई०) आदि उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' में उदयशंकर भट्ट ने बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा नामक मछलीमारों के गाँव को कथा का आधार बनाया है। उपन्यास की महानता सभ्यता से दूर छूटे इस भूभाग में जीनेवाले असभ्य तथा अर्द्धसभ्य प्राणियों की जीवन गाथा को कुशलता से चित्रित करने में है। लेखक ने इन मछलीमारों के आपसी सम्बन्ध, उनके प्रेम और वृष्णा की भावना, ईर्ष्या, वासना एवं यौन-सम्बन्ध का यथार्थ चित्र खींचा है। इनका जीवन हम सभ्य कहे जाने वाले प्राणियों के जीवन से भिन्न है। यहाँ स्त्रियाँ पति पर शासन भी करती हैं; उपपति भी रख लेती हैं। इन निरीह प्राणियों में जितनी स्त्री सच्चाई और कोमलता है उतनी ही ईर्ष्या। लेखक ने यथासम्भव अपने को अर्जित संस्कारों एवं नैतिक पूर्वाग्रहों से दूर रखने का प्रयत्न किया है। वह उनके सामाजिक जीवन (प्रेम, विवाह), आर्थिक जीवन (व्यवसाय, रहन-सहन पोशाक), धार्मिक-जीवन (त्योहार, धार्मिक विश्वास—खंडाला देवता की पूजा आदि) और संस्कृति से पूर्ण परिचित है।

रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' में जरायमपेशा कही जाने वाली खानाबदोश करनट जाति का जीवन चित्रित है। इनकी जीवन-रीति सभ्य कहे जाने वाले लोगों से नितान्त भिन्न है। लेखक ने भूमिका में इस जाति को नट, डोम, भंगी, सपेरा, चमार, धोबी आदि असभ्य तथा नीच समझी जाने वाली जातियों से भी अलग किया है। उपन्यासकार ने भूमिका में इनकी नैतिकता, पेशा, पोशाक, रहन-सहन, विवाह,

छाछूत आदि का विवरण प्रस्तुत किया है।^१ करनटों के इसी विशिष्ट जीवन पर यह उपन्यास आधारित है। सम्पूर्ण उपन्यास में इस जाति का सामाजिक, आर्थिक और नैतिक जीवन 'भूमिका' में स्पष्ट किये गए विचारों के अनुरूप है। किन्तु उपन्यासकार ने इनकी नैतिकता को आदर्श बनाकर नहीं प्रस्तुत किया है।^२ 'रथ के पहिए' में देवेन्द्र सत्यार्थी ने आदिवासियों के एक वर्ग—गोंडों के जीवन को चित्रण का विषय बनाया है। उन्होंने उपन्यास में गोंड-जीवन और उनकी विशेषताओं का सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है।

आंचलिक उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा में रखा जा सकता है। इनमें आंचलिक जीवन का यथार्थ चित्रण होता है। लेखक वर्ण्य जनपद के सम्पूर्ण सुख-दुःख, समूचे राग-विराग को भोगकर प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत करता है। यथार्थ का यह आग्रह रांगेयराघव के 'कब तक पुकारूँ' में पूर्ण रूप से मिलता है। वर्ग-संघर्ष को उपन्यासकार ने उभारा है। दरिद्र और छोटी जातिवालों पर धनी और ऊँची जाति के लोगों के अत्याचार उपन्यास में भरे पड़े हैं। लेखक ने उत्पीड़ित और शोषित खानाबदोश करनटों के आर्थिक शोषण और उससे उत्पन्न उनके सामाजिक-नैतिक विश्वासों को सही-सही (उनकी सभी कुरूपताओं के साथ) प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इनकी स्त्रियों के साथ उच्चवर्ग बलात्कार करता है, पुलिस इनको पकड़कर पीटती है और नाना प्रकार के अत्याचार करती है। मुखराम करनट (कथानायक) पागल की भाँति उत्तेजित होकर एक स्थल पर कहता है—

“..... हम नट हैं। हमारे पास कुछ नहीं। हम जुआरी, चोर, उच्चके, बेईमान, कमीने, धोखेबाज, झूठ हैं। हमारी औरतें कुतियों की तरह रहती हैं। ये सिपाही, ये बड़े लोग उन्हें बीमारी देते हैं। फिर वे औरतें वे ही बीमारी हमें देती हैं। फिर हम मरते हैं। मरते वक्त गुस्सा आता है तो कत्ल तक करते हैं। हम कभी किसी का भला नहीं कर पाते, हमें मौका मिलता है तो हम लोगों को ठगने का जतन करते हैं। जो भूखों मरते हुए किसान हैं, वे भी हमसे सुखी हैं। उन्हें बीहरा

१. “.....इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। इनमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ज्यादातर ये लोग चोरी आदि करते हैं। और डोल मढ़ना, हिरन की खाल बेचना इनका काम है। इनकी औरतें होमिनियों की तरह नाचती हैं।” वहाँ कोई बुराई 'सेक्स' के आधार पर नहीं मानी जाती। वे लोग हिन्दुओं के देवी-देवताओं को मानते हैं।” नटों में छाछाछूत चलती है, करनटों में नहीं। सपेरो की तरह इनमें भी शादी में ब्राह्मण नहीं बुलाया जाता।”

नट हिन्दू ही है। वे मुसलमानों के हाथ का नहीं खाते, पर करनटों में ऐसी स्थावृ नहीं है। वे गोश्त भी खाते हैं, शराब भी पीते हैं, खतरनाक भी होते हैं।”

पुराने जमाने में यहाँ के करनटों की हर लड़की जब जवान होती थी, तो पहले उसे ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी।”

'कब तक पुकारूँ', द्वितीय संस्करण १९६०, भूमिका।

२. “मैंने इनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है। बल्कि पाठकों को इसमें 'सेक्स' को ऐसी जानकारी के रूप में हासिल करना चाहिये कि यह इनमें होता है।”—वही, भूमिका।

नोचता है, वकील ठगता है, पुलिस खाती है, सब चूसते हैं, पर हम वेधरवार कुत की तरह घूम-घूमकर जूठन खाने को अपनी आज्ञादी कहते हैं।.....१।”

इस प्रकार लेखक ने इन उत्पीड़ितों और शोषितों की दुर्दशा, इनके सामाजिक नियम और नैतिक विश्वास के प्रति संवेदना जगाने का प्रयत्न किया है।

‘मैला आँचल’ और ‘परती परिकथा’ के लेखक ने भी अपने अंचल के निवासियों की प्रत्येक धड़कन सुनने की चेष्टा की है। उसने उस अंचल की सुन्दरता-असुन्दरता, गरीबी-अमीरी—सब कुछ का यथातथ्य—हू-बहू चित्र खींचने का प्रयास किया है।^१ किन्तु यथार्थवादी होते हुए भी रेणु आदर्शवादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं। इसीलिए ‘कब तक पुकारूँ’ रेणु के उपन्यासों की तुलना में अधिक यथार्थवादी है। हिन्दी के लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय-भाषा और बोलियों के प्रयोग बहुलता के साथ हुए हैं। विशेष रूप से रेणु ने स्थानीय भाषा का बेलगाम प्रयोग किया है। कुटाई-पिसाई, गोइठा, बतियाना, अकुताना, किरिया, टूअर, भकर-भकर आदि ग्रामीण शब्दों के अतिरिक्त अंग्रेजी के बिगड़े हुए शब्दों का (जिनका रूप गाँवों में बिगड़ गया है) उसी रूप में प्रयोग हुआ है, जैसे—डिस्टीबोट, कनकसन, मोलटियरी, डागडर, बिलेक, जेहल, लचकर, मिटिन, पुलोगराम आदि। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों में ग्रामीण मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के सन्दर्भ में यह भाषा की समस्या सबसे जटिल है। इन उपन्यासों की भाषा दूसरे दूर-प्रान्तों के हिन्दी-पाठकों के लिए एक कठिनाई उपस्थित करती है। इन उपन्यासों के अनुवाद की भी समस्या जटिल है। तमाम टिप्पणियों के बावजूद दूसरी भाषाओं में इन उपन्यासों के अनुवाद मूल भाव व्यक्त न कर सकेंगे। उपन्यास में स्थानीय भाषा का प्रयोग वहीं तक उपयोगी हो सकता है जहाँ तक उपन्यास की स्पष्टता एवं सरसता बनी रहे। केवल जनपदीय भाषा का व्यवहार ही अलम् नहीं है। भाषा स्थानीय संस्कृति को उभारने का साधन हो सकती है। किन्तु उपन्यास को शब्दों का अजायबघर नहीं बनाया जा सकता। आंचलिक उपन्यासों में ‘कब तक पुकारूँ’ की भाषा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। उसमें भाषा-सम्बन्धी-दुरुहता नहीं है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में बिखराव अधिक प्राप्त होता है। इस बिखराव के कारण उपन्यासकार किसी व्यापक कथा और महान् चरित्र की सृष्टि नहीं कर पाता। रेणु अपने दोनों ही उपन्यासों (‘मैला आँचल’ और ‘परती परिकथा’) में किसी एक व्यापक कथा और महान् चरित्र की सृष्टि नहीं कर सके हैं। घटनाओं के आधिक्य के कारण कथा में असंबद्धता और नीरसता आ गई है। केवल कुछ बिखरे चित्र मिलते हैं। दोनों ही उपन्यासों में चरित्र संख्या में बहुत अधिक है।

१. ‘कब तक पुकारूँ,’ द्वितीय संस्करण १९६० ई०, पृ० ३७१-७२।

२. “इसमें फूल भी है शल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी” में किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।”

रेणु : ‘मैला आँचल,’ पहले संस्करण की भूमिका से

आंचलिक उपन्यास : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक नवीन उपलब्धि : ७७

चित्रों के सम्बन्ध में यही हालत 'बहती गंगा' में भी है। 'सागर लहरें और मनुष्य' का कथानक भी कमजोर है। यह जगह-जगह जोड़ा हुआ और अस्वाभाविक लगता है।

आंचलिक उपन्यासों में अपने अंचल का मोह प्रबल होने से उपन्यासकार की दृष्टि के संकुचित होने का खतरा बराबर रहता है। कलाकार की दृष्टि व्यापक होनी चाहिए। केवल आंचलिक उपन्यास होने से ही उसका मूल स्वर भी सीमित नहीं हो जाता। अन्य उपन्यासों की भाँति इनमें भी मानव-मूल्यों और युगीन-संघर्षों का यथार्थ चित्रण होना चाहिए। परिवेश का चित्रण साधन रूप में ही हो सकता है। आंचलिक उपन्यास कोई भूगोल नहीं हो सकता। वस्तुतः आंचलिक उपन्यासकार की दृष्टि सृजनात्मक है। वह आंचलिक समस्याओं का चित्रण करते हुए एक नये समाज की रचना करना चाहता है। समाज के घातक तत्वों को निर्मूल कर नव-निर्माण की प्रेरणा उसका उद्देश्य है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य गम्भीर और सामाजिक है। इनकी सफलता जन-जीवन की सच्ची किन्तु महान् कथा कहने में है। जो उपन्यास गाँव के नाच-गाने, त्योहार तथा अन्य आंचलिक दृश्यों को बिना किसी महान् आधार के प्रस्तुत करेगा वह समर्थ नहीं कहा जा सकता।

ऊपर गिनाई गई कुछ कमजोरियों के बावजूद हिन्दी में आंचलिक-उपन्यासों का भविष्य आशाप्रद है। आजकल हिन्दी में आंचलिक उपन्यास बहुत लिखे जा रहे हैं। निस्सन्देह वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आंचलिक-उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया है।

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दी में रेखाचित्र और रिपोर्ताज

हिन्दी की अपेक्षाकृत कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा-साहित्य, आदि को अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका। वस्तुतः प्राचीन साहित्य में काव्य को जिस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था, और उसी को लेकर सिद्धान्तों का जिस प्रकार निर्माण हुआ, उसी प्रकार हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी काव्य और तत्पश्चात् कथा को ही अधिक जनप्रियता प्राप्त हुई। आज भी यही स्थिति है। हिन्दी की सिद्धान्तवादिता अधिकांशतः 'काव्य' को आधार बनाकर प्रस्तुत होती रही है अथवा इधर कथा-उपन्यास की चर्चा अधिक हो रही है। गोष्ठियों, परिसंवादों और विशिष्ट व्याख्यानों में भी काव्य और कथा का ही ऊहापोह अधिक होता है, स्वभावतः अन्य विधाओं के लेखक उपेक्षित अनुभव करते हैं और इन विधाओं को साधारण-प्रतिभाएँ ही प्राप्त हो पाती हैं। कभी-कभी अन्य विधा-विशेषज्ञ इन अप्रचलित विधाओं में भी कुछ लिख देते हैं किन्तु हिन्दी में इन विधाओं में अभी तक गंभीर प्रयत्न नहीं हुए हैं। आलोचना की एक भी अच्छी कृति इन विधाओं पर अभी तक प्रस्तुत नहीं हो

७८ : आलोचना

सकी है, फलतः यदि इन विधाओं के लेखक यह कहते हैं कि हिन्दी में कवि, कथाकार और आलोचक अन्य विधाओं का विकास नहीं देखना चाहते तो इस आरोप में सत्य का अंश अवश्य है।

एक दृष्टि से किसी साहित्य की समृद्धि और व्यापकता का पता इस तथ्य से चलता है कि उसमें कितनी विधाओं में उच्चतम कोटि का साहित्य विद्यमान है और यह भी कि उसके साहित्यशास्त्र या सैद्धान्तिक आलोचना में व्याप्ति कहाँ तक है? हिन्दी का रससिद्धान्त पण्डितों के द्वारा अभी तक इतना व्यापक नहीं बन पाया है कि उसके द्वारा इन कम प्रचलित विधाओं का परीक्षण हो सके। अतः अप्रचलित विधाएँ हमारे सम्मुख इस प्रकार की कुछ चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। सिद्धान्त-शास्त्र केवल सारतत्त्व (essence) पर ही आधारित होकर नहीं चल सकता क्योंकि वह दर्शन की तरह केवल 'मूलतत्त्व' पर विचार का अभ्यस्त होने के कारण सन्दर्भहीन और सतही बन जाता है।

सारतत्त्ववादी दृष्टि से साहित्यमात्र की विशिष्टता अनुभूति और भाव की कलात्मक अभिव्यंजना है। स्पष्टतः इस महाव्याप्ति में रेखाचित्र-रिपोर्ताज भी आ जाते हैं किन्तु इससे साहित्येतर और साहित्य का भेद प्रस्तुत हो जाने पर भी कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः प्रत्येक विधा अपने मूल में एक जीवन-दृष्टि—एक परिप्रेक्ष्य छिपाए रहती है। वास्तविकता के 'चित्रण' में परिप्रेक्ष्य से चित्रण-विविधता आती है, अतः काव्य, कथा, नाटक से रेखाचित्र-रिपोर्ताज-संस्मरण आदि में जो चित्रण-वैविध्य है, उसका कारण लेखक का परिप्रेक्ष्य-परिवर्तन है। स्वयं रेखाचित्र और रिपोर्ताज आदि के मध्य इस परिप्रेक्ष्य-अनुवेध को देखा जा सकता है और केवल इसी आधार पर इनकी विशिष्टताओं और भेदों को समझा जा सकता है अतः काव्य-रूप की समस्या मात्र बाह्य विभाजन नहीं है, अपितु विधास्थित दृष्टि या परिप्रेक्ष्य का अनुसन्धान है।

कम प्रचलित विधाओं और काव्य-कथा-नाटक में मुख्य अन्तर यह है कि उपन्यास, काव्य आदि की तुलना में रेखाचित्रादि वस्तु-सम्पूर्णतावादी दृष्टि लेकर नहीं चलते। महाकाव्य और महानाटक तथा उपन्यासों में वास्तविकता को उसकी पूर्णता में बिम्बित-चित्रित किया जाता है जबकि रेखाचित्रादि में एक स्थान पर स्थित होकर Positional वस्तु या व्यक्ति को देखा जाता है। रेखाचित्रादि व्यक्तिगत जीवन समष्टिगत जीवन की सभी धाराओं, सभी कालक्रमों और सभी प्रश्नों-समाधानों एवम् प्रवृत्तियों को नहीं देख सकते अतः सत्य और तथ्य की सांगोपांगता (Totality) इन विधाओं में नहीं मिलती। कम-से-कम हिन्दी की अपेक्षाकृत अप्रचलित विधाओं के विषय में यह कथन सही लगता है।

दृष्टि के अतिरिक्त दृष्टिप्रेरक तत्त्वों—मनोवेगों, उद्देश्यों और भावनाओं (Impulses) की मात्रा, विस्तार और गम्भिरता की दृष्टि से भी अप्रचलित विधाओं और काव्य-कथादि में अन्तर उपस्थित हो जाता है। रेखाचित्रादि में लेखक की सम्पूर्ण चेतना (Total Consciousness) समाविष्ट नहीं हो पाती, चायद इसीलिए इन्हें साहित्यकार उतना महत्त्व नहीं देना चाहते। परन्तु इसीलिए इनका विशिष्ट महत्त्व भी

मिष्ट होता है क्योंकि समुद्र के अतिरिक्त सुन्दर सरोवरों, लघु वीचिविलासमय सरि-
ताओं और किसी प्रस्तर या पल्लव पर चमकती एक बूंद का भी अपना अद्वितीय
नोदय होता है। शायद 'लघु' हमारे जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है अतः
'उदात्त' तत्त्व का अभाव होने पर भी ये लघुविधाएँ परिचित संसार का परिचित
पद्धति पर आलेखन करती हैं। अपने अस्तित्व की नम्रता और लघुता समझकर भी
वे विधाएँ साहित्य और जीवन को एक अपनत्व देती हैं। पराएपन का अभाव, आतंक
का अभाव और अधिक मेधागत—कल्पनागत ऊहापोह का अभाव इनकी उपलब्धि है।

कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज परस्पर निकटतम
विधाएँ हैं। संस्मरण में भावात्मकप्रियता अधिक कार्यरत रहती है, उदाहरणतः पंडित
नारसीरास चतुर्वेदी की 'संस्मरण' नामक पुस्तक में पंडित श्रीधर पाठक आदि पर
लिखित संस्मरणों 'प्रियता' और पसन्दगी लेखक के चित्त को वर्ण्यव्यक्ति की उन
जीवन-स्थितियों पर केन्द्रित कर देती है, जो उसे प्रिय हैं, पसन्द हैं। अतः संस्मरणों
को पढ़ते समय लेखक के व्यक्तित्व का भी अध्ययन होता चलता है। हिन्दी में ऐसे
संस्मरण बहुत कम मिलते हैं, जिनमें स्मर्यमाण व्यक्ति का 'तटस्थ' स्मरण किया गया
हो। इसका कारण यह है कि दिवंगत व्यक्तियों के विषय में भारतीय धारणा अप्रिय
पक्षों की चर्चा को मृतात्मा के प्रति असम्मान समझती है। राग-द्वेष से रहित 'शव'
को यहाँ परम पवित्र माना गया है और जो उपस्थित नहीं है, उस व्यक्ति की संज्ञा
'शव' है। 'शव' के प्रति सम्मान-पूर्ण दृष्टि का अर्थ यह है कि व्यक्ति पूर्ण नहीं होता,
कोई कृति पूर्ण नहीं होती। अतः जीवन्त तत्त्वों में सहायक पक्षों और मूल्यों का स्मरण
ही विधेय है। प्राचीन काल से 'परम्परा' के प्रति जो यह दृष्टि रही है, वही संस्मरण
लिखते समय लेखक के मन में समाई रहती है अतः भारतीय संस्मरणों में शुभ पक्षों
का ही उद्घाटन अधिक होता है, जानने पर भी कुत्सित पक्षों का उल्लेख अवांछनीय
माना जाता है।

रेखाचित्र संस्मरणों से अधिक तटस्थ अंकन है। 'रेखाचित्र' शब्द से तो लगता
है कि इस विधा में केवल व्यक्ति या वस्तु या स्थान का शब्दचित्र रहता है। मूलतः
यह चित्रकला के क्षेत्र की प्रवृत्ति है जहाँ रेखाओं द्वारा व्यक्ति या वस्तु का आभास
प्रस्तुत किया जाता है। रेखाओं के चित्र में रंग अनावश्यक होते हैं, इसी तरह शब्द
के माध्यम से अंकित चित्रों में भाव की ऊष्मा अनावश्यक है। किन्तु रेखाओं से चित्र
बनाते समय व्यक्ति या वस्तु के प्रति—एक उन्मुखता आवश्यक है, उसी प्रकार
साहित्यिक रेखाचित्र में व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक राग-उन्मुखता अनिवार्य तत्त्व है।
वाक्कृति अंकन के लिए वर्ण्य-व्यक्ति या वस्तु में कोई विशिष्टता लेखक को आकर्षित
करती है। यह विशिष्टता आकृतिगत ही नहीं, आचरणगत, अभ्यासगत (आदत
सम्बन्धी), स्वभावगत और पद्धतिगत भी हो सकती है अतः प्रायः जीवन में प्रचलित
और स्वीकृत प्रणालियों से भिन्न जब किसी व्यक्ति में कुछ विलक्षणता दिखाई पड़ती
है तब वह रेखाचित्र के योग्य बनता है। "यह व्यक्ति अपने में एक 'कैरेक्टर' है, यह
रेखाचित्र के योग्य है,"—इस प्रकार के कथन प्रायः सुनाई पड़ते हैं। फिर भी साधा-

८० : रेखाचित्र

रण से साधारण व्यक्तित्व में कुछ अद्वितीयता होती ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस अर्थ के अद्वितीय होता है और इस दृष्टि से एक सामान्य साँचे के भीतर ढला हुआ होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्तरों पर विलक्षण होने के कारण रेखाचित्र का विषय बन सकता है। उपन्यासों, कथाओं में रेखाचित्रों का बहुत अधिक प्रयोग होता है। प्रत्येक उपन्यास के ये रेखाचित्रात्मक स्तर वर्णित वस्तु या व्यक्ति को वाणी देते हैं। रेखाचित्र द्वारा वस्तु और व्यक्ति सदाक् हो उठते हैं, उनकी असाधारणता स्पष्ट होती है अतः रेखाचित्र प्रचलित और स्वीकृत साँचों के मध्य व्यक्ति के गौरव का, सौन्दर्य और आकर्षण का, वैविध्य और महिमा का आकलन बन जाता है। रेखाचित्र यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक अस्तित्व में सामान्य और विशिष्ट की एक संगति रहती है। इस प्रकार एक बहुत बड़ा सत्य रेखाचित्र लेखक अनजाने ही हमारे सम्मुख प्रकट करता है।

रेखाचित्र में उपर्युक्त 'तटस्थता' और 'उन्मुखता' की संगति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह सफल होगा। 'तटस्थता' का अर्थ रुचि का अभाव नहीं है। 'तटस्थता' का अर्थ है कि हम 'व्यक्ति' को अपने साथ जुड़ी—निजताओं-परताओं से ऊपर उठकर—एक सौन्दर्यपरक दृष्टि से देख सकते हैं। इससे व्यक्ति की विलक्षणताएँ एक 'सौन्दर्य-विषय' के रूप में प्रस्तुत हो जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे मन में कोई राग नहीं होता। राग होता है पर वह आवेग या भावुकता बनकर रेखाचित्रण की स्थिति में हमें सम्मोहित नहीं कर देता। 'तटस्थता और उन्मुखता की सामान्य स्थितियों के भीतर रेखाचित्र लेखक की रुचियाँ, मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ भी कार्यरत रहती हैं, उसका सौन्दर्यबोध भी संलग्न रहता है अतः एक ही व्यक्ति और वस्तु, स्थानादि पर विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र मिलते हैं। विशाल भारत के 'शहीद अंक' में शहीदों पर लिखे गए रेखाचित्रों में बाह्याकृतियों के सम्पुञ्जन और आलेखन में यह 'दृष्टि' कार्यरत है कि शहीद महामानव थे; वे मानवता के उद्धारक तथा सवर्षहोमी थे अतः उनकी साधारण चाल-ढाल, रूप, हावभाव, चेष्टादि उनके विकट-कर्माँ के परिचायक निर्देशों या चिह्नों का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसा लगता है, जैसे यदि उनका रेखांकन भिन्न होता तो वे ऐसे विकट कर्मा नहीं हो सकते थे और यह सत्य है कि दृढ़ संकल्पी व्यक्ति की शरीर-रचना चाहे जैसी हो, उसकी चित्तवनि और चाल-ढाल में कुछ अजीब आकर्षण आ ही जाता है। गठन; गति से रूप पाता है। रेखाचित्र इस बाह्य गठन आदि को ही अंकित करता है, वह 'गति' के साथ सम्बन्ध जोड़कर कारण-कार्य परम्परा अपनाकर विश्लेषण नहीं करता अतएव रेखाचित्र प्रतीतियों का अंकन है, ऐसी प्रतीतियों का जिनके कारणों की चेतना रेखाचित्र लेखक के मन में होती है, पर वह उसकी व्याख्या नहीं करता। वह पुण्य अथवा परिणाम को देखता है। उसका ध्यान 'सृष्टि' पर है, इस तथ्य पर नहीं कि वह इस प्रकार की ही क्यों है, इससे अन्यथा क्यों नहीं है?

कुछ रेखाचित्र व्यक्ति या वस्तु की विलक्षणता के रोचक अंश पर ही अधिक ध्यान देते हैं, यथा सुरेशनाथ दीक्षित के 'पण्डित जी' में अथवा बाबू गुलाबराय के

‘नापिताचार्य’ में। कुछ लेखक व्यक्ति के भीतरी उपकरणों पर अधिक ध्यान देते हैं, यथा बृन्दावनलाल वर्मा के ‘हलकू’ में। यह स्पष्टतः ‘दृष्टिभेद’ है। कहीं केवल वाह्य-आकृतियों और प्रतीतियों का आकलन होता है जैसे भगवतशरण उपाध्याय के ‘वो दुनिया’ में। कुछ स्थान का शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं जैसे सुहृदय के ‘राँची के प्रपात’ तथा तमबिहारीलाल के ‘खण्डहर बोलते हैं’ में। यहाँ लेखक ‘दृश्य’ के साथ अपनी दृष्टि का तादात्म्य करता है, एक सौन्दर्यबोधोदात्त-तटस्थता के साथ। मानवप्रेमी प्रवृत्तियों पर सर्वाधिक ध्यान देकर रेखाचित्र बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखे हैं, जैसे ‘नवीन जी’ पर उनका रेखाचित्र। यह स्मरणीय है कि संस्मरण और रेखाचित्र की विधाएँ एक-दूसरे में सन्निविष्ट होती चलती हैं। इन दोनों में भेदक तत्त्व सिर्फ भावात्मकता की मात्रा का है—संस्मरणों में भाव लेखक को पर्याप्त मात्रा तक अनालोचक बनाए रखता है, रेखाचित्र में उन्मुखता अथवा रागात्मक स्पर्श-मात्र से ही काम चल जाता है।

रेखाचित्र व्यंग्यमयी चित्रवृत्ति में भी लिखे जाते हैं और शस्त्रहीन सौन्दर्य-बोधक स्थिति में भी—ये दोनों स्थितियाँ एक ही दृष्टि में मिली भी रह सकती हैं। शेर शत्रुता की मानसिक स्थिति बनाकर, खिल्ली उड़ाने की मानसिक दशाओं में भी रेखाचित्र लिखे जा सकते हैं लेकिन ऐसी दशा में राग चित्रित व्यक्ति में न होकर किहीं लेखक की धारणाओं में प्रतिबद्ध होता है। मेरी जानकारी में हिन्दी में पूर्ण वैज्ञानिक स्थिति में लिखित रेखाचित्र एक भी नहीं मिलता। वस्तुतः रेखाचित्र मानव-प्रेमी विधा है, एक विशेष प्रकार की सहानुभूति और तादात्म्य इसके लिए अनिवार्य है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने साधारण जनों पर ‘दीप जले, शंख बजे’ कृति में अनेक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं, यहाँ मानवीय सहानुभूति के कारण साधारण जन विशिष्टता प्राप्त करते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के ‘गेहूँ और गुलाब’ में भी यही प्रवृत्ति है। बेटव बनारसी के ‘उपहार’ में हास्यरसात्मक शब्दचित्र है। हास्यरस के लेखकों के लिए रेखाचित्र के क्षेत्र में असीम सम्भावनाएँ हैं यों बेटव, काका, बरसानेलाल चतुर्वेदी, चोंच, कुल्हड़ आदि ने पद्यात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं और उनमें अनेक रोचक हैं !

रेखाचित्रों में चित्रण की प्रधानता होती है, संस्मरणों में विवरण अधिक होते हैं। संस्मरणों में प्रसंगों और कथाओं का प्रयोग होता चलता है। घटित का विवरण और उससे वर्ण्यव्यक्ति की विशिष्टता या उपलब्धि पर प्रकाश प्रक्षेपण-संस्मरण की प्रचलित विधि है जबकि रेखाचित्र में लंगड़ी शैली में, रूप अभिव्यक्तिकारक नपे तुले शब्दों का प्रयोग अधिक होता है अतः रेखाचित्र संस्मरण से कहीं अधिक बड़े कलाकार की अपेक्षा करता है। संस्मरण में वर्ण्यव्यक्ति के कृतित्व और महिमा का बल रहता है क्योंकि पाठक या श्रोता का ध्यान लेखक के विवरण से होता हुआ वर्ण्यव्यक्ति के गौरव या विशिष्टता का अनुसन्धान कर; उससे आकर्षित होता है और संस्मरण की दुबलता को वर्ण्यव्यक्ति की महत्ता दबा ले सकती है किन्तु रेखाचित्र में कलाकार की शब्दशक्ति पर रूप को स्पष्ट और सवाक् करने की क्षमता पर; पाठक या श्रोता का सीधा ध्यान रहता है। सफल से सफल संस्मरण लेखक वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति को वह

गौरव नहीं दे सकता जिसके लिए यह वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति अयोग्य होता है; हीन असफल संस्मरण लेखक वर्ण्य व्यक्ति की महत्ता को अस्पष्ट रख सकता है। अतः जिस सीमा तक असफल संस्मरण लेखक अपने विषय का गौरव घटा सकता है; सफल संस्मरण लेखक अपने प्रतिपाद्य का गौरव उसी सीमा तक बढ़ा नहीं सकता अतः सफलतम संस्मरणों में गोर्की का तालस्ताय पर लिखा संस्मरण इसलिए भी अधिक सफल हुआ है क्योंकि उसका विषय है तालस्ताय। अतः इस संस्मरण में हमें गोर्की और तालस्ताय दोनों प्रभावित करते हैं। साधारण व्यक्तियों पर लिखित संस्मरणों में गोर्की उतना प्रभावित नहीं कर सके। रेखाचित्र जब किसी प्रसिद्ध और पूर्व से ही मन में बसे व्यक्ति पर लिखा जाता है, तथा उसे भी यह उक्त सुविधा मिल जाती है किन्तु साधारण व्यक्तियों पर लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों में रेखा चित्रकार का कार्य अधिक कठिन है।

पद्मसिंह शर्मा और श्रीराम शर्मा के क्रमशः 'पद्मपराग' और 'बोलती प्रतिमा' में वह शब्दशिल्प नहीं मिलता जो वेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' और प्रकाशचन्द्र के 'मिट्टी के पुतले' और 'पीपल', 'खण्डहर' आदि में मिलता है। विशेषकर वेनीपुरी के रेखाचित्र अधिक सफल हुए हैं क्योंकि वहाँ विषय के लिए शब्द का बिम्बपरक चुनाव किया गया है। यह शब्दचयन जितना अधिक वास्तविकता के सदृश होगा अर्थात् वस्तविकता की अनुरूपता का वह जितना अधिक आभासक होगा, उतना ही रेखाचित्र अधिक सफल होगा। मछिन्द्रनाथ की 'घास वाली' हर्षदेव के 'पण्डित पातेप्रसाद' आदि में वह शब्द अंतर्दृष्टि नहीं मिलती जो वेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और 'माटी की मूरतें' में मिलती है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने निर्जीव वस्तुओं यथा 'लैटर बक्स' 'तोता का ताल' 'दिल्ली दरवाजा' आदि को अपने शब्दचित्रों से अमर कर दिया है। इसका कारण लेखक की निर्जीव वस्तुओं में भी जान डाल देने की क्षमता है जो वस्तुओं में अपनी चेतना-प्रेक्षण की क्रिया है। विस्तृत हृदय का व्यक्ति ही यह चेतनादान कर सकता है, यह दृष्टि स्पष्टतः प्रकाशचन्द्र गुप्त को प्रगतिवादी मानववाद से मिली है और वेनीपुरीजी को समाजवादी मानववाद से; जबकि बाबू गुलाबराय को 'पराई पीर' समझने वाली वैष्णवता से और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को उनकी प्रिय अराजकतावादी उदात्त व्यक्तिधारणा और मानवप्रेम से मिली है। यह प्रेम वस्तुओं तक फैलकर उन्हें जीवन्त रूपों के विच्छुरण की शक्ति देता है और दूसरी ओर यही प्रेम किसी व्यक्ति या वस्तु पर केन्द्रित होते ही लेखक की चेतना में सार्थक शब्दों को उसी तरह उभारता है जैसे मंथन दूध से नवनीत को जन्म देता है, अतः संस्मरणों और रेखाचित्रों में हिन्दी की यह मानव प्रेमी प्रवृत्ति ही परिलक्षित हुई है।

यात्रा साहित्य और संस्मरण कही जाने वाली कृतियाँ वस्तुतः रेखाचित्रों की भी उदाहरण बन जाया करती हैं क्योंकि प्रायः हिन्दी लेखकों में संस्मरण लिखते समय पहले या मध्य में रेखाचित्र प्रस्तुत करने की एक परम्परा ही दिखाई पड़ती है। इस दृष्टि से अरे यायावर रहेगा याद, एक बूंद सहसा उछली (अज्ञेय), ठेले पर हिमालय (धर्मवीर भारती), सुबह के रंग (अमृतराय), नन्दन से लन्दन (ब्रजकिशोर नारायण) सागर की लहरों पर (भगवत्शरण उपाध्याय) दूसरी दुनिया (अक्षयकुमार जैन)

हो, जिस संस्म-लतम दुशा स्ताय उतना व्यक्ति धारण टन है। निमा' वन्द के पुरी के चुनाव अर्थात् रेखाचित्र 'आदि' की मता का कारण अपनी कता है, वेनी-समझे तावादी र उहें व्यक्ति उभारता चित्रों में

दि यात्रात्मक साहित्य में रेखाचित्र के अंश मिलते हैं। संस्मरणों में अतीत के चल-चित्र, स्मृति की रेखाएँ (महादेवी) संस्मरण (बनारसीदास चतुर्वेदी), क्या गोरी क्या मेरी, रेखाएँ बोल उठीं (देवेन्द्र सत्यार्थी) जजीरें और दीवारें (वेनीपुरी) जो न कर सका, जो लिखना पड़ा (भदन्त आनन्द कौशल्यायन), पथचिह्न, परिव्राजक की यात्रा (शान्तप्रिय द्विवेदी), भूले हुए चेहरे, जिन्दगी मुस्कराई (प्रभाकर), साहित्यिक जीवन के संस्मरण (किशोरीदास वाजपेयी), मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे (गुलाबराय) स्मृति कण (सेठ गोविन्ददास), पहली सलामी (चतुरसेन), चाँद पत्रिका का कौसी अंक, ज्यादा अपनी, कम पराई (अश्वक), आदि कृतियों में रेखाचित्र भरे हुए हैं अतः रेखाचित्रों की दृष्टि से भी इनका उल्लेख आवश्यक है।

इसी प्रकार 'इण्टरव्यू'-साहित्य में भी रेखाचित्रात्मक अंश मिलते हैं, 'मैं इनसे कल' (कमलेश) के अतिरिक्त पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित इण्टरव्यू-साहित्य विपुल-रूप में मिलता है, कथा और उपन्यासों में प्राप्त रेखाचित्रों का उल्लेख किया जा चुका है।

रेखाचित्रों की दृष्टि से वेनीपुरी, प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, और प्रकाश-चन्द्र गुप्त का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

रिपोर्टाज हिन्दी की नवीन विधा है। संस्मरण और रेखाचित्र हिन्दी में आज्ञादी के बहुत पूर्व लिखे जाने लगे थे लेकिन रिपोर्टाज १९४० के बाद ही लिखे गए। किसी घटना की रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को रिपोर्टाज कहा जाता है। किन्तु हमें लेखक घटना का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है यों सुनी हुई घटना पर भी रिपोर्ट लिखे जा सकते हैं। इस दूसरी विधि में घटना के 'होने' के काल का कल्पना और पूर्वानुभव से मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध में इस विधा का विशेष विकास हुआ। इलिया एहरेनबुर्ग के रिपोर्टाज प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में बंगाल के बकाल पर रांगेय राघव ने शक्तिशाली रिपोर्टाज लिखे थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय, प्रभाकर भाचवे आदि ने भी रिपोर्टाज लिखे हैं। आकाशवाणी से मेलों, उत्सवों, खेलों, खेलकूद, जन्म-मरण आदि अवसरों पर जनसमूह की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का जनपरक वर्णन प्रसारित होता है, यह रिपोर्टाज-साहित्य में ही सम्मिलित हो सकता है। इस प्रकार के रिपोर्टाजों में कुछ आकर्षक रिपोर्टाज प्रसारित हुए हैं, गांधी नेहरू और शास्त्रीजी की मृत्यु के अवसर पर प्रसारित रिपोर्टाजों में यदि करुणा-जनक दृश्यों का साक्षात्कार किया गया है तो पर्वों उत्सवों के विवरणों में हर्षोल्लास का। खेल-कूद के विवरण में उत्साह और विनोद की अभिव्यक्ति होती है। अभी यह साहित्यिक रचना में और गुणा में प्रारम्भिक स्थिति में ही है।

रिपोर्टाज में घटना का यथावत् वर्णन और लेखक का उत्साह ये दो मुख्य तत्त्व होते हैं। यहाँ भी लेखक किस दृष्टि से घटना को देखता है और उस 'होने' (becoming) को अपने 'स्व' से कैसे जोड़ता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। मात्र होने की रिपोर्ट या तो पुलिस थाने में लिखी जाती है या अन्य अधिकृत सूचनाओं में। किन्तु घटना एक संकुलन प्रक्रिया है। व्यक्तियों के समूह घटना को जन्म देते हैं अतः उनकी

आशा-अकांक्षाएँ, उनकी चेष्टाएँ, सन्देह और निश्चय, पराक्रम और पलायन आदि सभी कुछ रिपोर्ताज में व्यक्त होते हैं। रेखाचित्र में लेखक एक सौन्दर्यबोधक तटस्थता बरतता है किन्तु रिपोर्ताज में—पक्षधरता ही अधिक व्यक्त होती आई है। रांगेयराघव के अकाल पर संस्मरणों में केवल भूख से तड़पते बंगाल के व्यक्तियों का ही शब्दचित्र नहीं है अपितु लाशों पर मँडराते गिद्धों—अन्न के लिए अस्मत् बेचती नारियों, मुनाफ़ा-खोर धन्नासेठों की लालचग्रस्त आँखों, अफ़सरों की लापरवाह मुखमुद्राओं और सरकार के दम्भों का भी जीताजागता चित्रण किया गया है और इन सारी घटनाओं को एक सूत्रता देने वाली दृष्टि है, लेखक की जनता के प्रति प्रीति। यदि रांगेयराघव की जगह कोई प्रतिक्रियावादी लेखक अकाल पर रिपोर्ताज लिखता तो वह भारतीयों के भाग्य-वाद, अंगरेजशाही की कठिनाइयों और उदारता आदि से विवरण में एकसूत्रता का कार्य लेता। इस प्रकार परिप्रेक्ष्य के प्रति पक्षधरता अथवा प्रतिबद्धता के बिना रिपोर्ताज में लेखक का उत्साह व्यक्त नहीं हो सकता।

रिपोर्ताज रूस में बहुत लिखे गए, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय। वहाँ लेखकों को युद्ध के मोर्चों पर भेजा गया और वहाँ से उन्होंने युद्ध में रूसी जनता की वीरता और बलिदान का, युद्ध की भयंकरता और विनाश का जीवन्त चित्रण किया। भारत पर चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के समय लेखकों को मोर्चों पर नहीं भेजा गया, कुछ चित्रकार बाद में अवश्य भेजे गए अतः स्वतन्त्रता के बाद रिपोर्ताज का यह स्वर्णिम अवसर निकल गया। निर्माण-कार्यों के स्थलों पर भी रिपोर्ताज नहीं लिखवाए गए। खेद का विषय है कि इधर अब भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

रिपोर्ताज वस्तुगत सत्य को प्रभावशाली बनाता है, उसका सम्बन्ध तत्काल वर्तमान से होता है किन्तु उसका लेखक वर्तमान के उस बिन्दु पर होता है, जिसमें भूतकालीन मूल्य और भावनाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी। अतः रिपोर्ताज में सर्वत्र एकहरा वर्णन नहीं होता। इनमें लेखक की गूढ़ चेतना से उछलते हुए और अपने में चिन्तन और अनुभव से संविलित शब्द और वाक्य अनायास ही सम्मिलित होते चलते हैं और साथ ही आमूलचूल स्पन्दित भावकण क्षण-प्रतिक्षण घटने वाली वास्तविकता को मानवीय सन्दर्भ देते चलते हैं। कभी लेखक 'होने' का क्षण-क्षण परिवर्तित-रूप आकलित करता है तो कभी उस होने में 'पूर्व' और 'पर' को जोड़कर उसे एक काल प्रवाह में रखकर देखता है; कभी उस 'होने' की प्रक्रिया के उपकरणों और व्यक्तियों पर नज़र डालता है तो कभी घटना और मनुष्य की निरति पर विचार करता है अतः रिपोर्ताज-साहित्य क्रिया के क्रम में स्थित होकर रचित साहित्य है। रिपोर्ताज का लेखक घटना का स्वयं अंश है और उसका द्रष्टा भी है। वह मात्र सिंहावलोकन नहीं करता, न वह चित्रकार की तरह दूर से दृश्य को देखता है, वह घटना का साक्षात् भोक्ता बनता है। अकाल में रांगेयराघव का लेखक भूख के साथ भूख की पीड़ा से तड़पता है, दो मुट्ठी अन्न पाकर वह 'उस' भोजन के आनन्द की कल्पना को अनुभव में बदलता है। इसी तरह युद्ध में रिपोर्ताज लेखक मारने वाले के साथ मारता है और मरने वाले के साथ मरता है। अतः रिपोर्ताज में लेखक घटना

और द्रष्टा के मध्य की दूरी को अपने माध्यम से समाप्त कर देता है और विरोधाभास यह कि फिर भी वह एक स्तर पर तटस्थ रहता है। वह चन्द्रवरदाई की तरह द्रष्टा भी है और भोक्ता भी, लेखक भी है और मरजीवा भी। बिना कल्पना को अनुभव में बदले सफल रिपोर्ताज नहीं लिखे जा सकते और साथ ही अनुभव को कल्पना में पकाए बिना भी वह रिपोर्ताज का सफल लेखक नहीं बन सकता।

इस प्रकार रेखाचित्र की तटस्थता का विगलन और साथ ही रेखाचित्रक की तटस्थता रिपोर्ताज के अनिवार्य तत्त्व हैं। रिपोर्ताज में कल्पना, भाव और बुद्धि सर्वाधिक रूप में सक्रिय रहते हैं अतः यह विधा साहित्य की सबसे अधिक क्रियापरक विधा है जैसे एक ही व्यक्ति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों एक साथ क्रियारत हों और फिर भी एक स्तर से 'परमब्रह्म' की तरह लेखक अपनी चेतना के इन तीनों सक्रिय आयामों को साथ-साथ देखता चल रहा हो।

ऐसी सक्रिय विधा में शब्द उसी प्रकार त्वरा पकड़ते हैं जैसे स्वचालित बन्दूक से निकलने वाली गोली। यह स्वयंचालित प्रक्रिया रिपोर्ताज लेखन के समय उपयुक्त शब्दों को स्वतः चेतना में अवतरित कर देती है क्योंकि शब्दशिल्प के लिए वरण और चयन का समय रेखाचित्र-संस्मरण आदि में मिल सकता है, रिपोर्ताज में नहीं। अतः यहाँ सरस्वती जैसे विद्युत आघात पा जाती है और लेखक के मुख या लेखनी से बाह्य प्रत्यक्ष घटना विद्युत की तरह झटके दे-देकर उसका श्रेष्ठ रचनात्मक तत्त्व बीचकर बाहर निकाल लेती है। इस प्रकार रिपोर्ताज में ध्यान, धारणा, कल्पना और भाव की 'गति' में समन्विति होती है जबकि रेखाचित्र में इन सबकी संगति 'स्थिरगति' में होती है। रेखाचित्र में लेखक की चेतना का चमत्कार मिलता है, रिपोर्ताज में क्रिया और लेखक पर उसकी तीव्रतम प्रतिक्रिया इन दोनों का। अतः रिपोर्ताज क्रिया का सौन्दर्य है, संस्मरण क्रिया और व्यक्तित्व के स्मरण का सौन्दर्य है और रेखाचित्र बाह्यकृतियों और चेष्टाओं की पुनर्प्रस्तुति का सौन्दर्य है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज के क्षेत्रों में लेखकों की सफलता की असीम सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। काव्य, कथा और आलोचना के वशीभूत हिन्दी लेखन यदि इन कम प्रचलित विधाओं को भी आवश्यक समय और शक्ति दे तो न केवल हमारा साहित्य जीवन के अधिक निकट पहुँच सकेगा अपितु हिन्दी का साहित्यचिन्तन जिस संदेहवाद और निरर्थकतावाद से पीड़ित हो रहा है, उससे भी उसे मुक्ति पाने में मदद मिलेगी। अप्रतिष्ठित या कम प्रतिष्ठित विधाओं को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया में लेखकों को भी प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलेगा और साथ ही हिन्दी की भागीरथी का प्रवाह भी विस्तृत होगा। आशा है लेखक बन्धु इधर ध्यान देंगे।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-अनुसंधान : सीमाएँ और संभावनाएँ

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-अनुसंधान-कार्य का आकलन करने से पहले मैं हिन्दी-शोध के इतिहास का सिंहावलोकन आवश्यक समझता हूँ। आधुनिक युग का एकेडेमिक शोध कार्य पश्चिम के विश्वविद्यालयों की देन है, विशेष रूप से उपाधि सापेक्ष अनुसंधान तो बहुत कुछ पश्चिम के अनुकरण पर ही विकसित हुआ है। जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हम पश्चिम का अनुकरण आधी शताब्दी बाद करते हैं उसी प्रकार साहित्यिक शोध में भी हम पश्चिम से लगभग एक शताब्दी पिछड़े हुए हैं। हिन्दी में उच्चस्तरीय अध्ययन-अध्यापन का प्रारम्भ ही सन् १९२२ से हुआ था। अनुसंधान का उसके दस वर्ष बाद अर्थात् सन् १९३२ से प्रारम्भ होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। यों तो हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध विषयों पर विदेशी विद्वानों ने सन् १९११ से ही अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कर दिया था। प्रसिद्ध प्राच्य विद्या विशारद डॉ० टेस्सीटोरी ने रामचरित मानस और रामायण का अध्ययन प्रस्तुत कर अपनी शोध-वृत्ति का अच्छा परिचय दिया था। तदनन्तर लंदन विश्वविद्यालय में जे० एन० कारपेंटर, एफ० ए० के तथा मोहिउद्दीन कादरी ने क्रमशः तुलसीदास, कबीर और हिन्दुस्तानी ध्वनि पर शोधकार्य किया। इन चारों प्रबन्धों को हम हिन्दी अनुसंधान के सूत्रपात्र करने वाले मौलिक ग्रन्थ मान सकते हैं।

भारतवर्ष में संस्कृत विभाग के अन्तर्गत लिखा गया हिन्दी-विषयक प्रथम शोध प्रबन्ध डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'अवधी का विकास' शीर्षक ग्रन्थ है। हिन्दी विभाग के अन्तर्गत लिखा गया हिन्दी का सबसे पहला शोध-प्रबन्ध सन् १९३४ में डॉ० बड़थवाल का था जो हिन्दी के निर्गुण काव्यधारा का अनुसंधान प्रस्तुत करता है। इसी वर्ष कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय से सूरदास के काव्य पर तथा पेरिस विश्वविद्यालय से 'ब्रजभाषा' पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए। ये सभी प्रबन्ध हिन्दीतर भाषाओं में लिखे गए थे किन्तु इनके विषय हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व काशी, प्रयाग, पंजाब, आगरा, कलकत्ता, पटना और लखनऊ विश्वविद्यालयों में शोधकार्य का श्रीगणेश हो गया था। इन आठ विश्वविद्यालयों में तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में कुल मिलाकर सन् १९११ से सन् १९४७ तक ३८ शोध-प्रबन्ध लिखे गए अर्थात् सानुपातिक दृष्टि से एक वर्ष में एक शोध प्रकाश में आया। इन शोध प्रबन्धों की समीक्षा करना इस समय अनावश्यक है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन अड़तीस प्रबन्धों में से पच्चीस प्रबन्ध ऐसे हैं जिन्हें हिन्दी-अनुसंधान की दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान का प्रारम्भ यदि सन् १९४८ से माना जाए तो सन् १९६५ तक सत्रह वर्षों में उपाधि सापेक्ष प्रबन्धों की संख्या चालीस गुनी है।

वर्षात् सानुपातिक दृष्टि से प्रतिवर्ष सैतीस शोध-प्रबंधों पर उपाधि प्राप्त हुई है। जब कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले अड़तीस वर्षों में अड़तीस—प्रतिवर्ष केवल एक-शोध-प्रबंध पर उपाधि मिली थी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी में अनुसंधान की प्रगति स्वातंत्र्योत्तर-काल में ही हुई है। इस समय तक हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबंधों की संख्या छह सौ है और लगभग पन्द्रह सौ विषयों पर शोध-कार्य हो रहा है। शोध की इस विपुल संख्या को देखकर कई प्रश्न हमारे सामने आते हैं जिन पर हम आगे की पंक्तियों में विचार करेंगे। किन्तु मूलभूत दो कारणों का संकेत करना यहाँ अनुचित न होगा। पहला कारण है अनुसंधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास तथा दूसरा कारण है विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि। सम्प्रति भारतवर्ष के २८ विश्व-विद्यालयों एवं शोध-प्रतिष्ठानों में हिन्दी शोध-कार्य हो रहा है जबकि स्वतंत्रता-पूर्व केवल ८ विश्वविद्यालयों में शोध की सुविधा थी। शोध की प्रविधि और प्रक्रिया भी पहले की अपेक्षा विकसित हुई है और शोध-छात्र उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-शोध के क्षेत्र में हुई इस क्रान्तिकारी प्रगति को भली-भाँति समझने के लिए कतिपय स्थूल तथ्यों की ओर मैं पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पहली बात जो सभी क्षेत्रों में चर्चा का विषय बनी हुई है वह है शोध का स्तर। शोध का स्तर गुणवत्ता से आँका जाता है, परिमाण से नहीं। गुणवत्ता के सम्बन्ध में हिन्दी-शोध के निर्देशकों के मत-सम्मत बहुत निराशाजनक हैं, यदि मैं उन्हें यहाँ उद्धृत करूँ तो हिन्दी-शोध की प्रगति पर प्रतिबंध लगाने का आग्रह सभी के मत में व्यक्त होगा। शोध का स्तर इतना भिन्न क्यों हुआ यह विचारणीय होने के साथ चिन्त्य भी है। शोध ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें निष्ठा के साथ वस्तुपरक दृष्टि से अनुसंधाता को कार्य करना चाहिए। उसमें न तो काल का प्रतिबंध होना चाहिए न किसी प्रकार के आरोपित प्रतिमानों का भय। अनुसंधाता सत्यान्वेषी की भाँति तथ्यों का अनुशीलन करता हुआ निर्णीत और छाने-फटके हुए सत्य को प्रस्तुत करे जो पहले से अज्ञात होने के साथ यथार्थ रूप में ग्राह्य एवं उपादेय हैं।

अनुसंधान का मूल है जिज्ञासा। जहाँ ज्ञान के विस्तार अथवा अज्ञात के उद्घाटन की आकांक्षा है वहीं अनुसंधान का बीज निहित है। यदि जिज्ञासा ही शोध का प्रेरक तत्त्व रहे तो निम्न स्तर के शोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब अनुसंधान को जीविका और व्यवसाय के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तभी उसके उद्देश्य से च्युत होने की आशंका पैदा हो जाती है। जबसे पी-एच० डी० उपाधि को व्यवसाय के घरातल पर ग्रहण किया गया तभी से उसके स्वरूप और परिणति में परिवर्तन आ गया। अनुसंधान की क्षमता के बिना भी अनुसंधान करने वाले जब इस क्षेत्र में कूद पड़े तब स्तर की रक्षा किस तरह संभव थी? कितनी दुर्भाग्य की वह घड़ी रही होगी जब अनुसंधान-जैसे अध्यवसाय एवं निष्ठा के कार्य के साथ उपाधि का गठबन्धन हुआ होगा। भारतीय विश्वविद्यालयों में आज अनुसंधान का कार्य कम और उपाधि प्राप्त करने का प्रयत्न अधिक हो रहा है। शोध के साथ यह उपाधि सापेक्ष खिलवाड़ सभी विषयों में हो रहा है, यह केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं है। हिन्दी के शोध-प्रबंध

८८ : **अनुसंधान**

छपकर सामने आ जाते हैं तो उनका मूल्यांकन कर लिया जाता है जबकि अन्य विषयों के निम्नस्तरीय शोध-प्रबंध पांडुलिपियों में मुँह छिपाए दुबके पड़े रहते हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में जबसे उपाधि के निमित्त अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ तभी से उसके अधःपतन का भी प्रारम्भ समझना चाहिए। अनुसंधाता पथभ्रष्ट होकर तात्त्विक शोध के प्रशस्त राजमार्ग से हटकर उपाधि की संकरी गली में घुस गया और वहाँ आर्थिक प्रलोभन से लुब्ध होकर अपने कार्य को पूरा करने में लग गया। सतत वर्धमान ज्ञान पिपासा, जो अनुसंधान की मूल प्रेरक-शक्ति है, इस प्रकार के पथभ्रष्ट अनुसंधाता के पास नहीं रह पाई और उसे उपाधि ने आक्रान्त कर लिया। अनुसंधाता यह भूल गया कि उसके समग्र ज्ञान के विस्तार का ध्येय है, अज्ञात को उद्घाटित करने का दायित्व है, अंधकार से आलोक में तथ्यों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य है। फलतः वह शोध करते हुए भी शोध का आलोक विकीर्ण नहीं कर सका।

यह कहना असंगत न होगा कि गवेषणा या शोध के द्वारा नवीन तथ्य, नवीन सूचनाएँ, नवीन विचारधाराएँ और नवीन सिद्धान्त प्रकाश में आते हैं। इन्द्रियगोचर तथ्यों के आधार पर अनुभूति और कल्पना से कलाकार जिस जगत् का निर्माण करता है वह साहित्य-जगत् है। साहित्य की रचना-प्रक्रिया में रचनाकार का अपना मनो-जगत् या भावजगत् ही अधिक क्रियाशील रहता है। साहित्यिक रचना कलाकार की अपनी स्वच्छन्द सृष्टि है, इसके निर्माण में कलाकार की अपनी मेधा, प्रतिभा और सर्जक शक्ति का ही योग है—यह एक आत्मपरक कृति है, किन्तु अनुसंधान इससे सर्वथा भिन्न एक वस्तुपरक रचना है जिसमें अनुसंधाता को तटस्थ और निस्संभाव से तथ्यों का अनुशीलन कर निर्णय और निष्कर्ष प्रस्तुत करने होते हैं। इन निष्कर्षों में तर्क, मुक्ति, प्रमाण आदि का पूरा बल रहता है तभी ये स्वीकार्य बनते हैं। अतः अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने उपादान और निमित्त कारणों को दृष्टि में रखकर ही इस कार्य में प्रवृत्त हो। शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार कार्य करने पर निम्नस्तरीय कार्य के लिए न्यूनावकाश है किन्तु कितने शोधार्थी हैं जो विधि-विधान से परिचित होकर ही अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं। जिन्होंने कभी किसी पुस्तकालय के द्वार पर पैर नहीं रखा, कभी दो सौ पुस्तकें इकट्ठी नहीं देखीं, वे भी शोध का झंडा उठाये, उपाधि की किराक में घूमते देखे जा सकते हैं। खेद इस बात का है कि इस तरह चक्कर लगाने वाले अध्ययन-विहीन शोधार्थी भी एक दिन 'डॉक्टर साहब' के रूप में पहचाने जाते हैं और अपने हस्ताक्षर करते समय नाम के आगे अशिष्ट रूप में डॉक्टर लिखना नहीं भूलते।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान में संख्या और परिमाण की दृष्टि से जो विपुलता लक्षित होती है वह चौंका देने वाली है। यदि इस विपुलता का प्रभाव हिन्दी शोध के निर्देशकों पर अनुकूल पड़ता तो निराश होने की बड़ी बात न होती लेकिन निराशा यह देखकर होती है कि जो विद्वान प्रोफ़ेसर शोध-कार्य का निर्देशन-नियंत्रण कर रहे हैं वे अत्यन्त खिन्न और विषण्ण भाव से हिन्दी-अनुसंधान पर आठ-आठ आँखें बहा रहे हैं। स्वयं निर्माता, नियन्ता, निर्देशक होकर भी वे अपने सृजन से असन्तुष्ट

है। यह उनके आत्मनिरीक्षण का एक पक्ष है; किन्तु इस प्रकार के निम्नस्तरीय अनुसंधान पर प्रतिबंध क्यों नहीं लगाते यह भी चिन्त्य है। मैं भी हिन्दी अनुसंधान में ज़ातीदार हूँ और अनेक बार इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक सोचता हूँ लेकिन व्यवस्था के घरातल से ऊपर उठकर कोई सही और स्वस्थ समाधान नहीं दे पाता। अनुसंधान के भयंकर दुश्चक्र में फँसे हुए विद्वान् निर्देशकों की पीड़ा का ज्ञान होने पर भी साहस की कमी से कोई भी शल्य-क्रिया के लिए तत्पर दिखाई नहीं देता।

जो कुछ हो गया सो हो गया—बीती ताहि बिसार दे आगे की सुध लेय— जो भी ध्यान में रखा जाए तो हिन्दी अनुसंधान का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। ढोड़े की पीर को सहने से अच्छा है फोड़े का फूटना, मवाद का निकलना। इस मवाद को निकालने का साहस सभी वरिष्ठ हिन्दी प्राध्यापकों को जुटाना होगा तभी अनुसंधान का सड़ा फोड़ा ठीक हो सकेगा। यदि मैं वरिष्ठ आचार्यों की वेदना के वचन यहाँ उद्धृत करूँ तो पाठक समझ सकेंगे कि हिन्दी के शोध-निर्देशक अज्ञान में नहीं हैं। वे जागरूक और सतर्क होकर भी दृढ़ संकल्प के अभाव में पीड़ा का दुख भोग रहे हैं। लीजिए, वरिष्ठ आचार्य की मर्म-व्यथा के कुछ वाक्य जो उनके आन्तरिक संताप की सहज रूप से व्यक्त करते हैं—

“कभी-कभी सोचता हूँ कि बेकारी न होती तो लोग क्या इस कठिन कार्य की ओर प्रवृत्त होते। बैठे से बेगार भली—विशेषकर बेगार से यदि कुछ भविष्य में जीविका मिल जाने की संभावना हो। शोध-कार्य को इस विषम सामाजिक प्रश्न से बल मिल रहा है। भीड़ बढ़ रही है। बहुत लोग निराश हो गए हैं। यह सब क्या हो रहा है। अधिक-अधिक लोग काम करें, इसमें क्या बुराई है? बुराई इस बात में है कि शोध करने वाले से जैसी लगन, निष्ठा और ईमानदारी की आशा की जाती है, वैसी पाई नहीं जाती। लेकिन जाने भी दो, काहे को गंगाजल उठवाते हो।”

यदि मैं सभी विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों तथा शोध निर्देशकों के मत यहाँ उद्धृत करने लगूँ तो शायद एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो वर्तमान हिन्दी शोध से गन्तुष्ट हो और उसके पक्ष में विचार रखता हो। जिनके विचार मैंने ऊपर उद्धृत किये हैं उनसे हिन्दी-शोध की झाँकी मिल जाती है। लेकिन चित्र का यह एक पार्श्व है। दूसरा पार्श्व आशाजनक भी हो सकता है। मैं समझता हूँ कि आत्मनिरीक्षण के रूप में विभागाध्यक्षों और निर्देशकों का मत यदि निराशाजनक है तो कोई बुरी बात नहीं है, क्योंकि आत्मनिरीक्षण से ही सत्य का बोध होता है। दूसरों के कथन की उपेक्षा करने के बाद व्यक्ति स्वयं आत्मनिरीक्षण में प्रवृत्त होता है और यथार्थ को समझने में समर्थ होता है।

यदि हिन्दी अनुसंधान केवल बेगार है या बेकारी को दूर करने का अल्प-कालिक सहारा है तो उससे किसी श्रेष्ठ उपलब्धि की आशा करना बालू में से तेल निकालना है। लेकिन सभी शोधार्थी न तो बेकार होते हैं और न शोध को बेगार के रूप में ग्रहण करते हैं। ऐसे भी शोधार्थी हैं जो अच्छे पद पर आसीन हैं, विद्वान् हैं, शोध की प्रविधि के जानकार हैं और सत्यानुसंधान की प्रेरणा से इस दिशा में कार्य करने

६० : आलोचना :

आए हैं। अतः इसको विस्मृत कर एकपक्षीय निर्णय देने की जल्दवाजी मैं नहीं करना चाहता। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति और उपलब्धि का विवरण प्रस्तुत करते समय दोनों पक्षों का विवरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

स्वातन्त्र्योत्तर शोध को यदि विषयानुसार वर्गीकृत किया जाए तो मोटे तौर पर हम उसे दस वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यदि इतिहास के कालक्रम में विभाजन किया जाए तो वह चार वर्गों में होगा। किन्तु अनुसन्धान की रूपविधा और प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए इतिहास के कालक्रम से विभाजन असमीचीन ही ठहरता है। इसलिए मैं प्रमुख दस वर्गों में विभक्त करके ही उसका आकलन करना उचित समझता हूँ।

पहले वर्ग में मैं उन शोध प्रबन्धों को स्थान देता हूँ जिनका सम्बन्ध भाषा विज्ञान तथा भाषापरक अध्ययन से है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अवधी भाषा के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के लिए व्याकरण सम्बन्धी अनुसन्धान को प्रमुखता देकर भाषा-विषयक अनुसन्धान की नींव रखी थी। स्वतन्त्रता के बाद इस दिशा में बहुत अधिक कार्य हुआ और शायद हिन्दी की भाषा, विभाषा और बोली का कोई रूप अब नहीं बचा है जिसका अनुसन्धान के निकष पर अध्ययन न हुआ हो। मैथिली, भोजपुरी, ब्रजबुलि, बाँगरू, हलवी, राजस्थानी, वैसवाड़ी, ग्वालियरी, मालवी, खड़ीबोली, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, दक्खिनी, बिहारी, रूहेली, मुण्डारी, कुरमाली, हरियाणी, कुमायूनी, गढ़वाली, राबट्टी, सिराजी, निमाड़ी, खुरपट्टी, जौनसारी, सिरमौरी, पहाड़ी, कुल्लू की बोली, डोगरी, हड़ौती, भीली, वागरीबोली, कुरपाली बोली शेखावाटी बोली, मेवाड़ी, मेवाती, मगही, छत्तीसगढ़ी, भतरी, पंजाबी आदि चार दर्जन भाषाएँ और बोलियाँ अनुसन्धान के द्वारा प्रकाश में लाई गई हैं और उनका व्याकरण की दृष्टि से भी अध्ययन किया गया है।

भाषा के क्षेत्र में ही दूसरे प्रकार का अध्ययन व्याकरण और ध्वनि का है। जैसे ब्रजभाषा, खड़ीबोली, भोजपुरी आदि का व्याकरणपरक अध्ययन। कुछ जनपदों की बोलियों का भी विशेष रूप से अध्ययन हुआ है : जैसे मेरठ जनपद की भाषा, बुलन्दशहर जनपद की भाषा, दिल्ली की खड़ी बोली, गोरखपुर की भाषा, आजमगढ़ जिले की शब्दावली, अलीगढ़ की कृपक शब्दावली आदि। इस प्रकार के अध्ययन भी तीन दर्जन से ऊपर हैं। हिन्दी भाषा के शब्द, धातु, परसर्ग, (प्रत्यय) उपसर्ग, कारक, ध्वनि कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका विस्तार से अध्ययन न हुआ हो। जातियों के नाम, व्यक्ति नाम, नगर नाम, बिहार के स्थान का नाम, आदि विषयों का पूरा अध्ययन हिन्दी में हो चुका है। लोक-साहित्य के अध्ययन में भाषा का पूरा रूप समेटा गया है और विस्तारपूर्वक भाषा को अनेक दृष्टियों से जाँचा-परखा गया है। किसी-किसी विषय पर तो चार-पाँच प्रबन्ध एक-से ही प्रस्तुत हुए हैं। इसी क्रम में प्रसिद्ध कवियों की भाषा का अध्ययन भी आता है जैसे, चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, देव, बिहारी, पद्माकर, भूषण, केशव, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला,

रामचन्द्र शुक्ल, छायावाद की भाषा, आधुनिक काव्य भाषा, आदि विषयों पर भी तीन दर्जन प्रबन्ध उपलब्ध हैं। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन भी इसी वर्ग के भीतर है। जैसे हिन्दी तथा पंजाबी की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन, खड़ी बोली परि-
निष्ठित हिन्दी और पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन, तमिल, तेलुगु, संस्कृत, मलयालम, बंगला, मराठी आदि का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन हुआ है। लगभग एक दर्जन प्रबन्ध इस वर्ग में भी हैं। लिपि को भी मैं इसी वर्ग में रखता हूँ। लिपि के अध्ययन के लिए भी कई प्रबन्ध लिखे गए हैं।

संक्षेप में, यदि भाषा के विविध रूपों का समवेत रूप से विवरण प्रस्तुत किया जाए तो लगभग ढाई सौ प्रबन्ध इस वर्ग में आते हैं। इतनी बड़ी संख्या इस तथ्य को उद्घाटित करने में समर्थ है कि हिन्दी भाषा का परिवार और परिवेश बहुत व्यापक है और अनेक उपभाषाओं, विभाषाओं और बोलियों में फैली हुई वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर पूर्वांचल तक व्याप्त है। दक्षिण की भाषाओं के साथ वैषम्य के धरातल पर भी उसका अध्ययन हो सकता है यह भी हिन्दी अनुसन्धान से विदित होता है।

अनुसन्धान का दूसरा वर्ग है काव्य सिद्धान्त तथा काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषय। इस वर्ग को भी हिन्दी के अनुसन्धाताओं ने बड़े आग्रह के साथ स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य के काव्य सम्प्रदाय, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य का अनेक बार अध्ययन हुआ है। लगभग तीन दर्जन प्रबन्ध इन्हीं काव्य सम्प्रदायों पर हेर-फेर के साथ प्रस्तुत हुए हैं। इसके बाद काव्यरूपों पर पृथक्-पृथक् प्रबन्ध तैयार हुए। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, गद्यकाव्य, निबन्ध, छन्दशास्त्र, महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रकृतिकाव्य आदि विषयों पर दर्जनों प्रबन्ध हैं। इन प्रबन्धों में इतिहास पक्ष भी है और सिद्धान्त पक्ष भी। अतः क्षेत्र के व्यापक होने से विस्तार होना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के इस परिवेश में संस्कृत साहित्य शास्त्र के साथ अंग्रेजी काव्यशास्त्र को भी तुलनात्मक कसौटी पर रखा गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन हिन्दी में निरन्तर बढ़ रहा है इसलिए शोध के क्षेत्र में भी उसका समावेश उत्तरोत्तर बढ़ेगा और अरस्तू, प्लेटो, जानसन, ड्राइडन, क्रोचे, रिचर्ड्स, इलियट आदि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से भी निबन्ध लिखे जा रहे हैं और भविष्य में और अधिक लिखे जाएंगे।

तीसरा वर्ग है कविता का अनुसन्धानपरक दृष्टि से अध्ययन। आदिकालीन काव्य से लेकर अधुनातन काव्य 'नई कविता' तक का व्यापक परिवेश इस अध्ययन में अन्तर्निहित होने से इस वर्ग का विस्तार भी अत्यधिक है। लगभग दो सौ शोध-प्रबन्ध काव्य के विविध रूपों पर लिखे गए हैं। ये शोधप्रबन्ध युगविशेष, प्रवृत्ति, वाद, काव्यशैली, काव्यधारा आदि से सम्बद्ध हैं। विशिष्ट कवियों पर भी प्रबन्धों का ताँता लगा है। तुलसी और सूर पर दर्जनों प्रबन्ध हैं। यही स्थिति प्रसाद के काव्य की भी है। कुछ कवियों का तुलनात्मक शैली से भी अध्ययन हुआ है। काव्य-शैली और काव्यभाषा के विविध रूपों पर भी आवृत्तिपरक अध्ययन इस वर्ग की विशेषता है।

चौथा वर्ग है हिन्दी के साम्प्रदायिक साहित्य का अध्ययन। मुख्य रूप से यह अध्ययन भवितकाल से सम्बन्ध रखता है किन्तु कुछ सम्प्रदाय परवर्ती काल के भी हैं। गोरखनाथ, निगुण, सगुण, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, गोसाई, रसिक सम्प्रदाय, दादू, मलूक, रैदास, नानक आदि के पन्थ, रामसनेही, प्राणनाथी, हरिदासी, जसनाथी, राधावल्लभी, रामानन्दी, निम्बाकी आदि तीन दर्जन सम्प्रदायों का अध्ययन इस वर्ग के भीतर समाविष्ट है। साम्प्रदायिक अध्ययन में भी तुलनात्मक दृष्टि से शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं जिसका उल्लेख मैं आगे करूँगा। सामान्यतः साम्प्रदायिक दृष्टि से जो अध्ययन हुआ है वह नवीन तथ्यों की सूचना अवश्य प्रस्तुत करता है।

पाँचवाँ वर्ग है गद्य साहित्य का अनेक रूपों में अध्ययन। गद्य के विकास को स्पष्ट करने वाले प्रबन्धों से यह वर्ग प्रारम्भ होकर गद्यरूपों और शैलियों के अध्ययन तक फैला हुआ है। हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसके विविध पक्ष भी इसी वर्ग के भीतर आते हैं। हिन्दी गद्य के निर्माताओं पर भी स्वतन्त्र रूप से शोधप्रबन्ध लिखे गए, जैसे बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, शुक्लजी का गद्य, गद्य की विविध शैलियों का अध्ययन, द्विवेदी युगीन गद्य, छायावादी कवियों का गद्य आदि। गद्य-विधा के सम्बन्ध में चार दर्जन से ऊपर प्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं। इस विधा को अब सूक्ष्म धरातल पर अन्वेषण का विषय बनाया जा रहा है।

पाँचवाँ वर्ग लोक-साहित्य, लोकगीत, लोक-संस्कृति तथा लोक-तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। लोक-साहित्य की ओर सबसे पहले विदेशी विद्वानों का ध्यान गया था। उन्होंने भारतीय जनजीवन में व्याप्त लोकतत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखकर इस पथ को प्रशस्त किया। तदनन्तर हिन्दी में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ और अभी तक लगभग दो दर्जन शोधप्रबन्ध प्रकाश में आ चुके हैं। कुछ विद्वविद्यालयों में लोक-साहित्य को एम० ए० कक्षाओं में वैकल्पिक प्रश्नपत्र के रूप में स्थान भी मिला है। यह अध्ययन अनेक अज्ञात विषयों को प्रकाश में लाने वाला सिद्ध हुआ है। यद्यपि कुछ समय तक यह विवाद का प्रश्न रहा कि लोकसाहित्य को शुद्ध साहित्य माना जाए या न माना जाए, क्योंकि इस साहित्य में ललित साहित्य के गुणों का अभाव होता है। किन्तु इन शोधप्रबन्धों ने लोकसाहित्य, लोकगीत और लोककथाओं का ऐसा सुन्दर रूप उजागर किया कि आज यह पठनीय साहित्य बन गया है। इसका पूरा-पूरा श्रेय हिन्दी की शोध को ही प्राप्त है।

छठा वर्ग तुलनात्मक तथा प्रभाव परक अध्ययन का है। तुलनात्मक अध्ययन दो प्रकार का है—एक तो हिन्दी के कवियों या लेखकों की पारस्परिक तुलना, दूसरा हिन्दीतर भाषाओं से हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विधाओं, प्रवृत्तियों तथा कवियों की तुलना। इस अध्ययन में शोध की दृष्टि सर्वत्र स्वच्छ रही है यह कहना कठिन है। मैंने कई शोधप्रबन्ध ऐसे भी देखे हैं जहाँ बरबस तुलना की गई है और उसका फलितार्थ भी पक्षपात के साथ स्थिर किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन बहुत वांछनीय नहीं है। साम्य-वैषम्य दिखाते हुए प्रवृत्ति परक अध्ययन तो समीचीन हो सकता है, किन्तु दो कवियों या लेखकों की तुलना सर्वत्र श्लाघ्य नहीं होती। काव्य

नटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि में भी तुलनात्मक दृष्टि के अध्ययन उपलब्ध होते हैं, जो सभी ज्यों-के-त्यों ग्राह्य नहीं हैं। मुझे लगता है कि हिन्दी में शोध विषयों के अभाव के कारण शायद कुछ अनुसंधाता इस क्षेत्र में पहुँच पाते हैं और दो प्रवृत्तियों या कलाकारों की समता के धरातल पर ला खड़ा करते हैं। हाँ, कुछ शोधप्रबन्धों में—विशेष रूप से भक्तिविषयक तुलनात्मक अध्ययन में—यह कार्य सुन्दर रूप से गृहीत हुआ है और उसकी उपलब्धि केवल साहित्य क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी सराहनीय है। हिन्दी शोध ने तुलनात्मक शोध का इतिज खोला है लेकिन अभी तक अपनी सीमाओं में ही है। यदि उसे व्यापक रूप से मानव जाति के विकास के फलक पर स्थापित किया जाए तथा देश-विदेश की विचारधाराओं के सन्दर्भ में अनुसन्धेय बनाया जाए तो शोध के लिए और अधिक उपादेय सामग्री उपलब्ध होने की सम्भावना है।

सातवाँ वर्ग प्रादेशिक साहित्य, भाषा तथा इतिहास का है। इस वर्ग में प्रादेशिक साहित्य का मूल्यांकन अनुसंधानपरक दृष्टि से करने का प्रयत्न लक्षित होता है जैसे हिन्दी साहित्य को पंजाब की देन, मध्यप्रदेश की देन, मत्स्य प्रदेश की देन, कानपुर के प्रमुख कवि, कूर्माचल की देन, रीवाँ दरबार के कवि, काशी की देन, बंसवाड़े की देन आदि। यह वर्ग भी बहुत व्यापक है और इसके मूल में भी पिष्ट-पेषण तथा विषयों के अभाव की ध्वनि है। लगभग तीन दर्जन शोध प्रबन्धों में तीन-तीन बार की आवृत्ति है और उस प्रदेश का भौगोलिक, ऐतिहासिक वर्णन मूल विषय की अपेक्षा दुगुना है। मैंने स्वयं लगभग आधे दर्जन शोध प्रबन्धों का परीक्षण किया है और इस दोष को सभी प्रबन्धों में समान रूप से व्याप्त पाया है कि विषय पर लिखने की सामग्री सीमित होने से कलेवर को बढ़ाने के मोह में यह त्रुटि जानबूझ कर दुहराई जाती है। रीवाँ, पन्ना, अमेरी, ओरछा आदि दरबारों के कवियों पर तीन-तीन शोध प्रबन्ध लिखने की गुंजाइश कहाँ है? और क्या लाभ है इस पुनरावृत्ति का जो इन प्रबन्धों में हुई है। लेकिन अनुसंधाता सुगम पथ का पथिक बन गया है, निर्देशक अज्ञान में है, विश्वविद्यालयों में प्रतिस्पर्धा और अज्ञान दोनों हैं। परिणाम यह है कि 'ओरछा के हिन्दी कवि' तथा 'ओरछा दरबार के हिन्दी कवि' पर समानान्तर शोध प्रबन्ध यह मानकर लिखे गये हैं कि ये दोनों विषय स्वतन्त्र और पृथक् हैं।

आठवाँ वर्ग है सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अनुसंधान का। सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से काव्यानुशीलन फलप्रद होता है किन्तु उसकी फलवत्ता तभी सिद्ध होगी जब सांस्कृतिक या सामाजिक अन्वेषण के लिए स्वच्छ दृष्टि अनुसंधाता के पास हो। मैंने इन प्रबन्धों में मूलभाव का अभाव ही पाया है। तीन दर्जन प्रबन्धों में आठ-दस ही ऐसे हैं जिन्हें हम शोध प्रबन्ध कह सकें, शेष सब पिष्ट-पेषण और अवान्तर विषयों से भरे हुए हैं। रामकाव्य, कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य, निर्गुण काव्य, मध्यकाल, सन्तकाव्य, आधुनिक काव्य में समाज और संस्कृति तथा आधुनिक उपन्यास में समाज एवं संस्कृति आदि विषयों पर जो प्रबन्ध लिखे गए हैं उनमें भी मूल विषय पर कम तथा अवान्तर प्रसंगों पर ही अधिक लिखा गया है। इन प्रबन्धों

के लिए इतिहास, संस्कृति और दर्शन के अध्ययन तथा ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है जो हिन्दी के छात्र के पास न्यून मात्रा में है।

नवम वर्ग में पाठालोचन या पाठानुसंधान का स्थान है। पाठानुसंधान का काम हिन्दी में अभी द्रुतगति से प्रारम्भ नहीं हुआ है। प्राचीन ग्रन्थों में रासो, कवीर बीजक, मृगावती, पदमावत, रामचरितमानस, सूरसागर आदि के प्रामाणिक संस्करण अपेक्षित हैं। इनमें से कुछ पर अनुसंधान हुआ है और शेष पर कार्य हो रहा है। सूरदास, नन्ददास, केशवदास, देव, भूषण आदि के ग्रन्थ शोध छात्रों के पास है और वे इनका पाठ शोधन कर रहे हैं। यही एक दिशा ऐसी है जिसमें अभी पुनरावृत्ति प्रारम्भ नहीं हुई है। यदि इसमें आवृत्ति का कुचक्र फैला तो हिन्दी-शोध परिहास के सिवा कुछ और नहीं रह जाएगा। विद्वानों को इस क्षेत्र में पुनरावृत्ति रोकने का ध्यान रखना अनिवार्य है। यदि एक ही रचना के विविध पाठालोचन तैयार हुए तो अन्त में यही परिणाम निकलेगा कि कवीर बीजक, सूरसागर और रामचरितमानस किसी एक कवि की रचना न होकर रासो की तरह अप्रामाणिक रचनाएँ हैं। यह स्थिति लज्जास्पद होने के साथ उपहासास्पद भी होगी।

दसवाँ वर्ग उन प्रबन्धों का है जिन्हें हम विविध-प्रकीर्णक विषय कह सकते हैं, जैसे 'हिन्दी में बाल साहित्य', 'हिन्दी में नाम साहित्य', 'हिन्दी में कोश साहित्य', 'ध्रुवपद और हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी और संगीत', 'हिन्दी में मंगलाचरण साहित्य', 'हिन्दी में व्यंग्य साहित्य', 'हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता', 'हिन्दी का यात्रा साहित्य', 'पत्र साहित्य', 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी के फ़िल्मी गीत' आदि। इन विषयों में भी पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति की भरमार है। यात्रा साहित्य पर ही पाँच प्रबन्ध हैं, कोश रचना पर तीन, पत्र साहित्य पर तीन, बाल साहित्य पर तीन, अनुवाद साहित्य पर तीन प्रबन्ध इस आवृत्ति के परिणाम हैं। इस वर्ग के भीतर हम उन सभी प्रबन्धों को रख सकते हैं जो हिन्दी भाषा और साहित्य को उपजीव्य बनाकर लिखे गए हैं जैसे 'अंग्रेज शासकों की शिक्षा नीति और हिन्दी भाषा', 'ईसाई मिशनरियों की हिन्दी सेवा', 'आर्यसमाज की हिन्दी सेवा', 'हिन्दी भाषा शिक्षण और अध्यापन' आदि विषय भी आते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान का वर्गानुसार आकलन करने के बाद हमारे सामने कुछ ऐसे तथ्य उभर कर आते हैं जो हिन्दी अनुसंधान की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतन कराने के साथ उसकी सीमाओं एवं त्रुटियों को भी स्पष्ट करते हैं। मैं संक्षेप में उनकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी क्षेत्र में सबसे अधिक स्फूर्ति और सक्रियता शोध में ही हुई है। यदि परिमाण को सामने रखा जाए तो शोध प्रबन्धों का परिणाम अन्य साहित्य से दुगुना अवश्य है। इस विपुल परिमाण से हिन्दी की विपुल सम्भावनाएँ सामने आई हैं। उपाधि सापेक्ष कार्य के साथ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होंने उपाधि निरपेक्ष शोध की सामग्री स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी को दी है। इन विद्वानों में राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र,

परमुराम चतुर्वेदी, अगरचन्द नाहटा, मुनि जिनविजय, वामुदेवशरण अग्रवाल, प्रभु-
 रम्य मीतल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार के शोध का
 अभी तक पूरी तरह आकलन न होने पर भी हिन्दी शोध के इतिहास में इनका उपयोग
 नो होता है किन्तु इनकी कृतियों को हिन्दी शोध में समाविष्ट नहीं किया जाता।
 यदि इन्हें भी शामिल कर लिया जाए तो हिन्दी का सम्पूर्ण शोध कार्य बहुत ही समृद्ध
 प्रतीत होगा। किन्तु इस समृद्धि से अभिभूत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो
 उपाधि सापेक्ष ग्रन्थ शोध-प्रबन्ध के नाम से प्रकाशित होकर सामने आए हैं उनकी
 पूर्णता, अवैज्ञानिकता, अमौलिकता और अप्रासंगिकता में ही उनकी दरिद्रता, हेयता
 और पिष्ट पेपणता भी लिपटी हुई है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी शोध की सबसे बड़ी और सबसे अधिक खटकने वाली
 वृत्ति है विषयों की आवृत्ति और प्रस्तुतीकरण की अमौलिकता। केवल पिष्टपेपण ही
 नहीं तस्करी वृत्ति से भाव, विषय, शैली सभी कुछ अपहृत कर नया शोध प्रबन्ध
 लिखना हिन्दी शोध की चातुरी बन गई है। मैं दावे से कह सकता हूँ कि जो छह सौ
 ग्रन्थ स्वीकृत हुए हैं उनमें चार सौ युद्ध पिष्टपेपण की कला के निदर्शन हैं। यदि
 इन चार सौ शोध प्रबन्धों का अनुसंधानात्मक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाए तो
 विदित होगा कि इन प्रबन्धों के दो लाख पृष्ठों में से दो हजार ही नवीन हैं शेष सब
 पिष्टपेपण है, पुनरावृत्ति और संकलन मात्र है। यह कितनी हीन और दयनीय स्थिति
 है, इसके लिए कोई-न-कोई उपाय अवश्य सोचना चाहिए। जब तक प्रत्येक विश्व-
 विद्यालय स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अधिकार मानकर चलेगा तब तक यह पुन-
 रावृत्ति होगी और फिर होगी। अतः संयोजन के निमित्त एक अखिल भारतीय स्तर की
 अनुसंधान संस्था अति शीघ्र स्थापित होनी चाहिए जो विषयों की पुनरावृत्ति पर
 बंधुश रख सके। इस संस्था में विषय सूची के अतिरिक्त उन अधिकारी विद्वानों की
 भी सूची रहे जो किसी विशिष्ट विषय का प्रामाणिक शोध करा सकते हैं। अधिकारी
 विद्वानों के निर्देशन में ही यदि कार्य होगा तो उसकी प्रामाणिकता होगी और तस्करी
 आदि के हीन उपाय सफल नहीं हो सकेंगे।

मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि कुछ विषयों पर शोध तो हुआ है किन्तु शोध
 को कोई जातव्य सामग्री उनमें नहीं है। इसके लिए कौन उत्तरदायी है यह मैं नहीं
 कहना चाहता किन्तु विषय-चयन में ही भूल है। उन विषयों को शोध क्यों समझा
 जाता है जो कक्षा में प्राध्यापक के भाषण के विषय हैं। जिन्हें 'क्लासरोट्स' कहते
 हैं, वे ही विषय शोध के भी मान लिए जाते हैं, यह घोर दुर्भाग्य है। कभी-कभी
 माधारण समीक्षात्मक आकलन भी अनुसंधान की उपाधि से विभूषित होते हैं और
 कभी सामान्य सूचनाओं पर शोध-उपाधि प्रदान की जाती है। इस प्रकार वैदुष्य हीन
 संकलनात्मक प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। कभी-कभी पुनराख्यान के नाम
 पर भी कविता की गद्य में व्याख्या कर अनुसंधान की मुद्रा से अंकित कर दिया जाता
 है। वस्तुतः पुनराख्यान के लिए विवेचन-विश्लेषण की प्रतिभा और विषय के आन्ध-
 न्तर में पैठने की क्षमता अपेक्षित है। खेद है कि पुनराख्यान के नाम पर जो कुछ

मुद्रित होकर आ रहा है वह पूर्वज्ञात को पुनः ज्ञात कराने से अधिक कुछ नहीं है। हिन्दी शोध की मर्म कथा यह भी है कि वह हिन्दी के नये-पुराने ग्रन्थों और रचनाकारों तक सीमित रहकर पुनराख्यान या विवेचन करते हैं। इतिहास, दर्शन, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अन्य उपयोगी साहित्य से अनुसंधाता प्रत्यक्ष या परोक्ष परिचय नहीं करना चाहता। फलतः कूपमंडूकता का आनन्द और अभिशाप दोनों उसके प्रबन्ध में ओतप्रोत रहते हैं। रचनाकार की अन्तर्दृष्टि से शून्य, संहति के अभाव से ग्रस्त और आरोपित एवं असम्बद्ध तथ्यों से मंडित ये शोध प्रबन्ध उपहास के अतिरिक्त और किसी भाव की सृष्टि नहीं करते।

एक ओर बात जो स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धों में विशेष रूप से लक्षित होती है, वह है प्रबन्धों का विशाल कलेवर। सामान्यतः पाँच सौ-छह सौ पृष्ठ लघु कलेवर के द्योतक है। डेढ़ हजार से पौने दो हजार पृष्ठ तक के निबन्ध हिन्दी शोध में स्वीकृत हुए हैं जिसकी जिल्दबन्दी में लेखक को बीस रुपये एक प्रति पर देना पड़ा है। यह धारणा कितनी भ्रान्त और गहंणीय है कि मोटे आकार के, जलोदर पीड़ित प्रबन्ध से परीक्षक प्रभावित होते हैं। इसके मूल में निर्देशक का अपना अज्ञान भी छिपा रहता है। हिन्दी का शोध-निर्देशक सौ से ऊपर छात्रों का निर्देशन करने का दम्भ करे तो यही स्थिति होगी। कुछ विश्वविद्यालयों में तो निर्देशक तथा अनुसंधाता का साक्षात्कार पहली बार उस समय होता है जब शोधार्थी का पंजीकरण होता है और दूसरी बार तब, जब वह अपना शोध प्रबन्ध पूर्ण कर विश्वविद्यालय में दाखिल करता है। बीच में उसने क्या किया और क्या लिखा इसका सिरदर्द निरीक्षक महोदय उठाना नहीं चाहते। इस कटु सत्य को लिखकर मैं विश्वविद्यालयों का तथा उन द्रोणाचार्यों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो केवल अपनी शिष्यवत्सलता से धन्य होने पर भी अपने कर्तव्य से नितान्त पराङ्मुख हैं।

शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया और प्रविधि का प्रशिक्षण अभी तक व्यापक रूप से प्रारम्भ नहीं हुआ है। एक-दो विश्वविद्यालयों में ही अनुसंधाताओं को शोध करने की विधि सिखाई जाती है। शेष स्थानों में तो जो शोध कर लेता है वही निर्देशक बन बैठता है। शिकारी बनने के लिए खरगोश मारना और शेर मारना समान ही समझा जाता है। शोध निर्देशन में जितनी विडम्बना है उतनी किसी ओर क्षेत्र में नहीं। यदि मैं इसके उदाहरण देना शुरू करूँ तो आश्चर्य होगा कि कौन-सा अर्थ है जो नहीं हो रहा है। नयी कविता पर शोध कराने वाले ऐसे निर्देशक हैं जो मैथिली-शरण गुप्त से आगे के काव्य को पढ़ना भी पाप समझते हैं। सिद्ध साहित्य पर पथ-प्रदर्शन करते हैं द्विवेदी युगीन विषय पर शोध करने वाले और द्विवेदी युग पर शोध करते हैं रासो तथा अपभ्रंश के विशेषज्ञ। यह सब गोरखधन्धा कब तक जारी रहेगा, नहीं कहा जा सकता।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी शोध की उपलब्धियों को अवमूल्यन द्वारा मैं नगण्य नहीं बनाना चाहता। मेरा प्रयास भी आत्म निरीक्षण की दिशा में ही है और उद्देश्य है अनुसंधान का सत्यानुशीलन द्वारा परिमार्जन। जिस विपुल मात्रा में और जिस द्रुतगति

हिन्दी अनुसंधान का कार्य चल रहा है वह भारत की अन्य भाषाओं के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया है। भारत की चौदह भाषाओं में मिलाकर जितना शोध कार्य हुआ है उसका बीस गुना अकेली हिन्दी में सत्रह वर्षों में हुआ है। यह बात हिन्दी के शोधार्थियों के अदम्य उत्साह की सूचक होने के साथ हिन्दी साहित्य-भंडार की समृद्धि का भी बोध कराती है। यदि पच्चीस प्रतिशत प्रबन्ध भी मौलिक होने के साथ शोध निकष पर खरे हैं तो डेढ़ सौ प्रबन्ध स्वातन्त्र्योत्तर काल में श्रेष्ठ कृति के रूप में हिन्दी में स्वीकृत हुए माने जाएंगे। यह संख्या छोटी नहीं है। डेढ़ हजार विषयों पर अभी काम हो रहा है, उसमें भी यदि पच्चीस प्रतिशत श्रेष्ठ कार्य हुआ तो पौने चार सौ प्रबन्ध अगले चार-पाँच वर्षों में हिन्दी भण्डार को समृद्ध बना सकेंगे।

लेकिन विपुल परिमाण और आकार ही अनुसंधान का प्राण तत्त्व नहीं है। सारग्राही बुद्धि से अनुसंधान को निष्ठा के साथ ग्रहण करने से उसकी गुणवत्ता बढ़ेगी। एक ही बँधे-बँधाये ढाँचे से हिन्दी अनुसंधान को निकालकर तथा विषयवस्तु परक उसकी कूपमंडूकता को हटाकर यदि व्यापक परिवेश और आयाम में उसे स्थित किया जाए तो निस्सन्देह हिन्दी अनुसंधान में नवजीवन का संचार हो सकेगा। शोध कार्य का क्षेत्र-विस्तार अब आवश्यक हो गया है। विदेशी छात्र यहाँ आकर अथवा अपने देश में ही रहकर अपनी भाषा के माध्यम से हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में शोध कार्य करते हैं; हमारे शोध छात्र भी क्यों न अपना क्षेत्र विस्तार करें और अरब, फारस, इंडो-नेशिया, बर्मा, मध्य एशिया, अफ्रीका, अमरीकी आदि देशों के साहित्य पर शोध करना प्रारम्भ करें? यह शोध हिन्दी भाषा के माध्यम से हो और उस देश की भाषा को पहले पढ़कर कार्य प्रारम्भ किया जाए। रूस, जापान, अमेरिका और इंग्लैण्ड के छात्र अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से हिन्दी-उर्दू सीख कर इस प्रकार का शोध कार्य प्रस्तुत कर रहे हैं। यह कार्य पहले व्ययसाध्य और कठिन प्रतीत होगा, लेकिन अव्यवृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित करने से इसके प्रचारित होने में कोई सन्देह नहीं है। भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय छात्रवृत्तियाँ देकर इस कार्य को अपने हाथ में ले तो विदेशों से हमारा सम्पर्क तो बढ़ेगा ही साथ ही भारत की राष्ट्रभाषा का भी सम्मान होगा। भारतीय भाषाओं के माध्यम से विदेशी साहित्य की प्रामाणिक जानकारी का यह मार्ग अभी तक हिन्दी अथवा किसी भी भारतीय भाषा के अनुसंधाता के सामने नहीं खुला है। विश्व-साहित्य के सम्पर्क में आने के लिए इस ओर हमें अविलम्ब ध्यान देना चाहिए। रूसी अनुसंधाता तुलसी, प्रसाद, प्रेमचन्द, यशपाल आदि की कृतियों पर अनुसंधान ग्रन्थ लिख सकते हैं तो हमारे विद्यार्थी उस देश की महान् कृतियों का अध्ययन क्यों नहीं कर सकते? इसके साथ ही अब हिन्दी छात्र को भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी, उस भाषा को सीखकर, सीधा प्रवेश करना चाहिए। तमिल, तेलुगु, मराठी और बंगला के तुलनात्मक अध्ययन से आगे बढ़कर प्रत्यक्षरूप से प्रान्तीय भाषा और साहित्य में हिन्दी के शोधार्थी को प्रवेश करना चाहिए। आज हमें जो कठिन और दुःख लग रहा है वह कल परिश्रम से सुगम और सहज साध्य हो सकेगा, ऐसा दृढ़ संकल्प और आत्म-विश्वास लेकर ही इस क्षेत्र में आना चाहिए।

हिन्दी में भारतीय साहित्य

डॉ० प्रभाकर सांचे

हिन्दी में मराठी साहित्य

मराठी भाषा के गये सात सौ वर्षों के समृद्ध साहित्य में से हिन्दी में कितना अनुवादित होकर आया है, यह तो एक पूरी ग्रन्थ-सूची का विषय है, जो शोध और समय-साध्य कार्य है। मैं तो यह टिप्पणी, केवल अपनी स्मृति के सहारे, इस आशा से लिख रहा हूँ कि मुझसे अधिक जाननेवाले इसे पूरा करेंगे।

ऐसे सब लेखन मैं व्यक्तिगत अनुभव से आरम्भ करता हूँ, और यदि इसमें अपने कार्य के बारे में लिखना पड़ता है तो मुझे क्षमा किया जाये। मैं आत्म-श्लाघा के हेतु से ऐसा नहीं करता; अंशतः यह सोचना आसान हो जाता है (स्मृति का 'स्व' से गहरा सम्बन्ध है); दूसरे, नयी पीढ़ी को ये पच्चीस-तीस वरस पुरानी कई बातें याद नहीं हैं। मैंने जब आरम्भ में हिन्दी लिखना और छपाना शुरू किया—सन् '३४ में मेरी पहली रचना छपी—तब एक द्वैभाषिक व्यक्ति की सारी अड़चनें मेरे सामने थीं: मेरी हिन्दी मराठी मुहावरों से भरी 'खराब' हिन्दी होती थी। मैं मराठी में भी तब लिखता था, और मेरी मराठी भाषा को मराठी सम्पादक 'हिन्दाळसेसी' (हिन्दी से बिगड़ी हुई) कहते थे। सो मैंने दोनों भाषाओं के व्याकरण, कोश, प्राचीन साहित्य आदि का गहरा अध्ययन शुरू किया, इस दृष्टि से कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट समझूँ, और जब एक भाषा में लिखूँ तब 'हिन्दुई छुट किसी और भाषा की पुट' उसमें न मिलने पाए। यहीं सबसे पहले मराठी से हिन्दी में अनुवादित पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। माधवराव सप्रेजी द्वारा अनुवादित ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी', हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनुवादित वामन मल्हार जोशी का उपन्यास 'रागिणी' और आचार्य जावडेसर की पुस्तक 'आधुनिक भारत' का हिन्दी अनुवाद आदि अब भी याद हैं। इन्हीं से प्रेरणा मिली कि स्वयम् भी यह कार्य किया जाए। प्रेमचन्द ने 'हंस' में सन् '३६ में मुझसे अनुवाद करवाए। हिन्दी के दो बड़े पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी और माखनलाल चतुर्वेदी अच्छी मराठी जानते थे और हैं। बाद में मैंने खांडेकरजी की कहानियाँ और एक उपन्यास (उल्का) का, 'अनिल' के एक काव्य 'भग्नमूर्ति' का पुस्तकाकार अनुवाद किया।

मराठी से हिन्दी में नया-नया अनुवादित हुआ है पुस्तकाकार; और क्या कुछ और होना चाहिए इसका विचार ऐतिहासिक क्रम से करना उचित होगा। आरम्भिक मराठी साहित्य मुख्यतः सन्त-साहित्य और भक्ति-साहित्य है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव, रामदास ये प्रमुख सन्त कवि हो गए हैं। ज्ञानेश्वर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' के तीन अनुवाद हिन्दी में मेरे देखने में आये। उनमें एक छन्द में भी है।

तो इसका और एक अनुवाद आवश्यक नहीं है। जानेश्वर के दूसरे ग्रन्थ 'अमृतानुभव' का अनुवाद जरूर होना चाहिए। पर वह दार्शनिक पुस्तक होने से बहुत कम लोग इसका अनुवाद करने के लिए तैयार होंगे। तुकाराम की गाथा का कोई अनुवाद देखने में नहीं आया। हिन्दुस्तानी अकादेमी से बहुत वर्षों पूर्व डॉ० हरी रामचन्द्र दिवेकर ने 'तुकाराम' पुस्तक छपी थी, उसमें कुछ अनुवाद हैं। पर इस सन्त के अनुवाद अंग्रेजी और फ्रेंच में उपलब्ध हैं; रवीन्द्रनाथ ने बंगला में उसके अनुवाद किए। परन्तु हिन्दी में नहीं हैं। एकनाथ के भागवत और भावार्थ रामायण के; मुक्तेश्वर के महाभारत के; श्रीधर के भक्तिलीलामृत के; वामनपण्डित के और मोरोपंत के काव्यों के अनुवाद नहीं हुए हैं। रीतिकालीन हिन्दी कविता का अनुवाद जैसे कठिन है, वैसे ही शिष्ट कवियों की संगीतमयी संस्कृत-बहुला कविता का अनुवाद कठिन है। इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। हाँ, शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास के 'दासबोध' का कृष्ण नारायण गर्दे का किया हुआ एक अनुवाद अवश्य हिन्दी में है, ओ गद्य में है। दूसरे ग्रन्थ अधिकतर पौराणिक कथानकों, भागवत, रामायण, महाभारत के उपाख्यानो के आधार पर हैं; अतः इनके अनुवाद आज के पाठक को कहाँ तक रुचेंगे यह एक प्रश्न है। यह काम तो किसी ऐसी संस्था को कराना चाहिए जो सारी भारतीय भाषाओं की रामायणों या सारी भारतीय भाषाओं के कृष्णलीला-प्रसंग या ऐसे ही विविध विषयों की रचनाएँ एक सिलसिले से प्रकाशित करे।

मध्ययुगीन मराठी साहित्य, ऐतिहासिक कागज-पत्र फारसी मिश्रित 'बावरो' (शेखवार का अहवाल) जैसे गद्य में, या क्रमशः 'पोवाडे' और 'लावणी' जैसे वीररस और भृंगार रस प्रधान लोककाव्य के रूप में है। इनमें से कुछ चुनी हुई रचनाओं के अनुवाद इस दृष्टि से उपयोगी होंगे कि मराठी भाषा में अन्य भाषाओं का कितना योगदान था। किसी प्रकाशक को महत्त्वपूर्ण मध्ययुगीन लोकसाहित्य की 'सीरीज' बनानी चाहिए, जिसमें 'आल्हा', 'हीर-राँझा' की तरह मराठी के चुने हुए पोवाडे और गवणियों का मूल-सहित अनुवाद प्रकाशित हो।

अंग्रेजी राज्यशासन के बाद मराठी में गद्य बहुत विकसित हुआ। उसकी चर्चा एक-एक विधा : उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समीक्षा आदि स्वतन्त्र परिच्छेदों में आगे कर रहा हूँ। पहले पद्य या काव्य की बात कहूँ : 'केशवसुत' (कृष्ण के केशव दामले) मराठी की आधुनिक कविता के अग्रणी कवि रहे हैं। उनकी कविताएँ हिन्दी में आनी चाहिए। पूना की 'राष्ट्रवाणी' उनके जन्म की शतसांवत्सरिकी के अवसर पर विशेषांक निकालने जा रही है। उनके बाद के कवियों में कई प्रसिद्ध हुए। देशभक्ति की कविताओं में विनायक सावरकर, यशवंत, कुसुमाग्रज आदि; रोमांटिक कवियों में 'बी', तांदे, गडकरी, माधव ज्यूलियन वारेकर आदि। होना यह चाहिए कि चुनी हुई कविताओं के संकलन प्रकाशित करने चाहिए। जैसे स्वर्गीय राम-नारायण त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' में किया था, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बंगला आदि की कविता का। उसके बाद प्रगतिवादी और अत्याधुनिक कवियों में आत्माराम राव जोशी, 'अनिल' और वा० सा० मडेंकर बहुत प्रख्यात हैं। इधर एक समकालीन

१०० : आलोचना

मराठी कविता का छोटा-सा संकलन दिनकर सोनवलकर ने सम्पादित किया है। मराठी की कविताओं के अनुवाद की पाण्डुलिपि अनिलकुमार ने तैयार की है, जो अप्रकाशित है। और भी कई अत्याधुनिक कवि हैं जैसे पु० शि० रेगे० वसंत वापट, विंदा करं-दीकर, मंगेश पाडगांवकर, शरच्चन्द मुक्तिबोध आदि जिनके छोटे-छोटे संग्रह अनुवाद रूप में छप सकते हैं। पर अनुवाद करने वाले अच्छे होने चाहिए। मराठी नयी कविता से पुस्तकाकार बहुत कम हिन्दी में आया है, सिवा वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की 'कवि श्री' माला की दो छोटी पुस्तकों के।

उपन्यासों से बहुत से अनुवाद हिन्दी में हुए हैं : हरी नारायण आपटे, नारायण सीताराम फडके, मामा वरेरकर, वि० स० खांडेकर, ग० त्र्यं० प्राडखोलकर, साने गुरुजी, वि० द० सावरकर आदि सन् '४० तक की प्रख्यात पीढ़ी के प्रायः सभी उपन्यासकारों की कुछ कृतियाँ हिन्दी में अवश्य उपलब्ध हैं। परन्तु मराठी की विशेषता—ऐतिहासिक उपन्यास-सीरीज जैसे 'नाथ माधव' की शिवाजी के समय के उपन्यास या वि० वा० हडप की अंग्रेजी राज्य पर उपन्यास की सीरीज हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हो सकती है। हाल में उसी विधा में बहुत लोकप्रिय हुआ, साहित्य अकादेमी से गत वर्ष पुरस्कृत उपन्यास रणजीत देसाई का 'स्वामी' है। सामाजिक उपन्यासों में जो सुधार-प्रधान उपन्यासकार थे, उनके अनुवाद तो हुए हैं। पर जिन उपन्यासों में समाज की रूढ़ियों से विद्रोह का समर्थन है, उनके अनुवाद कम हुए हैं। पु० भ० देशपांडे की 'बन्धनों के पार' या 'सदाफुली'; विभावरी शिरूरकर के 'कलियों के निशवास' या 'बली' (शायद इसका अनुवाद श्री रा० र० सर्वटे ने किया है); विश्राम बेडेकर का 'रणांगण' (यह उपन्यास एक लाख के पुरस्कार के लिए मराठी परामर्शदात्री समिति ने आशंसित किया है और अनुवाद बम्बई के प्रो० मोहोडकर ने किया है, जो अभी अप्रकाशित है); पु० शि० रेगे का 'सावित्री' और 'अवलोकित' (हाल में दोनों के अनुवाद क्रमशः 'ज्ञानोदय, और 'धर्मयुग' में क्रमशः प्रकाशित हुए। 'अवलोकित' का अनुवाद मैंने किया था); श्री० ना० पेंडसे का 'गारंबी चा बापू' और 'रथचक्र' (प्रथम वसंत देव द्वारा अनुवादित, 'राष्ट्रवाणी' द्वारा प्रकाशित; दूसरा साहित्य-अकादेमी पुरस्कृत, शायद 'राजपाल' द्वारा शीघ्र-प्रकाश्य); व्यंकटेश माडगूळकर का 'बनगरवाडी' (अंग्रेजी, पंजाबी अनुवाद प्रकाशित—हिन्दी अनुपलब्ध, जरूर छपना चाहिए) आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं। अन्नाभाऊ साठे का 'फकिरा' भी हिन्दी में छपा है। इधर जो मराठी उपन्यास मैंने पढ़े उनमें तीन उपन्यासों ने मुझे व्यक्तिशः बहुत आकर्षित किया, और मेरे पास समय होता तो मैं उन्हें जरूर अनुवादित करता, यदि कोई हिन्दी प्रकाशक मुझे उसके लिए कहता—वे हैं :

लेखक

दि० वा० योकाशी

भालचन्द नेमाडे

वि० त्र्यं० खानोलकर

उपन्यास

दैव चालले (देवता चले)

कोसला (रेशम जिससे बनता है वह ककू)

रात काली.....धागर काली (रात काली)

...गगरी काली

कहानियों में मराठी में सैकड़ों लेखक हैं। जिनमें से दस-बारह बहुत ही अच्छे हैं। प्रायः हिन्दी पत्रों में उनकी कहानियाँ छपती रहती हैं, अनुवाद रूप में। इधर पूना से 'कान्टिनेंटल' प्रकाशक ने अरविंद गोखले द्वारा संपादित श्रेष्ठ कहानियाँ १९६१, '६२, '६३, '६४, '६५ ऐसे संग्रह प्रकाशित किये हैं। मैंने ये पढ़े हैं। इनमें से यदि एक चुनकर उत्तम संग्रह तैयार कराया जाय, पच्चीस-तीस कहानियों का तो हिन्दी वालों को बहुत अच्छी कथाएँ पढ़ने को मिलेंगी—शिल्प और कथ्य दोनों दृष्टियों से।

नाटकों में मराठी काफी समृद्ध रहा है। आरम्भिक काल के अधिकतर नाटक संगीत-प्रधान होने से उनके अनुवाद असंभव हैं। सामाजिक गद्य नाटकों में खाडिलकर का कीचक वध ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वह ब्रिटिश सरकार ने ज्वत किया था, बंगला में दीनबन्धु मित्र के 'नील दर्पण' की तरह। गडकरी का 'एकत्र प्याला' महाराष्ट्र में एक जमाने में बहुत लोकप्रिय था, पर उसका सौन्दर्य उसमें की गद्य-काव्य जैसी भाषा में है अनुवाद में वह सौन्दर्य पूरी तरह नहीं उतरता। उनके बाद के प्रसिद्ध नाटककारों में मामा वरेरकर, प्रह्लाद केशव अत्रे, मो-ग-रांगणेकर आते हैं। मामा के कई नाटकों के अनुवाद र-श-केलकर ने किये हैं। अत्रे के एक नाटक का अनुवाद श्रीमती वनमाला भवासकर ने किया, जिसका नाम 'विवाह-बंधन' है। अत्रे के बाद पु० ल० देशपांडे तक के नाटकों में हास्य का और स्थानीय व्यंग का बड़ा रंग है। बहुत-सा हास्य विनोद शब्द-निष्ठ होने से उसका अनुवाद असंभव है। पु० ल० देशपांडे के प्रसिद्ध नाटक 'तुझे आहो तुझपाशीं' का अनुवाद 'कस्तूरी-मृग' राहुल वरपुते ने किया। इसके बाद के दो प्रसिद्ध नाटककार विजय तेण्डुलकर और वसंत कानेटकर के दो-तीन नाटकों का अनुवाद वसंतदेव ने किया है और बंबई के पाप्युसर प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। इनमें 'ढाई अक्षर प्रेम के' और 'श्रीमंत' को बंबई, दिल्ली, इंदौर में मंच पर प्रदर्शित भी किया गया, सफलता से। यह सब दस-बारह अच्छे अनुवाद काफी नहीं हैं। हिन्दी पाठक-दर्शकों की और मंच की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बहुत-सी मराठी नाटिकाओं और नाटकों का अनुवाद होना चाहिए। मो-ग-रांगणेकर की 'कुलवधू', पुरुषोत्तम दारव्हेकर और रत्नाकर मतकरी के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में कराये जाने चाहिए। एकांकी नाटक तो अनेक हैं, जो बहुत अच्छे हैं। एक उत्तम उदाहरण अनिसकुमार द्वारा संपादित 'प्रतिनिधि एकांकी' नामक हिन्दी गंदर्भ विजय तेण्डुलकर का 'चार दिन' है।

निबन्ध के क्षेत्र में मराठी से बहुत कुछ अनुवादित किया जा सकता है। ललित निबंध और वैभाविक निबन्धों का एक उत्तम संकलन किया जा सकता है जिसमें फडके-खांडेकर से लगाकर दोडके-अनामिका तक बहुत-से ललित-निबंध एकत्रित किये जा सकते हैं। हिन्दी में तो निबन्ध की 'रम्य रचना' विधा में रेखाचित्र, व्यक्तिचित्र, रिपोर्ताज और साहित्यिक निबन्धों को भी शामिल कर लेते हैं : मराठी 'निबन्ध' के अन्तर्गत प्रोफेसरों की लिखी समालोचनाएँ नहीं आतीं। व्यक्तिचित्रों में पु० ल० देशपांडे का नाम सबसे बढ़कर है; वैसे और भी कई मनोरंजक प्रयोग इस

दिशा में हुए हैं।

चरित्र और आरमचरित्र यानी जीवनी और आत्मकथा के क्षेत्र में मराठी में बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। मराठी लेखकों में ऐतिहासिकता पर बहुत जोर है। महाराष्ट्र में इतिहास-संशोधन का बड़ा कार्य हुआ है। अमेरिका में 'फाइव महाराष्ट्रीय ब्राह्मिन्स' नामक दि० धों० कर्वे की एक आत्मकथाओं में से संकलित ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। कई सामाजिक कार्यकर्ता, राजनैतिक क्रांतिकारी, मजदूर नेता, सांस्कृतिक कार्यकर्ता, लेखक, यात्री, चित्रकार, संगीतकार, अभिनेता-अभिनेत्रियाँ, नर्तकियों आदि ने बहुत ही मनोरंजक और उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से चुनकर कई अच्छी किताबें प्रकाशित की जा सकती हैं। संगीतकारों की याद और प्रशंसा और मूल्यांकन के कई उत्तम ग्रन्थ हैं। उन सब का विवरण यहाँ असम्भव है। मेरा वस चले और मुझे कहा जाय तो मैं अनंत कार्णकर की सन '३५-३६ के करीब छपी रूस-यात्रा की पुस्तक 'धुव्यांतून लाल तान्याकडे' (कुहरे में से लाल तारे की ओर) या 'शुद्धसारा' नामक लेखक की 'मखमल का पर्दा' (स्टेज सम्बन्धी संस्मरण) या अफ्रीका में और अन्यत्र अपनी सर्कस से जाने वाले सज्जन की आत्मकथा अवश्य हिन्दी में अनुवाद कराऊँ। घोंड़ो केशव कर्वे की छोटी-सी आत्मकथा, धर्मानंद कोसंबी का 'निवेदन' (आत्मकथा), सावरकर की 'माझी जन्मठेय' (मेरा आजीवन कारावास), तिलक की स्मृतियों के कई खंडों से संकलन, ना० ग० गोरे के निबन्ध, काका गाडगील की आत्मकथा आदि अनेक पुस्तकों के नाम मुझे याद आ रहे हैं। पर यहाँ भी 'भिन्नरुचि हि लोकाः' वाली बात सार्थक है।

साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में के० ना० वाटवे के 'रस-विमर्श' और द० के० केसकर के 'आधुनिक काव्यप्रकाश' का अनुवाद छप जाय तो पता चलेगा कि हिन्दी में रस-विषयक छपी पुस्तकों में कितनी 'मौलिकता' (?) शेष है। गन्धर्व-देशपांडे के 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। मर्डेकर, दि० के० बेडेकर, वा० स० कुसकर्णी आदि कई समीक्षकों की रचनाएँ हिन्दी में आनी चाहिए। मर्डेकर की 'सौन्दर्य आणि समीक्षा' का अनुवाद जरूर छपना चाहिए, कुछ निबन्ध 'राष्ट्रवाणी' में छपे थे। सासजी पेंडर्स के 'समाज आणि साहित्य' से रा० चि० ढेरे के 'खंडोबा' और 'नाथ-पंथ' तक कई तरह के साहित्येतिहास पर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक प्रभाव के परीक्षणों के ग्रन्थ छपे हैं। उनमें प्रा० न० (फाटक के 'एक नाथ', 'ज्ञानेश्वर', 'रामदास' के अनुवाद अवश्य हिन्दी में होने चाहिए। और प्रा० ग० दं० सरदार के ग्रन्थों के भी। साहित्य अकादेमी ने रजिवाड़े, चिपसूफकर, आगरकर आदि के निबन्ध-संकलन और कथा-संग्रह आदि छापे हैं, जिनके अनुवाद हिन्दी में होंगे, ऐसी आशा है।

हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं का स्वतन्त्र्योत्तर साहित्य

रामनारायण उपाध्याय

निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य

मध्यप्रदेश की लोक भाषाओं में निमाड़ी का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार सभी दृष्टियों से इसका साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध रहा है। यहाँ का प्राचीन काव्य मुख्यतः अध्यात्म और दर्शन की पृष्ठभूमि लिये हुए है। इसके पीछे चार सौ वर्षों की सुदीर्घ परम्परा रही है। प्रकृति की गोद में यह पहा, नदियों के किनारे इसने विकास पाया और लोक-जीवन को सुसंस्कृत बनाने में इसने अपना योगदान दिया है।

इसे सोलहवीं शताब्दी में, कबीर के समकालीन सन्त ब्रह्मगीर मनरंगीर, सिंगा, खेमदास, दलूदास और रंकदास जैसे पहुँचे हुए सन्त-कवियों की वाणी से मुखरित होने का गौरव प्राप्त है।

नर्मदा उपत्यका के अमर गायक संत सिंगा के गुरुमह ब्रह्मगीर को यदि निमाड़ का आद्य कवि कहें, तो भी अत्युक्ति नहीं। आपके ही लिखे एक गीत की दो पंक्तियों ने सिंगा के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया, और एक जमाने के साधारण से गोली को युग-युगान्त का महान सन्त बना दिया। गीत की ये दो पंक्तियाँ हैं :—

“सझझी लेबो रे मना माई,
अंत नी होय कोई आपणो।”

‘हे भाई मनुष्य अच्छी तरह समझ लो। अन्त में कोई अपना होने वाला नहीं है।’ इन शब्दों ने सिंगा के जीवन पर जादू का-सा असर किया और उन्होंने अपने मन को जगत् की ओर से मोड़, ब्रह्म की ओर लगा दिया। कहते हैं, उसी के बाद आपने अपने ग्यारह सौ अध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था। आपका समय भी सम्भवतः १४५५-१५७५ माना जाता है। यही कबीर का भी काल रहा है। खण्डवा से ६ मील दूर भामगढ़ ग्राम के पास ब्रह्मगीर नामक स्थान पर आज भी आपकी समाधि बनी है।

ब्रह्मगीर के बाद निमाड़ में दूसरे सन्त कवि मनरंगीर हुए। आप ब्रह्मगीर के शिष्य और सिंगा के गुरु थे। आपके ही मुँह से ब्रह्मगीर का भजन सुनकर सिंगा को वैराग्य हुआ था। आपके द्वारा लिखित एक लोरी समूचे निमाड़ में प्रसिद्ध है। लोरी क्या है मानों विराट ब्रह्म की गोद में झूलने वाले माटी के पुतले मनुष्य का वर्णन है। देखिये उसके बोल हैं—

१०४ : आलोचना

“सोहं बाळा हालरो, नित निरमळो ।

निरमळ थारी जोत, सोहं वाला हाळरो ।”

‘सोहं पुरुष नित्य निर्मल है और निर्मल ही है, उसकी ज्योत, सोहं पुरुष नित्य निर्मल है ।’

खण्डवा से ५ मील दूर टाकली मोरी गाँव में आपकी समाधि बनी हुई है । मनरंगीर के बाद निमाड़ में जो सबसे सशक्त एवम् लोकप्रिय कवि हुए वे हैं सिगा ।

सन्त सिगा को यदि निमाड़ काव्य-जगत् का पूर्ण चन्द्र कहें तो भी अत्युक्ति नहीं । शरद की रस-भीनी निर्मल चाँदनी की तरह आपकी रचनाएँ यहाँ के सम्पूर्ण मनःप्राण को आच्छादित किये हैं । निमाड़ में यदि सन्त सिगा नहीं होते, तो निमाड़ी भाषा इतनी परिष्कृत नहीं होती, निमाड़ की संस्कृति इतनी सहिष्णु नहीं होती और निमाड़ के जन-मन में आध्यात्मिकता की ऐसी अमिट छाप नहीं होती । आप निमाड़ के किसी भी गाँव में चले जाइये, वहाँ आप सूर और तुलसी के पदों की तरह सिगा के पद प्रचलित पाएँगे । जब भी किसी का मन अपने-आपमें नहीं समाता, या एकान्त में घिर जाता है, तो वह सिगा के ही शब्दों में सान्त्वना पाता आया है ।

जिस तरह निपाद के वाण से बिंधे कौंच को देखकर वाल्मीकि के मुँह से अनायास ही आदि काव्य के स्वर फूट निकले थे, उसी तरह शरीर की नद्वरता के सम्बन्ध में ब्रह्मगीर के शब्दों से बिंधकर सिगा के मुँह से भी काव्य की अमृत-वाणी झर निकली थी, और अपने ग्यारह सौ आध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था । आपकी रचनाएँ कबीर की निर्गुण-धारा, रहस्यवाद और फक्कड़पन लिये हुए हैं । अपने एक गीत में अव्यक्त ब्रह्म का निरूपण करते हुए आपने लिखा है—

“निर्गुण ब्रह्म है न्यारा । कोई समझो समझणुहारा ॥

त्रिकुटी महल में अनहद बाजे । होत शब्द झणकारा ॥

सुकमणी सेज शून्य मंड झूले । ओ सोहं पुरुष हमारा ॥

एक दूसरे गीत में लिखा है—

“पाणी पवन से हो पातळा, जैसे सूर्य में घाम ।

ज्यों हों शीश का चांदणा, ऐसी मेरो राम ॥”

अर्थ है—“जो पानी और पवन से भी पतला है, जैसे सूर्य की धूप या चन्द्रमा की चाँदनी, ऐसा अव्यक्त मेरा राम है । अर्थात् जो धूप और चाँदनी की तरह दिखाई देकर भी पकड़ में नहीं आ सकता और पकड़ में न आने पर भी जिसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता ।”

अपने इस सन्त-कवि पर यहाँ की जनता की कुछ ऐसी असीम श्रद्धा रही है कि भले ही सूर और तुलसी के नाम पर कोई ग्राम नहीं बसे हों, मेले नहीं लगते हों, लेकिन आपकी समाधि पर आपकी निर्वाण-तिथि के अवसर पर निमाड़ का सबसे बड़ा मेला लगता है और आपकी समाधि के पास जो गाँव बसा है वह ‘सिगाजी’ के ही नाम से प्रसिद्ध है । अभी तक आपके द्वारा लिखित निम्न सामग्री प्राप्त हो चुकी है—

निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य : १०५

(१) सिगाजी का दृढ़ उपदेश (२) आठ बार सिगाजी का (३) पन्द्रह दिन (४) बाबा सिगाजी की बाणावली (५) आत्मध्यान (६) सिगाजी की नराज (७) बंकड़ों मौखिक भजन, जिनकी प्रतिलिपि की जा चुकी है।

आपका जन्म संवत् १५७६ में बड़वानी, मध्य प्रदेश के खजूरी ग्राम में हुआ और चालीस वर्ष की अवस्था में सन् १६१६ में आपने हरसूद तहसील के सिगाजी नामक ग्राम में समाधि ली।

खेमदास सिगा के अनन्य भक्त थे। आपके द्वारा लिखित सिगाजी की परचरी सिगा पर एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह छन्दबद्ध ओवी में लिखा है। देखिये इसके कुछ पद ये हैं—

सिगनी नाम, जात का गवळी
बजावे पावा मुहर बंशाली।
गावड गीत, घुमावड देव,
हरी भजन को न जाने मेव।
रहे उद्भुत करे चाकरी,
और नहीं जाणे बात दूसरी

यह मोटे देशी कागज पर ४×६ की साइज में १४० पृष्ठों में सम्पूर्ण है। इसके निर्माण काल और लेखक के सम्बन्ध में ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।

संवत् १७५१ में खेमदास ने इसे लिखा और संवत् १८७६ में गोवरधनदास ने उसी पर से इसकी प्रतिलिपि तैयार की। इससे खेमदास जी का भी समय १७५१ के आसपास प्रतीत होता है।

आइये, अब मैं आपको निमाड़ अंचल के विनम्र साधक दलुदास से परिचित करा दूँ। आप सिगा के भक्त ही नहीं, उनके पौत्र भी थे और उन्हें भगवान की तरह मानते थे। आपका जीवन क्या क्या था, मानों सिगा के प्रति समर्पित एक विनम्र श्रद्धांजलि। आपने उन्हीं की साधना-उपासना में अनेकों सुन्दर गीतों की रचना की थी। आपने अपने एक गीत में अपने प्रभु से अपने लिए कितने सादगीपूर्ण जीवन की गीत की है। गीत क्या है, मानो इसमें आपने अपनी आत्मा उतारकर रख दी है। गीत के दोल हैं—

“सिगा स्वामी अरजी सुजजो, कोई का दागदार मत कीजो
नर नारायण देह दोनी है, गुरु म्हारी पल पल खबरा लीजो,
कोई का दागदार मत कीजो।”

निमाड़ अंचल के काव्य को नवीन शैली प्रदान करने और नवीन उपमाओं एवं कल्पनाओं से संवारने के नाते धनजीदास का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। आप जाति के नाई थे और गौगावाँ के समीपस्थ एक गाँव में आपका जन्म हुआ था। वेदा नदी के किनारे आज भी आपकी समाधि बनी हुई है।

यों तो आपके लिखे ‘अभिमन्यु-व्याह’, ‘लीलावती’, ‘सुभद्रा-व्याह’ आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, लेकिन इन सबसे अधिक आपकी ‘मोतीलीला’ है। यह १७५ पदों

१०६ : आलोचना

में सम्पूर्ण एक काव्य है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार की दृष्टि से यह एक अनूठी कृति है। इसमें आपने एक धार्मिक कथा के आधार पर, अत्यन्त ही मौलिक एवं नवीन ढंग से, रूठी हुई राधिका को मनाने के लिये मोतियों के व्यापारी के रूप में श्रीकृष्ण का वर्णन किया है।

निमाड़ अंचल के काव्य की चर्चा करते हुए अब हम १९वीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं। रंकदास १९वीं सदी के लोकप्रिय कवि हो गये। सिंगा की निर्गुण धारा के बाद, निमाड़ में सगुण काव्यधारा को प्रवाहित करने का श्रेय आपको है। आप हरदा तहसील के नजरपुरा ग्राम के निवासी गंगागीर के शिष्य और कृष्ण के उपासक थे। आपका काल सम्बत् १८४८-१९३२ रहा है। आपने अपनी रचनाओं में 'माया', 'ममता' और 'तृष्णा' आदि का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है।

इस तरह निमाड़ अंचल का प्राचीन काव्य अपने में कबीर की निर्गुणधारा और सूर और तुलसी की सगुण धारा को सहेजे, पिछली चार शताब्दियों से निरन्तर प्रवाहमान रहा है।

आधुनिक गद्य एवं पद्य

निमाड़ी भाषा के आधुनिक गद्य एवं पद्य के निर्माण में शिक्षित वर्ग का जितना हाथ है, उतना ही ग्रामीण जनता का भी योगदान रहा है।

खण्डवा के श्री माणिक्यचन्द्रजी जैन द्वारा लिखित 'सुखानन्द-मनोरमा' नामक नाटक में सबसे पहले एक पात्र के रूप में निमाड़ी भाषा का प्रयोग किया गया। इसमें शिष्ट हास्य का उत्तम नमूना है। यह पुस्तक अब अप्राप्य है। इसके बाद 'वाणी' के निमाड़ अंक में प्रकाशित श्री तुलसीदास गांवसिंदे की 'कंजूस-खोपड़ी' नामक कहानी भी निमाड़ी भाषा की एक अत्यन्त ही सुन्दर और मनोरंजक रचना रही है। इसी तरह की एक बात मैंने अकोला से प्रकाशित 'मानवता' में दी थी। उसमें 'लोक-कहावतों' के माध्यम से बात-की-बात कही गई है।

कहानियों की दिशा में श्री नारायण बावने 'वरुण' ने निमाड़ी भाषा में अनेकों प्रयोग किये हैं। वे निमाड़ी में सिद्धहस्त रहे हैं। एक ओर जहाँ उन्होंने 'हृषियार बर वाल्डी' 'याइ-याऐण का सवाल-जवाब' और 'राजा को गप्पो' जैसी सुन्दर व्यंग्य और हास्य-पूर्ण रचनाएँ लिखी हैं, वहीं वे, अपनी बहादुरी के लिये प्रसिद्ध 'टंटिया मामा', और आत्मोत्सर्ग के लिये प्रसिद्ध 'कुलवन्ती बहू' की कथा को भी भूले नहीं हैं, जिसकी याद में आज भी 'वरला के तालाब' की आँखें डबडबाई हुई हैं।

निमाड़ी लोक-कथाओं की दृष्टि से भाई शिव नारायण उपाध्याय ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। आपने निमाड़ी लोक-कथाओं का एक संग्रह 'राजा को सपनों' नाम से सम्पादित किया है। श्री शिवसहायजी चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित विभिन्न जनपदों की लोक-कथाओं के प्रतिनिधि संग्रह 'हमारी लोक-कथाएँ' में आपकी 'जंगी-भूत' शीर्षक लोक-कथा संग्रहीत है। पब्लिकेशन डिबीजन से प्रकाशित 'कमल और केतकी' नामक पुस्तक में लेखक की दो निमाड़ी लोक-कथाएँ संग्रहीत हैं। श्री डॉ० कृष्णलाल

हंस के निमाड़ी लोक-कथाओं के दो छोटे-छोटे संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

युग की पुकार से भी निमाड़ी गद्य-साहित्य खाली नहीं है। श्री हेमचन्द्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'धरती माता' शीर्षक कहानी में आप आचार्य विनोबा के भूमिदान आन्दोलन के स्वर सुन सकते हैं। संक्षेप में, निमाड़ी गद्य के ये कुछ पद-चिह्न हैं।

निमाड़ का पद्य-साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है। इसमें अनेकों नये-नये प्रयोग हुए हैं, विभिन्न प्रकार की रचनाएँ लिखी गई हैं और इनके निर्माण में ग्रामीण और शहराती जनता का समान योगदान रहा है। इसमें उन निरक्षर देहातियों का भी सहयोग है, जिन्होंने शिक्षा के नाम पर एक अक्षर नहीं पढ़ा, और यात्रा के नाम पर अपने ज़िले की सीमा नहीं लाँधी। लेकिन फिर भी जो सूझ और प्रतिभा के ऐसे बनी रहे हैं कि उनकी रचनाएँ निमाड़ के जन-जन की ज़वान पर तैरने आई हैं।

आधुनिक पद्य की दृष्टि से 'सलिता का व्याह' निमाड़ी भाषा की सबसे पहली प्रकाशित रचना है। यह खण्डवा से प्रकाशित हुई थी और गणपत जी ढोंढोवा नामक व्यक्ति इसके प्रकाशक थे। इसका दूसरा संस्करण भी संवत् १९६६ में जगदीश्वर प्रेस बम्बई से निकल चुका है। यह १४७ पृष्ठों की पुस्तक है और निमाड़ में अत्यधिक लोकप्रिय रही है। भजन-मण्डलियों में इसका सर्वत्र प्रसार है।

ख्याल और लावणी-लेखकों में खुड़गाँव के श्री बंकटराम आनन्दराम का नाम सर्व स्मरणीय रहेगा। ये दोनों घनिष्ठ मित्र थे और इन्होंने 'बंकट आनन्दराम' के संयुक्त नाम से ही अनेकों रचनाएँ लिखी हैं। इनके ख्याल निमाड़ के गाँवों में बड़े ही प्रेम से गाये जाते हैं। इनमें से एक का जब निधन हो गया, तो दूसरे को इतना गहरा धक्का लगा था कि उस पर उन्होंने जो रचना की वह 'करुणा' की दृष्टि से समूचे निमाड़ी साहित्य की अनूठी कृति है।

गौगाँवाँ के श्री बोंदर कन्हैयालाल ने भी अनेकों सरबी, लावणी और ख्यालों की रचना की है। इनकी रचनाएँ अधिकांशतः समाज-सुधार सम्बन्धी हैं।

वरुड़ के श्री कृष्णराम परशराम और उमरखली के श्री फकीरनाथ जी की कुछ रचनाएँ, श्री कालूराम जी गंगराडे के सम्पादन में खण्डवा से प्रकाशित 'जाति-सुधारक' नामक पत्र में प्रकाशित भी हो चुकी है। इनकी रचनाओं पर सिगा की निगुणधारा का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है।

श्री शिवचरणलाल द्वारा रचित 'खण्डवा की आग' का वर्णन भी अपने ढंग की अनूठी कृति है। आग तो लगी भी, और बुझा भी दी गई, लेकिन यह गीतकार की कलम का जादू है कि उनकी पंक्तियों में ४५ वर्ष पूर्व लगी आग का वर्णन आज भी ज्यों-का-त्यों देखा-सुना जा सकता है।

ख्यालों की दृष्टि से सायल्ली उस्ताद का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा रचित 'भैंस का ख्याल' बहुत प्रसिद्ध रचना है। इसमें एक देहाती की भैंस लाने की महत्वाकांक्षा, स्वयं की गरीबी और साहूकार के शोषण और अन्त में भैंस के भी खराब निकल जाने का अत्यन्त ही करुण और सजीव चित्रण है। यह गीत मुझे अपने ही गांव कालमुखी के सुप्रसिद्ध ख्याल-गायक श्री धनसिंह गुर्जर से प्राप्त हुआ

१०८ : आलोचना

था। और मैंने जब श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को उनकी देश-व्यापी यात्रा के सिलसिले में फैजपुर कांग्रेस में इसे उन्हें सुनाया, तो इसकी पहली ही पंक्ति पर वे मुग्ध रह गये थे। इसका पहला चरण है—

तुम लाओ नी मसी हऊँ मही-दुध-माखन खाउंगा,
सौंदार ऽ सी उठी न ऽ मही रे खूब घमकाउंगा।
एक तीन साल सो बठी तुम्हारा भरसऽ
तुम लाओ कयई से, बंधी जांगण मऽसरसऽ
भंसी सारी चारो लाऊंगा, नऽ चारो लाऊंगा :
सौंदार से उठी न ऽ मही रे खूब चमकाउंगा ॥”

आधुनिक कविता की दृष्टि से भी निमाड़ी लोक-साहित्य किसी से पीछे नहीं है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसे लोक-जीवन से तदाकार व्यवितियों का सहयोग प्राप्त है।

ग्रामीण पद्य-लेखकों की चर्चा करते समय, हीरापुर ग्राम के छोग्या नामक मल्ल नौजवान को भुलाया नहीं जा सकता जो अपने ख्यालों के लिए आसपास के अनेक गांवों में प्रसिद्ध रहा है। और बिना पढ़ा-लिखा होने पर भी जिसे तत्काल ख्याल-रचना की अद्भुत सूझ प्राप्त है। भादों के महीने रास-मण्डल के दिनों वह जिस गांव में पहुँच जाता है, वहाँ के कार्यक्रम में मानो प्राण आ जाते हैं। अभी-अभी सन् ५६ में जब निमाड़ में अकाल पड़ा, तो सड़क पर काम करते हुए उसने किन गीतों की रचना की, उनमें मानो सहस्र-सहस्र जनता के दुख-दर्द की छाप उभर आई है। उसके द्वारा लिखित एक गीत :

“खुली गई सड़क भैय्या, लगी गई घाड़की
माटी फेंकी न म्हारी, दुखी आई टालकी ॥

समूचे निमाड़ के मजदूरों द्वारा सामूहिक गान की वस्तु बन चुकी है।

आधुनिक कविता लेखकों में बरूफाटक के श्री बाबूलाल अवस्थी की रचनाओं में गरीबी के बीच की मुस्कुराने वाली जिन्दगी और किसान के उज्ज्वल भविष्य के प्रति दृढ़ आस्था के दर्शन किये जा सकते हैं।

निमाड़ी में व्यंग्य लिखने वालों में महेश्वर के श्री बाबूलाल सेन और श्री विद्याधर टेलर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री बाबूलाल सेन की कलम में यदि आज की विपन्न सामाजिक व्यवस्था के सजीव चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता है तो श्री विद्याधर टेलर की रचनाओं में आज की राजनीतिक स्थिति पर कसकर प्रहार किया है। आपकी रचनाएँ गुदगुदाती ही नहीं वरन् तिलमिला भी देती हैं।

भोपाल के श्री लक्ष्मणसिंह डासौंदी ‘आयो आयो चुड़ी वालो’ शीर्षक रचना के माध्यम से समूचे निमाड़ में पहचाने जाते हैं।

अंजड़ के श्री गौरीशंकर ‘गौरीश’ अपने छोटे-छोटे पदों में गेय-गीतों की रचना करने में सिद्धहस्त हैं : उनके एक वर्षा-गीत में वर्षा ही नहीं, वर्षाकालीन ग्रामीण जीवन का अत्यन्त ही सजीव चित्र उतरा है। कुछ ऐसे लगता है मानो रिमझिम की

ज्ञान पर, नन्हीं-नन्हीं बूंदों की तरह नन्हें-नन्हें शब्दों में कोई संगीतमय कथानक चल रहा हो।

सेगांव के श्री सोमेश्वर जोशी की रचनाओं में आज की विषम सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। उनकी 'दसेरो गयो न दिवाळई बाई' शीर्षक रचना को पढ़कर कुछ ऐसे लगता है मानो अपनी अन्तरात्मा के दर्द और श्रुतिओं से उन्होंने इसकी रचना की है।

खण्डवा के सुप्रसिद्ध लोकगीतकार भाई बलराम पगोर ने निमाड़ी में करीब एक सौ गीतों की रचना की है। भाव, भाषा, उपमा व अलंकार सभी दृष्टियों से आपकी रचनाएँ निमाड़ी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हैं। रेडियो पर निमाड़ी लोकगीतों को मौलिक स्वरूप में प्रस्तुत करने का श्रेय भी आपको रहा है। कालमुखी के भाई शिवनारायण उपाध्याय की 'काई ई ओज गांव आय' तथा 'हारि काका ई ओज गांव आय' शीर्षक रचना भी अत्यन्त लोकप्रिय रही है।

राजाभाऊ व्यास की रचनाएँ हमारे ही घर-आंगन के सजीव चित्र लिये हुए हैं। आपके द्वारा लिखित 'बईण की चिट्ठी' में बहन की मनोव्यथा का अत्यन्त ही मार्मिक चित्रण संजोया गया है।

बड़वाह के श्री प्रभाकर द्विवेदी की 'ई कूण आय' शीर्षक पुस्तक निमाड़ी पद्य-साहित्य की अत्यन्त सशक्त कृति है। आपने निमाड़ी लोक-गीतों की शैली में अत्यन्त ही सुन्दर एवं मौलिक प्रयोग किए हैं।

बहेगांव के श्री रामराव जी चौरे की रचनाओं पर लोक-जीवन ही नहीं अध्यात्म का अधिक प्रभाव है।

बुरहानपुर के श्री मंशाराम यादव ने नवनिर्माण-सम्बन्धी रचनाएँ विशेष रूप से लिखी हैं।

खलघाट के श्री भगवान शर्मा द्वारा लिखित 'नर्मदा अष्टक' में नर्मदा का सजीव चित्रण हुआ है।

लोणारा के श्री मांगीलाल सोनी वैद्य द्वारा लिखित 'गरबी संग्रह' निमाड़ी और गुजराती की लोकप्रिय गरबियों का पहला प्रामाणिक संग्रह किया जा सकता है।

इसी तरह श्री अरविन्द जोशी पुष्प, शंकरलाल गुणखाण, नारायण बावने वरुण, मोतीलाल बर्वे 'मुक्त', शंकरलाल पाटीदार, मुरलीमनोहर कायरे व हेमन्द्रनाथ शर्मा निर्मल अक्षरर, रेवाशंकर भांगरोने, त्रिभुवनसिंह चौहान प्रेमी व दिनकर राव दिनेश की रचनाओं में भी निमाड़ी पद्य के उज्ज्वल चरण चिन्ह अंकित हैं।

शोध एवं संकलन कार्य

श्री सुकुमारजी पगोर के प्रयत्नों से सन् १९३४ में 'सिंगाजी-साहित्य शोधक मण्डल' की स्थापना की गई एवं पूरे तीन वर्षों तक सिंगाजी के मेले के अवसर पर उत्सवों का आयोजन कर सिंगा साहित्य पर शोधपूर्ण कार्य किया गया। सन् ३० में सिंगा के जीवन एवं भजनों पर 'सिंगाजी' नाम की एक छोटी-सी अध्ययनपूर्ण पुस्तिका

११० : आलोचना

भी प्रकाशित की गई ।

श्री विश्वनाथ खोड़े के सम्पादन में खरगोन से प्रकाशित 'वाणी' पत्रिका के माध्यम से भी निमाड़ी लोक-साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । उसका 'निमाड़ अंक' इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है ।

सन् १९४० से मैं निमाड़ी लोक-साहित्य के खोज-शोध एवं अध्ययन के कार्य में संलग्न हूँ । सन् १९४९ में 'निमाड़ी लोकगीत' नाम से मेरा एक लोकगीत-संग्रह, सन् १९५८ में 'जब निमाड़ गाता है' नाम से दूसरा लोकगीत-संग्रह तथा सन् १९६४ में 'निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य' नामक अध्ययन पुस्तक तथा सन् १९६५ में निमाड़ अंचल के १६वीं सदी के लोकप्रिय सन्त सिगाजी पर 'सन्त-सिगाजी एक अध्ययन' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है । इनके अलावा 'सम्मेलन पत्रिका', 'परिषद-पत्रिका', 'सप्तसिन्धु', 'राजस्थान भारती', 'महू भारती', 'त्रिपथगा', 'लोकायन', 'इंडियन फोकलोर' (अंग्रेजी) आदि में समय-समय पर अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहे हैं । 'शुक्ल अभिनन्दन-ग्रन्थ' एवं 'पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन-ग्रन्थ' में भी 'निमाड़ी लोक-साहित्य' एवं 'लोक रंगमंच : एक झलक' शीर्षक अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए हैं ।

लोक-साहित्य तथा पुरातत्त्व के विद्वान् अन्वेषक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा हिन्दी जनपदीय परिषद के मुखपत्र 'जनपद' में 'निमाड़ी लोकगीत' पुस्तक पर एक विस्तृत अध्ययनपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किया गया ।

श्री श्याम परमार द्वारा 'मालवी लोक-साहित्य' परिषद के अन्तर्गत निमाड़ पर्यवेक्षण दल का आयोजन कर निमाड़ी लोक-साहित्य के संकलन का कार्य भी किया गया । आप मालवी भाषा के विशेषज्ञ हैं ।

प्रो० नेमीचन्द जैन ने भील और बोरलों पर गम्भीर शोध-कार्य किया है । 'भील, भाषा-साहित्य और संस्कृति' तथा 'भीली हिन्दी शब्दकोष' आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं ।

नागपुर के श्री कृष्णलाल हंस ने 'निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य' पर तथा श्री रमेशचन्द्र गंगराड़े ने 'सिगाजी' पर डाक्टरेट प्राप्त की है । ये दोनों ग्रन्थ निमाड़ी लोक-साहित्य के गौरव ग्रन्थ हैं ।

निमाड़ी लोक-साहित्य के शोध, अध्ययन, संकलन एवं प्रकाशन के लिए सन् १९५३ में 'निमाड़ लोक-साहित्य परिषद' नामक संस्था की स्थापना की गई । सन् ५७ में इसके द्वारा 'निमाड़ी कविताएँ' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भी प्रकाशित की गई । परिषद के मुखपत्र के रूप में श्री जड़ावचन्दजी जैन के संचालन एवं श्री जगदीश विद्यार्थी, रामनारायण उपाध्याय एवं महेन्द्र जैन के सम्पादन में 'निमाड़' नामक एक पाक्षिक पत्र भी प्रकाशित किया गया जिसमें निमाड़ी लोक-साहित्य पर उपयोगी सामग्री प्रकाशित होती रही है ।

व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ० सत्येन्द्र

गुलाब राय

गुलाबराय जी से मेरा मानसिक सम्बन्ध तो 'नवरस' नामक ग्रन्थ के द्वारा सम्भ-
वित सन् १९२५-२६ में ही हो गया था।

वी० ए० में दर्शन के अन्तर्गत मनोविज्ञान भी मेरा विषय था, अतः नागरी
प्रचारिणी सभा, आगरा के विद्यालय में विशारद तथा साहित्य रत्न की कक्षाओं
में 'स' का अध्यापन कराते समय मुझे मनोवैज्ञानिक प्रणाली ठीक लगती थी
उसका एक रूप बाबूजी ने ही छोटे से 'नवरस' में दिया था, अतः इससे मैं
प्रभावित हुआ। जब बाबूजी ने आगरे को अपना स्थायी निवास बनाया तब मिलना
आसान होगा, पर तब भी पहले साक्षात्कार में वे चिरपरिचित लगे होंगे, ऐसा मुझे
कामना होता है। क्योंकि मैं और वे मिले, तब क्या कुछ कैसे हुआ यह मुझे स्मरण
में अतः यह ऐतिहासिक घटना भी, एक सहज व्यापार के रूप में घटित हुई, और
संशय से मुझे बाबूजी के पारस्परिक सम्पर्क का कुछ भी स्मरण होता है तो लगता
है कि उससे भी बहुत पहले से मैं उनसे मिलता-जुलता रहा हूँ।

यथार्थ यह है कि बाबूजी आगरे में १९३३ में आये, जैसा कई व्यक्तियों ने
मेरे संस्मरणों में लिखा है, और मैं १९३० में ही आगरे से मथुरा चला गया था पर
जब बीच में आगरे तो आना होता ही था, क्योंकि आगरे में ही मेरा घर था, पिताजी
को छोटा भाई तो आगरे ही रहते थे, माता जी भी बहुधा आगरे ही रहती थीं, अतः
जाना होता ही था। आगरे आये तो नागरी प्रचारिणी सभा में जाना अनिवार्य ही
होया, महेन्द्र जी से मिलना भी अनिवार्य। यहीं कहीं बाबूजी के दर्शन हुए होंगे।

फिर मैंने अनुभव किया कि बाबूजी का स्नेह मुझ पर पिता के समान है। यह
तो अनुभव किया कि उनमें और मुझमें अत्यधिक आत्मिक निकटता है। बाबूजी के
ग्रन्थ में लिखे गए अन्य विद्वानों तथा व्यक्तियों के संस्मरण मैंने पढ़े तो लगा कि
परम भी बाबूजी से ऐसा ही निकटत्व अनुभव करते थे जैसा मैं करता था पर मेरी
निकटता तो अन्य उपादानों के कारण बढ़ी ही और सम्भवतः यथार्थ आध्यात्मिक
निकटता बनती गयी। जैसे 'साहित्य-संदेश' के संपादक के नाते हम दोनों साथ-साथ छपे,
आकाशवाणी के कितने ही कार्यक्रम ऐसे बने जिनमें संवादात्मक चर्चा थी, इसके लिए
बाबूजी के साथ बहुधा मुझे ही रखा गया—यों कुछेक ऐसी चर्चाएँ एक दो अन्य विद्वानों के
साथ भी सम्भवतः उन्हें करनी पड़ी थीं, पर सबसे अधिक चर्चाओं में हम दोनों रहे ऐसा
मेरा अनुमान है। और मुझे डी० लिट्० की उपाधि उसी कन्वोकेशन में मिली जिसमें

बाबूजी को डी० लिट० की 'आनरिस काजा' (सम्मानार्थ) उपाधि प्राप्त हुई। कुछ प्राचीन कवियों पर समीक्षात्मक निबन्धों का एक संग्रह बाबूजी को तैयार करना था और उसमें दो या तीन निबन्ध उन्होंने मुझे लिखवाए। उसकी भूमिका में बाबूजी ने इस बात की प्रसन्नता व्यक्त की थी कि मैं वे निबन्ध उसी शैली में लिख सका था जो बाबूजी की अपनी शैली थी—इसी प्रकार आगरा नागरी प्रचारिणी सभा तथा प्रसाहित्य मंडल में मुझे बाबूजी के बढ़ते नैकट्य का आभास मिलता रहा। वास्तव में नैकट्य क्या, वह तो बाबूजी की उदारता और महानता थी जिसकी छाया में मैं ओलों की ही भाँति आता गया, यह बात दूसरी है कि कुछ संयोगों के कारण उस छाया के केन्द्र के निकट मेरी पहुँचने की गति कुछ तेज रही, या मुझे यह लगा कि वह केन्द्र मेरे निकट अन्य की अपेक्षा तेजी से आ रहा है। सम्भवतः बाबूजी को भी इसका कुछ आभास अवश्य था, क्योंकि मुझे बताया गया है कि बाबूजी के अभिनन्दनार्थ जो ग्रन्थ उनके जीवन काल में ही तैयार किया जा रहा था, उसमें बाबूजी का आग्रह था कि सत्येन्द्र जी को अवश्य रखा जाय। यदि यह सत्य है तो इससे बढ़कर मेरे लिए गौरव की बात और क्या हो सकती है।

मैं समझता हूँ कि इसी प्रकार किसी न किसी प्रकार के मेरे और बाबूजी के पारस्परिक नेकट्य का ज्ञान औरों को भी है। तभी 'आलोचना' ने भी बाबूजी पर निबन्ध लिखने का भार मुझे दिया है। यद्यपि बाबूजी बाहर से आकर आगरे के बने और मैं आगरे का जन्म से होकर पढ़ लिख कर आगरे से बाहर रोटियाँ कमाता फिर फिर भी दोनों ही कहे तो आगरे के ही जायेंगे। बाबूजी निश्चय ही आगरे के विश्वस्मरणीय गौरव हैं।

व्यक्तित्व

पर नहीं, वे आगरे के ही गौरव नहीं, समस्त हिन्दी-जगत के गौरव हैं। कोन है जो बाबू गुलाब राय और उनके कृतित्व से परिचित नहीं।

गोरा रंग, मँझोला कद, स्थूलता की कुछ झलक लिए हुए, छरहरी शरीर-यष्टि, चश्मे से झाँकने वाली बड़ी आँखें, जिनकी पलकों से गम्भीरता और गुलाबी कोयों में स्मित हास की रेखाएँ हैं; नीचे के ललित ओठों को चूमने के लिए उत्सुक घनी सफेद मूँछें, गोल मुख, चौड़ा माथा। इनका ऐसा सीधा-सादा व्यक्तित्व एक सहज तेज से देदीप्यमान रहता है। बन्द कालर का कोट तथा अचकन और चूड़ीदार पाजामा। बाबूजी को काले रंग के कपड़े पसंद नहीं थे। गांधी टोपी, जो फ्लैट कैप को परास्त कर बाबूजी के शिर को उनके मन की भाँति धवल-उज्ज्वल बनाती थी।

बाबूजी छतरपुर के सामन्तवादी वातावरण में रहे थे, पर उनका हृदय उस सामान्य-जन जैसा रहा, दुर्बलों और दीनों के प्रति द्रवित होने वाला। इस प्रवृत्ति के कारण ही वे अत्यन्त सहिष्णु हो गए थे। मैंने ऐसे प्रसंग देखे थे कि जिनमें बाबूजी का कुछ उपहास किया गया। सभा में उपस्थित अन्य सज्जनों को यह बात अखरी, पर बाबूजी अविचलित। ठीक है, जो स्वयं अपने ऊपर हँस सकता है। ऐसे भी क्षणों का

ज्ञान मुझे है जब एक प्रबल व्यक्ति किसी अपने आश्रित के साथ कोई कठोर व्यवहार करने पर तुला हुआ है, बाबूजी का भी वह हितैषी है, और वह बाबूजी से अपने पक्ष का समर्थन चाहता है—बाबूजी का हृदय उस आश्रित की ओर है। ऐसे व्यावहारिक तनाव के क्षणों में भी वे समझौते अथवा समन्वय का मार्ग ही अपनाते थे। उनका आग्रह ऐसे अवसरों पर भी सत्य की ओर ही होता था, यथा सम्भव वे असत्य भाषण तो क्या असत्य आचरण भी नहीं करते थे।

उनका मन अत्यन्त निष्कलुप था। अपने साथियों और मित्रों की उन्नति से उन्हें प्रसन्नता होती थी। मैं जानता हूँ कि कुछ लोग उनसे अप्रसन्न थे। कुछ तो इसलिए अप्रसन्न थे कि वे समझते थे कि कुछ थोड़े-से रुपयों के लिए बाबूजी एक कालेज में प्रध्यापकी करते हैं, ऐसे विद्वानों को रुपयों का लालच अच्छा नहीं। पर बाबूजी को तो प्राध्यापन में एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता था। कुछ इसलिए अप्रसन्न थे कि उनकी राय में बाबूजी में विद्वत्ता तो है नहीं, पर वे पुजते बहुत हैं। इसमें बाबूजी का क्या बश था। वे किसी से यह कहते नहीं सुने गए कि उनका कोई सम्मान करे। दूसरों के सम्मान की योजनाओं में वे हार्दिक सहयोग देते थे। ऐसे कुछ व्यक्ति जहाँ-तहाँ उनकी निन्दा भी करते थे, पर मैंने बाबूजी के मुख से किसी के सम्बन्ध में भी कोई निन्दा की बात सुनी हो मुझे स्मरण नहीं।

हाँ, बाबूजी में व्यवहार-बुद्धि भी पूरी थी। मैं समझता हूँ सामान्यतः उन्हें कोई ठग नहीं सकता था। बड़े-बड़े कुशल प्रकाशकों से भी उनके प्रिय सम्बन्ध थे। बाबूजी स्वयं कहते थे कि पुस्तकों से जितनी आय उनकी है उतनी सम्भवतः किसी अन्य ऐसे लेखक की नहीं होगी, जो स्वयं प्रकाशक नहीं। इस स्तर पर भी पूर्ण प्रसन्न और निश्चिन्त थे।

बाबूजी का जन्म माघ शुक्ल चतुर्थी को, संवत् १८४४ वि० में हुआ। यह सोभाग्य इटावे को प्राप्त हुआ। महाकवि देव का जन्मस्थान भी इटावे के पास ही था। इटावे में साहित्यकार पैदा होते हैं।

पर यथार्थतः बाबूजी का पैतृक स्थान तो जलेसर है।

पिता-माता

आपके पिता थे बाबू भवानी प्रसाद और माता का नाम था गोमती देवी। दोनों बड़े भक्त और धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।

माई

आपके भाई श्री रामचन्द्र गुप्त हिमाचल प्रदेश के फाइनेन्स विभाग में शिमला में असिस्टेंट सेक्रेटरी थे, और अब उस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया है।

पुत्र-पुत्रियाँ

आपके तीन पुत्र तथा पाँच पुत्रियाँ। बड़े पुत्र श्री रामशंकर गुप्त सैन्दूर एक्सां-

११४ : 

इज के एक अधिकारी हैं। मझले श्री शिवशंकर एम० डी० भूपाल में मेडिकल कालेज में विभागाध्यक्ष हैं। सबसे छोटे श्री विनोदशंकर सिविल इंजीनियरिंग में ओवर-सियर हैं।

बाबूजी का कहना था कि गृहस्थ की दृष्टि से वे पूर्णतः सुखी हैं। यद्यपि वे उनके घर भर में स्नेह का वातावरण रहता था। उनके जीवन भर में सम्भवतः घर की कोई जटिल-विकट समस्या इनके सामने खड़ी नहीं हुई। सभी पुत्र आज्ञाकारी और योग्य, अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठा पाने वाले। सभी को बाबूजी का ध्यान था।

शिक्षा

आपने आगरा कालेज से सन् १९११ में बी० ए० पास कर दर्शनशास्त्र में एम० ए० सन् १९१३ में पास किया। एम० ए० के लिए आपने सेन्टजोन्स कालेज आगरा में शिक्षा पायी थी। एल-एल० बी० आपने आगरा कालेज से किया।

छतरपुर में

शिक्षा समाप्त करके आप छतरपुर राज्य में महाराज के प्राइवेट के पद पर नियुक्त हुए। वहाँ आपने न्यायाधीश का भी काम सँभाला। १९१३ से १९३२ तक राज्य की सेवा करके आप आगरा लौट आये। तब से आगरे में बैठकर आपने अवसरतः साहित्य-सेवा की।

साहित्यिक सेवाएँ

बाबूजी अनेक प्रसिद्ध साहित्यिक आयोजनों का सभापतित्व कर चुके हैं। अखिल भारतीय ब्रज साहित्य-मण्डल के भी आप एक वर्ष सभापति निर्वाचित हुए थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दर्शन-परिषद का सभापतित्व आप तीन बार कर चुके थे।

नागरी प्रचारिणी सभा आगरा के आप एक कर्मठ कार्यकर्ता थे। सभा के कार्यक्रमों में आप पूरी रुचि से भाग लेते थे और कुछ उपयोगी और नयी सूझबूझ के आयोजन भी कराते थे। ऐसा ही एक अविस्मरणीय आयोजन था 'साहित्य में आने वाले पशु पक्षियों की प्रदर्शनी।' सभी पशु-पक्षी जिनका कवियों अथवा लेखकों ने वर्षों रूप में अथवा अवर्ण्य उपमान आदि रूप में उपयोग किया है, उन सबको सजीव अथवा मूर्ति-रूप में आपने जुटाया और उन्हें सज्जा के साथ प्रदर्शित किया। चातक, चकोर, चकवा आदि-आदि सभी थे और सबके जीव-विज्ञान-विषयक पारिभाषिक नाम भी दिये थे। एक कठिन और अभूतपूर्व आयोजन केवल बाबूजी की सूझबूझ और कर्मठता के कारण सफल हुआ था। भारत की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'साहित्यकार संसद' से भी आपका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

केन्द्रीय सरकार ने कोश-निर्माण-समितियों में आपको प्रमुख स्थान दे रखा था।

‘आकाशवाणी’ के दिल्ली केन्द्र की परामर्श-समिति में आपने कई वर्ष सहायता की थी।

जिन समितियों तथा परिषदों से आपका सम्बन्ध रहा, उन्हें आपने विचारों और क्रियात्मक सहयोग से, उनके द्वारा हिन्दी साहित्य को आपने लाभ पहुँचाया है।

सम्मान

आपकी साहित्यिक सेवाओं को पुरस्कृत भी किया गया—

५०० रुपये का एक पुरस्कार हिन्दुस्तानी एकेडमी से आपको मिला, तर्कशास्त्र के द्वितीय भाग पर।

एक स्वर्ण-पदक मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर ने आपको प्रदान किया, तर्कशास्त्र पर।

१००० रुपये का साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार ‘साहित्यकार संसद’ से आपको मिला।

८०० रुपये पुरस्कार रूप में उत्तर प्रदेश सरकार ने आपको प्रदान किये।

बाबूजी की सेवाओं को देखते हुए, ये सम्मान वस्तुतः अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होते हैं। और यह लगता है कि हिन्दी-जगत अपने ठोस साहित्यकारों का समुचित सत्कार करना नहीं जानता।

मानार्थ डी० लिट्०

किन्तु आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ में बाबूजी के साहित्यिक कृतित्व को देन को स्वीकार करते हुए उन्हें मानार्थ डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी। वस्तुतः सारस्वत क्षेत्र का यह सर्वोच्च सम्मान था, जिसके वे पूर्णतः अधिकारी थे।

प्राध्यापक

बाबूजी एक सफल अध्यापक थे। इनके छात्र इस नाते इनका बड़ा सम्मान करते थे यों तो उन्होंने कुछ समय तक सेंट जान्स कालेज में दर्शन का अध्यापन भी किया था, पर यथार्थतः वे हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक बहुत काल तक, १९५५ तक रहे थे। मुझे ज्ञात है कि बाबूजी ही भाषा-विज्ञान पढ़ाते थे। आलोचना आदि तो पढ़ाते ही होंगे, पर भाषा-विज्ञान भी पढ़ाते थे, यह आश्चर्य की बात लगती है। उस पक्ष विषय में भी बाबूजी सफल अध्यापक थे।

बाबूजी का भाषण मन्दगति से बिना विशेष उतार-चढ़ाव के तो होता ही था बीच-बीच में ‘ऐँझारा’ भी उन्हें लगाना पड़ता था जैसे यह तो आगे के शब्द ढूँढ़ने के लिए या भाव पाने के लिए वे रुक रहे हों और ‘ऐँझ’ की दीर्घ तानता की टेक बना रहे हों। ऐसा भाषण सामान्यतः उबाने वाला माना जायगा, पर इस सबके बावजूद बाबूजी के भाषण से कोई ऊबता नहीं था। क्योंकि उनका विस्तृत ज्ञान, तत्पर स्मृति

११६ : आलोचना

से प्राप्त रोचक उद्धरणों से प्रभाव-वृद्धि, रोचक टिप्पणियों और व्याख्याओं का समावेश, आदि से श्रोता मन्त्र मुग्ध रहते थे।

व्याख्यान दाता

यथार्थ यह है कि बाबूजी को भाषण देने का बहुत शौक था और इसे वे स्वयं मुझसे कह चुके थे। वे यह चाहते रहते थे कि उन्हें कोई भाषण देने का अवसर दे या भाषण देने के लिए बुलाये। उनमें साहित्य पर भाषण देने की सामर्थ्य भी अभूतपूर्व थी। वे बड़ी आस्था से साहित्य के किसी भी पक्ष अथवा अंग पर बोल सकते थे।

साहित्य में प्रथम प्रवेश

सन् १८१३ में 'शान्ति धर्म' लिखकर आपने साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया। तब से बाबूजी की लेखनी नित्य साहित्य के रत्न प्रसव करती रही, मृत्यु पर्यन्त आप वीर योद्धा की भाँति रहे। यदि स्वयं नहीं पढ़ लिख सकते थे तो किसी की सहायता से या माध्यम से इस सर्जन में प्रवृत्त रहे।

साहित्य—सेवा चतुर्मुखी प्रतिभा

बाबूजी की साहित्य-सेवा पर दृष्टि पड़ते ही विदित होता है कि बाबूजी की प्रतिभा ने चार क्षेत्रों में वैशिष्ट्य प्रकट किया है—

- (१) निबन्ध
- (२) दर्शन
- (३) हास्य
- (४) आलोचना

और चारों में बाबूजी ने हिन्दी को विशेष देन दी है। एक और क्षेत्र में बाबूजी की देन श्लाघनीय है, वह है सम्पादन-कला।

(ख)

आलोचक : आलोचना—

बाबू गुलाबराय हिन्दी के प्रथम कोटि के आलोचक थे, इसमें दो मत नहीं। हिन्दी का बड़े से बड़ा विद्वान् और साधारण हिन्दी प्रेमी तक इस बात से परिचित हैं और सभी वर्ग के साहित्यकार उनमें श्रद्धा रखते थे। बाबूजी की बहुमुखी प्रतिभा का सबसे अधिक एकाग्रभाव साहित्य के इसी रूप को प्राप्त हुआ है। जैसे यही उनके जीवन का प्रधान धर्म हो। यों बाबूजी दर्शन-शास्त्र में एम० ए० थे और उनके जीवन में लेखन का प्रथमारम्भ भी निश्चय ही दर्शन विषयक पुस्तक के प्रणयन से ही हुआ। पर साहित्य इस दर्शन के वाहन पर सवार होकर धीरे-धीरे अपनी दिग्विजय की घोषणा करने लगा। बाबूजी ने जो रचनाएँ की हैं उनकी सूची इस प्रकार है :—

१. शान्ति धर्म—१८१३, प्रेम मन्दिर, आरा

२. मैत्री धर्म—१९१३, प्रेम मन्दिर, आरा
३. कर्तव्य शास्त्र—१९१५ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
४. तर्कशास्त्र—भाग १, २, ३ १९१६ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
५. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—१९१७ नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस
६. फिर निराशा क्यों?—१९१८ प्रेम मन्दिर द्वारा दूसरा संस्करण गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
७. नवरस—१९३३ पहला संस्करण प्रेम मन्दिर, आरा, दूसरा ना० प्रचारिणी सभा, आरा
८. प्रबन्ध प्रभाकर—१९३३ हिन्दी भवन, लाहौर (जलन्धर)
९. निबन्ध रत्नाकर—१९३४
१०. विज्ञान विनोद—१९३७ हिन्दी भवन, लाहौर (जलन्धर)
११. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—१९४० साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
१२. मेरी असफलताएँ—१९४६ साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
१३. सिद्धान्त और अध्ययन—१९४६ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१४. काव्य के रूप—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१५. हिन्दी काव्य विमर्श—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१६. साहित्य समीक्षा—१९४७ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१७. हिन्दी नाट्य विमर्श—१९४७ पहला संस्करण महरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर फिर दिल्ली
१८. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—१९५२ साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर
१९. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—१९४३ सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
२०. गांधीय मार्ग—१९५३ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२१. मन की बातें—१९५४ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२२. विभिन्न भारत के प्रकाश स्तम्भ—१९५५ लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स, आगरा
२३. सत्य और स्वतन्त्रता के उपासक—१९५५ लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स, आगरा
२४. कुछ उथले कुछ गहरे—१९५५ शिवलाल एण्ड सन्स, आगरा
२५. मेरे निबन्ध—१९५५ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२६. जीवन पथ—१९५४ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२७. गांधीय मार्ग—१९५५ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२८. अध्ययन और आस्वाद—१९५६ प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली द्वारा आत्माराम एण्ड सन्स
२९. विद्यार्थी जीवन—१९५६ गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
३०. हिन्दी कविता और रहस्यवाद—१९५६ सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

सम्पादित :—

१. भाषा भूषण—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
२. सत्य हरिश्चन्द्र साहित्य—रत्न भण्डार, आगरा
३. युगधारा—ओरियन्टल बुक डिपो
४. प्रसादजी की कला-साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
५. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
६. आलोचना कुसुमाञ्जलि—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

सन् १९५६ के बाद भी उनकी कुछ कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं।

इस सूची से यह स्पष्ट विदित होता है कि पहले कर्तव्य-शास्त्र आया, और बाद में नवरस। 'आरा' से प्रकाशित यह 'नवरस' एक छोटी पुस्तक थी, पर भी साहित्य के आलोचना-पक्ष से सम्बन्धित मर्म पर दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक प्रणाली में। 'नवरस' में स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि एक दार्शनिक, वह दार्शनिक जो पाश्चात्य प्रणाली से एम० ए० तक दर्शन के अन्तर्गत कर्तव्य-शास्त्र (एथिक्स), तर्क शास्त्र (लाजिक) साइकॉलोजी (मनोविज्ञान), मेटाफिजिक्स (तत्त्व-विद्या) पढ़ चुका है, अपनी नयी चेतना से प्राचीन भारतीय शास्त्र के रस सम्प्रदाय की व्याख्या करते बैठा है। 'रस' का सम्बन्ध 'आस्वाद' से है, पर यह आस्वाद भौतिक नहीं, ब्रह्मा के बनाये रस का नहीं, उस रस का है जो कवि द्वारा निर्मित है, और जिसका सन्तुष्ट मन और अध्यात्म से है। रस-विचार निश्चय ही मनोविज्ञान से लिपटा हुआ है, गुंथा हुआ है। जिस रस का सम्बन्ध भाव के परिपाक से है, वह भाव मनोस्थिति से संबद्ध है; उस मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस के उद्भव, उसके स्थायीभाव, उद्दीपन, व्यभिचारी और अनुभाव की व्याख्या करने की बाबूजी ने चेष्टा की—निश्चय ही यह बाबूजी के पक्ष में एक प्रयत्न था। उनकी इस छोटी पुस्तक में भारतीय शास्त्र के इस महत्वपूर्ण तत्त्व को किस प्रकार ग्रहण करने की चेष्टा की जानी चाहिए, इसकी रूपरेखा मात्र मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि बाबूजी ने रस-विचार की प्राच्य-वस्तु को पाश्चात्य प्रणाली और दृष्टि से रखने और आधुनिक वैज्ञानिक स्तर पर पहुँचाने का जो मार्ग निर्दिष्ट किया था, उस मार्ग से उस स्तर पर पूरी तरह पहुँचने का कोई भी उद्योग अभी तक पूर्ण सफल नहीं हुआ। यहाँ तक कि बाबूजी जब अपने इस 'नवरस' का वृहद् संस्करण करने बैठे तो वे भी उस मार्ग से च्युत हो गये। वे भारतीय हिन्दी रस-शास्त्र से उदाहरण छाँटकर उन्हें व्यवस्थित करने में अधिक व्यग्र हो गए हैं, उनके पीछे व्याप्त मनोवैज्ञानिक तत्वों का उद्घाटन करने में इस बड़े ग्रन्थ में हमें उनका मन रमता नहीं दिखाई पड़ता है।

अतः बाबूजी के साहित्यिक कर्म का आरम्भ पाश्चात्य दार्शनिक मनोभूमि पर भारतीय-शास्त्र के तत्वों के परखने और स्पष्ट करने से हुआ। उनका यह साहित्यिक कर्म उस काल में अत्यन्त ही मौलिक था। प्राच्य और पाश्चात्य का यह मेल, जिसमें पाश्चात्य प्राच्य का व्याख्याता बनकर उपस्थित हुआ है, बाबूजी का अपना स्वभाव ही बन गया, और अन्त तक उनके साथ रहा।

परिस्थितियों ने बाबूजी को इधर-उधर और भटकया है। उनमें एक कला-कार भी है, जो हास्य की सृष्टि करने के लिए अवसर ढूँढ़ता रहा है। बाबूजी ने उसका भी उचित समादर किया है। पर आलोचना के क्षेत्र में ही उनकी प्रतिभा विशेष लक्ष्य है, क्योंकि उसी के ग्राहक उन्हें अधिक मिले हैं। एक दार्शनिक को साहित्यिक बनाने का श्रेय छतरपुर के वातावरण को दिया जा सकता है। पर वहाँ इसका बीज ही पड़ा। यह साहित्यिक प्रवृत्ति पोषित और विकसित हुई आगरे में ही आकर। आगरे के वैशिष्ट्य के कारण। बाबूजी के 'नवरस' के बाद के सभी साहित्यिक और आलोचनात्मक ग्रन्थ आगरे में लिखे गये हैं। ये ग्रन्थ भी तीन कोटि के हैं। एक 'स्फुट विचार' विषयक, दूसरे 'सुसंबद्ध विचार' शैली के, तीसरे 'ऐतिहासिक वृत्ति' के। पहले तो 'आलोचना' के क्षेत्र के हैं। स्फुट विचार विषयक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें बाबूजी के किसी छोटे विषय पर लिखे निबन्ध क्रम से या अक्रम से दिये गए हैं। ये निबन्ध अलग-अलग साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक विषयों पर भी हो सकते हैं, अथवा कवियों या लेखकों पर भी। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में आलोचना के शास्त्र से सम्बन्धित विविध विषय हैं जो बाबूजी ने अलग-अलग लिखे हैं। पीछे उनको तारतम्य दिया गया है। 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' में भी इसी प्रकार के विविध कवियों पर छोटे-छोटे निबन्ध हैं। सुसंबद्ध विचार शैली के ग्रन्थ हैं 'हिन्दी नाट्य विमर्श' तथा 'नवरस' और 'काव्य के रूप'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबूजी की साहित्यिक कृतियों में हमारे विचार करने की दृष्टि से 'हिन्दी नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'साहित्य-समीक्षा', 'हिन्दी-काव्य-विमर्श', और 'नवरस' जैसे वे ग्रन्थ हैं जिनके आधार पर हम अपने निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि बाबूजी के ज्ञान-अर्जन का मुख्य माध्यम अंग्रेजी भाषा रही है और अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी। आलोचना के समग्र कर्म में निम्न तत्त्व सामान्यतः कार्य करते विदित होते हैं।

१. ज्ञानोपलब्धि : सामग्री-संकलन।
२. विश्लेषण : सामग्री में निहित तत्त्वों को उसमें से निकालकर
(अ) पृथक-पृथक करना, और
(आ) उन्हें पहिचानना
३. व्याख्या : प्रत्येक तत्त्व के (अ) इतिहास
(आ) कारण-कार्य व्यवस्था तथा
(ई) गर्भित अभिप्राय को स्पष्ट करना।
४. प्रमाण : प्रत्येक तत्त्व की प्रामाणिकता सिद्ध करना।
५. तारतम्य : प्रत्येक तत्त्व का ज्ञान-क्षेत्र में, कला-क्षेत्र में और उस रचना में तारतम्य स्थापित करना।
६. निष्कर्ष :
७. उदाहरण :
८. विवेक :

यह जानने के लिए कि बाबूजी की आलोचना के लोत क्या हैं हमें उनकी एक पुस्तक को लेकर यह देखना होगा कि किन रचनाओं का उन्होंने किस रूप में उल्लेख किया है।

काव्य के रूप में—जिन ग्रन्थों का उपयोग लेखक ने किया है वे इस प्रकार हैं :

१ पाश्चात्य शास्त्र	२ प्राच्य-शास्त्र	३ अन्य	
		संस्कृत	प्राच्य
		२.१	३.१
		२.२	३.२
		हिन्दी पाश्चात्य	प्राच्य
		२.२	३.२
१. De Quincey	१. साहित्यस्य भावः	१. केशवदास	३.१
२. The Scot James "Making of Literature"	२. विदधानीति हितम्	२. आचार्य शुक्ल	१. शेक्सपीयर
३. एक अंग्रेज साहित्यिक (पृष्ठ ६)	३. काव्यशास्त्र विनोदेन काले	३. प्रसाद	२. पैराडाइज लॉस्ट
४. Style is the Man	गच्छति धीमताम् ४. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः	४. डॉ० सुधीन्द्र	मिल्टन कृत
५. Mathew Arnold : "Essay on Words worth"	५. श्री मम्मटाचार्यः "कव्य प्रकाश"	५. साहित्यालोचना	३. टास्टराय
६. चर्चैः सर्वथै	६. अग्नि पुराण	६. प्रेमचन्दः "कुछ विचार"	४. वोल्टेयर (Voltaire)
			५. रूसो
			रामदास
			कबीर
			रघुवंश
			रामचरित मानस
			भ्रमरगीत सार

६. चडै स्वयं	६. अग्नि पुराण	६. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	६. नित्यो	६. नित्यो
७. शेक्सपीयर	७. भरत मुनि : "नाट्य-शास्त्र"	७. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	७. होमर	७. होमर
८. डॉ० जानसन	८. विश्वनाथ : "साहित्य दर्पण"	८. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	८. मेघदूत	८. मेघदूत
९. अरस्तू	९. दण्डी	९. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	९. कालिदास	९. कालिदास
१०. F.L. Lucas : "Tragedy"	१०. भामह	१०. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१०. विहारी	१०. विहारी
११. Shipley	११. कुन्तक या कुन्तल	११. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	११. वात्सोकि	११. वात्सोकि
१२. The Quest for Literature	१२. वामन	१२. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१२. सत्यनारायण गुप्त	१२. सत्यनारायण गुप्त
१३. Hudson : An Int- roduction to Literature.	१३. आनन्दवर्द्धनाचार्य	१३. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१३. रामनरेश	१३. रामनरेश
१५. Henry Fielding	१५. पंडितराज जगन्नाथ : "रस गंगाधर"	१५. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१५. निराला	१५. निराला
१५. H.G. Wells	१५. दश रूपक	१५. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१५. महादेवी	१५. महादेवी
१६. Sir Hugh Walpole	१६. धर्मिक : "दशरूप टीका"	१६. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१६. पंत	१६. पंत
१७. स्ट्रुची	१७. D.R. Manked "Types of Indian Drama"	१७. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"	१७. प्रसाद	१७. प्रसाद
१८. वासवेल	१८. गद्य कवीनां निकषं वदन्ति ?	१८. प्रेमचन्द : "कुछ बिचार"		

“काव्य के रूप” नामक पुस्तक में से उक्त सामग्री संकलित की गई है और वह भी सरसरी दृष्टि से ही, फिर भी इसके आधार पर जो नियम बनाये जाएंगे, वे बहुधा ठीक ही रहेंगे।

इस सूची से विदित होता है कि पाश्चात्य क्षेत्र से जिन विद्वानों और उनकी पुस्तकों का उल्लेख किया गया है वे संख्या में तो कुछ अधिक दिखायी पड़ते हैं : २५ पाश्चात्य और प्राच्य १८ + ६ (२४) किन्तु शास्त्र की दृष्टि से पाश्चात्य के बहुत कम ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें महत्वपूर्ण अथवा प्रभाव डालने वाला माना जा सके।

‘सिद्धान्त और अध्ययन’ में अध्ययन-सामग्री के अन्तर्गत बाबूजी ने जो सूची दी है उसमें पाश्चात्य साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ केवल ९ हैं।

(१) ब्रैडले (ए० सी०) “ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री।”

(२) क्रोचे : “एस्थेटिक्स”।

(३) ईलियट (टी० एस०) “द यूज ऑव पोइट्री”।

(४) इनटिवसिल (ए० आर०) : “द स्टडी ऑव पोइट्री”।

(५) हडसन : “एन एन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिटरेचर”।

(६) मरी (जे० एम०) : “दि प्रोबलेम ऑव स्टाइल”।

(७) रिचर्ड्स (आई० ए०) : “प्रिन्सिपिल्स ऑव क्रिटिसिज्म”।

(८) शिप्ले (जे० टी०) : “द क्वेस्ट फार लिटरेचर”।

(९) स्पिनगर्न (जे० ई०) : “द न्यू क्रिटिसिज्म”।

शेष पुस्तकें मनोविज्ञान विषयक हैं या भारतीय साहित्य तथा काव्य-विषयक हैं।

हडसन का ग्रन्थ वह ग्रन्थ है जो हिन्दी में सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला माना जा सकता है। क्योंकि बाबू श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन इसी के अनुकरण पर खड़ा हुआ है, ऐसा माना गया है, और बाबू श्यामसुन्दरदास के साहित्यालोचन की शैली शास्त्रीय सिद्धान्त पद्धति के लिए हिन्दी में मार्गदर्शिका मानी गई है। हमारी आलोचनाओं का सिद्धान्त पक्ष प्रायः उसी परिपाटी अथवा उसके संशोधन-रूप में प्रस्तुत होता रहा है। शैली की अपेक्षा भावों और सामग्री-विश्लेषण को महत्व देने और उसका संश्लिष्ट मूल्यांकन करने की दृष्टि से मैथ्यू ऑर्नल्ड का ‘वर्ड्सवर्थ’ नामक निबन्ध बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ये दो ग्रन्थ और निबन्ध बाबूजी को भी प्रभावित कर रहे हैं। रिचर्ड्स और स्पिनगर्न ने नई आलोचना को प्रभावित किया है। बाबूजी पर इनका संशोधनात्मक प्रभाव है, मौलिक प्रभाव नहीं। अन्य निबन्धों से और अन्य ग्रन्थों से बाबूजी ने अपने विचारों का प्रतिपादन करने में ही सहायता ली है; अथवा कोई अंश ही उनसे उत्प्रेरित हुआ है। उधर प्राच्य ग्रन्थों में से बाबूजी ने प्रायः प्रत्येक को मूल अथवा अनुवाद रूप में अपनी आवश्यकता के लिए अवश्य देखा है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि मूल ग्रन्थ से पूर्व बाबूजी ने उसके अंग्रेजी अनुवाद और उस अनुवाद की भूमिका पढ़ी और तब मूल को हृदयंगम किया। फलतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञानोपार्जन का माध्यम अंग्रेजी रहा। किन्तु अंग्रेजी शास्त्र का उतना

मन्य बाबूजी ने नहीं किया। अंग्रेजी के युग में अंग्रेजी के रोव को सन्तुलित करने और उसमें अभिभूत व्यक्तियों और विद्वानों को उन्हीं के स्तर पर प्राच्य वस्तु को उन्हीं की प्रणाली में समझाने के लिए बाबूजी को पाश्चात्य शास्त्र से परिचय प्राप्त करना पड़ा। वह परिचय उन्हें अपने शिक्षाकाल में ही हो गया होगा।^१ उसी की अनुकूलता देखने वे भारतीय साहित्य की ओर झुके तो गम्भीर विचारण की सामग्री वहाँ उन्हें बहुत अधिक मिली, अतः अंग्रेजी शास्त्र की अनुकूलता देखने को अग्रसर होने वाले बाबूजी की दृष्टि उलट गई। अब वे भारतीय शास्त्र को प्रमुखता देने लगे और अंग्रेजी से अनुकूलता ढूँढ़ने लगे। इसीलिए शास्त्रीय दृष्टि से बाबूजी समन्वयवादी हो गए। पाश्चात्य के लिए प्राच्य की तुलना और प्राच्य के लिए पाश्चात्य की तुलना पूर्वक व्याख्या करने में वे प्रवृत्त हुए। इस तुलना के हमें बाबूजी में कई रूप मिलते हैं। यथा—

(१) अलंकार अलंकार्य : अब प्रश्न यह होता है कि क्या अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं। इटली के अभिव्यञ्जनावादी समलोचक क्रोचे (Croce) अलंकार्य और अलंकार का भेद स्वीकार नहीं करते। वे अलंकारों को ऊपर से आरोपित नहीं मानते—“हमारे यहाँ आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद माना है किन्तु यह भेद ऐसा ही है जैसा कि अंगी और अंग का होता है।”^२

(२) क्रोचे ने अलंकारों को अभिव्यक्ति का अंग और पूर्ण से पृथक् न किए जाने योग्य कहा तो है, किन्तु वे फूल की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं।

सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ३५

(२) टालस्टाय ने कला का कुछ ऐसा ही आदर्श माना है।

‘The destiny of art in our time is to transmit from the realm of reason to the realm of feeling the truth that well being for men consists in their being united together and to set up in place of existing reign of force that kingdom of God, that is, of Love, which, we all recognise to be the aim of human life.

What is Art (World’s Classics, Page 288).

टालस्टाय के मत से कला का उद्देश्य बुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को ले जाना है जो कि यह बतलाता है कि मनुष्यों का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर की उस वादशाहत के स्थापित करने में है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं।

साहित्य शब्द में भी सहित अर्थात् हित के साथ होने का भाव है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उसी कृति को सार्थक कहा है जो सबका हित साधन करे।

१. उस काल के कालेजों और विश्वविद्यालयों का बाल्योचक अंग्रेजी के प्रबल ध्रुवन का परिणाम था, आज भी है। उसकी एक विशेष मॉग थी, उसी ब्राह्मण को बाबूजी को स्वीकार करना पड़ा था। वह ब्राह्मण आज भी है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि-सम सब कहें हित होई ।

—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

३. साधारणीकरण पर विचार करते हुए बाबूजी ने संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख विचारकों के मत का भली प्रकार उल्लेख करके यह लिखा है कि "साधारणीकरण के सम्बन्ध में हमारे यहाँ के आचार्यों ने थोड़े बहुत अन्तर के साथ तीन बातों पर बल दिया है—

(१) विभावादि का—(जिनमें स्थायीभाव भी शामिल है) साधारणीकरण
(२) पाठक का आश्रय वा कवि के साथ तादात्म्य (३) सब पाठकों का समान रूप से प्रभावित होना । इन तीनों ही बातों का पारस्परिक सम्बन्ध है ।

विभावादि जब विशेष सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं तभी वे सब सहृदयों की भावना के समान रूप से विषय बनते हैं । जहाँ पाठक या श्रोता का काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य हो वहाँ बहुधा आपस में भी भाव-साम्य हो जाता है अर्थात् वे समान रूप से प्रभावित होते हैं और उनका कवि की भावना से भी तादात्म्य हो जाता है । साधारणीकरण द्वारा कवि, कविता के आश्रय और पाठक भावना में एक सूत्र में बँधे जाते हैं । कवि जितना जनता की भावनाओं के निकट आता है उतना ही पाठकों के साथ उसका भाव-तादात्म्य होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कवि जनता के भावों से आगे नहीं जाता । कवि और जनता में आदान-प्रदान होता रहता है । कवि जनता से प्रेरणा ग्रहण करता है और वह धीरे-धीरे जनता के भावों में भी परिवर्तन करता है । साधारणीकरण का अभिप्राय है—आलम्बन का व्यक्तित्व बताये रखते हुए भी उसको ऐसे रूप में उपस्थित करना कि वह मेरे-पराये के बन्धनों से मुक्त हो जाय और सब सहृदयों की भावना का समान रूप से विषय बन सके । पाठकों की वे भावनाएँ देश-काल के बन्धनों से मुक्त होती हैं तभी वे दुःखात्मक होने से बची रहती हैं और अखण्ड सात्विक आनन्द का सृजन करती हैं ।

और तब वे आगे लिखते हैं—

"पाश्चात्य समीक्षकों के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान सीमित है । (इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय समीक्षकों के सम्बन्ध में सीमित नहीं ।) किन्तु मेरा ख्याल है कि उन्होंने विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा तादात्म्य पर अधिक ध्यान दिया है.....

फिर इसके बाद कई पाश्चात्य लेखकों के मतों पर विचार है ।

४. "संस्कृत का प्रसन्नपद और अंग्रेजी का Happy Expression दोनों वाक्यांश एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं ।

सि० अ० पृ० ८८

५. यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्रों में स्वाभाविक और कलात्मक (Epic of growth and Epic of Arts) का विभाजन नहीं है तथापि हम वाल्मीकीय रामायण को स्वाभाविकता की कोटि में रख सकते हैं और 'शिशुपालवध' तथा

किरातानुनीय' को कलात्मक कह सकते हैं।

(का० स० पृ० ६६)

६. यूरोपीय समीक्षाशास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थायें मानी गई हैं वे इस प्रकार हैं—

(का० स० पृ० ३०)

७. 'विनय पत्रिका' में उन्होंने रामनाम को "अपनो सो घर" कहा है...

जो लोग अंग्रेजी के शब्द Sweet home की मधु व्यंजनाओं पर मुग्ध हों उन्हें उनकी खोज में अंग्रेजी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। "राज डगरो रो" में उनको Royal Road पर चलने का भी आनन्द मिल जायगा।

ये सातों शैलियाँ अपनी कहानी स्वयं कह रही हैं। इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि—१. पहली दृष्टि तो बाबूजी की यह रही है कि एकादमिक (academic) प्रवृत्ति से एक विषय पर जितने भी मत हैं उन्हें प्रस्तुत कर दिया जाय। अतः प्राच्य और पाश्चात्य से अपनी पहुँच के अनुसार बाबूजी ने प्रत्येक विषय पर मत संग्रह किया है।

(२) मुख्य वर्णनीय विषय प्राच्य शास्त्र है। उसका पाश्चात्य में क्या रूप है यह दिखाने की उन्होंने चेष्टा की है अतः प्राच्य शास्त्र का प्रतिपादन ही उनका मुख्य ध्येय हो गया है।

(३) इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह है कि जहाँ बाबूजी को कोई चीज ऐसी मिली है जिसका उसी शास्त्रीय रूप में अस्तित्व प्राच्य में नहीं मिलता, वहाँ बाबूजी ने लक्ष्य ग्रन्थों में उन तत्वों की सत्ता दिखाने की चेष्टा की है।

(४) प्राच्य के इस मोह के साथ शास्त्रीय अहंकार भी बाबूजी में जागृत हुआ है, और जो लोग अंग्रेजी में शब्द-सौष्ठव विषयक विशेषता पर अन्य रूप में बल देते हैं, उन्हें प्रत्युत्तर देते हुए बाबूजी हिन्दी अथवा संस्कृत के गौरव को पुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हुए हैं।

इस ऊहापोह से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बाबूजी की आलोचना में प्राच्य का प्रभाव प्रबलतर है। किन्तु यह विमर्श यहीं समाप्त नहीं हो सकता—क्योंकि गुरुत्त ही प्रश्न उठता है : "तो क्या बाबूजी ने आलोचना में प्राच्य शास्त्र को ही अपने शब्दों में लिख दिया है?"

उनकी इन रचनाओं पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि बाबूजी का 'ज्ञान तत्व' प्राच्य-शास्त्रों से संग्रहीत है; उसका 'विश्लेषण' पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रणाली से हुआ है, जो आधुनिक युग में प्रत्येक मेधावी के "बुद्धि तत्व" की विशेषता बन गई है। 'व्याख्या' में 'इतिहास-तत्व' पाश्चात्य शैली से प्रभावित है, 'कार्य-कारण निदान' 'प्राच्य-पाश्चात्य' के मिश्र उपादानों से युक्त है; जहाँ बाबूजी प्राच्य को विशेष पकड़ सके हैं, वहाँ उसकी प्रबलता है, उसके उदाहरण भी हैं; अन्यथा, पाश्चात्य शैली के आधार पर अपनी ओर से कार्य-कारण निरूपण करते रहे हैं। इसमें पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र कम सहायक हुआ है। मनोविज्ञान तथा अन्य शास्त्र उपयोगी

रहे हैं। 'गर्भित अभिप्राय' एक रसायन के रूप में विद्यमान मिलता है। जिसमें नव्य संस्कारशील के शील को स्वीकार होने वाला प्राच्य निष्कर्ष ही बहुधा प्रस्तुत किया गया है। 'प्रामाणिकता' का आधार भी प्राच्य शास्त्र है पर पाश्चात्य उल्लेखों में भी पुष्टि की गई है। 'तारतम्य' के लिए भी बाबूजी को मिश्र प्रणाली का उपयोग करना पड़ा है। 'तारतम्य' बिठाया गया है भारतीय शास्त्र के विविध तत्वों में जो परस्पर असम्बद्ध से लगते हैं, तारतम्य बिठाया गया है, उन तत्वों का नवसंस्कारशील मानस की मान्यताओं से और धारणाओं से और इसके लिए 'प्राच्य और पाश्चात्य' को समानभाव से लिया गया है—एक साथ ही शेक्सपीयर, तुलसी, वाल्मीकि, टालस्टाय यहाँ पर एक सूत्र में पिरोये हुए, एक तारतम्य में बँधे हुए मिलेंगे, भाषा और मूलों के भेद की दीवारें यहाँ नहीं रहें।

'निष्कर्ष' प्रस्तुत करने में प्राच्य का आग्रह निश्चय ही प्रधान है, जहाँ निष्कर्ष प्राच्य रूप में नहीं आता, वहाँ उसका किसी-न-किसी रूप में समाधान किया गया है।

किन्तु यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक आलोचना शास्त्र को कितने ही ऐसे रूपों पर विचार करना पड़ता है जिनका प्राच्य-शास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता। इनमें से दो रूप बहुत प्रबल हैं—

(१) निबन्ध, (२) उपन्यास-कहानी। इन रूपों का विवेचन मनोवैज्ञानिक और पाश्चात्य शास्त्र की दृष्टि से करते हुए भी उनमें साहित्य के सामान्य लक्षणों का अनुसंधान प्राच्य प्रणाली से करने में बाबूजी ने उत्साह दिखाया है। ऐसे ही अनुसंधानों में हम उन स्थानों को गिन सकते हैं, जिनमें बाबूजी ने उपन्यासों में भी रस की स्थिति पर विचार किया है।

जो स्थिति सिद्धान्त क्षेत्र में है, वह 'लक्ष्य आलोचना' के क्षेत्र में है। 'लक्ष्य आलोचना' में क्या कोटि-क्रम बाबूजी ने रखा है, यह हम उनके निबन्ध की विषय सारिणी को देखकर जान सकते हैं। "रसिक भक्त महात्मा सूरदास" की विषय-सारिणी यह है :—

"जीवन-लीला—निवास स्थान—वंश परिचय—दीक्षा—अन्त समय—सूरदास के ग्रन्थ—कृष्णोपासना और गीत काव्य की परम्परा—सूर काव्य का सैद्धान्तिक पक्ष—सूरकाव्य का भाव पक्ष—शान्तरस—वात्सल्य रस—सूर के वात्सल्य वर्णन की विशेषता—संयोग और वियोग शृंगार—भ्रमर गीत—विरह-वर्णन—विरह के उद्दीपन—विरह की तुलना—विरह की वास्तविकता—कलापक्ष—अलंकार—भाषा सूर तथा अन्य कृष्णोपासक कवियों की कुछ विशेषताएँ।"

इस सूची की शब्दावली ही यह प्रकट करती है कि आलोचक अपने विषय पर भारतीय शास्त्र को आधार मानकर विचार कर रहा है, विचार करने के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया गया है वे भारतीय शास्त्र के हैं, और उनसे वही अर्थ लिया गया है, जो भारतीय शास्त्र में अभिप्रेत है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है पाश्चात्य बाह्य पर आरुढ़ प्राच्य ही बाबूजी के द्वारा प्रस्तुत हुआ है, वह भी उसके पूर्ण गौरव के साथ।

बाबूजी का दार्शनिक सदा उनके साथ रहा है, पर उसे बाबूजी ने समझदार बनाकर ही उपस्थित किया है, निश्चय ही उसे हावी नहीं होने दिया, उसकी समझदारी का पूरा उपयोग वे कर सके हैं, इससे उनके समस्त विमर्श का स्तर ऊँचा उठा है, पर रहस्यमय नहीं हो सका है। भारतीय वास्तविकों ने अपने शास्त्रीय विचारदोहन में निरन्तर ही पारिभाषिक शब्दावली का इतना बाहुल्य रखा है कि उसे विशेषज्ञ ही ग्रहण कर सकता है। उस प्रतिपादन में जहाँ रहस्य न होगा वहाँ जटिलता होगी। बाबूजी ने तमोन्मेष का उपयोग करके उस जटिल स्वरूप को, नयी प्रणाली के वैज्ञानिक क्रम का उपयोग कर, सरल बना दिया है और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग जना ही किया है जितना उन्हें उस स्पष्टीकरण के लिए अनिवार्य प्रतीत हुआ है।

इस दार्शनिक ने बाबूजी की प्राच्य-प्रवृत्ति को आधुनिक रूप में निखार कर और सशक्त बनाकर उपस्थित किया है, और नये युग की माँग के अनुकूल कर दिया है।

शैली के संतुलन और पुष्ट शब्द-विन्यास ने बाबूजी के इस महत्त्वपूर्ण प्रयास को स्पष्टता के प्रसाद गुण से आवृत रखा है और विचार की अपेक्षित सम्पूर्ण गहराई को भी क्षति नहीं होने दी। बाबूजी के शास्त्रीय स्वरूप के प्रतिपादन में सबसे बड़ा गुण यही है कि उन्होंने गूढ़ता और विचारों की गम्भीरता और गहराई को प्रकट करने का दम्भ अथवा आडम्बर कहीं नहीं दिखाया। फलतः इन सभी गुणों से युक्त होकर बाबूजी का शास्त्र-प्रतिपादन स्वयं अपने स्वरूप में एक मौलिक वस्तु हो गया है। उनके इन शास्त्रों ने हिन्दी के अध्येता को नयी प्रेरणा दी है। प्राचीन और नवीन प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कृतिकर्ता की रचना को बाबूजी ने अपनी कसौटी पर कसा है और आलोचना-शास्त्र को ही नहीं सर्जन को भी दिशा-दर्शन दिया है।

आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी की देन का जब वास्तविक मूल्यांकन होगा तो पता चलेगा कि उनकी देन ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, और यह विदित होगा कि अपनी देन से नवीन वैज्ञानिक आलोचना-पद्धति में उन्होंने कई क्रान्तिकारी मोड़ प्रस्तुत किये हैं, जिनसे साहित्य-शास्त्र की रूपरेखा ने एक नूतन समृद्धता ही नहीं पाई, बल्कि साहित्यकार ने भी सृजन के नये कला-मूल्यों की प्रेरणा पाकर साहित्य को उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

(ग)

निबन्धकार एवं हास्यकार

दार्शनिक और मीमांसक भी हास्यकार हो सकता है, यह कुछ अद्भुत बात है, पर समन्वयवादी बाबूजी ने दर्शन और हास्य की दो वृत्तियों का समन्वय और सामंजस्य अपने कृतित्व में कर दिखाया है। 'ठलुआ क्लब' को लोग भूल सकते हैं, पर 'मेरी असफलताएँ' हास्य के क्षेत्र में चिरस्मरणीय रहेगी क्योंकि इसमें महात्मा गांधी जैसी आत्मस्वीकारिता, युविष्ठिर जैसी शील-शालीनता के साथ स्मित हास्य के सभी आवश्यक कला-उपादान काम में लाये गए हैं। बाबूजी का सबसे भारी साहस यह है

१२८ : आलोचना

कि वे स्वयं अपने ऊपर हँस सकते हैं। पर उनका यह 'हास्य' निबन्ध-रूप में ही प्रतिष्ठित हो सका है। ये हास्य-व्यंग्य प्रधान निबन्ध 'ललित-कोटि' में रखे जायेंगे।

बाबूजी का हास्य अनोखा होता था; स्मित हास्य होते हुए भी वह एक प्रकार से आत्मालोचन के जैसा होता था, जिसमें संस्कृत आदि से उद्धरणों से एक प्रकार के साथ वैषम्य खड़ा होता था—इस तकनीक से एक साथ ही एक लालित्यपूर्ण हलकापन और एक हास्यपूर्ण गम्भीरता उद्भासित होती थी। निबन्धों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि बाबूजी की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी, और ठीक अवसर और स्थान पर उन्हें सटीक उद्धरण स्मरणशक्ति की कृपा से मिल जाते थे, जिससे उनके कथन में निराली सजीवता और एक अनावश्यक प्रामाणिकता आ जाती थी। इन सबसे सुसज्जित होकर वे अपना ही उपहास स्वयं करते हुए भी अपना ही आदर बढ़ाते होते थे। उन्होंने अपनी असफलता में जिन मूर्खताओं की ओर संकेत किया है, जहाँ तक हमारा खयाल है, उनको लेकर कभी किसी ने बाबूजी पर व्यंग्य नहीं कसे।

सामयिक निबन्धों में उन्होंने समय-समय पर उठने वाले विविध सामाजिक-राजनीतिक और घरेलू प्रश्नों को लेकर अपने विचार गूँथे थे। इस सब में उनके ज्ञान, अन्तर-भेदी दृष्टि और सूझबूझ का पुट रहता था। 'सीमावर्ती चोर' शीर्षक निबन्ध में उनकी पैनी दृष्टि ने मानवीय आचार के उस पहलू को उद्घाटित किया है, जहाँ वह स्वयं 'आदर्श' के साथ छल कर बैठता है।

इधर बाबूजी को मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखने का बड़ा चाव रहा था। वस्तुतः उनके ये मनोवैज्ञानिक निबन्ध मानव के लिए दर्पण का काम करते हैं। ये निबन्ध केवल मनोविज्ञान के विज्ञानपक्षीय सिद्धान्त-निरूपण से सम्बन्धित नहीं, बल्कि विविध मनोभूमियों को निजी निकर्ष पर साधारणीकरण द्वारा जीवन में देश-कालगत घटनाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया पर अवलंबित हैं।

बाबूजी के सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्ध भी कम नहीं हैं। उनकी प्रतिभा ही ऐसी थी कि वे चाहे जैसे सामान्य विषय को लेकर उसे एक रोचक और विचारोत्तेजक ललित निबन्ध का विषय बना सकते थे। उन्होंने अपने मुहल्ले की गली पर जो दो-चार निबन्ध लिखे, वे भी साहित्यिक लालित्य से युक्त हैं। निबन्धों के सम्बन्ध में बाबूजी ने अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में प्रकट किया है :

“आज का हिन्दी-निबन्ध-साहित्य अधिकांश में आलोचना की ओर दौड़ा जा रहा है। आजकल आचार्यत्व की चाह रीतिकाल से भी कुछ बढ़ी चढ़ी है, किन्तु उस प्रवाह में लिखे हुए निबन्धों में विषयगतता कुछ अधिक है। हमारे लेखकों को जीवन के लहराते सागर की ओर दृष्टिपात करने का कम अवकाश मिलता दिखायी पड़ता है। वे गम्भीर अधिक हैं। उन्होंने जीवन को खेल-कूद की अथवा जीवनोल्लास की प्रसन्नता के साथ नहीं देखा। वे न स्वयं हँसे हैं और न उन्होंने दूसरों को हँसाने का प्रयत्न किया है।”
और यह स्पष्ट है कि उन्होंने इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त अपने निबन्धों में प्रयास किये। जीवन के लहराते सागर को भी उन्होंने देखा और बिना 'आचार्यत्व की चाह'

को कम किये, वे निबन्ध जीवन और जगत् से विषय ले-लेकर लिखते गये। उनकी निबन्ध-कला पूर्णतः तेजस्वी है।

तभी बाबूजी की रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन करने वाले सभी विद्वान युक्तकण्ठ से बाबूजी को एक उच्चकोटि का निबन्धकार मानते हैं। बाबूजी के निबन्धों में सन्तुलित शैली का उपयोग हुआ है। भाव, भाषा और रस के समावेश की दृष्टि से बाबूजी में हम न बहुत अधिक उन्नतता पायेंगे, न बहुत मन्दता। बाबूजी का जीवन-तान समन्वयवादी रहा है। वे वर्तमान से अतीत का सामंजस्य और समन्वय करने के प्रयत्न में रहे हैं। वे विरोध को विरोध के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। वे उनके उन तत्त्वों को ढूँढ़ निकालेंगे जिनसे विरोध में व्याप्त साम्य को बल मिलता है। बाबूजी के निबन्धों में उनके व्यक्तित्व का यह धर्म निरन्तर विद्यमान है। द्विवेदी-शैली को बाबूजी ने जकड़कर पकड़ा है, पर छायावादी और प्रगतिवादी का एक ताजगी और एक लोच को जहाँ-तहाँ द्विवेदी-शैली को सजाने के लिए अपनाने की चेष्टा भी की है। इस प्रकार निबन्धों में न तो विषय-सम्पदा की उपेक्षा है, न निबन्ध-कला के संजीवन की, न युग की माँग की। बाबूजी के निबन्ध हिन्दी में निबन्ध-कला के अमर उदाहरण माने जाते हैं। बाबूजी ने प्रत्येक क्षेत्र में ही किसी-न-किसी प्रकार की मौलिकता दिखाई है। निबन्ध के क्षेत्र में भी उनकी कला में मौलिकता है।

बाबूजी ने जिस युग में निबन्ध-लेखन का विकास किया था, वह द्विवेदी-युग कहा जा सकता है। उस युग के निबन्ध-लेखन का आदर्श था निर्व्यक्तिक शैली। बंधे-बंधे वाक्य जो व्याकरण के अनुकूल हों, ऐसी ही परिनिष्ठित शब्दावली। विषय एक ही एक निबन्ध में, और उसे गम्भीरतापूर्वक आद्योपान्त प्रस्तुत किया जाय। पं० प्रताप-नारायण मिश्र की हँसती हुई शैली, बालमुकुन्द गुप्त की व्यंग्य की तीव्रता से उतावली शैली अब काम में नहीं लाई जा रही है। पं० पद्मसिंह शर्मा की चुलबुली व्यंग्य, क्लृप्त, उपहास तथा चुटकियाँ लेने वाली पाण्डित्यपूर्ण मुस्कान से युक्त शैली मात्र एक प्रकार से अपवाद थी। निबन्ध का धर्म था वस्तुनिष्ठा। व्यक्तित्व प्रकाश केवल निबन्ध के विषय विधान में ही शेष था।

बाबूजी ने इसी भूमि पर निबन्ध रचना आरम्भ की थी। फलतः बाबूजी की निबन्ध-कला का मूलाधार इसी भूमि के पंचतत्त्व हैं :

- (१) वस्तुनिष्ठा की प्रमुखता, (२) बंधी-संधी वाक्य-रचना,
- (३) परिनिष्ठित शब्दावली, (४) व्यवस्थित प्रतिपादन,
- (५) नवीन ज्ञान-सामग्री।

बाबूजी ने इनमें से प्रत्येक तत्त्व को नये प्राणों से अन्वित कर दिया; प्रत्येक तत्त्व को एक नवीन तत्त्व, शक्ति और सौन्दर्य प्रदान कर दिया।

फलतः उनके निबन्धों में वस्तुनिष्ठता की प्रमुखता तो रहती है, एकतानता नहीं। निबन्ध के मूल प्रवर्तक माँनटेन में भी एक अक्रमशीलता मिलती है, वह एक नये रूप में बाबूजी की वस्तुनिष्ठता में आ गई है। आप अपने पाण्डित्य के स्फुलिंगों से, आपके ध्यान में, उसी वर्ण्य के समानधर्मी अन्य बातों को प्रकाश में ले आते हैं, और

मूल वस्तु के साथ जोड़ देते हैं। यथा, 'साहित्य का उद्देश्य या प्रयोजन' नामक निबंध में एक उपशीर्षक दिया है, 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे'। इसके अन्तर्गत बाबूजी ने यह लिखा है।

(१) काव्यकार और धर्मोपदेष्टा के दृष्टिकोण में अन्तर है। (२) उसी अन्तर को दिखाने के लिए 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कहा है। (३) शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के बतलाये गए हैं—प्रभु सम्मित, सुहृत् सम्मित, कान्ता सम्मित। (४) प्रभु सम्मित शब्द में आज्ञा रहती है। वेद के विधि वाक्य इसी प्रकार के हैं। सुहृत्-सम्मित में आज्ञा नहीं रहती, ऊँच-नीच और इष्टानिष्ट होने की बात समझाई जाती है। (५) इतिहास, पुराणादि का उपदेश इसी प्रकार का होता है। (६) काव्य का उपदेश व्यंजनाप्रधान होने के कारण सरल होता है। (७) काव्य का रस कटु औषधि को मिष्ट बना देता है। (८) 'गुडजित्वक या शिशूनिवोषधम्' बच्चों की गुड़ मिली हुई औषधियाँ आजकल की शर्करावेष्टित कुनेन की गोलियों की तरह कण कटु उपदेश को भी ग्राह्य बना देती हैं।

कविवर बिहारीलाल का "नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास एहि काल। अली कली ही सों बिधो, आगे कौन हवाल" वाले दोहे ने राजा जयशहा पर जादू का सा असर किया ...।

इसमें बाबूजी ने वस्तु या बात का वर्णन करने के लिए शास्त्र, वेद, पुराण की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। साथ ही साहित्यिक क्षेत्र से हटकर वैद्यक तथा ऐलोपैथिक के उल्लेख को भी नहीं छोड़ा है। और उदाहरण में बिहारी तक पहुँच गये हैं और उन्हें भी इतिहास की घटना की भूमिका से जोड़ दिया है। यही तो मन की लहर हुई, पर पाण्डित्य युक्त है। इस प्रकार एकतानता नहीं हैं। यही नहीं कि एकतानता का अभाव है। वरन् लेखक का योगदान यह है कि उसने वस्तुनिष्ठ वर्णन को रस-स्पर्श भी दिया है। बिहारी का उल्लेख उस रस-स्पर्श की चरम सीमा है। फलतः वस्तुनिष्ठा को एक नवीन तत्त्व मिला 'उल्लेख वैविध्य' का। वह 'उल्लेख वैविध्य' पाण्डित्य के प्रकाश से देदीप्यमान है। उस प्रकाश में रस-स्पर्श भी संयोजित है।

इसमें शक्ति की उद्भावना हुई है, रीढ़ को उससे भी प्रबल पोषण मिलने से। रीढ़ है 'कान्ता सम्मित तथा उपदेश'। इसकी व्याख्या करने के लिए शास्त्र का प्रमाण मूल रीढ़ से अधिक पुष्ट और दृढ़ है, कुछ संस्कृत उदाहरण भी शक्ति देते हैं। वस्तु निष्ठता को इस प्रकार शक्ति भी मिली है। स्पष्ट है कि लेखक ने इस विवेचन में प्रतिपादन शैली से एक सौन्दर्य और सरसता पैदा कर दी है।

यही स्थिति बँधी-सधी वाक्य-रचना का है।

ऊपर जो वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वाक्य का बँधा-सधा रूप आद्योपान्त विद्यमान है। इस बँधे रूप में कर्ता-कर्म के विस्तार-विषयक शब्दों से तथा क्रियाओं के संयुक्त अवयवों के कारण ही वाक्य वृद्धि हुई है। एक बात हमारा ध्यान विशेष आकर्षित करती है कि वाक्यों के शब्द-परिमाण में भी एक क्रम प्रतीत होता है। पहले तीन वाक्यों में शब्द संख्या एक तीस

की है, एक-दो शब्दों की वृद्धि ही है। किन्तु चौथा वाक्य एकदम दुगुनी-तिगुनी लम्बाई का हो गया है। यही क्रम आगे के चार वाक्यों में हैं। यह तो निर्विवाद है कि बाबूजी ने सोच-समझकर यह क्रम नहीं रखा। पर इनमें क्रम आ ही गया है और उस क्रम से एक लय इस गद्य को मिल गई है। यह स्वयमेव आई है, बाबूजी के बिना प्रयत्न के। इसमें ही उनके व्यक्तित्व की आन्तरिक लय सिद्ध होती है। हमने भी यह उद्धरण यों ही जो हाथ लग गया, ले लिया है। हो सकता है यह क्रम उनके निबंधों में सर्वत्र न मिले। पर औरों में भी कोई-न-कोई लय या रिध अवश्य मिलेगी। इस क्रम में भी शब्द संख्या क्रमात् बढ़कर फिर एकदम दुगुनी-तिगुनी हो गई है। इसी कारण वाक्य को नया तत्त्व मिला है। शनै-शनैः उसकी शक्ति में सम्बर्द्धन हुआ है, और अन्ततः एक विशेष प्रकार से विचार क्रम के समागत होकर इसे सौन्दर्य भी मिल गया है।

परिनिष्ठित शब्दावली आदि अन्य तत्त्वों पर भी इसी प्रकार विश्लेषणपूर्वक विचार किया जाय तो सिद्ध होगा कि प्रत्येक तत्त्व में नवीनता, शक्ति और सौन्दर्य उद्भासित हुए हैं। यहाँ हमने केवल दो का ही विश्लेषण देकर अपनी स्थापना को उदाहरणपूर्वक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

किन्तु यह तो हमने साहित्यिक निबंध का ही उदाहरण लिया है। बाबूजी ने तो दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सामान्य (हास्य प्रधान) निबंध भी लिखे हैं। किन्तु जो वैशिष्ट्य उदाहरण में मिलता है वही कम-बढ़ सभी प्रकार के निबंधों में मिलेगा। इस उदाहरण में जो वैशिष्ट्य है वह यों समझा जा सकता है :—

- (१) भूमिका
- (२) वस्तु
- (३) प्रमाण
- (४) प्रमाण की व्याख्या में इतर प्रसंग (च्युति)
- (५) उदाहरण के पोषण
- (६) वस्तु की पुष्टि : व्याख्या सहित
- (७) उद्धरणपूर्वक भव्य (Sublime), अभव्य (absurd) के समन्वय से उदाहरणपूर्वक वस्तु-सिद्धि की उद्भावना।

इसमें मात्रा की वृद्धि या कमी करके निबंधकार विविध प्रकार के प्रभावों को सिद्ध करता है। मात्रा वृद्धि के साथ इन तत्त्वों की प्रवृत्ति में भी वह कुछ परिवर्तन या विकास उपस्थित करके अभिप्राय सिद्ध कर सकता है। कहीं वह 'प्रमाण के भ्रान्त प्रमाण' देकर व्यंग्य या हास्य ले आयेगा, कहीं वस्तु की पुष्टि और व्याख्या ऐसी करेगा कि वह पूर्णतः च्युति हो पर सिद्धि सी दिखावे। कहीं भव्य-अभव्य के समन्वय में अत्यन्त गहरी विकृति प्रस्तुत कर दे।

इस समस्त वैशिष्ट्य के साथ एक भव्य वैशिष्ट्य यह मिलता है कि इन सभी बातों का आयोजन बाबूजी के निबंधों में 'समतोल' मिलता है। पाठक यह अनुभव नहीं कर पाता कि कोई बात उबाने वाली हुई जा रही है। समतोल वाक्यावली, समतोल शब्दावली से, समतोल गम्भीरता, समतोल च्युति-विकृति, समतोल ज्ञानवैध्व्य, सम-

तोल उद्धरण, समतोल उदाहरण, इनमें समतोल सरसता तथा समतोल हास्य का व्याप्त प्रकाश, इन सबसे बाबूजी के समतोल व्यक्तित्व का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

साहित्य के इतिहासकार

बाबूजी ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का सुबोध संस्करण' लिखा है। इस इतिहास का मुख्य आधार उन्होंने पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को बनाया है, फिर भी यह इतिहास उसकी न तो संक्षिप्ति मात्र है, न मात्र उसकी नकल है। शुक्लजी के आधार को रखते हुए अपने निजी अध्ययन और चिन्तन को इसमें स्थान देकर और नई सामग्री तथा नई व्याख्या से सँजोकर वह इतिहास लिखा गया है। इस इतिहास ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की है। इसके अठारह से भी अधिक संस्करण हो चुके हैं और प्रत्येक संस्करण में कुछ-न-कुछ परिवर्तन और सम्बर्द्धन कर आप उसे अप-टू-डेट बनाने की चेष्टा करते रहे।

सम्पादन-कला मर्मज्ञ

बाबूजी की देन इस दिशा में भी अभूतपूर्व हैं। आप कई अभिनन्दन ग्रन्थों के सम्पादक रहे हैं। हिन्दुस्तानी एकाडमी के लिए आपने कवि और काव्य (प्रेममार्गी कवि) का सम्पादन किया। 'साहित्य-सन्देश' के आप यशस्वी सम्पादक रहे। 'साहित्य सन्देश' की स्थापना सन् १९३७ में हुई थी। तब से वे उसके सम्पादक रहे। मैं भी उनके साथ एक सम्पादक रहा।

इस दीर्घकाल में हम दोनों का पारस्परिक सहयोग और घनिष्ठ होता गया। कभी पारस्परिक मतभेद का भी अवसर नहीं आया। हम दोनों का ही दृष्टिकोण निर्माणात्मक था, खण्डनात्मक अथवा ध्वंसात्मक नहीं। साहित्यिक मेधाओं को उच्च से उच्चतर स्तर पर जाने में सहायता देने में ही उन्हें प्रसन्नता होती थी।

उनके इस समस्त कृतित्व में समन्वयपूर्ण मृदुल और स्वर्णिम प्रकाश मिलता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी युग निर्मित स्तम्भ के रूप में उनकी यथातथ्यात्मक शैली को प्रयोग द्वारा उच्चतम भूमि पर पहुँचाते हुए वे अप्रैल सन् १९६३ तक हिन्दी के कृतित्व को सँभाले रहे और वटवृक्ष के रूप में अपनी उदार भुजाओं में वे सभी वाराओं के मनीषियों को समेटे रहे और सबसे प्रेम और श्रद्धा पाते रहे।

आज वह हमारे बीच में नहीं हैं, पर अपने कृतित्व में गुंथे हुए व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने आपको अपने विभिन्न ग्रन्थों के रूप में सौंप गए हैं। हम जितना अधिक उन्हें जानना चाहेंगे, उतना ही अधिक उनके ग्रन्थों का पारायण करेंगे। उनके समस्त ग्रन्थ मिलकर हमारे लिए एक छोटा किन्तु घरेलू पुस्तकालय बन सकता है, और उस पुस्तकालय में से हम बाबूजी को प्रतिदिन अपने सामने मुस्कराते हुए देख सकते हैं।

डॉ० रामाधार शर्मा

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि

पं० माखनलालजी चतुर्वेदी, एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनके काव्य का परिचय देने के पूर्व राष्ट्रीय काव्य की विशेषताओं से अवगत होना आवश्यक है। राष्ट्रीय काव्य क्या है? राष्ट्रीय काव्य की प्रथम और प्रमुख विशेषता कवि की देश-प्रेम की भावना है। यह इस सम्पूर्ण काव्य का केन्द्रीय ज्योति-भवन (सेन्ट्रल पावर हाउस) है। यह केन्द्र जितना शक्तिशाली होता है, काव्य-भूमि भी उतनी ही अधिक दूरी तक तीव्र और एकरस प्रकाश से आलोकित हुआ करती है। केन्द्र यदि दुर्बल हुआ तो प्रकाश अधिक दूर तक नहीं जाता, वह क्रमशः मंद होने लगता है और अन्त में कवि को किसी दूसरे केन्द्र की खोज करनी पड़ती है। राष्ट्रीय काव्य की सूक्ष्म या आन्तरिक प्रेरणा देश-प्रेम की अत्यन्त पवित्र भावना है। यह इस काव्य की नींव है, जिस पर समस्त काव्य-निर्माण आधारित होता है। यही सूक्ष्म भावना कवि को वह राष्ट्रीय दृष्टि देती है, जिसे पाकर कवि अनायास हिमकिरीट की ऊँचाइयों को छू लेता है और उसकी कविता कोटि-कोटि कंठों की सहज वाणी बन जाती है। व्यक्ति के समष्टि तक पहुँचने की इतनी सुगम विधि दूसरी नहीं है, साधारणीकरण की इतनी सहज प्रक्रिया और कहीं नहीं दिखलाई पड़ती। राष्ट्रीय काव्य के मूल में देश प्रेम की सूक्ष्म भावना स्थायी तत्त्व के रूप में निहित रहती है। यह स्थायी तत्त्व वह निकष है जिस पर किसी काव्य के राष्ट्रीय होने या न होने की परीक्षा की जा सकती है। मूल और मुख्य वस्तु यही है।

राष्ट्रीय काव्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता उसकी सामयिक प्रेरणा की है। यहाँ हमें यह स्पष्ट समझ लेना होगा कि उपर्युक्त सूक्ष्म प्रेरणा के बिना, एक अन्तर्निहित अटूट देश-प्रेम की भावना के अभाव में, सामयिक प्रेरणा एक बाह्य वस्तु मात्र होगी, जिससे किसी परिस्थिति विशेष विशेष की सूचना ही मिलती है। दूसरी ओर सूक्ष्म और अत्यन्त आन्तरिक देश-प्रेम की भावना ही राष्ट्रीय काव्य के लिए अलम् नहीं है, सामयिक संस्पर्श भी उसके लिए आवश्यक है। सूक्ष्म और सामयिक का सुन्दर समन्वय ही राष्ट्रीय काव्य को व्यक्तित्व प्रदान करता है।

सामान्य रूप से हम जिसे राष्ट्रीय काव्य कहते हैं, उसके तीन सोपान दृष्टिगत होते हैं। राष्ट्रीय काव्य का प्रथम सोपान वह है, जिसमें तीव्र देश-प्रेम की भावना और तीव्र सामयिक प्रेरणा समन्वित हो जाती हैं; दूसरा सोपान वह है जिसमें एक अन्तर्निहित देश-प्रेम की भावना सदैव विद्यमान रहती है, परन्तु सामयिक प्रेरणा तीव्र नहीं होती और अन्तिम तृतीय सोपान वह है जिसमें देश-प्रेम की भावना उतनी तीव्र और स्थायी नहीं होती परन्तु सामयिक प्रेरणा बड़ी तीव्र शैली में व्यक्त होती है। इस तीसरी श्रेणी की कविता में देश-प्रेम संचारी के रूप में रहा करता है विशेष दृष्टि से ये श्रेणियाँ राष्ट्रीय काव्य, सांस्कृतिक काव्य एवं सामयिक या सामाजिक काव्य के नाम

१३४ : आलोचना

से अभिहित की जा सकती हैं। काव्य की यह उज्ज्वल परंपरा है। इसका प्रत्येक कवि देश-प्रेमी होता है। यह दूसरी बात है कि उसकी भावना तीव्र या मंद हो सकती है, उसका रूप व्यक्त या अव्यक्त हो सकता है। इस परम्परा के समस्त कवि हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं।

कुछ लोगों ने इस राष्ट्रीय परम्परा से भिन्न या विरुद्ध भी कुछ काव्य-रचना की है। व्यक्तिगत सुख-दुःख को लेकर चलने वाले कवि काव्य की उदात्त भूमियों में कम पहुँचते हैं। उनके काव्य का सम्प्रेषण इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी वैयक्तिक अनुभूति में सामाजिक बनने की कितनी क्षमता है। यह क्षमता जितनी अधिक होगी काव्य भी उतना ही अधिक रस-भूमि के समीप होगा। यह वैयक्तिक अनुभूतियों का काव्य उन मनःशास्त्र को आधार मानकर चलने वाले व्यक्तिवादियों की रचनाओं से भिन्न है, जो कवि नहीं हैं। ये दोनों वर्ग राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रति एक उदासीनता लेकर चलते हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी श्रद्धा-भक्ति के आधार देश के बाहर रहे हैं। राष्ट्रीय काव्य का यही वर्गीकरण सम्पूर्ण साहित्य के लिए भी स्वीकार किया जा सकता है।

राष्ट्रीय काव्य में सामयिकता आवश्यक है। इसकी सामयिकता से आशय यह है कि यह काव्य देश की समसामयिक परिस्थितियों के प्रति अत्यधिक जागरूक और संवेदनशील होता है। देश के भूत, भविष्य और वर्तमान में वह, मुख्यतः वर्तमान से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रीय काव्य का कवि अतीत का गौरव-गायक भी होता है, भविष्य-द्रष्टा भी बनता है, परन्तु उसकी दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित होती है। उसकी प्रेरणा का स्रोत बहुत समीप और प्रत्यक्ष रहता है। वे राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उसे भी प्रभावित करती हैं जिनका जन-जन से सम्बन्ध है और जो लोक-हृदय को आन्दोलित करती हैं। इसलिए ऐसा काव्य व्यापक रूप से ग्रहण किया जाता है। ऐसे काव्य के ग्रहण की भूमिका पहले ही तैयार हो जाती है।

राष्ट्रीय काव्य समष्टि-आकांक्षा का काव्य कहा गया है। उसमें राज्य-नीति नहीं, लोक-नीति प्रतिबिम्बित होती है। राष्ट्रीय काव्य का कवि अभय भाव से जनता की आशा-आकांक्षाओं को, हर्ष-विपाद को, गति-प्रगति को वाणी का सुन्दर परिधान पहनाता है। वह राष्ट्र की प्रबुद्ध लोक-वाणी बनता है।

यहाँ एक प्रश्न पूछा जा सकता है। क्या राष्ट्रीय काव्य सामयिक और एक-देशीय वस्तु है? क्या उसका प्रभाव-क्षेत्र देश-काल की सीमाओं से आबद्ध है और क्या उसमें काव्य के सार्वभौम एवं शाश्वत उपकरणों की कमी होती है? दूसरे शब्दों में क्या राष्ट्रीय काव्य रस-भूमि की वस्तु नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर यही हो सकता है कि राष्ट्रीय काव्य ही रस-काव्य होता है। रस राष्ट्रीय भूमि की ही वस्तु है। देश और काल की सीमाओं में आबद्ध होते हुए भी वह सार्वभौम और शाश्वत वस्तु है। अन्य काव्यों की अपेक्षा राष्ट्रीय काव्य की प्रेरणा-भूमि अधिक सशक्त और उदात्त होती है, उसका प्रभाव (अपील) अधिक व्यापक और गहरा होता है। राष्ट्रीय काव्य विराट की अनुभूति का काव्य है, शक्ति और सामर्थ्य की वाणी है। जिस सूक्ष्म

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि : १३५

आन्तरिक प्रेरणा पर राष्ट्रीय काव्य की नींव रखी जाती है, वह सभ्यता के अनेक अवरोधों के उपरान्त भी, एक सार्वजनीन सत्य है। दूसरी बात यह कि राष्ट्रीय कवि सामयिक उपकरणों से सीधी प्रेरणा ग्रहण कर, उसे अपनी कल्पना के द्वारा, अधिक समय और अमर-सुन्दर रूप देता है। यह प्रक्रिया कठिन है, यह अंजन बिरलों को ही मिलता है। राष्ट्रीय कवि देश की मिट्टी को श्रद्धा-भक्ति से पूर्ण हो अपने हाथों में लेता है और भाव-भीने स्पर्शों से उसे एक ऐसी सुन्दर मूर्ति में परिणत कर देता है, जिस पर कोई मनुष्य मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। मूर्ति में मिट्टी का आधार प्रत्यक्ष है, परन्तु अब वह मिट्टी नहीं, मूर्ति बन गई है। जो लोग इस मूर्ति-कला में संगत नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में ही उपर्युक्त प्रश्न उठाए जा सकते हैं।

राष्ट्रीय काव्य में तीव्र भाव-परक अभिव्यक्ति (इमोशनल एक्सप्रेशन) अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है, जिससे संप्रेषण तरल एवं सरल हो जाता है। बुद्धि परक अभिव्यक्ति का मार्ग अपनाने पर काव्य में जड़ता और जटिलता आ जाती है और प्रभाव क्षीण होने लगता है।

दादा एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनके काव्य की सर्वप्रथम और प्रमुख विशेषता यह है कि देश-प्रेम की एक प्रबल भावना उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। यह दूसरा आन्तरिक प्रेरणा उनके काव्य का प्राणतत्त्व कही जा सकती है। यदि राष्ट्रीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कहना होगा कि देश-प्रेम उनके काव्य का स्थायी भाव है। यह आलोककेन्द्र अमन्द और अटूट है। इसकी शक्ति पर कहीं रंका नहीं की जा सकती। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा के अन्तर्गत कतिपय ऐसे नाम भी स्वीकार किए गए हैं, जिनके काव्य का स्थायी भाव देश-प्रेम नहीं कहा जा सकता। देश-प्रेम उनके काव्य में संचारी बनकर ही आ सका है। अधिकतर देखा गया है कि ऐसे कवि कभी-कभी—विशेषकर राष्ट्रीय संकट के अवसरों पर—बड़ी शक्तिपूर्ण शैली में अपने देश-प्रेम का परिचय देते हैं। शेष समय में वे मुख्य रूप से शृंगार की रचनाओं में संलग्न रहते हैं, बौद्धिक कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं या फिर मनोरंजन की दृष्टि से लिखे गए छोटे-मोटे प्रयोग करने लगते हैं। हिन्दी में ऐसे कवियों को एक बड़ी संख्या है। ये सब समय की गंगा के घाट पर स्नान करने वाले लोग हैं, परन्तु उसकी लहरों में तैरते हुए उसे रत्नाकार तक ले जाने वाला तो कोई एक भी नहीं ही हुआ है। किसी स्थायी प्रेरणा के अभाव में अनेक कवि सामयिक प्रतिक्रिया की ही सूचना दे पाते हैं। वे वर्तमान की ज्वाला को शब्दों में बाँधते हैं। दादा राष्ट्रीय ज्योति के कवि हैं, ज्वाला के नहीं। उनका काव्य सहज ओज का काव्य है, शक्तिमय आवेग की असंयत वाणी नहीं है। चीन और पाक के भारत पर आक्रमण के अवसरों पर अनेक कवियों ने साहित्यिक संयम से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, परन्तु दादा का अखंड ओज अद्यत शालीनता की भारतीय मुद्रा से चिह्नित है।

दादा के काव्य की नींव बहुत गहरी है स्वदेश प्रेम की स्थायी भावना का तीव्र अटूट अंतर्प्रवाह उनके काव्य को सामयिक आवेग के कवियों से भिन्न और उदात्त रूपिका पर प्रतिष्ठित करता है। दूसरी बात यह कि दादा का काव्य समय के प्रभाव

१३६ : आलोचना

की दृष्टि से अन्य किसी भी कवि से भारी पड़ता है। समय के प्रति इतनी सजग और संवेदनशील दृष्टि दुर्लभ है। राष्ट्रीय जीवन की कोई भी महत्त्वपूर्ण घटना उनसे अनंकित नहीं जा सकी। उनका काव्य राष्ट्रीय जीवन का भावात्मक इतिहास है। दादा के काव्य में सामयिकता का गुण, विशेष प्रत्यक्ष प्रेरणा, बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान है। उनकी कविताओं का सम्बन्ध राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, घटनाओं या परिस्थितियों से है या उस आराध्य से है जो देश से अभिन्न है। दादा की अधिकांश कविताओं के साथ उनकी रचना-तिथि और स्थान भी दिए गए हैं उनसे उनके काव्य को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न पूछ सकते कि यदि दादा का काव्य इतना अधिक सामयिक गुण से पूर्ण है, तो उसे हम शाश्वत काव्य की संज्ञा कैसे दे सकते हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। सम्भवतः कुछ लोगों को शंका हो सकती है कि काव्य का सामयिक होना उसका दोष है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। समय के जल और देश की मिट्टी के बिना किसने मूर्ति बनाई है? सामयिकता काव्य का दोष नहीं, उसका प्रथम गुण धर्म है। इसी सामग्री से काव्य का सौन्दर्यपूर्ण भवन बनाया जा सकता है। दादा के पास काव्य की इस सामग्री का अक्षय भंडार है। समय के प्रवाह की गद्गद गीली मिट्टी लेकर अमर सुन्दर मूर्ति बनाने की कला निश्चय ही बड़ी कठिन क्रिया है (जिसके सरल होने की भ्रान्ति ने कई के हाथ मिट्टी भरे कर दिए हैं) पर जिसे दादा ने सिद्ध कर लिया है। इस प्रकार दादा के काव्य की नींव (सूक्ष्म देश-प्रेम की भावना) बड़ी गहरी है, काव्य सामग्री (सामयिक प्रभाव) की उनके पास प्रचुरता है और निर्माण-कला में उन्हें सिद्धि प्राप्त है। यहाँ दादा के काव्य के कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

१. तुम रवि किरणों से खेल,
जगत् को रोज जगाने वाली,
कोकिल बोलो तो ?
क्यों अर्द्ध-रात्रि में विश्व
जगाने आई हो ? सतवाली,
कोकिल बोलो तो ?
द्वयों के आँसू धोती रवि किरणों पर,
मोती बिखराती विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रत-धारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कंपाती इस उद्दंड पवन पर,
तेरे सीटे गीतों का पूरा लेखा
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा
तब सर्वनाश करती क्यों हो,
तुम जाने या बेजाने
कोकिल बोलो तो !
क्यों तमोपत्र पर विवश हुई

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि : १३७

लिखने चमकीली तानें
कोकिल बोली तो !

—‘कैदी और कोकिला’—हिमकिरीटिनी, पृ० १४,

सेन्ट्रल जेल जबलपुर सन् १९३०

२. युग तुम में, तुम युग में कैसे झाँक रहे हो बोली,
उथल-पुथल तब हो कि समय में जब तुम जीवन घोली ।
तुम कहते हो बलि से पहले अपना हृदय टटोली
युग कहता है क्रान्ति-प्राण ! पहिले बन्धन तो खोली ।

... ..

है तेरा विश्वास गरीबों का धन, अमर कहानी —
तो है तेरा इवास, क्रान्ति की प्रलय लहर मस्तानी ।
कंठ भले हों कोटि-कोटि, तेरा स्वर उनमें गूँजा,
हथकड़ियों को पहन राष्ट्र ने पढ़ी क्रान्ति की पूजा ।

—‘युग और तुम’—समर्पण, पृ० २१-२२

गांधी जयन्ती के लिए, सन् १९३५

३. वाणि, वीणा और वेणी की त्रिवेणी धार बोले,
नृत्य बोले, गीत बोले, मूर्ति बोले, प्यार बोले ।
आज हिमगिरि की पुकारों, सिन्धु सौ-सौ बार बोले,
आज गंगा की लहर में प्रलय का व्यापार बोले !

... ..

दंग करती-सी मृदंग बजे, कि वंशी-रंभ्र बोलें,
नृत्य-मग्ना एशिया की गोपियाँ स्वच्छन्द डोलें,
अमित मधु आकषणों का उबार हरि, वंशी बजावे,
स्वर भरे कश्मीर उसमें, भैरवी नेपाल गावे ।
योह ले मन की हमारे नेह का गंधार प्रहरी,
और लंका से हमारी सिन्धु-सी ही प्रीत गहरी ।
आज ब्रह्मा के स्वरों में, एशिया के द्वार हर्षित,
मित्र के उल्लास हर्षित, शत्रु के संहार हर्षित ।
तीन बाहु से घिरा, यह तरल पारावार हर्षित,
आज दिल्ली के स्वरों ईमान का संसार हर्षित ।

‘प्राण का शृंगार’—युग चरण, पृ० ३४-३५

जनतन्त्र दिवस, सन् १९५४

ऊपर तीन उद्धरण दिए गए हैं । पहला उद्धरण विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है, दूसरे में व्यक्ति उद्दिष्ट है और तीसरे में तिथि का महत्व है । परन्तु यह स्पष्ट है कि तीनों उद्धरणों में काव्य विशेष की भूमि से दूर पहुँच गया है । जबलपुर सेन्ट्रल जेल की बन्दिनी आत्मा कोकिल के स्वर के साथ सूर्यकिरणों में, विन्ध्य के

झरनों में और वनों में तथा आंधियों में कितनी स्वच्छन्द चूमती है और सूर के—
जहाज के पंछी के समान पुनः पूर्व स्थान पर पहुँच गई। 'युग और तुम' कविता में युग-पुरुष महात्मा गांधी की अभ्यर्थना की गई है, परन्तु उद्धृत काव्यांश किसी भी युग-पुरुष की वन्दना के बोल हो सकते हैं। 'प्राण का शृंगार' कविता जनतन्त्र-दिक्क पर लिखी गई है, परन्तु उसमें जिस हर्ष की व्यंजना है, वह किसी एक दिन, किसी एक वर्ष और किसी एक व्यक्ति की वस्तु नहीं है। उसमें तो कवि ने संपूर्ण राष्ट्र के चिरन्तन उल्लास को वाणी दी है। छोटी-सी प्रेरणा को लेकर दादा बहुत दूर और ऊपर पहुँच जाते हैं। यह कला हिन्दी के बहुत कम कवियों के पास है। यहाँ वे सामयिक रहते हुए भी समायातीत हो जाते हैं। ऐसे प्रसंगों में दादा प्रायः नाम आदि के स्थूल विवरणों को छोड़ देते हैं या आवश्यक होने पर उनके संकेत-मात्र देते हैं और सूक्ष्म तात्त्विक भूमि पर विचरण करने लगते हैं।

दादा के काव्य की ऊँचाई का एक और रहस्य है। उनका सम्पूर्ण काव्य आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित है। आसेतु हिमाचल फैले हुए इस विराट देश में उन्होंने अपने आराध्य की भावना की है इसलिए उनकी कृतियाँ पवित्र पूजा के गीत बन गई हैं :—

हो मुकुट हिसालय पहनता, सागर जिसके पद धुलवाता,

यह बधा वेड़ियों में मंदिर भसजिद, गुम्हारा मेरा है।

—हिमकिरीटिनी

'वेणु लो गूँजे घरा' सग्रह में भी आराध्य बलि के फूलों से ही प्रसन्न हुआ है।

प्राण कौन से स्वप्न दिख गए,

जो बलि के फूलों खिलते हो।

देश-प्रेम की भावना को आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय दादा को है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद उनकी हिन्दी में विशेष मौलिक वस्तु है और इस क्षेत्र में वे अकेले हैं। दादा की आध्यात्मिकता परम्परागत है और शरीर तथा मन से परे एक चिरन्तन चिन्मय वस्तु है। इसी परम्परागत आध्यात्मिकता से दादा का काव्य दृढ़तापूर्वक बंधा हुआ है। भारतीय जीवन और काव्य की परम्परा मुख्यतः आध्यात्म-मुखी रही है और जो कवि इस परम्परा के जितना निकट रहा है उसे भारतीय जीवन ने उतने अधिक श्रद्धा के पुष्प अर्पित किये हैं। आधुनिक काव्य से सर्वाधिक तेजस्वी आध्यात्मिक ज्योति दादा के काव्य में दिखलाई पड़ती है। हमें दादा के काव्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से भी करना होगा। हम अपने समय के इतने समीप हैं कि हमें उसका सम्यक् बोध नहीं हो सकता और दूसरी बात यह है कि आत्म-प्रचार के अगणित नगाड़ोंकी अभ्रभेदी आवाजों के बीच रेवातट के शान्त परन्तु सशक्त वेणु-स्वर बहुत कम सुनाई पड़े। परन्तु एक शताब्दी उपरान्त यह स्थिति नहीं रहेगी। ऐतिहासिक बोध से सम्पन्न आनेवाली पीढ़ियाँ दादा को भिन्न दृष्टि से देखेंगी। आज यह बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है कि भारत की शक्ति-साधना के साथ ही उसकी मूल आध्यात्मिक चेतना भी बलवान बनेगी। आध्यात्म हमारे राष्ट्र का केन्द्र है,

माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि : १३६

की साधनाओं की राजधानी है। इसका महत्त्व हमें आज नहीं तो कल समझना होगा। हमारी आगामी पीढ़ियाँ यह देखेंगी कि कौन हमारे इस केन्द्र के पास है अपना है तथा कौन इससे दूर-दूसरे केन्द्र के समीप पहुँच गया है और पराया बन है। इस दृष्टि से दादा के काव्य का मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है। यदि दादा का काव्य केवल सामयिक प्रतिक्रिया व्यवत करता तो वे देश के बहिरंग शरीर कवि होते, यदि दादा का काव्य देश प्रेम की सूक्ष्म भावना पर ही आधारित होता तो देश के अंतरंग प्राण या हृदय के कवि होते परन्तु दादा तो देश की आत्मा के कवि हैं 'एक भारतीय आत्मा' हैं और उन्होंने आत्मभूमि पर काव्य-रचना की है। दादा का काव्य आध्यात्मिक स्तर की वस्तु है। पूर्व मध्य-युग के उपरान्त इतनी सशक्त सुन्दर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हिन्दी में दूसरी नहीं दिखलाई पड़ती। हमारा हिन्दी के इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है कि प्राचीन साहित्य का दादा के पूजा-गीतों के रूप में पुनः अवतार हुआ है। हिन्दी के अनेक नवोदय कवि इस दृष्टि से दादा के कम-कक्ष लगेंगे।

एक ओर तो दादा कीटि-कोटि भारतीयों के साथ अपने हृदय का तादात्म्य व्यक्त करते हैं और साथ ही उसी भारतीय जन-गण में अपने आराध्य (विस्तृत, विराट, श्याम सलोने) की भावना कर उसके चरणों में समर्पित की हैं। उनके काव्य में यह दुहरी भूमिका एक ऐसे प्रगाढ़ रस की सृष्टि करती है जो हिन्दी में अन्यत्र नहीं है। व्यष्टि के समष्टि तक पहुँचने की यह प्रणाली आज अपने आपमें अकेली रस-काव्य को दादा ने नई दीप्ति दी है, नई शक्ति दी है।

दादा का काव्य शासन का अनुगामी और अनुगायक कभी नहीं रहा। भारतीयता की आशा-आकांक्षा, हर्ष-शोक, संकल्प-विकल्प आदि उनके काव्य में व्यक्त होते रहे हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व वे एक विद्रोही सैनिक थे और स्वतन्त्रता के उपरान्त एक समीक्षक की स्थिति में हैं। दादा में राजनीति नहीं, जननीति मुखरित हुई है, राज-कवि नहीं है विराट भारतीय जन-गण के कवि हैं। उनका काव्याधार जन-निष्पन्न है।

ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रीय काव्य में तीव्र भाव-परक अभिव्यक्ति (मोशनल एक्सप्रेशन) अधिक आवश्यक है। जिन कवियों ने राष्ट्रीय काव्य में बुद्धि-परक अभिव्यक्ति का मार्ग अपनाया है उनकी रचना अभीप्सित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर सकी है। ५ अगस्त सन् १९६५ को भारत पर पाकिस्तान ने आक्रमण किया। उस संदर्भ को लेकर पुनः हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, परन्तु अधि-प्रायः कविताएँ बुद्धि-प्रसूत हैं और प्रयत्नपूर्वक लिखी गई हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

१. सिपाही देश का कलंक धो रहा है।

जो बीज जम कर,

सदियों में कई बार सूखे हैं,

उन्हें फिर से बो रहा है।

१४० : आलोचना

बम के धड़कों से ईश्वर ही नहीं चौंकता,
आदमी भी घबराकर जाग उठता है ।
इतिहास जानता है कि क्या हो रहा है ?

२. हथियारों नहीं, मर्दों के गीत गाओ ।
अरे गाओ, अगर स्वर समर्थ है ।
क्योंकि मर्द नहीं, तो हथियार लूले हैं,
मर्दानगी नहीं, तो लोहा व्यर्थ है ।
विमान सेवर हो या नैट
कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है ।
लड़ाई तो मर्दानगी की चीज है
हथियार भी मर्दों के इशारों पर लड़ता है ।

३. इस सबसे क्या,
उस सबसे क्या, किसी सबसे क्या,
जब कि अकेलेपन में,
एक व्याप्त मामूलीपन का स्पन्दन है
और वह व्याप्त मामूलीपन एक सेतु है
जिसमें हम सब
हर अकेली रात के अँधेरे में
एक सम्बन्ध और सामर्थ्य और गौरव के सूत्र में बँधते हैं—
हम, हम, हम, हम भारतवासी ?

ऊपर तीन उद्धरण दिए गए हैं । पहले उद्धरण में संभवतः दो बातें बहुत ही सीधी शैली में कही गई हैं कि हमारे सिपाही देश के कलंक को धो रहे हैं और लड़ भयंकर युद्ध मनुष्य के साथ ही ईश्वर को भी चौंका देने वाला है (यद्यपि इसमें ईश्वर के बाद आदमी के आने से अतिशयोक्ति प्रभावहीन हो गई है) । इसमें विचार-शक्ति सीधे सरल रूप में रख दिए गए हैं । परन्तु हृदय का वेग कहीं संयुक्त नहीं हो सका है । दूसरा उद्धरण युद्ध के तथ्यों पर आधारित है । यह अब सर्वविदित है कि भारत-पाक युद्ध में भारतीय वीरों ने अपने साहस और शौर्य के बल पर अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दिए गए सेवर जैट विमानों और पैंटन टैंकों के धुरें उड़ा दिए । इसी तथ्य को उक्त उद्धरण में, कुछ सामान्य रूप देकर, एक विचार के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि लड़ाई हथियारों से नहीं मर्दानगी से जीती जाती है । यहाँ स्पष्ट है कि बाह्य तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने वाली यह प्रक्रिया मूलतः बौद्धिक है । ये दोनों कविताएँ सरल, परन्तु वेग-रहित हैं । तीसरा उद्धरण जटिल और वेग-रहित काव्याभास का उदाहरण है । इन तीनों उद्धरणों में उत्तरोत्तर बौद्धिक प्रक्रिया बढ़ती गई है और उसी अनुपात से काव्य-प्रभाव का भी ह्रास हुआ है ।

राष्ट्रीय काव्य की प्रतिनिधि शैली हिन्दी के कतिपय नए कवियों में व्यक्त हो रही है । उपर्युक्त बौद्धिक काव्य से इसकी भिन्नता स्पष्ट करने के लिए कुछ उदा-

देना आवश्यक है :

१. मशाल थामना—

मोरचा बिखर न जाय,

गिर न जाय काल-सन्तरी

उसे सम्हालना

मशाल थामना

कृष्ण है स्वदेश आज और काश्मीर वंसरी

उसे सम्हालना

मशाल थामना ।

२. आज अपना देश पूरा लाम पर है,

जो जहाँ भी है, वतन के काम पर है !

हल लिए है हाथ भामाशाह मेरे

प्रतापों ने बर्फ पर साका किया है,

लहू देने का महरत आ गया है

दूध जिसने भी कि—इस माँ का पिया है ।

३. पुरुषार्थ

क्षमा के लिए बने हुए हाथ

लेते हैं शास्त्र

व्यापक क्षमा के लिए

चारों तरफ अनसुना कोलाहल है,

और मुझे सूझते नहीं हैं शब्द

घबराये हुए लोगों की उपमा के लिए ।

पहला उद्धरण एक गीत है, जिसमें सशक्त उद्बोधन निहित है। कवि की कृष्ण और उनकी वंशी के रूपक में पवित्र होकर, तीव्र गति से, संगीत के स्वरों काय, प्रत्येक बार कल्पना के नव-नव वस्त्र पहिन कर अग्रसर होती है। दूसरी कविता का सहज ओज ऐतिहासिक संदर्भों तथा राष्ट्रीय उपलब्धियों के सहारे विकसित है। देश-प्रेम के लिए कवि ने जैसे ओज और आवेग का गरुड़-वाहन उपस्थित किया है। तीसरी कविता अपनी उदात्त परिणति, (शत्रु-पक्ष की अनुपमेय घबराहट तथा) भारतीय पुरुषार्थ की व्यंजना एवं गम्भीर आत्म-विश्वास के कारण उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय काव्य की भाव-परक शैली की त्रिविध भंगिमाएँ ऊपर दी गई हैं। इन कविताओं की शैली सरल और तरल है ।

दादा का काव्य भाव-परक अभिव्यक्ति का आदर्श प्रतिष्ठित करता है। इसमें दादा के काव्य की केन्द्रीय शक्ति उनकी भावना ही है। काव्य का मूल और मुख्य तत्त्व भी यही है और यह उनके काव्य में साद्यन्त समरस रहा है। इसीलिए उनके काव्य में सहज वेग का कहीं अभाव नहीं है। जिन कवियों के काव्य में मूल शक्ति बुद्धि होती है, उनके सम्पूर्ण काव्य और काव्य-प्रक्रिया का शासन बुद्धि द्वारा

ही होता है। उन्हें हम नियंत्रित-भावना के कवि कह सकते हैं। युवावस्था की शक्ति के साथ बुद्धि की प्रखरता और प्रकाश उनके काव्य में व्यक्त होते हैं, परन्तु अवस्था के अधिक हो जाने पर बुद्धि की शक्ति क्षीण होने लगती है। कुछ कवि अपनी काव्य-कला का केन्द्र कल्पना को बनाते हैं। कल्पना द्विमुखी है। उसका एक मुख हृदय की ओर है और दूसरा मुख मस्तिष्क की ओर। जिन कवियों की कल्पना मस्तिष्क-मुखी होती है आगे चलकर उनका काव्य विचार-प्रधान बन जाता है और कल्पना की रमणीयता कम होने लगती है। दादा के काव्य का केन्द्र भावना है और यह स्वतन्त्र तथा समरस रही है। यह उनके काव्य की मूल शक्ति है। अवस्था के विकास के साथ ही मनुष्य की भावना विस्तृत, विशुद्ध और तीव्र हो जाती है। दादा का काव्य इस बात का प्रमाण है। उनका काव्य-क्षितिज विस्तृत हुआ है, उनकी भावना पवित्रता की ऊँचाइयों तक पहुँच गई है और भाव-तीव्रता भी, एक विशेष संयम की मुद्रा लेकर व्यक्त हुई है। सन् १९६२ में चीन के भारत पर आक्रमण के समय दादा ने देश की तरुणाई को एक बार फिर अपने सहज स्वर में ललकारा :—

बूढ़ों की क्या बात युगों की तरुणाई के दिन आये हैं,
चट्टानों, खन्दकों, पहाड़ों की खाई के दिन आये हैं।
गंगा मांग रही है मस्तक, जमना मांग रही है सपने,
आज जवानी स्वयं टटोले सिर हथेलियां अपने-अपने।
कितने दिन से वृक्ष दे रहे संकेतों झुक आई डाली,
कितने दिन से खड़ा अकेला अपने बागों का यह माली।
आज सिद्ध करना ही होगा नहीं जवाहर कभी अकेला,
आज सिद्ध करना ही है यह आ पहुँची प्रयाण की बेला।
चलो सजाओ संन्य, समय की मरपाई के दिन आये हैं,
आज प्राण देने के, युग की तरुणाई के दिन जाये हैं।

—मरण-ज्वार, पृ० ५१

बलिदान का त्यौहार मिल जाने की प्रसन्नता गीत के स्वरों में फूट पड़ी है। इस गीत में दादा का सम्पूर्ण ओज एक निर्विकार शान्ति में पर्यवसित हो गया है। गीत की यह उदात्त भूमिका स्वाभाविक है, अधिक सशक्त और संयत भी है, साथ ही अभिव्यक्ति सीधी और सरल है। पूरा गीत एक मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है।

देश-प्रेम की एक अटूट आन्तरिक भावना दादा के काव्य का मूल और मुख्य उपकरण है। इस भूमि पर समय के चरण-चिह्न बहुत गहरे अंकित हुए हैं, जिन्हें वे अपनी भाव-भीनी कलम से सुन्दर कला का रूप देते हैं। दादा भारतीय राष्ट्र के अनन्य उपासक हैं। वे हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

सियाराम शरण गुप्त के उपन्यास :

एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

वर्गीय श्री सियाराम शरण गुप्त सामाजिक चेतना के सांस्कृतिक कवि और लेखक थे जिनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति और प्रगतिशीलता का समुचित सन्तुलन ध्यात्व है। एक ओर जहाँ उनमें शुद्ध कवि-हृदय का दर्शन होता है वहाँ दूसरी ओर उनका गद्य साहित्य भी अपना अलग महत्त्व रखता है।^१ प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके उपन्यासों की समाजशास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करेंगे।

साहित्य अनुभव और अनुभूतियों का संग्रहीत कोष होता है और जिसमें समयानुसार उद्बुद्ध परिस्थितियों की अग्नि एवं परिवेश के जलकण से समस्याएँ निर्मित होकर अनुभव और अनुभूतियों का संस्पर्शन करती हैं। कलाकार चेतन प्राणी होता है, बुद्धि, विवेचन और अनुभूति की शक्ति रखता है। समाज के मध्य उसकी परिणति एवं जीवन-यापन होता है। एक कालगत समस्याओं और परिस्थितियों का उसे प्रत्यक्ष रूप से सामना करना पड़ता है। इनसे कटकर कलाकार, विशेषकर गद्य लेखक अपनी प्राणवत्ता ही खो बैठेगा।^२ गद्य यथार्थ एवं वास्तविकता से अलग हटकर निष्प्राण हो जायगा। अतएव उपन्यास, जो गद्य की एक प्रमुख विद्या है, इन उपकरणों से वंचित नहीं हो सकता है और इसके फलस्वरूप उसकी विवेचना समाजशास्त्रीय कसौटी पर प्रकृत रूप में, सहज भाव से की जा सकती है। श्री सियाराम शरण गुप्त के उपन्यासों के साथ भी यही तथ्य लागू है। चूँकि गुप्तजी के उपन्यास सामाजिक घरातल पर ही खड़े हैं इसलिए यह भी विचारणीय प्रश्न उनसे सम्बद्ध है।

श्री गुप्त के उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व के १९४० के आसपास के हैं।^३ अतएव सामाजिक रूप में उनकी इन औपन्यासिक कृतियों में तत्कालीन समस्याएँ एवं सामाजिक

१. मौर्य-विजय, अनाथ, दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, मृगमयी, बापू, उन्मुक्त, दैनिकी, नकुल आदि काव्य पुण्य पर्व नाटक, निष्क्रिय प्रतिशोध, कृष्णाकुमारी गीतिनाट्य, कोटर और कुटीर, मानुषी आदि कहानी संग्रह तथा नारी और गोद—इनके उपन्यास हैं। ज्योति प्रसाद निर्मल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे “—परिवर्तन के पक्षपाती हैं।” —नवयुग काव्य-विमर्श, पृष्ठ :

२. “All the arts in one way or another, to some greater or lesser extent, interpret life...these three functions intensification, clarification and interpretation of experience, the arts fulfill in various degree” —Irwin Edman—‘Art and the Man’. Page-22-30.

३. ‘गोद’ का प्रकाशन १९६० तथा ‘नारी’ का १९६४ है।

परिस्थितियाँ क्रियाशील हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतवर्ष के लिए वह काल पराधीनता की शृंखला से आवद्ध था। यहाँ अँग्रेजों का राज्य था। भारतीय मुक्त जीवन से परे थे। अँग्रेजों ने राजनैतिक और आर्थिक कुचक्र के माध्यम से भारतीय शक्ति को कुचला ही नहीं प्रत्युत छिन्न-भिन्न कर सदियों तक के लिए कमजोर बनाने का प्रयत्न किया। १८४० तक सारे देश में अँग्रेजों की शोषण प्रणाली पूरी तरह व्याप्त हो चुकी थी। जमींदारी तथा महाजनी प्रथा का विस्तार इतना व्यापक हो गया था जिसमें सम्पूर्ण भारत का ग्राम जीवन शोक-विपाद और निर्धनता का केन्द्र बन गया था। जमींदार एवं महाजन भारतीय जीवन में जोंक सदृश थे जो निरीह ग्रामीणों और जनता का सारा रक्त चूसते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में किसान खेत जोतकर भी सारा धन जमीन्दारों और महाजनों को समर्पित कर भूखे रहते। किसान के बच्चे अभाव में कातरता से जीवन व्यतीत करते, दर्द की कहानी बनकर जीवन्-लीला समाप्त करते। 'नारी' में इस तत्त्व को स्पष्टतया देखा जा सकता है। जमना और उसका पुत्र हल्ली इस चक्र में फँसे दीख पड़ते हैं। महाजन के कर्ज के कारण जमना घोर कष्ट सहती है और कर्ज के अभिशाप से क्षतिग्रस्त होने के कारण वह महाजन के पुत्र के सम्मुख अपने पुत्र को सिर उठाने नहीं देती है। लगता है महाजनी प्रथा की अभिशाप-शिला उसकी स्वच्छन्द साँस को रोककर उसके कलेजे पर बैठी है। अन्त में इसी भावना को अपने पुत्र के समक्ष व्यक्त करती, आशा का संवल लेकर कहती है—“सहले, पक्का होकर इसे सहले। कमजोर क्यों पड़ता है? जितना अधिक सह सकेगा, उतना ही तू बड़ा होगा।” (पृष्ठ २०६) इसी अभिशाप का मार्मिक उदाहरण है कि मोती चौधरी जमना का चेत, कुआँ आदि वृन्दावन से अपने नाम रजिस्ट्री करा लेता है। वृन्दावन वर्षों पत्नी को छोड़कर जाने वाला व्यक्ति भी जमना का मालिक बना उसका सर्वनाश करता है। सचमुच ही ऐसी प्रथा घोर नाटकीय नहीं तो और क्या कही जायगी जिसमें भागा हुआ, कर्तव्यहीन पति ही पत्नी के भाग्य का मालिक बना उसके साथ खेलवाड़ करता है। जमना और हल्ली का भाग्य-रूपी आकाश तिमिराच्छन्न हो उठता है। इस दुर्भाग्य का सृजन मात्र महाजनी प्रथा, शोषण प्रणाली, असामान्य आर्थिक व्यवस्था के कारण होता है। न जाने इस पीड़ा-जन्य रोग से भारत के कितने करोड़ लोग शिकार हुए और हाल-हाल तक होते रहते हैं। यही शोषण-प्रथा जमुना और वृन्दावन को पुनः मिलने भी नहीं देती क्योंकि दोनों के मिलने से शोषण का अवसर कम हो जाता, खेत, कुएँ हड़पने का अवसर नहीं रह जाता। इसी लिए चौधरी वृन्दावन का पत्र छिपाकर, उसे शंका के क्षोभ में डुबोकर अपना स्वार्थ साधता है, जमना को वृन्दावन के जीवित होने की सूचना से वंचित रख, वृन्दावन के

१. मालिक किसान जो अभी तक अपनी ही जमीन पर खेती करता था, अब बनियाँ-जमीन्दारों या साहूकारों का करीब-करीब दास किसान बन गया, जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी खराब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल हुए भूमिहीन मजदूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया।—जबाहर लाल नेहरू—“मेरी कहानी”—पृष्ठ-४१८।

मन में जमना के प्रति भ्रष्टाचार की भावना उत्पन्न कर दोनों के पवित्र प्रेम के बीच, दीवार बन, दोनों का जीवन सदा-सदा के लिए कालिख से भर देता है। जमना के मन में अपने पति के प्रति जो अगाध प्यार एवं विश्वास था, वृन्दावन के मन में अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति और ममत्व था—वह सब महाजनी सभ्यता की अग्नि में होलिकादहन की तरह छार हो जाता है। निःसन्देह सियाराम शरण गुप्त ने महाजनी सभ्यता का बड़ा ही मार्मिक, परन्तु आवेश से परे, चित्र 'नारी' में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि गुप्तजी ने उसके अभिशाप को ही चित्रित किया है, सामाजिक धरातल पर कोई ठोस निदान प्रस्तुत नहीं किया है और यह कुछ समाजवादी सिद्धान्त के आलोचकों को खटक सकता है।

ग्राम से सम्बद्ध कथानक पर आधारित 'गोद' उपन्यास में भी महाजनी सभ्यता उपस्थित है। उसमें इस सभ्यता के फलस्वरूप झूठी मर्यादा के मुखौटे का पर्दाफाश किया गया तथा उसकी निरर्थकता सिद्ध की गई है। वस्तुतः इसमें इस प्रकार का दूसरा आयाम, जो ऊपर से चमकदार, साफ दीख पड़ता है, परन्तु भीतर से भ्रष्ट और दलदलापूर्ण है। 'गोद' में इसी सभ्यता का बना वातावरण मर्यादा के मुखौटे में चमकदारपूर्ण बना दीखता है। परन्तु भीतरी खोखलापन इसमें छिप नहीं पाता है। गुप्त जी की पैनी दृष्टि सतह से हटकर गहराई में प्रवेश कर सत्य देखती है कि इसी सभ्यता के खोखलेपन में पार्वती छटपटाती है, परन्तु दिखावापूर्ण मर्यादा छोड़ना नहीं चाहती, शोभाराम इसी कारण अपनी आत्मा की आवाज किसी के सम्मुख स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने में अक्षम होता है। पार्वती किशोरी की पवित्रता पर विश्वास रखकर भी पति के सम्मुख एक शब्द भी बोलना अपराध समझती है। पति ही सब कुछ है, उसकी इच्छा और विश्वास ही सब कुछ है, इसी अंधविश्वास को लेकर वह मन में ताप और पीड़ा सहती, घुटती है, परन्तु कुछ बोल नहीं पाती है। दयाराम उसी पुरानी रूढ़िग्रस्त प्रथा का जीता-जागता प्रतीक है। शोभाराम हृदय से किशोरी के लिए ममत्व रखकर भी घिसी-पिटी प्रथा के संस्कार में डूबा रहा, कुछ बोलने में असमर्थ होता है। और इसका परिणाम भोगना पड़ता है किशोरी और उसकी माँ को। वे समाज से प्रताड़ित होती हैं, व्यथा का शिकार होती हैं, व्यंग्य से आहत होती हैं और यह सब होता है झूठी अफवाह के कारण। अतः लेखक ऐसी स्थिति में क्रान्ति का शंख फूंकता है। वह शोभाराम में नई चेतना की लहर उद्वेलित कर इस झूठे आवरण को खण्डित कर मुक्त साँस लेने की प्रेरणा देता है। परिस्थिति की सघनता में शोभाराम आत्मा की आवाज पर उठ खड़ा होता है और सारे लोकोपवाद को भ्रामक मानकर किशोरी से विवाह कर लेता है—अपने भाई की आज्ञा के बिना ही। तब उसके जीवन में नया आलोक आता है, वह नया अध्याय आरम्भ करता है और अन्ततोगत्वा उसके पुराने संस्कार के बड़े-भाई दयाराम भी उसे स्नेह से अपना लेते हैं। पार्वती के हृदय पर जमा हुआ पत्थर जैसे शोभाराम के प्रगतिशील कर्तव्य के स्पर्श से गलकर समाप्त हो जाता है और इस प्रकार एक नूतन परिप्रेक्ष्य सामने आता है। आदर्शवादी लेखक श्री सियारामशरण गुप्त को यह विश्वास है कि जब

१४६ : , भाषा

तक देश में नवयुवक वर्ग साहस से उठकर न्याय और औचित्य की दृष्टि रख रहियों का विरोध नहीं करेंगे तब तक देश का भविष्य अंधकार-मंडित रहेगा—नये विचारों और न्याय का प्रकर्षपूर्ण सूर्य दीख नहीं पड़ेगा। भारत में उस समय तक मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रचार हो रहा था। विवेकानन्द और गाँधी आदि इसी चेतना के प्रसारक थे। विवेकानन्द ने तो वेदान्त के आधार पर मानवतावाद का समर्थन करते हुए, ईश्वर को महान मानते हुए भी मानव को उसके समक्ष स्वीकार किया—“मैं ऐसे धर्म तथा ईश्वर पर विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसु न पोंछ सके तथा अनाथ के लिए रोटी का टुकड़ा न दे सके।”^१

इसके साथ ही गुप्तजी ने महाजनों की मनमानी, भ्रष्टाचार (सूद में पैसा लेकर भी प्रामाणिक कागज नहीं देना, मालगुजारी रसीद नहीं देना आदि), कृषकों की आर्थिक परिस्थिति तथा अन्धविश्वास आदि का भी अंकन किया है। ‘गोद’ और उससे भी अधिक ‘नारी’ में ये प्रसंग अधिक सजीवता और स्पष्टता से उभर कर आए हैं। यह ज्ञातव्य है कि गुप्तजी के उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व के हैं, उनमें स्वतन्त्रता के पर्याप्त पूर्व की स्थिति का यथार्थ चित्रण है। ब्रिटिश सरकार की अपनायी हुई नीति से भारत का जो अहित हुआ उसका वास्तविक रूप ‘नारी’ में उपस्थित है। भारत के किसान महाजनों और जमींदारों की दोहरी मार से टूट गए। उनका दोहरा शोषण” जैसे उनके जीवन को चूस गया। ‘नारी’ में प्रकारान्तर से इसका स्पष्ट वर्णन है।

यह भी सत्य है कि भारत कृषि-प्रधान होने के कारण तथा कृषि-साधनों के समुन्नत नहीं होने के कारण प्राकृतिक शक्तियों पर आश्रित रहने के कारण भाग्यवादी बन गया था। डॉ० चण्डी प्रसाद जोशी का कथन सत्य ही है—“—प्राकृतिक प्रकोप से बचने का उपाय न होने के कारण सुरक्षित जीवन सम्भव न था। अतः प्रकृति से द्वार स्वीकार कर वह जीवन के प्रति उदासीन, निराशावादी तथा भाग्यवादी बन गया।” गुप्तजी के उपर्युक्त उपन्यासों का सृजन-काल वह काल था जब भारत परतन्त्र था। साथ ही औद्योगिक विकास नहीं हुआ था। आस्था और निष्ठा के विपरीत भाग्यवादी प्रवृत्ति मूलरूप से व्याप्त थी। “नारी” और “गोद” दोनों उपन्यासों में यह भाग्यवादी दृष्टिकोण प्रबल रूप में दिखाई पड़ता है। “नारी” की जमना में भाग्यवादी का आधिक्य देखते हैं। वह अपने दुख का कारण भाग्य को ही स्वीकार कर महाजनों तथा अन्य सभी के अत्याचारों को चुपचाप सहती है। जब उसका पुत्र हल्ली कभी भाग्यवादी दृष्टि का विरोध करता है तब उस क्षण भी जमना भाग्य की दुहाई देकर उसका मुख बन्द करना चाहती है। इसी प्रकार वृन्दावन तथा कुछ सीमा तक धजीत भी भाग्यवाद के प्रभाव को स्वीकार कर लेता है। “गोद” में पार्वती, शोभाराम, दयाराम, सभी भाग्यवादी रूप में दीख पड़ते हैं। पार्वती में तो इसकी पराकाष्ठा है। तभी वह सब दुख सहती है पर किंचित मात्र भी विरोध नहीं करती

1. Great Man of India—Edited by L. F. Roshbrook Page 506.

२. हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्री विवेचन, : ले० चण्डी प्रसाद जोशी, पृष्ठ-१८।

है। जैसे मनुष्य भाग्य का दास हो। भाग्य के सम्मुख मनुष्य नितान्त अशक्त और दुर्बल है। परन्तु गुप्तजी का लेखक इस विश्वास का समर्थक नहीं था। गुप्तजी मनुष्य के निराशा और भाग्यवाद की कुंठा में जर्जर होने के विपरीत कर्तव्य और उत्साह में जीवन का महती आनन्द स्वीकार करते हैं। वे जीवन का आलोक कर्तव्य-परायणता और क्रियात्मक बुद्धि में अनुभव करते हैं। इसीलिए तो अन्त में शोभाराम भाग्यवाद के विपरीत कर्तव्य से संचालित होकर एक नया आदर्श उपस्थित करते हैं। मानवता को एक नया मार्ग देते हैं। शोभाराम का भाग्यवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जेहाद से ही कथानक में स्वस्थ वातावरण अवतरित हो पाता है, किशोरी, शोभाराम, पार्वती आदि के जीवन में आशा की किरणें फूटती हैं। यही तत्त्व “नारी” में भी ध्यातव्य है। “नारी” की जमना में भी भाग्यवादी के कारण पीड़ा का स्रोत फूटता रहता है, परन्तु हल्ली और जमना में भी कर्तव्य का नया आलोक आता है तो वे कुंठा त्याग आदर्श और नवीन दिशा के लिए निर्माण करते हैं। उनका जीवन नयी दिशा में उन्मुख हो जाता है। अतः भाग्यवाद के भरोसे कर्तव्यहीनता को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति गुप्तजी की हतियों में कदापि नहीं है।

गुप्तजी के उपन्यासों में नारी-मर्यादा का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। अंग्रेजों के शासन-काल में नारी-समाज को घर और पर्दे के अतिरिक्त कहीं स्थान नहीं था। पितृ कुल की सेवा तथा विवाहोपरान्त पतिगृह में ससुराल वालों की सेवा ही उनका मुख्य आदर्श बन गया था। वे मर्यादा की गहरी सीमा में आवद्ध हो गई थीं। इतनी मर्यादा के बावजूद अगर एक दिन भी किसी अज्ञात स्थान पर रह जाती या चली जाती (किसी मजदूरी के ही कारण) तो उनकी सारी मर्यादा और पवित्रता समाप्त मान ली जाती और इसके परिणाम स्वरूप उन्हें दारुण से दारुण कष्टों को झेलना पड़ता। नारी जैसे एक निर्जीव पात्र थी जिसका जीवन मात्र पुरुष के उपयोग के लिए बन गया था।^१ किशोरी मेले में भटक कर एक रात स्वयंसेवकों के कैम्प में रहती है और इसके फलस्वरूप उसे अगाध पीड़ा सहनी पड़ती है। शोभाराम से तप की हुई शादी भंग हो जाती है। उसे अनमेल विवाह के लिए भी तैयार होना पड़ता है। एक अनजान भूल के लिए मानों जैसे उसका जीवन कांटों की शय्या बन जाता है। अगर शोभाराम की आँखें नहीं खुलतीं और वह साहस से उसे नहीं अपनाता, उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता तब निश्चय ही किशोरी सदा-सदा के लिए नरक की अग्नि में तड़पती रहती, उसकी माँ दारुण व्यथा में जलती रहती, किशोरी को अनमेल विवाह के अभिशाप से ग्रस्त रहना पड़ता, एक भ्रष्ट पुरुष की पत्नी बनकर मानसिक यातना सहनी पड़ती। गुप्तजी ने समाज में प्रचलित नारी के सम्बन्ध में ऐसे रूढ़ विश्वास का विरोध किया और समाज की आँखों में उँगलियाँ डालकर सोचने-समझने को विवश किया है। “गोद” में लेखक ने इस तथ्य को कुशलता और मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। “नारी” में भी नारी की मर्यादा और शील की समस्या है। जमना अपने पति के अनजान देश में चले जाने के बाद कई

१. महादेवी कृत “स्मृति की शृंखला”, और “अतीत के चलचित्र” देखें।

वर्षों तक उसके आने की प्रतीक्षा करती है, किसी दूसरे पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध करने से मुकरती रहती है। अकेले छोटे पुत्र को लेकर कठिन यातना की अग्नि में जलती रहती है, परन्तु पुनर्विवाह की कल्पना तक नहीं करती। उसका छोटा पुत्र हल्ले अपने सामाजिक संस्कार के कारण अजीत के प्रति उसका झुकाव देख, पुनर्विवाह का विरोध करता है। लेकिन झूठी कल्पना से, यथार्थ से पलायन से मनुष्य कब मुसीबत से निवृत्त हो सकता है। अजीत से प्रभावित होकर तथा शीतल छाया के लिए जमना का अजीत से पुनर्सम्बन्ध को औचित्यपूर्ण ठहराकर लेखक ने पुनर्लंगन को, प्रेम विवाह को उपयुक्त ठहराया है। सुखी जीवन पुरुष-नारी के सार्थक सम्बन्ध पर ही निर्भर करता है। पुरुष नारी के परस्पर विश्वास और सहयोग से जीवन का चक्र सहज ढंग से चलता है, आन्तरिक सुख उपलब्ध होता है। जमना अपने पति वृन्दावन के आचरण से धुन हो कर जब अजीत के प्रेमपूर्ण व्यवहार, सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अपनत्व स्थापित कर लेता है तब उसके जीवन में सर्वथा नवीन अध्याय आरम्भ होता है। स्पष्टतः गुप्तजी पति-पत्नी के विश्वासपूर्ण, सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण स्वीकार कर उस प्रतिष्ठा को औचित्यपूर्ण माना है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द और गुप्तजी में साम्य है। प्रेमचन्द ने भी नारी मर्यादा को स्वीकार किया है। परन्तु जहाँ प्रेमचन्द के नारी-वाद विद्रोह कर बैठते हैं, उदाहरणार्थ “प्रतिज्ञा” की सुमित्रा, “सेवासदन” की सुमित्रा, “निर्मला” की सुधा, “रंगभूमि” की इन्दु, वहाँ गुप्त की नारियाँ उस तीव्रता से ग्रहण नहीं करतीं, यद्यपि वे मर्यादित ढंग से उठ खड़ी होती हैं तथापि उनमें संकोच है, नियंत्रण है।

प्रसंगवश गुप्तजी ने दहेज प्रथा और अनमेल विवाह का भी विरोध किया है। अनमेल विवाह का प्रसंग “गोद” में है जब दयाराम और शोभाराम से निराश होकर कौशल्या अपनी पुत्री का अनमेल विवाह करने को बाध्य होती है। उस क्षण मातृ-विकल हो फूट पड़ता है। वह इसे स्वीकार करना नहीं चाहकर भी दहेज प्रथा के कारण, अपनी गरीबी से लाचार होकर, अपनी पुत्री किशोरी का गंजेड़ी वर से विवाह रचाने को तैयार होती है। उस समय उसके सम्मुख दूसरा कोई विकल्प नहीं रह जाता था। इस प्रसंग के अंकन के सन्दर्भ में गुप्तजी ने उपर्युक्त दोनों तत्वों को अनुचित ठहराया है, दहेज तो समाज में ऐसा कोढ़ है जिससे न जाने कितने निरीहों का सर्वनाश होता है। अनमेल विवाह की चक्की में आजतक न जाने कितने प्राणों का शोषण हुआ है। परन्तु भाग्य के चक्र से गुप्तजी की किशोरी इन दोनों अभिशापों से बच जाती है और शोभाराम से उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है। प्रेमचन्द ने दहेज प्रथा का भी उग्रता से चित्रित किया है। “सेवा सदन” में दहेज-प्रथा के अभिशाप से ही वेदना समस्या उत्पन्न होती है। इसी प्रकार “निर्मला” उपन्यास में दहेज-प्रथा के ही अनमेल विवाह सम्पन्न होता है जिसके दुष्परिणाम स्वरूप निर्मला की मृत्यु होती है। “निर्मला” में निर्मला के मुख से निकले इन शब्दों में अनमेल विवाह के दार्शनिक अभिव्यक्ति है—“बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ। अगर जीती

१. “प्रतिज्ञा” में सुमित्रा और सुमन को देखें।

रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा—चाहे क्वारी रखियेगा, मैं जल्दी ही विप देकर मार डालिएगा, पर कुपाय के गले न मड़िएगा, इतनी ही आपसे हल्ले मार है।”^१

अन्त में कहा जा सकता है कि गुप्तजी में किसी राजनैतिक और विशिष्टवाद अधिक मानवतावादी विचार-धारा के प्रतिष्ठापन की चेष्टा है। लेखक ने अपने आलोचकों को किसी भी राजनीति से रंगने की बजाय मानवतावादी उदार चेतना को प्रेरित करने की चेष्टा की है। “गोद” में शोभाराम और किशोरी का विवाह तथा उसका अपने घर लौटने और स्नेह पाने में, “नारी” में जमना का नवीन अध्याय में प्रवेश ने इसी उदार मानवतावादी चेतना का हाथ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
डॉ० कदारनाथ वर्मा

डॉ० रामकुमार वर्मा

अने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कविताएँ लिखी हैं वे उन क्षणों से लिखी हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है—ऐसे जीवन की जो अत्यन्त विचित्र क्षण से उत्पन्न हुआ है।”^२ अपनी काव्य-प्रक्रिया संदर्भ में कहे गए डॉ० रामकुमार वर्मा के उक्त कथन में वैज्ञानिक मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ : “और जो अत्यन्त पवित्र क्षणों की रेखाओं के ताने-बाने से मेरे (डॉ० रामकुमार वर्मा) व्यक्तित्व की झीनी-झीनी चादर भी बीनी गई है।”

डॉ० वर्मा के अध्ययन का परिवेश बड़ा ही व्यापक है। वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, फ़ारसी, मराठी और रूसी आदि भाषाओं के आचार्य हैं। छन्द शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण, इतिहास, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर उनका आधिपत्य है। सुतरां, उनके साहित्य में सर्वत्र इनका कलात्मक दर्शन उपलब्ध होता है। उनकी भाग्यवादिता के मूल में, मेरे जानते, ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन एवं उसमें विशेष अभिरुचि भी एक महत्वपूर्ण कारण है। यदा-कदा वे स्वयं भी अपनी कुंडली देखते रहते हैं तथा ज्योतिषाचार्यों द्वारा व्यक्त भविष्य-वाक्य में आस्था भी प्रदर्शित करते हैं। उन्हें एक ज्योतिषी ने पहले ही बता दिया था कि उन्हें पद्मभूषण की उपाधि प्राप्त होने का योग है।

डॉ० वर्मा का जन्म भारतवर्ष के हृदयस्थल—मध्यप्रदेश—के सागर जिले में, नवम्बर, सन् १९०५ ई० में हुआ। अपने समय की विशिष्ट कवयित्री, अपनी माता श्रीमती राजरानी देवी की स्नेहिल छाँह में जीवन की प्रारम्भिक शिक्षा मिली। बचपन में ‘कुमार’ नाम से सम्बोधित डॉ० वर्मा अपनी कक्षाओं में, सदैव प्रथम आते

“निर्मला”,—पृष्ठ-१८६।

आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा : मेरा दृष्टिकोण : पृष्ठ—३।

यह पुस्तक वितरित न की जाय

NOT TO BE ISSUED

१५० :

रहे। एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की। ईश्वर के प्रति आस्था शैशव काल में ही, पारिवारिक परिवेश के कारण जगी। महीनों उन्होंने पूरी एकाग्रता एवं तन्मयता से शिवार्चन किया था और साधना-समाप्ति की रात्रि में शिव ने स्वप्न में उन्हें अपना दिव्य दर्शन भी दिया था। गंगा, गरल और गेहूँ (सर्प) से तीन बार उन्होंने शिव ने उनकी रक्षा करते हुए अपने उस वचन का निर्वाह किया जो वरदान स्वरूप उन्हें दिया था—‘मैं मृत्यु से बचा तो नहीं सकता पर मृत्यु को टाल अवश्य सकता हूँ।’ महाकाल ने डॉ० वर्मा को तीन-तीन बार अकाल-कालित होने से बचाया है।

डॉ० वर्मा जीवन के आरंभिक दिनों में कभी अभिनेता होना चाहते थे, कभी राज नेता। किन्तु उन्हें होना था साहित्य-नेता। सो द्विवेदी कालीन अनेक नाटकों में अभिनय कर तथा १९२२ ई० के असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर भी वे साहित्य लोक का एक देदीप्यमान आलोक-स्तम्भ बन गए। द्विवेदी-युग के आकाश में प्रत्यूष की पीयूषवर्षा विभा लेकर आने वाले ‘कुमार’ छायावादी काव्य-गगन के ज्योतिर्मय नक्षत्र बन गए।

अध्यापन-वृत्ति आलोचना-प्रधान होती है। कालान्तर में अध्यापक प्रवृत्ति से भी आलोचक हो जाता है। किन्तु डॉ० वर्मा अध्यापक होते हुए भी शुष्क आलोचक मात्र नहीं रहे। दसवीं कक्षा में ही उनके अंतःकरण में काव्य की जो सलिल फूटी वह सदानीरा की भाँति दिनानुदिन फैलती-फूलती ही चली गई। भावयित्री एवं कारयित्री प्रतिभा का ऐसा मणि-कांचन सुयोग विरले अध्यापक में ही पाया जाता है। वे कवि हैं, नाटककार हैं, समीक्षक हैं, साहित्येतिहासकार हैं, निबन्ध-लेखक हैं और कुशल एवं ललित वाग्मी। उनका हर रूप अपने आप में मनोहर एवं कालजयी है।

‘वीर हम्मीर’ (१९२२ ई०) डॉ० वर्मा का प्रथम काव्य-ग्रन्थ है। फिर ‘चित्तोड़ की चिता’ (१९२९ ई०), ‘अंजलि’ (१९३० ई०), ‘अभिशाप’ (१९३१ ई०), ‘निशीथ’ (१९३५ ई०), ‘चित्ररेखा’ (१९३६ ई०), ‘जौहर’ (१९४१ ई०), ‘आकाश गंगा’ (१९५७ ई०) आदि काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ‘एकलव्य’ महाकाव्य का प्रणयन उनकी निरंतर काव्य-साधना का जीवंत परिचय देते हैं।

अपने कवि-रूप में डॉ० वर्मा मुख्यतः एक सफल सौम्य गीतकार हैं। उनके गीतों में विद्यापति की तलस्पर्शी सुकुमार-सरसता, कबीर की रहस्यमूलक अनुभूत्यात्मकता, सूर का लालित्य एवं संगीत प्रवणता तथा मीरा की कारणिकता का विलक्षण संयोग है। यही कारण है कि इनके गीत हमारे प्राणों का स्पर्श कर उन्हें मात्र झंकृत ही नहीं करते वरन् अलौकिकता की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर उन्हें दिव्यानुभूति भी प्रदान करते हैं।

डॉ० वर्मा की कविताएँ मुख्यतः रहस्यपरक हैं। कबीर के रहस्यमूलक पदों से वे प्रचुर रूप में प्रभावित हैं। सूफियों का भी उन पर प्रभाव है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि वे अनुभूति के क्षेत्र में भी उनके ऋणी हैं। यह तो उनकी आत्मोपलब्धि

डॉ० रामकुमार वर्मा : १५१

है। आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता, आराध्य के प्रति ऐक्य-भाव तथा आत्मा और आराध्य में दाम्पत्य-मूलक निश्चल प्रेम की विकसनशीलता—रहस्य-वादी कविता के ये तीन प्रधान तत्व होते हैं। डॉ० वर्मा की कविताओं में ये तीनों ही तत्व हार में तार की भाँति अनुस्यूत हैं। उनकी स्वीयोक्ति है—‘रहस्यवाद की कविता इन तीनों तत्वों को लेकर एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है। यह आत्मा की सबसे विचित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण में यही रहस्यवाद रहा है और इसी मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।’^१ कवि को अपने परिवेश के प्रत्येक अवयव में अपने प्रियतम के दर्शन हो जाते हैं—

कौन कहता है कि तुम अज्ञात हो !

मैं तुम्हें पहिचान लूँगा, दिवस हो या रात हो !

(आकाश गंगा : पृष्ठ ४३)

अथवा

यह तुम्हारा हास आया।

इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?

(आधुनिक कवि : भाग ३ पृष्ठ ३४)

रहस्यवादिता के अतिरिक्त डॉ० वर्मा की कविताओं में नियतिवादिता-भाग्य-वादिता और निराशा के स्वर यदि एक ओर गूँजते दीख पड़ते हैं तो दूसरी ओर मानव के प्रति संवेदना, राष्ट्रीय चेतना, ऐतिहासिकता एवं जीवन की गत्यात्मकता तथा सक्रियता के स्वर भी स्फुट दीखते हैं। एक ओर उनका मानव की नश्वरता से उत्पन्न यह भाव है—

“क्या शरीर है ? शुष्क धूल का थोड़ा-सा छवि जाल।

उस छवि में ही छिपा हुआ है, वह भीषण कंकाल ॥”

(अभिशाप : पृ० ८)

अथवा

भाग्यवादिता की यह अनुगूँज है—

भाग्य की रेखा हमारी, है नदी के कूल-सी

गति रही अनुकूल तो लहरें उठीं प्रतिकूल-सी

और

भाग्य ने मुझको छला है !

दीप्ति घटती जा रही है, चन्द्र की जंसे कला है !

(आकाश गंगा : पृ० ५४ और ४६)

तो दूसरी ओर उनकी यह भी आकांक्षा है कि—

जीवन न दीन बने

विरह के क्षण में मिलन-सा चिर नवीन बने।

(वही : पृ० २२)

१. आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा : मेरा दृष्टिकोण : पृ० १४।

१५२ : आलोचना

नाद गीत का अनिवार्य तत्व है—‘न नादेन बिना गीत’ (संगीत रत्नाकर) । तदुपरान्त छन्द और लय का स्थान है । “यदि काव्य का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियों से अविच्छिन्न है तो नाद और उसके साथ छंद भी साहित्य की शैलियों के अन्तर्गत अपना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा ।”^१ डॉ० वर्मा काव्य-भूमि पर उसके भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य के समर्थक हैं । अतएव, भाव-क्षेत्र में जहाँ उन्होंने प्रकृति की विराट् सत्ता में ईश्वरीय शक्ति की अनुभूति, कल्पना वृत्ति और रहस्यमय सौन्दर्य का अवलम्बन ग्रहण किया है वहीं, शिल्प-क्षेत्र में नादात्मकता, वर्ण-लालित्य, छन्दोबद्धता, रूपकात्मकता एवं अलंकरणशीलता का भी मुक्त भाव से आश्रय लिया है । स्वभावतः उनके गीत असीम-से-असीम को जोड़ने वाली कौशेय-कड़ी हो गए हैं ।

‘एकलव्य’ डॉ० वर्मा का एकान्त महाकाव्य है । इसमें उनके चिंतन-अध्ययन की विशदता के साथ ही कल्पना की प्रखरता तथा शिल्प की सुघरता के अनुपम दर्शन होते हैं । यह महाकाव्य भारतीय महाकाव्य की पारंपरिक परिभाषा का स्पर्श करते हुए भी अनेक अर्थों में नवीन प्रतिमान प्रस्तुत करता है । इसका नायक उच्चकुल संभूत न होकर एक अंत्यज है । ममता सर्ग को छोड़कर शेष तेरह सर्गों में पन्द्रह वर्णों वाले अमित्राक्षर छन्द का इसमें प्रयोग हुआ है । सर्गान्त में छन्द परिवर्तन है । छन्दों में प्रवाह और स्फूर्ति सर्वत्र परिलक्षित होते हैं । गीतिमयता, नाटकीयता एवं मनोवैज्ञानिकता के संगम पर चरित्रोत्कर्ष का जो सूक्ष्म रूपायन इसमें हुआ है वह इसे हिन्दी महाकाव्यों में महार्घता प्रदान करता है । प्रकृति-चित्रण एवं मार्मिक प्रसंगों की पहचान तथा उनकी सम्यक् अभिव्यंजना-शक्ति कवि के वैशिष्ट्य हैं । एकलव्य-जननी की वेदना को जिस रागात्मकता से रंजित कर कवि ने वाणी दी है वह सहज ही चिन्ता-वर्जक हो गई है ।

डॉ० वर्मा स्वयं शिव-भक्त हैं और शैव दर्शन से अनुप्राणित । स्वभावतः एकलव्य का भव्य मंगलाचरण शिव-स्तव से होता है—

“वाणी दो हे नीलकण्ठ ! हे किरात-कामु की
गूँज उठे व्योम वन-प्रान्त गिरि कन्दरा
शब्द-वेध की अलक्ष्य लक्ष-लक्ष ध्वनि में
नृत्य करे काव्य और काव्य में वसुन्धरा ।”

(एकलव्य : स्तव १)

शिव के डमरू-नाद से चौदह सूत्रों का उद्भव हुआ है । ‘एकलव्य’ में, इसीसे चौदह सर्ग हैं । एकलव्य अपने को चौदह सूत्रों का अन्तिम वर्ण मानता है—

‘आप गुरु होंगे, शिष्य मैं हूँ चिर काल से
वाणी आपकी है शम्भु-डमरू-निनाद-सी
और मैं हूँ अन्त्यवर्ण सूत्र प्रत्याहार का ।’

प्रत्याहार के अन्तिम सूत्र ‘हल्’ की भाँति ही तो एकलव्य भी अन्त्यवर्ण का,

डॉ० रामकुमार वर्मा : १५३

ति तुच्छ एवं हीन प्राणी है। समाज में उसका स्थान कितना लघु है, कितना उपेक्ष-
 य, यह प्रत्याहार के अन्तिम सूत्र से सहज ही स्फुट हो गया है। यहाँ गुरु-शिष्य का
 'काल से' सम्बन्ध भी ध्यातव्य है। जीव की त्रिकुटी (इसे कैलाश भी कहा जाता
) पर शिव अवस्थित रहते हैं। जीव और शिव का शाश्वत अद्वैत सम्बन्ध है। 'यत्र
 जीवस्तत्र तत्र शिवः।' शिव ही जीव के गुरु भी होते हैं क्योंकि उनकी कृपा से ही
 जीव को अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है। और प्रत्यभिज्ञा ही शिवोपलब्धि अथच
 त्त है। तुलसी ने इसी से शिव को अपना गुरु माना है।¹ स्वभावतः—

“गुण द्रोण चौक उठे—यह शिष्य कैसा है
 है तो शूद्र, किन्तु जैसे निष्कलंक द्विज है
 बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है
 जैसे मणिरत्न है विशाल विषधर का।”

यहाँ भी कवि ने द्विज और विषधर जैसे श्लिष्ट शब्दों के माध्यम से जीव-शिव
 अद्वैत रूप की ओर संकेत किया है। द्विज ब्राह्मण ही नहीं बालेन्दु भी है जो शिव
 कलाट पर शाश्वत शोभित रहता है तथा विषधर सर्प ही नहीं जो शिव का ग्रीव-
 र है वरन् स्वयं शिव (गरल ग्रीव) भी है। जीव और शिव की अद्वयता जिस
 आत्मकता से कवि ने यहाँ प्रतिष्ठित की है वह तो द्रष्टव्य है ही साथ ही इसके
 प्रथम से उसने एकलव्य के प्रति अपनी संवेदना उंडेलकर उसे सामान्य मानव की
 त्त में प्रतिष्ठित कर दिया है। दर्शन की दृष्टि-कोर को कला के काजल से आँज-
 र प्रस्तुत करने के कारण ही एकलव्य की रसवन्ता में कहीं व्याघात नहीं उत्पन्न
 ता।

भाषा की अभिनव-भंगिमाओं, शब्दों के लालित्य, अर्थ-गौरव, रस-प्रवणता,
 यना-प्राचुर्य एवं विलक्षण उपमान-उत्प्रेक्षा की योजनाओं के कारण एकलव्य का
 व्य-शिल्प हिन्दी के प्रायः सभी आधुनिक महाकाव्यों के अनुगत सिद्ध कर देता है।
 र्हे एकलव्य की उपमान-योजना में कवि के पाण्डित्य-प्रदर्शन की गन्ध मिलती है वे
 मवतः तीव्र घ्राण-शक्ति को ही काव्य-बोध का प्रमाण मानते हैं, न कि उस संस्कार
 जो अनुभूति, संवेदना एवं अध्ययन-आवेष्टन से निर्मित होता है।

डॉ० रामकुमार वर्मा के कवि व्यक्तित्व से उनका नाटककार रूप कम आकर्षक
 हैं। सच तो यह है कि उनके दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक हैं जो सम्मिलित रूप
 उनके व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करते हैं। उनके काव्य में नाटकीय शिल्प का
 योग हुआ है तो उनके नाटकों में उनका कवि-रूप भी उतना ही मुखरित हुआ है।
 खपि उन्होंने 'विजय-पर्व', 'कला और कृपाण' तथा 'नाना फड़नवीस' आदि अनेकांकी
 सांस्कृतिक-ऐतिहासिक नाटकों का भी प्रणयन किया है तथापि वे मुख्यतः हिन्दी एकांकी
 का के जनक एवं पोषक-रूप में अमर रहेंगे। हिन्दी में एकांकी नाटकों को जो
 विस्तार, प्रियता एवं कलात्मकता उन्होंने प्रदान की है वह किसी अन्य ने नहीं।

गुरु पितु मातु महेस बवानी। प्रनवउँ दीनबन्धु दिन दानी ॥

(मानस, बालकांड, १५)

१५४ : आलोचना

उनके एकांकियों की संख्या शताधिक हैं। 'बादल की मृत्यु' (१९३० ई०) उनका प्रथम एकांकी है। यह विश्वमित्र में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर 'दस मिनट', 'नहीं का रहस्य', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'चम्पक' और 'एक्ट्रेस' आदि एकांकी क्रमशः प्रकाशित हुए। डॉ० वर्मा के एकांकी अनेक कोटियों में विभाज्य है। 'एक्ट्रेस' और 'रजनी की रात' सोद्देश्य एकांकी हैं तो 'नहीं का रहस्य', 'एक तोले अफ्रीम की कीमत' और 'जीवन का प्रश्न' समस्यामूलक एकांकी हैं। 'बादल की मृत्यु' में हास्य-व्यंग्य का प्राधान्य है तो 'चारुमित्रा' और 'दस मिनट' में जनपदीय भावों की अभिव्यंजना है। 'प्रतिशोध', 'भरत का भाग्य' और 'शैल शिखर' पौराणिक एकांकी हैं तो 'पृथ्वीराज की आँखें', 'शिवाजी' और 'दीपदान' यात्राधिक भाव-शिला पर निर्मित हैं। डॉ० वर्मा के सद्यः प्रकाशित एकांकी-संग्रह 'मयूर पंख' में इक्कीस बहुरंगी एकांकी हैं जो पौराणिक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कोटियों में विभक्त हैं।

डॉ० वर्मा के एकांकियों में उन प्रभावों का परिदर्शन होता है जो उन्होंने भारतीय नाटककारों के अतिरिक्त शाँ, इव्सन, मैटरलिक और चेखव आदि से ग्रहण किये हैं। उनमें पौरस्त्य एवं प्रतीच्य नाट्य शिल्पों का समन्वय है। वे अपने एकांकियों में संकलन त्रय की सफल संयोजना के साथ ही एक ही दृश्य में वातावरण को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देते हैं जो उनके एकांकी-शिल्प के वैशिष्ट्य हैं। मानव मनो-विज्ञान का विश्लेषण कथोपकथन की चारुता एवं घटनाओं के विकास के साथ करते में डॉ० वर्मा सिद्ध हैं। अपने एकांकियों में, चाहे वे पौराणिक हों या ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक हों या सामाजिक "वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्मसंयम एवं क्षुद्रता से महानता का अन्वेषण करते में समर्थ हुए हैं—और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है।"^१ वस्तु संगठन एवं शिल्प-सौष्ठव के औत्कृष्ट्य के कारण ही डॉ० वर्मा महाकवि भास की समकक्षता प्राप्त करते हैं।

डॉ० वर्मा का समीक्षक एवं निबंधकार रूप भी कम उदात्त एवं उर्जस्वी नहीं है। हिन्दी के साहित्येतिहासों में उनका 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८ ई०) एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसमें आदिकाल से भक्तिकाल तक की हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का विशद एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यह न तो मात्र कवियों का परिचय प्रस्तुत करता है न किसी काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियों का संकेत और न ही कुछ कवियों की ग्रन्थावलियों का मात्र उल्लेख करता है प्रत्युत इन सबकी तटस्थ एवं समग्ररूप से आलोचना भी प्रस्तुत करता है। "सामाजिक तथा धार्मिक शक्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के आदि युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है।"^२ इसी ग्रन्थ पर डॉ० वर्मा को नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९४० ई० में डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की थी।

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४७३।

२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४७३।

डॉ० रामकुमार वर्मा : १५५

डॉ० वर्मा ने कवीर के पदों का प्रथम शुद्ध पाठ प्रस्तुत कर उनके रहस्यवाद एवं योगाचार की मार्मिक एवं चिन्तनपूर्ण व्याख्या भी की है। इस दृष्टि से 'कवीर का रहस्यवाद' उनकी महत्तम कृति है। 'साहित्य शास्त्र' में काव्य, कला एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर उनके विचारोत्तेजक एवं वस्तुनिष्ठ निबंधों का संकलन है। उनके निबंधों में विचारों की उदात्तता, अध्ययनशीलता, अन्तर्दृष्टि की गहनता एवं वस्तुनिष्ठता के साथ भाषा का लालित्य, काव्यमय लयात्मकता, विवक्षित एवं चित्रधर्मिता अर्द्धनारीश्वर की भाँति विजडित हैं।

डॉ० वर्मा एक कुशल एवं सफल प्राध्यापक हैं। उन्होंने अपने अधीन वीसियों छात्रों का, भाषा एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर, बोध-निर्देशन किया है तथा अनेक ग्रन्थों का सम्पादन-संशोधन कर उनकी गवेषणात्मक भूमिकाएँ लिखी हैं। वे आज भी साहित्य-साधना में रत हैं। 'नाना फड़नवीस' एवं 'मयूरपंख' उनके हाल के नाट्यग्रन्थ हैं। राष्ट्रीय सीमा पर हुए चीन एवं पाकिस्तान के अवाचित बरबर आक्रमण की प्रतिक्रिया उनकी हाल की कविताओं में स्फुट हुई है जिनमें प्रखर राष्ट्रीय चेतना, इतिहास-प्रियता एवं कल्पनाशीलता के सहज दर्शन होते हैं। सामान्यतया सामयिक या ऐतिहासिक महत्त्व की कविताओं में कलात्मकता या काव्यसौन्दर्य का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाता किन्तु इस दृष्टि से भी उनकी कविताएँ महनीय एवं स्तुत्य हैं। अवतुवर १९६५ ई० के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित 'जय जवान' उनकी ऐसी ही कविता है जिसमें अतीत और वर्तमान कला के क्षितिज मिलते हैं। सामयिक कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य कविताओं में आज भी पूजा की पवित्रता रूपायित हो जाती है। वे इसे स्वीकारते हुए कहते हैं—“अपने काव्य-जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है।”^१ हिन्दी-जगत् को डॉ० वर्मा से अपने विकास एवं विवर्धन की अनन्त सम्भावनाएँ हैं—यह असंदिग्ध है।

नवल किशोर

इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक

: १ :

हिन्दी कथा-साहित्य के मनोविज्ञानाक्रान्त दौर में मनोविकारग्रस्त जितने विलक्षण पात्र श्री इलाचन्द्र जोशी ने सिरजे, उतने किसी अन्य उपन्यासकार ने नहीं। उन पर मनुष्य को स्वभावतः कुत्सित, कुटिल और पाशविक चित्रित करने का आरोप भी इसी कारण लगाया गया।^२ लेकिन जोशीजी ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को भी

१. आधुनिक कवि, राजकुमार वर्मा, मेरा दृष्टिकोण, पृ० ३।

२. विवेचना—आलोचना में आलोचना।

१५६ : आलोचना

अस्वीकार नहीं किया, और अपनी मनोवैज्ञानिक कला-दृष्टि का लक्ष्य व्यक्ति के 'समाजघाती' और 'ऐकान्तिक' 'अंह' पर 'निर्भय प्रहार' करना घोषित किया था। प्रगतिवाद के उस जमाने में अपनी इसी समाज-चिन्ता से प्रेरित होकर उन्होंने मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के समन्वय की चेष्टा की, लेकिन यह समन्वय-चेष्टा कलात्मक विफलता का कारण बन गई; क्योंकि जहाँ 'अज्ञात चेतना के पाताल-लोक में स्थित अतल नरक' का विश्लेषण उनकी सृजन-चेतना का अंग होने के कारण उनके वैशिष्ट्य को प्रकट करता था [जोशीजी ने स्वयं नवीन लेखकों को परामर्श देते हुए लिखा है, "केवल वे ही बातें पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती हैं, जो कठोर जीवन के वास्तविक अनुभवों की चोटों के फलस्वरूप दीर्घ-साधना द्वारा लेखक के अन्तर से व्यक्त हुई हों"] वहाँ उनका 'सामाजिक क्रान्तिवाद' एक आरोपित मूल्य ही रहकर दिवास्वप्न के संसार की सृष्टि कराता है। इसी कारण जहाँ उपन्यासकार का मुख्य संकल्प 'प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक अस्त्र से अपने नायक के अन्तर्मन में दबी पड़ी सभी विकृतियों को अत्यन्त निर्ममता से चीरकर उसका यथार्थ रूप, दिखाना है वह 'प्रेत और छाया' जैसी विशिष्ट कृति दे सका है और जहाँ उसने अन्तर्जीवन की प्रगति के साथ बहिर्जीवन की प्रगति के सामंजस्य-निरूपण के लिए रचना की है 'जिप्सी'-जैसी निष्कृष्ट औपन्यासिक पुस्तक लिखी है। अन्तिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'जहाज का पंछी', (प्रका० १९५५ ई०) की सृजन-प्रेरणा स्वातन्त्र्योत्तर भारत की वास्तविक जीवन-स्थितियों का चित्रण है, उसमें जोशीजी ने "मनुष्य की कठिनाइयों और मुसीबतों का मूलकारण उनके अन्तर्मन की गुत्थियों में न खोजकर समाज-व्यवस्था और प्रचलित मानव-सम्बन्धों में खोजा है जिनका आधार व्यक्तिगत अर्थ संचय और शोषण है",^३ अतः 'जहाज का पंछी' एक श्रेष्ठ उपन्यास बन सका है—किन्तु एक सीमा तक ही, क्योंकि लेखक के 'सामाजिक आदर्शवाद' ने आरोपित और स्वप्निल समाधानों द्वारा यथार्थ-बोध को विसंगति दे दी है।

: २ :

जोशीजी के पहले के विचारों के अनुसार फ्रायड का मनोविश्लेषण 'मानव-मन के सघन अन्धकारमय अन्तर्लोक में प्रकाश डालकर बाह्य-जगत् के साथ उसकी संगति का स्वास्थ्यकर उपाय हमें सुझाता है,' लेकिन आज वे फ्रायडवाद के घोर निन्दक हैं [उन्होंने फ्रायड को 'मानव विद्वेषी आचार्य' और मनुष्य की जय-यात्रा के बीच-बीच आने वाले अन्धकार के घोर निराशापूर्ण युगों की शृंखला में आगत एक ह्रासोन्मुख युग के 'फ़ाल्स प्रॉफ़ेट' (नकली भविष्य-दर्शक) की संज्ञा दी है।]^४ इसी प्रकार पहले उनकी दृष्टि में "बाह्य और अन्तः स्थित सभी प्रकार के जीवन-चक्रों

१. विवेचना—आधुनिक कथा-साहित्य का क्रम-विकास और नयी दिशा।

२. विवेचना—नवीन लेखकों के प्रति निवेदन।

३. आस्था और सौन्दर्य : डॉ० रामविलास शर्मा।

४. धर्मयुग—३१ मई ६४, ३० अगस्त ६४, २० फरवरी ६६।

इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक : १५७

की मूल परिचालिका शक्ति विश्वमानव की वह सामूहिक अज्ञात चेतना है" जो अति-प्राचीन पाशविक-वृत्तियों का कोप है [अतः उन्होंने मानव-जगत् में आपेक्षिक स्वर्ग की स्थापना हेतु 'बाह्य जीवन तत्वों के साथ उन नारकीय (किन्तु मूल) जीवन तत्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित' करना आवश्यक माना था], लेकिन आज वे मानवीय अवचेतना के गहन रहस्यमय विशाल सागर की गहराई में छिपे रत्नों की बात करते हैं (... अब चेतना के घोर अन्धकार-पूर्ण तत्वों को उसी के उज्ज्वल और चिर मांगलिक तत्वों के प्रकाश में परखने वाली एक नई और स्वस्थ मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय भी हम पा रहे हैं।)^१ इस प्रकार जोशीजी की मनोवैज्ञानिक नियतिवाद की धारणा का पर्यवसान अवचेतना की एक रहस्यवादी परिकल्पना में हुआ है। उनकी आज की दृष्टि से भी देखा जाय तो उनके उपन्यासों में अवचेतना के सागर के ऊपरी स्तरों में तैरते नाना प्रकार के भयावने मगरमच्छों का ही चित्रण हुआ है। उन पर फ्रायड की अपेक्षा एडलर का प्रभाव अधिक है। जैसा कि हम कह चुके हैं वे अपनी औपन्यासिक रचनाओं में मनोविकृतियों का चित्रण सामाजिक हित की दृष्टि से लेखन का आदर्श मानकर करते हैं। दुर्बल स्वभाव नायक के प्रति सहानुभूति की बूर्जुवा मानववादी और शरद्चन्द्र्रीय मान्यता के अस्वीकार करते हुए चरित्रहीन नायक की अवतारणा को उन्होंने 'प्रगतिशीलता की पहली शर्त' बतलाया है, लेकिन उसके लिए यह आवश्यक भी माना है कि "उपन्यासकार का उद्देश्य उस चरित्रहीनता को महिमान्वित करने का अथवा चरित्रहीनता को केवल चरित्रहीनता के लिए चित्रित अथवा विश्लेषित करने का नहीं बल्कि दुश्चरित्रता के दुष्ट कीटाणुओं के विश्लेषण और परख द्वारा उन्हें जड़ से नष्ट करने का हो।"^२ जोशीजी के इस रचनात्मक उद्देश्य की अभिज्ञता से हम यह स्वतः सिद्ध नहीं मान सकते कि उनकी कृतियों में वे अभाव नहीं हैं जो एक मनो-विज्ञानवादी लेखक की रचनाओं में मिलते हैं—उनमें वे अभाव तो हैं ही इसके अति-रिक्त मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के उस प्रयोगात्मक शिल्प का भी अभाव है जिसने उपन्यास को एक अपूर्व समृद्धि दी है।

मनोविज्ञानवादी लेखकों की परम्परा में जोशीजी ने संकल्पहीन मनुष्य का चित्रण किया है—ऐसा मनुष्य जो विकृतियों से अभिज्ञ होकर भी अपनी मनोग्रन्थियों से शासित निरुपाय व्यक्ति है। जोशीजी का मानव-चरित्र का अध्ययन आरम्भ से ही मनोविज्ञान शास्त्र पर एकान्त रूप से अवलम्बित नहीं है, उन्होंने अपनी दृष्टि का भी उपयोग किया है, अतः मात्र इडिप्स-ग्रन्थि, आत्म-रति, हीन-भाव आदि मनोवैज्ञानिक सूत्रों में उनके पात्रों को आबद्ध कर देखने से उनके कृतित्व को नहीं समझा जा सकता।^३ लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि उनकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से शासित रही है।^४ वे जिन पात्रों का निर्माण करते हैं वे वास्तविक जीवन से नहीं

१. धर्मयुग—२० फरवरी ६६।

२. विवेचना—आधुनिक उपन्यास का दृष्टिकोण।

३. धर्मयुग १५ दिसम्बर १९६३, धर्मयुग १३ जन १९६४ (दृष्टव्य : जोशीजी के स्वयं के विचार)।

४. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान (पृ० १६१-६२)।

१५८ : आलोचना

लिए गए हैं, वे मनोवैज्ञानिक लेखक की कल्पित 'केस-हिस्ट्रीज' हैं। 'घृणामयी' की लज्जा, 'संन्यासी' का नंदकिशोर, 'पदों की रानी' की निरंजना, 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'निर्वासित' की नीलिमा, 'मुक्तिपथ' की प्रमीला—ये सारे पात्र अपने ग्रन्थियों को लेकर जीते हैं। 'लज्जा' का राजू 'संन्यासी' की जयन्ती, 'पदों की रानी' की शीला, 'निर्वासित' का धीराज जान-बूझकर मृत्यु का वरण करते हैं—वे सब मृत्यु कामना से बाधित हैं। 'जिप्सी' में उन्होंने मनिया के रूप में एक ऐसा नारी-पात्र देना चाहा है जो आरम्भ में अन्य व्यक्तियों की दृढ़तर इच्छा-शक्ति की वशता में (हिप्नोटाइज्ड) रहती है लेकिन अन्त में अपने व्यवितत्व का निर्माण कर एक आदर्श समाज सेविका बन जाती है—इस तरह एक स्वतन्त्र औपन्यासिक पात्र न रहकर लेखक की आदर्शात्मक कल्पना को चरितार्थ करती है। 'जहाज का पंछी' में वे मनोवैज्ञानिक कथा-लेखन का संकल्प छोड़ देते हैं, फिर भी वहाँ अनावश्यक रूप में एक पागलखाने का प्रसंग लाये हैं, लेकिन पागलपन को अब वे सामाजिक सन्दर्भ में (पति द्वारा परित्यक्ता पागल-स्त्री, आर्थिक परेशानियों से टूटा विक्षिप्त व्यक्ति...) देखते हैं।

: ३ :

जोशीजी ने दुर्बल स्वभाव के व्यक्तियों को कथानायक बनाकर मनोग्रन्थियों से पीड़ित व्यक्ति-चरित्रों का निर्माण करते हुए मानवमन की गहराइयों के चित्रण की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास को सम्पन्नता दी थी। आलोचकों ने इसी कारण उन पर 'विकृत और विरूप प्राणियों' को ही अपनी कला-सृष्टि का विषय बनाने का लालच भी लगाया, जिसका खण्डन जोशीजी ने मानव-चरित्र के उन्नयन को अपना लक्ष्य बताकर किया। सम्भवतः इसी आलोचना की प्रतिक्रिया से और विशेषतः अपने बढ़ते हुए आदर्शवादी रुझान के कारण उन्होंने उत्तरोत्तर ऐसे कथा नायकों की सृष्टि की है जो 'वीर नायक' चाहे न कहे जा सकें, लेकिन किन्हीं आदर्शों के लिए समर्पित होने की महानता जिनमें अवश्य है। 'मुक्तिपथ' के राजीव और सुनंदा, 'सुबह के भूले' की गिरिजा, 'जिप्सी' की मनिया और 'जहाज का पंछी' का 'मैं' ऐसे ही आदर्शपात्र हैं, जिन्हें जोशीजी के प्रशंसक 'पोजिटिव-हीरो' की संज्ञा देंगे; लेकिन जो वस्तुतः लेखक की आदर्शात्मक परिकल्पनाओं को जीते हैं, जिन्दगी को जीते हुए व्यक्ति-पात्र नहीं हैं। 'मुक्तिपथ' और 'जिप्सी' में नई सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर्श प्रस्तुत करने वाले मुक्ति-निवेशों की स्थापना होती है और 'जहाज का पंछी' का उद्देश्य संप्रतिदास का आदर्श प्रस्तुत करना है। 'जहाज का पंछी' का 'मैं' सामाजिक विषमताओं का शिकार हतभाग्य अथवा संघर्षरत प्राणी नहीं है, लेखक अभावों की पीड़ा के सामान्य निदर्शन के लिए ही उसे अनेक स्थितियों में डाल देता है और अन्त में एक घनवान स्त्री से चामत्कारिक ढंग से उसका सम्बन्ध कराता है, जो उसकी प्रेरणा से अपनी सम्पत्ति को पीड़ितों की सेवा के लिए समर्पित कर देती है—इस तरह उपन्यास का नायक एक रोमाण्टिक कहानी का नायक रह जाता है और उसकी अभाव-भरी जिन्दगी एक वास्तविक मनुष्य की दुःखभरी कहानी का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

इलाचन्द्र जोशी 'शृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक : १५६

: ४ :

जोशीजी ने नारी को वास्तविक रूप से शोषित वर्ग माना है और उनके अनुसार दलित नारी के प्रति, केवल सहानुभूति अथवा काव्यात्मक करुणा की आवश्यकता अब इस युग में नहीं है, "उसमें आत्मविलासी पुरुष जाति के विरुद्ध विद्रोह के बीज बोकर उसे आत्म-स्वातन्त्र्य, आत्म-सम्मान और आत्म-अवलम्बन की श्रुति और व्यावहारिकता की शिक्षा देनी होगी।" वे पुरुष जाति के अहं पर प्रहार करने में सफल हुए हैं किन्तु नारी का विद्रोह उनके उपन्यासों में अमूर्त ही रहता है। किसी भी उपन्यास में वे जीवन्त विद्रोहिणी नारी की सृष्टि नहीं कर पाये हैं। 'प्रेत और छाया' की मंजरी उनकी दृष्टि में एक ऐसी विद्रोहिणी नारी है जो विपरीत परिस्थितियों पर विजय पाकर डॉक्टर की उच्च शिक्षा पाने की महत्वाकांक्षा को पूर्ण करती है, लेकिन क्या विपरीत परिस्थितियों से जूझती नारी के रूप में उन्होंने मंजरी का चित्रण किया है, क्या मंजरी की सफलताओं का इतिहास मात्र उल्लिखित ही नहीं रहता। 'निर्वासित' की भूमिका में निम्न मध्यवर्गीय क्रांति के फलस्वरूप भारतीय नारी के 'माता, वधू, कन्या कुछ भी न रहकर सहसा रणचण्डी 'भैरवी' बन जाने की बात कही गयी है, लेकिन उपन्यास में किसी 'भैरवी' का जीवन्त व्यक्तित्व नहीं मिलता—प्रतिमा सर्वथा पृष्ठभूमि में रहती है और शारदादेवी अपने भूतपूर्व प्रेमी और अनेक स्त्रियों को वंचित करने वाले व्यक्ति के प्रतिशोध-पूर्ण आचरण करती है। 'मुक्तिपथ' की विधवा सुनन्दा राजीव की प्रेरणा से घर की चहारदीवारी से निकलकर समाज-सेविका बन जाती है और बाहरी योजनाओं की सफलता में अन्तर्मन की उपेक्षा के विरोध-स्वरूप राजीव को छोड़कर चल देती है। 'जिप्सी' की मनिया अपने पति को छोड़ने के बाद पुनः प्रणय-छल (तेजाब से जले अपने चेहरे को प्लास्टिक-सर्जरी से अमरीका जा ठीक कराती है और लौटकर महामारी से पीड़ित लोगों की सेवा के प्रसंग में एक नर्स के रूप में कार्य करते हुए पति नृपेन्द्ररंजन को आर्कषित करती है—एक सस्ती फिल्मी रोमांटिक कहानी!) उसे संपत्ति-दान के लिए तैयार करती है। 'जहाज का पंछी' की लीला भी अपने प्रेमी की प्रेरणा से अपना सर्वस्व समाज के लिए अर्पित कर देती है। इस तरह हम देखते हैं कि उनके उपन्यासों में नारी के विद्रोह की चर्चा है, उस विद्रोह का किसी सशक्त पात्र के माध्यम से रूपायन नहीं हुआ है।

'वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी' जोशीजी की दृष्टि में "शरत्-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है।" लेकिन 'संन्यासी' के अतिरिक्त वे और किसी उपन्यास में अहंवादी पुरुष से संतापित नारी का सफल चित्रण नहीं कर पाए हैं। 'प्रेत और छाया' में पारसनाथ को ग्रन्थि-पीड़ित दिखाकर वे उसे अपने सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों को छलने के अपराध का उत्तरदायी नहीं रहने देते।

१. विवेचना—आधुनिक हिन्दी-साहित्य में मनोविज्ञान।

१६० : आलोचना

और जैसा कि कहा जा चुका है उनके उपन्यासों में नारी के विद्रोह का कथन चित्रण नहीं। इसका कारण यह है कि जोशीजी आभ्यन्तरिक जीवन के सफल कथाकार हैं, बाह्य-जीवन के नहीं। इसीलिए हम पाते हैं कि पुरुष की अहंमति के उद्घाटन में अपूर्व क्षमता का परिचय वे दे सके हैं, किन्तु नारी के विद्रोह की किसी वास्तविक कल्पना को निरूपित नहीं कर पाए हैं।

: ५ :

जोशीजी में कहानी कहने की बड़ी क्षमता है, लेकिन उपन्यासकार के रूप में उस क्षमता का उपयोग वे किस प्रकार कर पाये हैं, यह विचारणीय है। उनके उपन्यासों में मनोरंजक कथातत्व उपन्यास के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में आया है जबकि उनके समकालीन कथाकारों जैनेन्द्र और अज्ञेय की कृतियों में कथात्मक रोचकता को कोई मान नहीं मिला है। आज उपन्यास के कथात्मक मूल्य को तिरस्कृत किया जाता है, फिर भी जीवन के गहरे और विस्तृत अनुभव तथा बोध को कथारस सम्पन्न कृतियों ने शब्दायित करने वाले कथाकार विरल नहीं हैं। वस्तुतः कुछ लेखकों की रचनाओं में कथात्मकता कलात्मक सृजन की दृष्टि से गुणात्मक महत्त्व पा लेती है। जोशीजी की कहानी सुनाने की कला आकर्षित करती है, लेकिन उसमें सूक्ष्म कथात्मक गुण का अभाव विकर्षित भी करता है—उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' जैसे उनके प्रमुख उपन्यास में रचनात्मक कौशल एक कुतूहल-प्रधान कथानक का अपेक्षा रहा है—पारसनाथ का कल्पित और नाटकीय स्थितियों में मंजरी से सम्पर्क होता है, रहस्य-रोमांच की पद्धतियों पर नंदिनी से प्रणय-प्रसंग घटित होता है, संयोग से ही अपने पिता से उसका पुनर्मिलन होता है और वह अपनी माता के सतीत्व का विश्वास पा लेता है। इस प्रकार की औपन्यासिक सृष्टि के लिए लेखक की वह कलात्मक दृष्टि जिम्मेदार है, जो उपन्यास को अवचेतना के रहस्यों को चित्रित-विश्लेषित करने का माध्यम बनाकर भी उसे एक दिलचस्प रोमांचक कथा बनाए रखना चाहती है।

उनकी मनोविश्लेषण की पद्धति भी दोषपूर्ण है। लेखक पात्रों के मस्तिष्क का पाठकों के सामने खुला छोड़ने की प्रविधि को नहीं अपनाता है, स्वयं पात्रों के अन्तर्मन का लम्बा सैद्धान्तिक विश्लेषण करता है अथवा खुद पात्रों को यह काम सौंपता है।

स्थूल कथात्मकता (जो वस्तु में संयोग नाटकीयता और असामान्य स्थितियों की मार्ग करती है) के प्रति जोशीजी का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दृष्टिगत होता है: 'जहाज का पंछी' में संयोग तत्त्व की अरुचिकर बहुलता है (नायक हर स्थिति में संयोग से ही पहुँचता है, उस प्रक्रिया को एक निरुपाय व्यक्ति की विवशता का चित्रण नहीं माना जा सकता) और नाटकीय स्थितियों को निरन्तर उत्पन्न किया गया है ('अस्पताल में नायक का भाषण, अदालत का प्रसंग, मिस साइमन के यहाँ की घटनाएँ, भादुड़ी मोशाय के घर पर रसोइये के रूप में रवीन्द्र की महानता पर वक्तव्य...')। जीवन में संयोग और नाटकीयता का स्थान है, पर साहित्य में उसे उसी रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि वहाँ हमारा प्रयत्न जीवन को एक

इलाचन्द्र जोशी 'घृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक : १६१

बौद्धिक संगति में देखने का होता है—भले ही हम जीवन की अतीविक्रमता (इर्रेंशनेलिटी) के प्रति आश्वस्त हों। आधुनिक कथाकार के लिए यह आवश्यक है कि जीवन का कथ्य प्रस्तुत करने में वह अपने माध्यम की स्वाभाविकता को खंडित न करे। जोशीजी ऐसा नहीं कर पाए हैं। इसका कारण यह है कि वे पूर्ववर्ती कथा-परम्परा से इस तरह जुड़े हैं कि उन्होंने अपने माध्यम की अपर्याप्तता की चुनौती महसूस नहीं की। उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक-उपन्यास की विशिष्ट प्रविधियों (पूर्वदीप्ति, मुक्त-आसंग, मनः-संलाप, चेतना-प्रवाह आदि) के प्रयोग भी इसीलिए नहीं मिलते। उन्होंने न परम्परा से प्राप्त शिल्प का निजी संस्कार किया, न प्रचलित नये प्रयोगों के प्रति रुचि दिखाई और न अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई नई पद्धति आविष्कृत की। फलतः वे हिन्दी उपन्यास को शिल्पगत प्रौढता अथवा प्रयोगात्मक नवीनता की कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं दे पाए हैं।

: ६ :

'जहाज का पंछी' लेखक का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक मनुष्य के दुःख और पतन के लिए अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराता है—'करीम चाचा' के शब्दों में "अगर जमाने में इन्साफ़ होता, बेकारी न होती, भुखमरी न होती, इन्सानियत का कहीं नामोनिशान भी होता, तो आज इन्सान को इन्सान का गला काटने में इस कदर मजा क्यों आता।" स्वतन्त्रता के बाद भी हमारी आशा के विपरीत बेकारी, भुखमरी और अभाव बने रहे तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार (उपन्यास के भादुड़ी मोशाय के व्यक्तित्व द्वारा लेखक इस ओर संकेत करता है) की एक नयी विभीषिका सामने आई, फलतः एक मोह-भंग हुआ।^१ लेखक का एक मोह-भंग उपन्यास में दूसरे मोहावरण से जुड़ा है—इस उपन्यास की परिणति भी 'मुक्तिपथ' और 'जिप्सी' की आदर्शवादी परम्परा में होती है।

लेखक का सामाजिक आशय जीवन की वास्तविकता से सम्बद्ध होकर ही कलाकृति में गृहीत हो सकता है। सामाजिक वैषम्य के प्रति लेखक में जहाँ प्रश्न, व्याकुलता और संघर्ष है एक श्रेष्ठ कृति की सर्जना संभावित है, लेकिन जहाँ लेखक अपने समाधानों को कल्पना में घटित दिखाने लगता है, किसी महत्त्वपूर्ण रचना की आशा नहीं की जा सकती। 'जहाज का पंछी' के पूर्वार्द्ध में सामाजिक विषमताओं का प्रकटीकरण है, लेकिन उत्तरार्द्ध में लेखक की पकड़ से जीवन छूट जाता है और वह दिवास्वप्न की सृष्टि करने लगता है।

जिन उपन्यासों में समाज का एक बड़े पैमाने पर चित्रण अभिप्रेत होता है, वे सुलिखित उपन्यासों (वैल-मेड नोविल्स) की भाँति चुस्त-दुरुस्त रचना का उदाहरण

१. "आज जब हजारों वर्ष बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक विशेष मोड़ के कारण उसे (भारत को) स्वतन्त्रता मिली है, तब भी पिछले युगों की जड़ता के फलस्वरूप उसके भीतर पराक्रम का वह तेज प्रज्वलित नहीं हो पा रहा है, जो उसे आज के विश्व-व्यापी जीवन की विषमता के बीच में एक नयी, ठोस और सामंजस्यात्मक शक्ति के रूप में खड़ा कर सकता था और जन-जीवन में एक नयी चेतना ला सकता था।" (जहाज का पंछी)

१६२ : आलोचना

नहीं होते, वहाँ बिखराव एक व्यापकता का अंग बन जाता है। बिखरे खण्ड-प्रसंग एक बड़ी थीम से जुड़े होने के कारण समन्वित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। 'जहाज का पंछी' का लेखक भी समाज का एक व्यापक रूप दर्शाना चाहता है, लेकिन किसी बड़ी थीम के अभाव में उसका बिखराव कलात्मक त्रुटि बन गया है। जिन सामाजिक विषयों के बारे में लिखने का उसने संकल्प लिया है उन्हें मनुष्य के भाग्य की कहानी बनाकर नहीं प्रस्तुत कर सका है।

नायक की बेकारी और भुखमरी की पृष्ठभूमि पर लेखक 'फ्री-वर्ल्ड' (स्वतन्त्र-संसार)-सम्बन्धी उद्धोषणा के विषय में प्रभावशाली व्यंग्य कर सका है। करीम चाचा के साथ का प्रसंग उपन्यास का एक महत्वपूर्ण स्थल है, क्योंकि करीम चाचा की कहानी पुरानी पीढ़ी के लोगों की महत्तर-जीवन-मूल्यों में आस्था की कहानी है और सईद पहलवान के दल के परिचय द्वारा लेखक ने तथाकथित अभद्र और नीच वर्ग की मानवीयता को प्रकट किया है। देश-समाज के दुःखों का चित्रण सामान्य है। अनेक छोटे-छोटे मार्मिक प्रसंगों द्वारा ('...कुण्ठित आकांक्षाओं वाली बेला, दयनीय 'साहवी'-गर्व लिए कोयले की दूकान करने वाला विपन्न एंग्लो-इंडियन ब्राउन, मिस साइमन के हाथों यंत्रणा भोगती वेश्याएँ अमला-सुजाना-जुलेखा...') यह उपन्यास साधारण लोगों के दुःख-दर्द को सामने रखता है, लेकिन किसी एक बड़े प्रसंग से ये छोटे प्रसंग सम्बद्ध नहीं हो पाए हैं। नायक की कहानी साधारण आदमी की जीवन-कथा के रूप में कल्पित नहीं है, वह एक ऐसे प्रच्छन्न महामानव की गाथा है, जो अभागे लोगों के उद्धार की अपनी योजना को एक पूंजीपति महिला का प्रेम प्राप्त कर क्रियान्वित करता है।

'जहाज का पंछी' एक प्रतिभाशाली उपन्यासकार की आंशिक सफलता और आंशिक विफलता का अच्छा उदाहरण है।

: ७ :

'धृणामयी' से 'जहाज का पंछी' तक की जोशीजी की औपन्यासिक यात्रा एक असामान्य प्रतिभा-सम्पन्न लेखक की भटकी यात्रा ही कही जा सकती है। अपने मनो-वैज्ञानिक उपन्यासों में जोशीजी मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से बँधकर चले और 'सामाजिक कान्तिवाद' की ओर प्रवृत्ति होने पर सामाजिक न्याय के लिए मनुष्य के संघर्ष के स्थान पर वे अपने उपन्यासों में आदर्शों की एक अवास्तविक दुनिया रचने लगे।

एक उपन्यासकार के रूप में जोशीजी की सीमाओं की मैंने खुलकर चर्चा की है, लेकिन मैं इसे भी निर्विवाद रूप में स्वीकार करता हूँ कि श्री इलाचन्द्र जोशी का प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में शीर्षस्थ स्थान है। उनके उपन्यासों ने मानव-मन के रहस्यों के चित्रण की ओर हिन्दी उपन्यासों को दिशा दी। उन्होंने प्रचलित नैतिकता के 'टैबू' को तोड़ने में योग दिया। जोशीजी ने 'समाजघाती पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरूपण' करके 'नैतिक स्वास्थ्य के स्थापन' को अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य बनाया है, पुरुष की अहं-भावना के विरुद्ध नारी के विद्रोह को मान दिया है और सामाजिक वैषम्य को मनुष्य के दुखों का कारण बताया है, अतः वे एक मानवतावादी लेखक की सिद्ध होते हैं। उनका कला की सीमाएँ स्पष्ट हैं और साथ ही हिन्दी उपन्यास के इतिहास में उनका महत्त्व भी असंदिग्ध है।

डॉ० रामविलास शर्मा—कवि-आलोचक : १६३

श्री कृष्णविहारी मिश्र

डॉ० रामविलास शर्मा—कवि-आलोचक

रामविलास शर्मा एक समर्थ सुकवि और सुधी आलोचक हैं। वस्तुतः उनकी कविता और आलोचना एक ही उत्स से निकली दो धाराएँ हैं और दोनों के पीछे जो व्यक्तित्व उसमें संवेदनशीलता और सामाजिक सजगता का अद्भुत सन्तुलन है। उनकी आलोचना में विद्वत्ता, चिन्तनशीलता, सूक्ष्मदर्शिता और प्रत्युत्पन्नमितत्त्व आदि गुणों साथ-साथ समर्थ अभिव्यक्ति, व्यंग्य का पैनापन, सहज स्पष्टता तथा निर्भीकता के लक्षण होते हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनका आगमन ऐसा नहीं था जिसको नदेखा या उपेक्षित किया जा सके। यह कहना शायद अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि उनकी तीव्र ओजस्वी आलोचनाओं से एक समय वे समस्त हिन्दी-जगत पर छा से गये। लेखक आशंका और आतंक की भावना से उनकी सम्भावित रचनाओं की प्रतीक्षा कर रहे थे। बहुत समय तक वे यह नहीं समझ पाये कि डॉ० शर्मा की आलोचनाएँ एक-पक्षीय हैं और उनका रास्ता एकमात्र सही रास्ता नहीं है। यह कहना उनके व्यक्तित्व का मूल्य कम करना या उसे महत्त्वहीन सिद्ध करना नहीं है। हिन्दी जगत् में इस प्रकार का प्रभाव उनके पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं ने ही उत्पन्न किया था, जिनसे टक्कर लेने की हिम्मत छायावादियों में भी निरालाजी जैसे अक्खड़ की होती थी। परन्तु डॉ० रामविलास शर्मा के युग में तो वैसा कोई प्रतिद्वन्द्वी भी खड़ा नहीं आता।

डॉ० शर्मा को इस बात का श्रेय दिया जाएगा कि उन्होंने निश्चित विचार-संलग्नता का आधार लेकर हिन्दी के साहित्य-लेखन पर अपना निर्भीक और निष्पक्ष मत व्यक्त किया। जो उचित समझा वही कहा और जो उचित नहीं लगा उसकी अच्छी तरह खबर ली। उन्होंने जमकर और विस्तार से लिखा। छायावादी काल में आलोचना की जो एक शब्दाडम्बरपूर्ण, अस्पष्ट शैली विकसित हो रही थी, जिसमें भाषा का चाकचिक्य और वाग्विलास ही प्रमुख हो गये थे; शर्माजी ने उस सारे झाड़-झंखाड़ को साफ कर दो-टूक बात कहने वाली शैली अपनाई और जटिल-से-जटिल एवं गूढ़ होने जाने वाले सिद्धान्तों का सरलाता-पूर्वक विवेचन करने में सफलता प्राप्त की। बाद में आलोचकों ने उनकी समालोचनाओं को पूर्वाग्रह-पूर्ण कहा है। परन्तु कोई भी आलोचक स्वयं अपने विचारों या अपने दृष्टिकोण से निष्पक्ष नहीं हो सकता। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों में आलोचना को लेकर एक-विचित्र भ्रान्ति यह है कि समीक्षा साहित्यिक सृजन न होकर केवल मौलिक लेखन की व्याख्या मात्र है। डॉ० शर्मा को आलोचनाएँ इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त हैं क्योंकि उन्हें लेकर उनकी मौलिकता का पता तो लगता ही है। वह साहित्यिक स्फुरण भी होता है जो किसी जीवित और सशक्त रचना का अनिवार्य लक्षण है।

डॉ० रामविलास शर्मा का निष्कर्ष निम्नलिखित है—आलोचना के क्षेत्र में उनके

१६४ : आलोचना

साहित्यिक कृतित्व के रूप में अनेक आलोचनात्मक लेखों के संग्रह और एक काव्य-सकलन 'रूप-तरंग' है जिसकी कुछ कविताएँ 'तार सप्तक' के चयन में भी आई थीं। उनकी आलोचना में यथेष्ट विषय-वैविध्य और विस्तार है। उसमें कबीर, तुलसी आदि मध्ययुगीन सन्तों से लेकर प्रेमचन्द, निराला, रामचन्द्र शुक्ल आदि हिन्दी के आधुनिक महारथियों तथा कालिदास, शेक्सपियर, डॉ० जिवागो आदि पूर्व और पश्चिम के महत्वपूर्ण कृतिकारों एवं कृतियों का विश्लेषण अथवा सर्वेक्षण है। साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन भी उन्होंने गम्भीरता और सहजता से किया है। इस सबमें उनके अगाध पाण्डित्य और विचार प्रवणता का परिचय है। 'भारतेन्दु-युग', 'निराला' और 'प्रेमचन्द और उनका युग' १९४५ और १९५५ के दशक में लिखी गई प्रौढ़ता और सन्तुलन-क्षमता की दृष्टि से १९५५ से १९६५ के दशक में प्रकाशित 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' 'लोक-जीवन और साहित्य' तथा 'आस्था और सौन्दर्य' जैसी कृतियों को अधिक गम्भीर और सफल माना जायेगा। प्रारम्भ के कृतियों में यदि विचारों की ताजगी, दृष्टिकोण की स्वस्थता और नयेपन के साथ एक आवेश है, जो कभी-कभी अतिवाद को छू लेता है, तो बाद की रचनाओं में मर्यादा स्थापन की आतुरता का स्थान अपने सिद्धान्तों के सतर्क प्रवर्तन और सजग पोषण ने ले लिया है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह भी ज्ञात होगा कि लेखक ने अपनी पसंदीदा रचनाओं में स्वयं अपने अनेक मतों को परिमार्जित और संशोधित किया है।

'अवध के हृदय', वैसवाड़े के इस जिन्दादिल कवि ने वहाँ के प्राकृतिक ग्राम-परिवेश के जो मनोरम चित्र 'रूप-तरंग' में अंकित किये हैं वे सहजता से विस्मृत नहीं हो सकते। रामबिलासजी ने कहीं मज्जाक के मूड में ही लिखा था 'कहा जाता है एक असफल कवि आलोचक बन जाता है; वैसे मैं तो इतना असफल कवि भी नहीं था।' उनकी कविताएँ पढ़कर इसे अत्यन्त विनम्र 'स्वभावोक्ति' मात्र मानना पड़ता है।

उनकी 'सिलहार' और 'कोहरे के बादल' जैसी कविताओं पर निराला और 'ग्राम्या' का प्रभाव देखा जा सकता है परन्तु यह निःसंशय कहा जा सकता है कि उनकी खेत सींचने वाली कृषक-कन्या का चित्र निराला की पत्थर तोड़नेवाली किसी भी प्रकार कम सजीव नहीं है। पन्त की ग्राम्या के ग्रामीण जीवन के दृश्यों के प्रयत्नों की अपेक्षा रामबिलास की तत्सम्बद्ध कविताओं में अधिक विश्वसनीयता है। वर्षा की बाढ़ से घर नष्ट हो जाने के भय से त्रस्त किसान का कष्ट किस प्रकार कतकी के मेले की बैलगाड़ी-यात्रा के स्वप्नाविष्ट सुख में परिवर्तित हो जाता है, इसे शर्माजी ने सहृदय और खुली आँखों से खूब देखा है। गाँवों की नैसर्गिक सुषमा पर मुग्ध होते हुए भी कहीं भी वे ग्रामों के क्षुधाग्रस्त, नग्न, निरीह समाज की यंत्रणा की उपेक्षा नहीं कर पाये। जीवन के समस्त वैषम्य और दैन्य के प्रति वे सदैव खड्ग-हस्त रहे हैं। उनकी सजग यथार्थग्राही चेतना इन दुखों की लड़ियों को उन सुषमा के मोतियों के बीच-बीच में पिरोती चलती है। उनकी कुछ पंक्तियों में अनेक के लोकजीवन और लोक साहित्य की सीधी सुगन्ध है।

मीठे सुर से बया रही माँग
देवी से सँदुर भरी माँग
झड़ियों से सदा भरे हाथ
माँगे भाई तो पाँच सात,
पर बहन एक देवर अनेक
पति के घर में फिर ननद एक^१ (देवी के गीत)

रामबिलासजी की कविताओं में क्षोभ और आक्रोश की आग और करुणा के
पों का अद्भुत सम्मिलन है जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है :—

यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पत नहीं है,
भय से सिहर उठे वह तर का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर।
हृदय बना है आग और आँसू से मिलकर।

लोहे के पिंजरे में फ़ारस की बुलबुल से बन्दी दारा शिकोह की करुण दुःखान्त
का 'दारा शिकोह' कविता के माध्यम से पाठकों के मन में टीस पैदा करती है। इसे
का की छाया' (प्रसाद) और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' (प्रसाद) आदि ऐति-
निक वृत्त-मुक्तकों की शृंखला की एक कड़ी के रूप में माना जा सकता है, जिन्हें
कावावादी युग में द्विवेदी युगीन खण्डकाव्यों का स्थान लेने के लिये प्रस्तुत किया गया
। शर्माजी की अनेक काव्य-पंक्तियाँ हृदय में विद्य जाती हैं :—

यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में

उनके प्रतीक प्रायः प्रकृति से ग्रहीत, नवीन और भाव-प्रकाशन में सर्वथा
नये हैं :—

तरुणों की पीढ़ी जीवन में भाग खोजती,
चट्टानों के बीच केन की धारा जैसी।

उनके प्रतीक-विधान और शब्दावली पर भी निराला, पन्त जैसे छायावादी
विशेषों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी कविता की भाषा छायावाद के प्रमुख
कारियों से एक जबरदस्त departure इस मायने में है कि उसमें सारल्य और
सिद्धबोध को अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया गया है।

डॉ० शर्मा के आलोचनात्मक कृतित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन करने के
लिए सैद्धान्तिक मान्यताओं और व्यावहारिक समीक्षाओं को पृथक् वर्गों में उसे विभा-
जित कर लेना अधिक युक्ति संगत होगा।

अथ के निम्न लोकगीत की पंक्तियों में इसी भाव को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :—

मांग्यों वरदान देवी के मन्दिर वा भीतर
अरे मांग्यों मैं सात-पाँच भइया, बहन अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।
मांग्यों मैं हरी-हरी चुरियाँ सन्दुर भरी माँग देवी के मन्दिरवा भीतर।
मांग्यों मैं सात-पाँच देवरा, ननदिया अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।
अरे मांग्यों मैं सात-पाँच ललना, कन्या अकेलि, देवी के मन्दिरवा भीतर।

डॉ० शर्मा की सैद्धान्तिक मान्यताएँ भौतिकवादी जीवन-दर्शन के आधार मानकर निर्मित हुई हैं। 'वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार-चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज' 'ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है' (यथार्थ जगत् और साहित्य—आस्था और सौन्दर्य पृ० ४), 'वैज्ञानिक, भौतिक व्यवहार अनुभव और प्रयोग से परे इल्लहाम द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का दावा नहीं करता।' (वही पृ० ५); 'कवि क्या लिखे क्या न लिखे यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर है।' (लेखक और जनता—परम्परा और प्रगति, पृ० ४) 'लेखक का व्यक्ति समाज के संघर्ष में विकसित होकर पुष्ट होता है।' (वही पृ० ६) 'प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।' (प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न—परम्परा और प्रगति—पृ० ४६) 'परन्तु साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है।' (वही) लेकिन वे कौन से गुण हैं जिनके आधार पर किसी रचना को 'साहित्य अथवा असाहित्य' कहा जाय इसका विवेचन उन्होंने कही नहीं किया। 'इसी तरह उनकी प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा अस्पष्ट है क्योंकि कौन से विचार समाज को आगे बढ़ाते हैं इस पर अलग-अलग व्यक्तियों की राय भिन्न-भिन्न होगी।

सौन्दर्य और उसकी कलात्मक सत्ता पर विचार करते हुए शर्माजी ने उसकी व्यापक परिभाषा इस प्रकार की है, 'प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललितकलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है (सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास—आस्था और सौन्दर्य-पृ० २०) 'इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है वह वाह्य जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है, इन्द्रियाँ सौन्दर्य की परख का साधन हैं उसका कारण नहीं है—जहाँ तक वाह्य जगत् के इन्द्रिय-बोध का सम्बन्ध है।' (वही पृ० २४) 'मनुष्य का सौन्दर्य बोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं है उससे भी पहले वह उसके प्रामाण्य विकास का परिणाम है। सौन्दर्य-बोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है, किन्तु वह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है, (वही, पृ० २६) 'मनुष्य के विचार उसके सामाजिक जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं, किन्तु मानव-चेतना में वह क्षमता है जो सामाजिक स्थिति से ऊपर उठ सके। चिन्तन की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठकर अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्तर पर विकसित हो सके। भौतिक जीवन और कलात्मक स्तर के उत्कर्षाधिकरण में अनिवार्य अनुकूल सम्बन्ध न होने से कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती, भौतिक जीवन से उसकी सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है।' (वही पृ० ३०-३१) यह विचार उन लेखकों और आलोचकों के लिए मनन करने योग्य हैं जो मार्क्सवादी समीक्षकों पर साहित्य को यांत्रिक ढंग से भौतिक परिस्थितियों से जोड़ने का अभियोग लगाते हैं।

'साहित्य में रूप और विषय का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है। प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार कर दो कदम भी नहीं चल सकता। (प्रगति और परम्परा पृ० ५६) 'विषय-वस्तु और रूप का सामंजस्य तभी हो सकता है जब हम गम्भीर सामाजिक प्रेरणा से सौन्दर्य की उत्कृष्टता का सम्बन्ध मानें'।

(वही पृ० ५७) 'क्या सामाजिक यथार्थ से आन्दोलित हुए बिना किसी भी कलाकार के लिए सम्भव है कि वह आर्थिक सौन्दर्य की सृष्टि कर सके'। (वही) यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जहाँ डॉ० शर्मा ने सिद्धान्त-रूप से रूप और विषय की एकता स्वीकार की वहाँ अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में उन्होंने अपने को साहित्य की विषय वस्तु के विवेचन तक ही सीमित रखा, उसके कलापक्ष का उद्घाटन उन्होंने नहीं के बराबर किया।

प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों 'रस-निष्पत्ति' और 'साधारणीकरण'—आदि पर डॉ० शर्मा ने गम्भीरता से विचार नहीं किया। साधारणीकरण पर व्यंग्य-प्रहार करते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं 'साधारणीकरण एक ऐसा मन्त्र है जिसमें शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है।' (रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य—प्रगति और परम्परा पृ० १५५)।

शर्माजी के आलोचनात्मक सिद्धान्त-विवेचन में सर्वत्र वर्ग-आधार उपस्थित नहीं रहता, जो मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली का अनिवार्य तत्व है। वह प्रायः 'सच्चे साहित्यकार' या 'लेखक' की बात करने लगते हैं जैसे 'प्रगति और परम्परा' में वे कहते हैं, 'लेखक सारथी होता है जो लोक देखते हुए साहित्य की बागडोर संभाले उसे उचित मार्ग पर ले चलता है।' (पृ० ३) क्या सभी लेखक साहित्य को उचित मार्ग पर ही ले चलते हैं? इसी निबन्ध में पृ० २ पर कवि के विषय में जो बात कही गई है वह भी इसी प्रकार सामान्यीकृत सत्य के रूप से है, और उससे किसी 'विशिष्ट चेतना युक्त कवि' या 'लेखक' का बोध नहीं होता।

उनकी व्यावहारिक समीक्षा में हिन्दी के पूर्व-मध्य युगीन सन्त और भक्तों के कृतिवत्त्व के विवेचन और मूल्यांकन को काफ़ी विस्तार और महत्त्व मिला है। ऐतिहासिक दृष्टि से शर्माजी का मत है कि 'भारतीय जीवन की जिस परिस्थिति से सन्त-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है वह है सामन्ती शक्ति का हास'। (लोक जीवन और साहित्य, पृ० १२) यह उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापना है। वे पहले आलोचक हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से निर्देशित किया कि मुगलकाल भारत में सामन्तवाद के हास और व्यापारिक पूँजीवाद के अभ्युदय और प्रसार का युग था; और समाज को इस बदलती हुई परिस्थिति में ही उस सामाजिक औदार्य का स्रोत है, जिसके दर्शन भक्ति-आन्दोलन में होते हैं। उनकी भक्ति-कालीन रचनाओं का मूल्यांकन अत्यन्त सटीक और निर्दोष है। 'यह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है, उसमें जनता का हास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है'। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा उठाई गई शंका का, सूर और बिहारी के शृंगार-वर्णन में ऐसा क्या अन्तर है कि एक को भक्त और दूसरे को शृंगारी माना जाये, समाधान करते हुए शर्माजी ने ठीक ही लिखा है कि अन्तर रचना की पृष्ठभूमि में है। सूर का काव्य जन-संस्कृति की पृष्ठभूमि पर उद्भूत है जबकि बिहारी की सतसई सामन्ती संस्कृति की पृष्ठभूमि पर रची गई है। शर्माजी ने योगियों के साहित्य के

विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सहमत होते हुए उनके साहित्य को जीवन से पराङ्मुख माना और उनकी रचनाओं में 'सामाजिक अनुभूतियों की कमी' की शिकायत की। उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पश्चिमी और पूर्वी आर्यों में भेदीकरण के नस्लवादी सिद्धान्त का सतर्क और सबल शैली में खण्डन किया। वे पूछते हैं यदि पूर्वी आर्य भावुक और कान्तिकारी होते हैं और पश्चिमी शास्त्रवादी और विवेकी तो सूर और मीरा पश्चिमी प्रदेश में कैसे उत्पन्न हुए? और डॉ० रघुवीर और राहुल सांकृत्यायन का जन्म एक ही प्रदेश में क्यों नहीं हुआ?

भक्तिकाल के प्रमुख कवियों पर लिखते हुए जायसी के विषय में वे कहते हैं 'जायसी को सांस्कृतिक समन्वय का कवि न कहकर जन-संस्कृति का कवि कहना ज्यादा उचित होगा। (लोक-जीवन और साहित्य पृ० २७)। शुक्लजी के मत का यह संशोधन उचित है। उन्होंने ठीक ही लिखा है 'कि अवध की सरसता को किसी ने इस तरह नहीं पहचाना जैसा जायसी ने'। (वही पृ० २९)। तुलसी के विषय में उनका मत है 'कि तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। वह कवि मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक है'। प्रगतिशील कहे जाने वाले आलोचकों द्वारा भक्त-कवियों की गलत, पक्षपात-पूर्ण और दोष-दर्शी आलोचना का शर्माजी ने मुँह-तोड़ उत्तर दिया। रौंगेय राघव, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और राहुल सांकृत्यायन किसी को भी इस अपराध के लिए उन्होंने क्षमा नहीं किया।

भारतेन्दु युग और उसके रचनाकारों की कृतियों का सम्यक् परिचय देने और महत्व प्रतिपादन के लिए डॉ० शर्मा ने 'भारतेन्दु-युग' शीर्षक से एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी और वह आज भी उस काल पर लिखी गई समीक्षा कृतियों में अन्यतम है। द्विवेदी-युगीन लेखकों में, शर्माजी बाबू बालमुकुन्द गुप्त के प्रशंसक हैं और उन पर उन्होंने कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं।

छायावादी युग पर डॉ० शर्मा ने विस्तार से विचार किया है। उनके मतानुसार 'छायावाद भारत के नव-पूँजीवादी अम्युदय के साथ उत्पन्न हुआ... उसने सामन्ती परम्परा का विरोध किया और साहित्यकारों में नये प्रसार और विकास की भावना पैदा की' (प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न—प्रगति और परम्परा पृ० ७३)। छायावाद में उपस्थित 'निराशा' और 'वेदना' का सम्बन्ध उन्होंने पूँजीवाद की असंगतियों और उससे उत्पन्न मध्यवर्ग के उत्पीड़न से जोड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की छायावाद-सम्बन्धी धारणाओं को उन्होंने संकुचित माना है और लिखा है कि इसीलिए शुक्लजी को निरालाजी की बहुत-सी रचनाएँ छायावाद की भूमि से बाहर प्रतीत हुईं। शुक्लजी द्वारा छायावाद के विरोध पर शर्माजी लिखते हैं, 'वह (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) विरोध करते थे रहस्यवादी शैली का, अति लाक्षणिकता का... छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। वह एक मानववादी धारा है... आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति लाक्षणिक शैली के व्यवहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है'। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना पृ० १६१)।

छायावाद के प्रमुख कवियों पर विचार करते हुये डॉ० शर्मा ने उनमें निराला को सर्वप्रमुख माना और उनकी विशेषताओं का उद्घाटन एक स्वतन्त्र-समीक्षा पुस्तक में किया। इस पुस्तक में निराला जी के व्यक्तित्व, उनके सामाजिक दृष्टिकोण और उनकी काव्यात्मक महत्ता का भली-भाँति निदर्शन किया गया है। प्रसादजी के विषय में शुक्लजी के 'मधुचर्या' वाले आशेष की चर्चा करते हुये डॉ० शर्मा ने लिखा है, 'प्रसादजी सुख, सौन्दर्य के कवि हैं, परोक्ष चिन्तन वहाना भर है... प्रसाद जी न योगवादी थे न भोगवादी थे; उनका दर्शन संसार को शिव का प्रत्यक्ष रूप मानता है और कामायनी लोक-कल्याण का प्रतीक है।' (आचार्य रामचन्द्र और हिन्दी आलोचना पृ० १६३)। उन्होंने शुक्लजी की प्रसाद-विषयक आलोचना से सहमत होते हुए लिखा है 'लेकिन शुक्लजी का यह कहना सही है कि प्रसादजी ने कर्ममय जीवन के विशद चित्र नहीं दिये हैं, और उसे बहुधा यज्ञों, उद्योग-धन्यों और शास्त्र विधानों में सीमित कर दिया है।' (वही पृ० १६३-१६४) परन्तु वहीं उन्होंने यह संकेत किया है कि यह दोष प्रसादजी के उपन्यासों और नाटकों में नहीं है। उनके उपन्यासों की सामाजिक वाग्वृत्तता की शर्माजी ने प्रशंसा की है। 'काव्य कला और अन्य-निबन्ध' पर गम्भीरता से विचार करते हुए शर्माजी ने प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष दिया है कि उनकी विचारधारा पूर्व या पश्चिम के भाववादियों से भिन्न है।

छायावादियों में शर्माजी, पन्त जी के सबसे कटु आलोचक रहे हैं। विशेषकर उनकी 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' तथा अन्य परवर्ती रचनाओं को लेकर उन्होंने लिखा है 'पन्तजी ने दर्शन और अर्थशास्त्र के अनेक सूत्रों को सम्बद्ध किया है... लेकिन उनका असली रूप सौन्दर्यवादी का है उसे वह छोड़ नहीं पाये।... पन्तजी जब कोशिश करके लोक-जीवन के नजदीक आते हैं तब भी मानो जुलूस में भालते हुए, पतलून की क्रीज का ध्यान रखते हुये'। डॉ० रामविलास शर्मा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की नकली प्रगतिशीलता को पहचाना और उसकी जोरदार आलोचना की।

महादेवी के विषय में शर्माजी ने लिखा है, 'महादेवीजी छायावाद की प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें छायावाद का निराशावादी, पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौन्दर्य का स्वस्थ मानव-प्रेमी और सौन्दर्यवादी पक्ष भी है। उनके अन्दर एक विदोही आत्मा सोती है जो दृष्टिकोण और मनोबल की सीमाओं के कारण अपना पूरा चमत्कार नहीं दिखा सकती'। छायावाद और महादेवी के आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र ने उनके काव्य की प्रेरणा अतृप्त काम भावना में मानी थी। इस मत पर शर्माजी की टिप्पणी इस प्रकार है, 'यदि जीवन और सौन्दर्य की चाह प्रकट करने वाली कविता दमित इच्छाओं के ही कारण हो, तो जितने भी जीवन और सौन्दर्य के कवि हैं, वे सब दमित इच्छाओं के शिकार साबित हों और जितने भी मृत्यु और कुरूपता के कवि हैं वे सब तृप्त इच्छाओं वाले समझे जायें' (लोक जीवन और साहित्य पृ० ६४) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'क्वासि' की भूमिका और कविता दोनों की जो सतर्क और व्यंग्यात्मक आलोचना डॉ० शर्मा ने की है वह उनकी विद्वता और रोचक शैली दोनों का अच्छा उदाहरण कही जा सकती है। (प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ।)

प्रगतिशील आन्दोलन और साहित्य की सफलताओं और कमियों पर शर्माजी ने बड़ी ईमानदारी से अपने विचार प्रगट किये हैं। वे लिखते हैं, 'प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन अखिल भारतीय आन्दोलन था। इस तरह का कोई भी आन्दोलन उस समय देश में न था... इस आन्दोलन ने उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त कीं। इनमें डॉ० शर्मा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों का एक-दूसरे के निकट आना, हिन्दी-उर्दू में समान जातीय भावना का उत्पन्न होना और हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन आदि परिगणित किया है। हिन्दी में उसने नरेन्द्र, दिनकर, सुमन आदि की शक्तिशाली कविताएँ दीं। अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यास इस परम्परा में उत्पन्न हुए। आलोचना में उसने साहित्यिक परम्परा का मूल्यांकन करने का प्रयास किया और रुढ़िवाद का विरोध किया। कला की दृष्टि से उसने कविता की दुर्गह शैली को सरल बनाया। आन्दोलन की भूलें उनके अनुसार इस प्रकार हैं : 'हमने आन्दोलन में दो तरह की भूलें कीं। एक तो गैर-माक्सवादी लेखकों का मूल्य न आँकना, दूसरी प्रगतिशील साहित्य में फैलने वाली प्रतिक्रियावादी रुझानों का विरोध न करना' यानी पहली 'संकीर्णता और दूसरी 'पक्षपात'। शर्माजी द्वारा उल्लिखित ये भूलें केवल आलोचना के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। रचना-क्षेत्र में प्रचारात्मकता, कृत्रिमता और अकलात्मक अभिधात्मकता आदि जो दोष आ गये थे उन्हें शर्माजी ने अनदेखा कर दिया है।

हिन्दी उपन्यासकारों में डॉ० शर्मा ने प्रेमचन्द को सबसे महत्वपूर्ण माना। उन पर लिखी समीक्षा-पुस्तक 'प्रेमचन्द' में उन्होंने उनके सभी प्रमुख उपन्यासों की विषयवस्तु का विस्तार से विवेचन करते हुये प्रमाणित किया है कि प्रेमचन्द के उपन्यास तत्कालीन भारतीय जीवन के जीते-जागते चित्र हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यासों को रामविलासजी प्रेमचन्द की परम्परा का विरोध करने वाले और यौन उच्छृंखलता का प्रतिबिम्बित करने वाले मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन और यशपाल की भी उन्होंने क्रमशः ऐतिहासिक विवृति और कुत्सित अश्लीलता के दोषों के लिये तीव्र आलोचना की है। इन आलोचनाओं में कहीं-कहीं डॉ० शर्मा मध्यवर्गीय संकुचित नैतिकता की मनोवृत्ति से आक्रान्त हैं। रेणु के आंचलिक उपन्यास उन्हें ग्रामीण जीवन के खण्ड चित्रों के संग्रह से लगे (आस्था और सौन्दर्य)। मैला आँचल के यथार्थ अंकन के कुछ अंशों की उन्होंने प्रशंसा की। परन्तु लेखक की जनता को मूर्ख माननेवाली 'अनास्था' का खण्डन किया। उन्होंने रेणु के इन उपन्यासों को प्रेमचन्द की परम्परा में नहीं माना और 'परती परिकथा' के विषय में लिखा—'इसमें मैला आँचल के गुण प्रायः लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है।' (आस्था और सौन्दर्य पृ० १२७)। 'नई कविता' को उन्होंने 'अनास्थापूर्ण' और 'खण्डित कला' घोषित किया है।

हिन्दी आलोचना में उनके विचार से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सबसे महत्वपूर्ण हैं। शुक्लजी के समीक्षा सिद्धान्तों और व्यावहारिक आलोचनाओं पर पूर्ण योग्यता और गम्भीरता से विचार करने वाली उनकी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' है। हिन्दी के परवर्ती आलोचकों द्वारा शुक्लजी पर किये गये आक्षेपों का निराकरण भी शर्माजी ने सतकं शैली में किया है।

डॉ० शर्मा की आलोचना-पद्धति में ऐतिहासिक भौतिकवाद, शोषितवर्ग की पक्षधरता, साहित्य की सोद्देश्यता का समर्थन, सामाजिक सजगता, साहित्य का गत्यात्मक रूप में ग्रहण और दर्शन, आदि अनेक मार्क्सवादी तत्त्व वर्तमान हैं। उनका भक्ति युग और छायावादी युग के साहित्य का मूल्यांकन सबसे मार्के का है। संत और भक्त कवियों को वे जन-संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। उनकी आलोचना की प्रमुख दुर्बलता यह है कि वह आलोच्य कृतियों के विषयवस्तु के विवेचन और महत्व निरूपण से प्रारम्भ होकर, रचनाकार के सामाजिक दृष्टिकोण पर बल देने के पश्चात् इतना अवकाश ही नहीं पाती कि उसके कलापक्ष और रूप-विधान पर भी विचार करे। इस एकांगिता के अतिरिक्त उसमें मार्क्सवादी आधार भी सर्वत्र उपस्थित नहीं है और अनेक स्थल पर वे वर्गवादी चेतना को विस्मृत कर पिछले युगों की विचारधाराओं का अनुसरण करने लगते हैं। उसमें यदि सजीव क्रान्तिकारिता के लक्षण उपलब्ध नहीं होते तो इसके लिए शर्माजी को दोषी न ठहराकर उस युग को ही उत्तरदायी मानना होगा, जिसमें प्रगतिशीलता बहुतांश के लिये केवल आडम्बर और फैशन मात्र थी। कहीं-कहीं उनको आलोचनाओं में 'अति सरलीकरण' का दोष भी है। मानव-जीवन की जटिलताओं और मन की संश्लिष्ट स्थितियों के साहित्य में प्रतिफलन को शर्माजी कभी-कभी पर्याप्त गम्भीरता से नहीं ग्रहण करते। इन दोषों के बावजूद उनकी समीक्षा ने हिन्दी के रचनात्मक कृतित्व को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है एवं आलोचना के प्रतिमानों के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है यह कहना एक तथ्य की स्वीकृति मात्र है।

राजकुमार शर्मा

गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता

गिरिजाकुमारजी आधुनिक युग के उन विशिष्ट कवियों में से एक हैं जिन्होंने नयी कविता के क्षेत्र में परम्परा एवं प्रयोग के समन्वय पर आधृत एक अतिवाद मुक्त काव्य-दृष्टि का विकास किया है। आधुनिक काव्य के निर्माण में उनका योगदान अप्रतिम है। माथुरजी नये कवियों के उस वर्ग का नेतृत्व करते हैं जो किसी आरोपित अनास्थामूलक जीवन-दर्शन को अस्वीकार कर मानवीय उपलब्धियों में अगाध आस्था एवं विश्वास का संकल्प लेकर चला है। जो आधुनिक जीवन को, नये प्रत्यावर्तनों को, नयी अनुभूतियों और संवेदनाओं को नव्यतम शिल्प में ढालने का प्रयास करता हुआ, काव्योपलब्धि की किसी महत् संभावना की दिशा में आगे बढ़ रहा है। उनका काव्य निश्चित रूप से नयी कविता के शाश्वत, स्वस्थ एवं विकास-कारी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है। इन्हीं के आधार पर वह नयी कविता की सीमाओं से ऊपर उठकर उसकी उपलब्धि एवं संभावनाओं का प्रतीक बन गया है।

उनके काव्य की इस महत्ता को लगभग सभी श्रेष्ठ समालोचकों ने स्वीकारा है। डॉ० नरोन्द्र-जैसे परम्परानिष्ठ रसवादी आलोचक भी—जो अभी तक नयी कविता की उपलब्धि एवं सम्भावनाओं के प्रति आश्वस्त नहीं हो पाए हैं—उनके काव्य के वैशिष्ट्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। इसका मूल कारण यही रहा कि माथुरजी ने जो कुछ लिखा है भोगकर लिखा है; पढ़कर नहीं। आधुनिकता को उन्होंने व्यक्ति-स्तर पर जिया है, (अधिकांश नये कवियों की भाँति) जान-बूझकर अपने ऊपर ओढ़ नहीं लिया। उनके काव्य में परम्परा एवं प्रयोग का आदर्श सामंजस्य मिलता है। अत्याधुनिक होते हुए भी परम्परा से उनकी सम्पृक्ति टूट नहीं पाई है। नव्यता के मोह में अपने को परम्परा से निर्ममतापूर्वक काट लेना उनके कवि का आदर्श नहीं है। उनकी काव्य-प्रतिभा तो परम्परा के जीवन्त अंश को स्वीकार करती हुई काव्यगत प्रयोगों की नयी दिशाओं की ओर बढ़ी है। पर काव्य में परम्परा एवं प्रयोग की इन नयी संतुलन-भूमियों की खोज में वे नयी कविता के दोषों के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे। अनेक स्थलों पर माथुरजी ने नयी कविता की सीमाओं का निर्मम विश्लेषण किया है। अपने दोषों के प्रति आत्म-सजगता की यह भावना बहुत कम नये कवियों में मिलती है। माथुरजी की यह साहित्यिक विशिष्टता और ईमानदारी ही नयी कविता के कटु आलोचकों को भी उनकी प्रशंसा करने के लिए बाध्य करती है।

गिरिजाकुमारजी का कवि—अधिकांश नये कवियों की भाँति कोरी चमत्कार-सृष्टि और बौद्धिक खींचतान को ही काव्य का चरम उद्देश्य मानकर नहीं चला। वह काव्य को एक कठिन साधना के रूप में स्वीकार करता है। उसकी काव्य-चेतना कला-मूल्यों के साथ मानव-मूल्यों के प्रति अपने दायित्व को भी तीव्रता के साथ महसूस करती है। वह अपनी कला के द्वारा व्यक्ति के निविड़ मन की उलझी हुई संवेदनाओं की सृष्टि में नहीं बल्कि जगत की जटिलताओं और उलझी हुई संवेदनाओं के बीच सुलझे हुए सत्य का प्रकाश करने में विश्वास रखती है और शायद इसी कारण से कुछ नये कवि-आलोचकों की दृष्टि में वह, नयी कविता के 'लेबिल' की अधिकांश कविताओं के तथाकथित आधुनिक भावबोध से पूरा साम्य स्थापित नहीं कर पाती।^१ नयी कविता में वह अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बनाए रखती है।

माथुरजी का मानवता और उसके उज्ज्वल भविष्य में गहरा विश्वास है। वे आधुनिक युग-जीवन के विघटन की अपेक्षा विघटित तत्त्वों में नयी संतुलन भूमि की खोज और अनास्था, नैराश्य एवं अवसाद की जगह आस्था, आशा एवं विश्वास को अधिक महत्त्व देते हैं। वे आज के अधिकांश नये कवियों की आत्मग्लानि एवं आत्म-वक्तृत्व (स्टेटमेंट) देने की प्रवृत्ति के घोर विरोधी हैं। वे मानते हैं कि नयी कविता में इस प्रकार के वक्तव्यों, यथा; "मैं लाश हूँ", 'कुत्ता हूँ', 'गलितंग हूँ', 'वमन हूँ', 'जारज हूँ', 'फेंका हुआ भ्रूण हूँ', 'शहीद हूँ', 'खण्डित हूँ', 'ओ रे, ओ पिता, हे पूर्वज, दर्द,

१. देखिए—डॉ० देवीशंकर अवस्थी—'श्री गिरिजाकुमार के काव्य का बोध और भाषा उतनी आधुनिक नहीं है जितने की हम माँग करते हैं।

(कल्पना, फरवरी, '६३ पृ० ५)

गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता : १७३

दर्द दर्द, आदि की पुष्कलता रही है।" उनका निश्चित मत है कि "पहले तो स्टेटमेंट कविता नहीं हो सकता। फिर यदि स्टेटमेंट यह हो कि मैं खण्डित हूँ, भग्न हूँ, लाश हूँ; तो उसका उत्तर यह होगा, ठीक हैं होंगे आप अपने को जो चाहे समझें, दुनिया को उसने क्या लेना-देना है। प्रश्न यह नहीं है कि आप वास्तव में किस परिस्थिति में पड़कर क्या हो गए हैं, बल्कि यह है कि उस परिस्थिति के प्रति आपकी क्या प्रतिक्रिया है; दुनिया को आप वहाँ से क्या देना चाहते हैं? परिस्थिति की तीखी चोटों से आपको क्या अनुभूति हुई तथा व्यापक जीवन और मानवीयता के लिए आपका दाय क्या है?"^२ माथुरजी का निश्छल आत्माभिव्यक्ति में विश्वास है जो अनुभूति के स्तर पर भोगे हुए सत्य को ही अभिव्यक्त करती है, किसी आरोपित या उधार लिए हुए वस्तु-सत्य को नहीं।

गिरिजाकुमारजी को नयी कविता के निर्माता कवियों में से एक माना जा सकता है। नयी कविता के आद्यः प्रवर्तक अज्ञेयजी के शब्दों में—“अब जिसे नयी कविता कहा जाने लगा है उसके रूप और मुहावरे के विकास में उनका (गिरिजाकुमारजी का) निश्चित रूप से महत्वपूर्ण योगदान रहा है।”^३ नयी कविता को माथुरजी का यह योगदान शिल्प एवं वस्तु दोनों ही क्षेत्रों में रहा है।

नयी कविता के शिल्प-पक्ष को समृद्ध करने में जितना योगदान गिरिजाकुमार का है उतना किसी भी नये कवि का नहीं है। नयी कविता के शिल्प-निर्माताओं में उनका स्थान सर्वोपरि है। भाषा, छन्द, बिम्बयोजना, प्रतीक योजना, नवीन अप्रस्तुत विधान, रंग-योजना आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने अनेकविध प्रयोगों द्वारा नयी कविता की भाषा का संस्कार किया। नवीन शब्दावली का निर्माण किया, पुराने शब्दों को नयी भंगिमा दी, नये वैज्ञानिक प्रतीकों की योजना की—और इस प्रकार कविता की भाषा को आधुनिक भावबोध की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया। स्वर-ध्वनियों के प्रयोग से काव्य-भाषा को एक सहज आन्तरिक संगीतात्मकता प्रदान की। उसे छायावादी लाक्षणिकता और संश्लेषण के कुहासे से मुक्त कर मोती के पानी जैसे स्वच्छ एवं सहज सौन्दर्य से मण्डित किया। भाषा के 'रियलिज़्म' जैसी चीज़ नयी कविता को सर्वप्रथम माथुरजी ने ही दी। काव्य-भाषा को लोकजीवन की भाषा के निकट लाने का ऐसा सफल प्रयास और किसी भी नये कवि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

उनके आन्तरिक लय-सम्पन्न गीत एवं मुक्त छन्द के नवीन प्रयोग तो नयी कविता के शिल्प की स्थायी निधि हैं। उन जैसा समर्थ गीतिकार एवं कुशल छन्द-प्रयोक्ता नये कविमों में दूसरा नहीं है। “गीत की विधा को छायावादी और उत्तर छायावादी सीमाओं से नयी कविता की भूमिका तक सफलतापूर्वक ले आने का दुष्कर

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी—‘परन्तु नयी कविता उनसे कुछ आगे बढ़ गई है।’

(नवलेखन पृ० ५५)

२. नयी कविता अंक ५-६ पृ० ४४-४६।

३. आज का भारतीय साहित्य पृ० ३६३।

१७४ : * आलोचना

कार्य गिरिजाकुमार माथुर ही कर सके हैं।^१ यह अज्ञेय जैसे समर्थ कवियों से भी संभव नहीं हो सका। भावी नये कवियों के निर्देशनार्थ मुक्त छन्द का एक सम्पूर्ण मौलिक विधान उन्होंने स्वयं रचा है। सवैये के विरामों पर स्थित एक नये प्रकार का संगीतमय मुक्त छन्द नयी कविता को दिया है जो छन्दगत प्रयोगों के क्षेत्र में नयी कविता के शिल्पविधान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वस्तु की दृष्टि से भी माथुरजी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने छायावादी रोमांटिक चेतना को प्रगतिवाद की सामाजिक यथार्थ-चेतना से सम्पृक्त करने का प्रयास किया है और इस प्रकार रंग, रस, रोमान और सामाजिक यथार्थ के समन्वय पर आधृत एक नया भावबोध विकसित किया है। आधुनिक युग, जीवन के घोर संघर्षमय वातावरण में अस्थायी राग-चेतना को बनाए रखने के लिए इस प्रकार के समन्वित भावबोध की अतिशय आवश्यकता थी। इसके माध्यम से उन्होंने नयी कविता को एक स्वस्थ एवं अतिवाद मुक्त जीवन-दृष्टि प्रदान की। उसे अपने पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा अधिक संतुलित एवं विकसित भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। यहाँ उन्होंने छायावादी अशरीरी वासना और वायवी प्रेम के स्थान पर भौतिक प्रेम की प्रतिष्ठा की। वैयक्तिक प्रेम की निरावृत्त एवं सहज अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जिसमें न तो कोई परिधान है, न कुण्ठा और न कोई अप्रस्तुत पक्ष ही। सब कुछ स्पष्ट और निष्कपट है। सामाजिक यथार्थ-चेतना को भी उन्होंने नये रूप में प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी काव्य-दृष्टि ने तो शोषित वर्ग को बौद्धिक सहानुभूति और स्तरीय सवेदनाएँ प्रदान करने और उसके भविष्य के प्रति शुभाकांक्षा व्यक्त करने को ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली थी। पर माथुरजी ने सामाजिक चेतना के इससे कहीं अधिक गहरे स्तर की माँग की। उन्होंने काव्य की इस सामाजिक चेतना को मार्क्सवाद के लाल फीते के बन्धनों से मुक्त कर उसे एक व्यापक अर्थ से संयुक्त किया। व्यक्ति चेतना और सामाजिक चेतना के संतुलित समन्वय पर आधृत एक नई मानवतावादी संस्कृति को काव्य के धरातल पर उतारने का प्रयास किया।

सामाजिक अनुभूति के अनुभव के क्षेत्र की व्यापकता माथुरजी की सामाजिक चेतना की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। उनकी सामाजिक दृष्टि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय भूमि पर पहुँची है। उन्होंने सम्पूर्ण मानवता को एक समंजस, अविभाज्य इकाई के रूप में देखा है। उनकी दृष्टि में समस्त विश्व अंगी है। उसके किसी भी अंग की कोई विकृति या दुःख-दर्द उनकी सहानुभूति का विषय है। उन्होंने समस्त विश्व को अखण्ड रूप में देखा है और उसकी आत्मा को अभिव्यक्ति दी है। 'एशिया का जागरण', 'अदन पर बमबर्षा', 'हब्सदेश', 'नई भारती', 'पहिण', आदि अपनी अनेक कविताओं में गिरिजाकुमारजी ने अन्याय, अत्याचार एवं दमन के विरुद्ध संघर्ष करती हुई मानवता के सुख-दुःख, आशा एवं उल्लास को वाणी दी है। इन कविताओं में मानव-मूल्यों के प्रति उनकी दायित्व-चेतना स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आई है। स्वातन्त्र्य-मूल्य में विश्वास और

१. डॉ० जगदीश गुप्त, वार्त्तिकी पृ. ५१।

सामान्य जन की मुद्रित के आग्रह के स्वर इन रचनाओं में पूरी शक्ति एवं दृढ़ता के साथ फूटे हैं—मानवता की शक्ति, सामर्थ्य एवं अनवरत गतिशीलता में अटल विश्वास ध्वनित हुआ है—

‘मति व्यर्थ गई, उपलब्धिहीन साधना रही
मन में लेकिन संध्या की लाली बाकी है।
इस लाली का मैं तिलक करूँ हर माथे पर
तू उन सबको जो पीड़ित हैं मेरे समान
दुख, दर्द अभाव भोगकर भी जो झुके नहीं
जो अन्यायों से रहे जूझते वक्ष तान।
जो सजा भोगते रहे सदा सच कहने की
जो प्रभुता पद आतंकों से नत हुए नहीं,
जो विफल रहे पर कृपा न माँगी विधियाकर
जो किसी मूल्य पर भी शरणागत हुए नहीं।’

विषय-वस्तु के क्षेत्र माथुरजी की दूसरी महत्वपूर्ण देन नागरी चेतना (Urban Sensibility) है। उन्होंने नयी कविता के माध्यम से पहली बार आधुनिक नागरीय जीवन को उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ कविता में उतारने का प्रयास किया है। शहरों के सामान्य जीवन के नानाविध चित्र उनकी कविताओं में रूपायित हुए हैं। जिनके माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन का एक विशिष्ट चित्र समग्रता से उभरकर सामने आया है। सामाजिक यथार्थ का यह नया प्रयोग नयी कविता की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

काव्यवस्तु के क्षेत्र में नयी कविता को माथुरजी की तीसरी महत्वपूर्ण देन विज्ञान-चेतना का सूत्रपात है। अपनी पृथ्वीकल्प (नाट्य काव्य), कालदृष्टि आदि रचनाओं के माध्यम से माथुरजी ने अणुयुग की वैज्ञानिक चेतना को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देकर आगामी विज्ञान-काव्य की सम्भावनाओं के नूतन आयाम खोल दिए हैं। इन रचनाओं के द्वारा निश्चित रूप से कविता के क्षेत्र में एक अछूते क्षेत्र का उद्घाटन हुआ है। यहाँ मानव को उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में रूपायित किया गया है। विज्ञान के अमूर्त मूल्यों के आधार पर और उन्हीं के माध्यम से उसके (मानव के) हृदय में सहज रूप से उद्भासित अनुभूतियों की व्यंजना की गई है। हमारी दृष्टि में काव्य के क्षेत्र में यह पहला क्रान्तिकारी प्रयास है जिसने बिना किसी अतिबौद्धिक परिणति के वैज्ञानिक युग को हृदय के स्तर पर प्रेयणीय सिद्ध कर दिखाया है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार वैज्ञानिक नियम और सिद्धान्त संवेदना और भावना के संयोग से काव्य की धरोहर बन सकते हैं, कैसे वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित अनुभूतियों और विचारों को काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो सकती है।

निस्मन्देह माथुर का यह प्रयोग नयी कविता ही नहीं काव्यमात्र में एक

१७६ : आलोचना

साहसिक प्रयोग है, जिसने काव्यवस्तु के क्षेत्र में संभावनाओं के नये क्षितिज खोले हैं। यह नयी कविता की विशिष्टतम मौलिक उपलब्धि है। जिसने हिन्दी-काव्य को आधुनिक अन्तरिक्ष युग के वैज्ञानिक चेतनासम्मत नवीनतम भावबोध से संयुक्त कर दिया है।

उपर्युक्त विशिष्टताओं के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नयी कविता के आधुनिकतम स्वरूप के निर्माण में गिरिजाकुमार माथुर का योगदान अन्यतम है। नयी कविता को कविता बनाए रखने का प्रयास करने वाले कवियों में वे मूर्द्धन्य स्थान के अधिकारी हैं।

डॉ० नरेन्द्रदेव वर्मा

मुक्तिबोध का आलोचना-दर्शन

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध एक आधुनिक कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका काव्य कविता की प्रचलित धारा से कुछ अलग-सा प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि वे प्रयोगवादी या तथाकथित नये कवियों के समान कविताएँ नहीं लिखते। उनकी काव्य-सृष्टि अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और संयमित है। आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध के समान भावप्रशमन की चेष्टा और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को विवेक के द्वारा समायोजित करने का कार्य बहुत कम हुआ। वे अन्यान्य कवियों के समान मानसिक उद्वेलन की भँवर में पड़कर निस्सहाय हो जाते और अपनी निगूढ़ मानसिक ग्रन्थियों के उन्मोचन के लिए व्याकुल नहीं होते। वे एक अन्वेषी की दृष्टि से मानसिक संघात के गति-चित्रों को देखते हैं और उनकी प्रत्येक भंगिमा को अनेकानेक प्रतीकों के द्वारा विशिष्ट आकार प्रदान करते हैं। इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध का एक विशिष्ट स्थान है।

उनके इस अपूर्व काव्यगत संयम और धैर्य का रहस्य क्या है? वह है उनका दर्शन और कविता के सम्बन्ध में उनकी मौलिक धारणा। वे कविता को कुष्ठा की मुक्ति या व्यक्तित्व के पलायन का साधन नहीं मानते। उनका विचार है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। मुक्तिबोध कविता को वैयक्तिक प्रयास का प्रतिफल नहीं समझते अपितु उसे समूह-मन का उच्छलन मानते हैं। उनका कथन है कि “काव्यरचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है।

आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध को नव्य प्रगतिवादी समीक्षक कहा जा सकता है। जो साहित्यिक चिन्तना मार्क्स और एंजिल्स के साहित्य-विषयक विचारों को आधार के रूप में ग्रहण कर प्रवाहित हुई है उसके अनेक स्तरों और आयामों को

मुक्तिबोध का आलोचना-दर्शन : १७७

विकास भी यथासमय हुआ है। समय के साथ ही अनेक प्रगतिवादी चिन्तकों ने साहित्य की आर्थिक-सामाजिक व्याख्या के साथ अन्य दृष्टियों का समावेश भी किया है। आधुनिक काल में प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तन की दो धाराएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। प्रगतिवादी आलोचकों का एक वर्ग विशुद्ध आर्थिक और सामाजिक आधार पर साहित्य-समीक्षा का आग्रह करता है। इस प्रकार के समीक्षकों की चिन्तनाओं को साहित्यिक कहना कोई अर्थ नहीं रखता। इस समीक्षा का एक बड़ा लाभ यह है कि हमें साहित्य को युगजीवन के साथ सम्पृक्त कर देखने का अभ्यस्त बनाता है और हम इसके माध्यम से सामाजिक उन्नयन के सूत्रों को टटोलना सीखते हैं। यह सच है कि सामाजिकता का अनुशीलन करते-करते साहित्य की मौलिकता की ओर दृष्टि नहीं जा पाती और साहित्य के सूक्ष्मतर सौन्दर्य-संवेदनों का आकलन नहीं हो पाता। इसी तमी को पूरा करने के लिए एक नई शैली की अवतारणा के प्रयत्न प्रगतिवादी चिन्तकों के द्वारा किये जा रहे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रगतिवादी आलोचना एक नये उन्मेष से सम्पृक्त दिखाई देती है। यह समीक्षा-शैली साहित्य के आर्थिक और सामाजिक सन्दर्भों की व्याख्या करना ही पर्याप्त नहीं समझती प्रत्युत् साहित्य के सृजनमूलक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आकलन करना भी आवश्यक मानती है। साहित्य-विवेचन की इस नई शैली को नव्य प्रगतिवादी समीक्षा कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध का आलोचना-साहित्य प्रगतिवादी समीक्षा के इसी नये उन्मेष की सूचना देता है। प्रगतिवादी आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने प्रगतिवादी साहित्यालोचन की वैज्ञानिक पद्धति में मनोविश्लेषणात्मक सूक्ष्मता का आनयन किया है। मुक्तिबोध साहित्य की आर्थिक-सामाजिक व्याख्या को आवश्यक समझते हैं और भौतिक जगत् की उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिन्होंने साहित्यकार के जीवन को प्रभावित किया है। किन्तु इसके साथ ही वे साहित्य-कार के आन्तरिक जगत् का अनुशीलन भी करते हैं और उसकी उन मानसिक ग्रंथियों, गुणों और संक्रान्तिशील मनःस्थिति का विश्लेषण करते हैं जिसकी छाप उनकी रचना में अनेकानेक आवरणों, कलात्मक परिधानों और वाक्य-योजनाओं की तह में खो हुई है। किन्तु ये ही मुक्तिबोध के समीक्षात्मक प्रयास नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे एक अन्य गहनतर तत्त्व का आकलन करते हैं। वे साहित्यकार की चेतना का भी सम्यक् अवलोकन करते हैं जो बाह्य और आन्तरिक जगत् को एक साथ भोगती है तथा जो कला का मूल उत्स है। मुक्तिबोध का दूसरा प्रदेय यह है कि वे शताब्दियों के रहस्यमय, दैवी और अप्राकृत कहकर नकारे जाने वाले कला-उत्स के वैज्ञानिक विश्लेषण का आग्रह करते हैं।

मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन के तीन स्तर हैं। पहले स्तर पर वे काव्य और साहित्य की सैद्धान्तिक चर्चा करते हैं। यह स्तर उनके दार्शनिक वर्चस्व से निर्मित हुआ है। यहाँ मुक्तिबोध एक तत्त्व-चिन्तक की तरह काव्य के उपादानों की विवेचना करते हैं। उनका यह प्रयास साहित्यिक की अपेक्षा अधिक दार्शनिक प्रतीत होता है।

दूसरे स्तर पर वे समीक्षा की परम्परागत मान्यताओं की परीक्षा करते हुए समीक्षा-सूत्रों का एक नया संयोजन उपस्थित करते हैं। इसी भूमिका पर वे प्रचलित प्रगतिवादी समीक्षा के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत करते हैं, उसकी न्यूनताओं की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं और प्रगतिवाद का एक नया आलोचना-सिद्धान्त बनाते हैं। तीसरा स्तर उनकी व्यावहारिक समीक्षा से निमित्त हुआ है। यहाँ मुक्तिबोध का साहित्य-चिन्तन अधिक भव्य और साहसिक हो गया है। इस स्तर पर वे साहित्य के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक अनुशीलन से उपलब्ध सूत्रों के आधार पर साहित्यकार के बाह्य एवं आन्तरिक जीवन की परीक्षा करते हैं। भौतिक जगत् की सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का उल्लेख करते हुए वे कृति में प्रतिच्छायित स्रष्टा की कुण्डाओं, प्रेरणाओं, ग्रन्थियों एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भों का उद्घाटन करते हैं। इसके साथ ही वे इसी त्रिगुणी पद्धति के आधार पर नई काव्य-प्रवृत्ति की विशद विवेचना करते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रकार की आलोचना-पद्धति स्वयं में पूर्ण और समग्र है? क्या साहित्य की आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही पर्याप्त है? क्या इनके अतिरिक्त साहित्य के किसी पक्ष का विश्लेषण-विवेचन आवश्यक नहीं होता? ये बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। अक्सर यह कहा जाता है कि साहित्य केवल आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों का ही प्रतिफल नहीं है। उसके निर्माण में मनुष्य की सौन्दर्यात्मक अनुभूति का भी विशेष स्थान होता है। साहित्यकार के सौन्दर्य-बोध की भित्ति पर कलाकृति के भवन का निर्माण होता है। सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ कलाकृति के सृजन का उपादान कारण हो सकती हैं। पर वे कला का मूल कारण नहीं हैं और केवल बाह्य उपादानों को ही साहित्य-जिज्ञासा का केन्द्र मान लिया जाए तो ऐसी जिज्ञासा समग्रगत नहीं कही जा सकती और तज्जन्य निष्कर्षों की मूलवृत्ता के समक्ष प्रश्नचिह्न लग जाता है। कला का मूल हेतु साहित्यकार का सौन्दर्य-बोध है। जब कलाकार अपने सौन्दर्य-बोध को शब्दों और वाक्यों में रूपायित करने का प्रयत्न करता है तब बाह्य और आन्तरिक जगत् की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं।

मुक्तिबोध सौन्दर्यवादी आलोचक नहीं हैं। कला के सौन्दर्यमूलक उपादानों के प्रति न तो उनकी रुचि है और न उनकी समीक्षा में कलाकृति के सौन्दर्य-संवेदन को व्यक्त करने के लिए कोई अवकाश ही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुक्तिबोध कलाकृति के सौन्दर्य-पक्ष को व्यर्थ समझते हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "पाठक का यह आदि कर्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य को आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुजरकर ही कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।" मुक्तिबोध कलात्मक सौन्दर्य के मूल्य और महत्त्व को समझते हैं किन्तु उसे कला की अन्तर्वर्ती सत्ता नहीं मानते। सौन्दर्य कृति का मर्म नहीं है। वह तो मात्र उसका प्रवेशद्वार है। कलाकृति की अन्तर्व्यापिनी सत्ता सौन्दर्य नहीं प्रत्युत जीवन है। इसी मूल

तत्व की अभिव्यक्ति करने के लिए कलाकार युगों से प्रयत्न करता आया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कलाविवेचकों ने निरन्तर इसकी उपेक्षा करके सौन्दर्य की महिमा का गान किया है। यही कारण है कि जीवन का विवेचन मुक्तिबोध की आलोचना का आदि-सन्धान बन गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन के प्रति मुक्तिबोध का यह आत्यन्तिक अभिनिवेश प्रगतिवादी समीक्षा की जानकारी से विकसित हुआ है।

इसी भूमिका पर मुक्तिबोध प्रभाववादी आलोचकों से अपनी पृथक्ता प्रकट करते हैं। प्रभाववादी या सौन्दर्यवादी विवेचक कला के अन्य तत्त्वों को ताक में रख-कर उसकी सौन्दर्यानुभूति की खोज करने का प्रयास करता है और सौन्दर्य-भावना के आलोक में समस्त कला की व्याख्या करता है। सौन्दर्यवादी आलोचक यह मानकर चलता है कि कृति का प्रभाव या सौन्दर्य स्वयं अपने मानदण्डों की उत्सर्जना करता है और कृति के स्फूर्त प्रभाव के आलोक में ही वह उसकी विवेचना करता है। मुक्तिबोध प्रभाव पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे कलात्मक सौन्दर्य के रूपहले परदे को चीरकर कृति के मर्मस्थल को देखना चाहते हैं। वे जानते हैं कि अपने इस साहसिक अभियान में वे कृति पर प्रतिच्छायित जीवन और जगत् के दोहरे प्रभावों का अंकन कर सकते हैं। यही मुक्तिबोध की आलोचना का प्राणकेन्द्र है। उनकी सारी जिज्ञासाएँ उस जीवन और जगत् के चारों ओर घूमती रहती हैं, “जो जीवन-जगत् आन्तरिक और बाह्य इन दोनों तत्त्वों से निर्मित है, जो जीवन-जगत् मानव-सम्बन्धों, जीवन-मूल्यों, ज्ञान-दृष्टियों तथा गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय है जो कलाकार के अन्तःकरण में अनेक मिश्र-रूपों में संचित होकर, अभिव्यक्ति क्षणों में प्रोद्भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ।” यह मुक्तिबोध की विचारणा का प्रधान सूत्र है। यह वह सेतु है जहाँ कलाकार को प्रभावित करने वाली भौतिक परिस्थितियाँ कलात्मक मनस् के सागर में आलोड़ित-प्रलोड़ित उर्मियों पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हुई देखी जा सकती हैं। यह वह मिलन-स्थल है जहाँ प्रगतिवाद और मनोविश्लेषण एक-दूसरे से गले मिलते हैं। इसी मान्यता के आधार पर मुक्तिबोध काव्य की रचना-प्रक्रिया जैसे गूढ़ विषयों पर विचार करते हैं। इसी दृष्टि के आलोक में वे हिन्दी-समीक्षा की एकांगिता का परिदर्शन कराते हैं। किन्तु उनका विरोध मात्र विरोध के लिए नहीं होता प्रत्युत् वे एकांगिता का निराकरण करने के लिए सुझाव देते हैं और आलोचना के नये मान-मूल्यों की स्थापना करते हैं। और अन्ततः वे इन अभिनव मान्यताओं की कसौटी पर आधुनिक हिन्दी-कविता को कसते हैं। मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन और काव्यगत मान्यताओं की दृष्टि से ‘एक साहित्यिक की डायरी’ उल्लेखनीय है। यहाँ वे अपेक्षाकृत अधिक सहज होकर अपनी काव्य-विषयक धारणाओं का परिचय देते हैं। ‘नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध’ उनकी क्रियात्मक आलोचना के सूत्रों का संयोजन है। इस ग्रन्थ में तथाकथित नई कविता की न्यूनताओं के उल्लेख के साथ आधुनिक हिन्दी आलोचना का सिंहावलोकन किया गया है। ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ मुक्तिबोध की व्यावहारिक

समीक्षा का आधार-ग्रन्थ है। मुक्तिबोध एक वैज्ञानिक की तरह अपनी प्राक्कल्पना को यहाँ अनेकानेक स्तरों और सोपानों पर प्रयोगों के द्वारा सिद्ध करने में व्यस्त है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववादी या सौन्दर्यवादी आलोचना की बहुलता है। प्रभाववादी समीक्षक की आलोचना-पद्धति बहुत-कुछ अयान्त्रिक और अवैज्ञानिक होती है। सौन्दर्य के प्रति आत्यन्तिक अभिनिवेश रखने के कारण समीक्षक की दृष्टि कृति के अन्य अंगों तक नहीं पहुँच सकती। समीक्षक केवल सौन्दर्य का आस्वादन करता है और कृति के प्रति अपनी प्रगल्भ भावमय प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। आजकल ऐसा माना जाता है कि सौन्दर्यमूलक दृष्टि ही एकमेव साहित्यिक दृष्टि है। प्रभाववादी आलोचक पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों के आधार पर कृति का मूल्यांकन नहीं करता, इसलिए इस शैली को पूर्वाग्रहविनिर्मुक्त और तटस्थ कहा जाता है। मुक्तिबोध की आलोचना-पद्धति दूसरे सीमान्त पर स्थित है। वह अपेक्षाकृत अधिक यांत्रिक और वैज्ञानिक है। वे साहित्य में वर्णित कल्पना को निरपेक्ष विश्लेषण और तर्क की कसौटी पर कसते हैं। सौन्दर्य का निरपेक्ष आकलन उन्हें महत्त्वहीन प्रतीत होता है। इस दृष्टि में एक कमी यह हो सकती है कि कलात्मक प्रभाव का पक्ष अछूता छूट जाता है। मुक्तिबोध इस कमी को जानते हैं पर इसके लिए स्वेद प्रकट नहीं करते। वे इस बात से निश्चिन्त हैं कि सौन्दर्य-आख्यान का कार्य हिन्दी में बड़े धड़ल्ले से हो रहा है और इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। वे यह भी जानते हैं कि इस पक्ष के अभाव में उनकी आलोचनाओं का विरोध किया जाएगा और उसे विध्वंसात्मक कहा जाएगा। पर मुक्तिबोध इस विरोध का सामना करने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।

चन्द्रदेव सिंह

भारती का काव्य

भारती के सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व को मात्र कुछेक शब्दों के द्वारा परिभाषित कर पाना आसान नहीं। भारती की काव्य-यात्रा नये-नये जीवन-लक्ष्यों, क्षितियों, अनुभूतियों और वैचारिक भाव-भूमियों से होकर उत्तरोत्तर नई मंजिलों को छूती, चमत्कृत करती हुई क्रियाशील है।

यदि भारती की सम्पूर्ण काव्य-चिन्तना के बीच से उठते-उभरते हुए व्यक्त की कल्पना की जाए, तो लगेगा—एक नवयुवक अल्हड़ पर उत्साही; प्रेमी हृदय और संवेदनशील, सौन्दर्यान्वेषी और यह सौन्दर्यान्वेषण दैहिक, मांसल उपभोग की कामना से अभिभूत। मगर वह केवल इन्हीं सीमाओं में बँधकर नहीं रह जाता बरन् युग-युग-जनित स्थितियाँ और उसका आन्तरिक विवेक उसे विभिन्न पथों और मोड़ों पर खड़ा करते हैं। वह आज भी क्रियाशील और सचेष्ट है। इसीलिए उसके सम्बन्ध में

भारती का काव्य : १८१

अन्तिम रूप से यद्यपि कुछ नहीं कहा जा सकता, पर उसकी अब तक की गतिविवृतियों, आकांक्षाओं और उपलब्धियों को देखा-परखा जा सकता है अवश्य ।

कभी तो वह किन्हीं फिरोजी होंठों पर जिन्दगी के बर्बाद होने की सूचना देता है तो कभी अपने संयम की अस्थिरता का दोष किसी स्पर्श के जुल्म पर मढ़ता है । उसकी ये सारी क्रियाएँ, भावनाएँ, आकांक्षाएँ और विकलता पूर्ववर्ती कवियों, विशेषकर बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और अंचल के युग-विशेष की भावनाओं से इतर नहीं ।

वह मिलन-अवधि में प्रिया के सहज संकोच को भी सहन नहीं कर पाता ; अनुरोध करता है—

यह छुईमुई-सा सकुचाना
भयभीत सृगी-सा घबराना
यह नहीं लाज की बेला प्रिय
कुञ्जों में छिप-छिप छेड़ रहा
दोशीजा कलियों को फागुन ।

—ठण्डा लोहा

कितु उसे जब उसके ऐसे मनोभाव स्वयं अपराधी-सा अनुभव करने को बाध्य करते हैं तब वह पाप-पुण्य के विश्लेषण द्वारा अपनी इच्छाओं को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से सहारा देने का प्रयत्न करता है—

अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बाइल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझको पाप कैसे हो
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझको शाप कैसे हो ?

—ठण्डा लोहा

अपनी इसी स्वाभाविक सहजता के साथ वह अपने संयम की अस्थिरता के लिए किसी के स्पर्श को जुल्म का कारण मानता है—

तुम्हारे स्पर्श के ही जुल्म से संयम न टिक पाता
किसी गुमनाम टोने में बँधा मैं और अकुलाता

—ठण्डा लोहा

और ऐसे ही स्पर्श के जुल्म का शिकार बन वह बार-बार उसी रसधारा में अपने-आपको बहाते जाने की कामना व्यक्त करता है—

साँसों में उलझा दो अपनी एक अलक बारीक
माथे पर धर हाथ, शर्ट का कालर कर दो ठीक
धीमे-धीमे और तुम्हारी ही गोदी में
आज आखिरी साँस तोड़ दे मेरा भी विश्वास
आज छोड़ सब काम-काज तुम बैठो मेरे पास ।

—ठण्डा लोहा

१८२ : आलोचना

वचन के कवि ने भी कभी ऐसी ही इच्छा व्यक्त की थी—
 कल सुघारूँगा हुई संसार में जो भूल
 कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
 आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार
 सुमुखि ! ये अभिसार के पल चल करें अभिसार ।

—वचन

और यही तो, ऐसी ही इच्छा कभी नरेन्द्र शर्मा ने भी प्रकट की थी—
 प्रिये, अभी मधुराधर चुम्बन
 गात-गात गूँथे आलिंगन
 सुने अभी अमिलाषी अन्तर
 मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन ।

—नरेन्द्र शर्मा

और आरसी प्रसाद सिंह ने भी—

मत हो लज्जा सरि में निमग्न
 कर दे कुछ नीची ग्रन्थि मग्न

और अंचल ने भी तो कुछ क्षण और ठहर जाने का ही अनुरोध किया था, मात्र घड़ी-भर; ताकि प्राण पंछी की फड़फड़ाती आँखें तृप्त हो लें [पता नहीं तृप्ति की सारी कामना आँखों में ही निहित थी ?]

तुम्हारे कण्ठ की मधु बंसरी जलधार-सी चंचल
 तुम्हारी चितवनों की छाँह मेरी कामना उज्ज्वल
 उलझती फड़फड़ाती प्राण पंछी की तरुण आँखें
 ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें ।

लेकिन युवक और आगे बढ़ता है। जीवन के परिवर्तन और सामाजिक मान्यताएँ उसे भी तो प्रभावित करती हैं। अब वह मात्र वैयक्तिक कामनाओं को ही विशेष महत्त्व नहीं देता, वरन् लोक-मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न उसे भी बार-बार प्रेरित करने लगता है—

प्रीति ही सब कुछ नहीं है
 लोक की मरजाद है सबसे बड़ी ।

—ठण्डा लोहा

यही लोक-मर्यादा उसे कच्ची साँसों के इसरार को अनसुनी करने पर बाध्य करती है 'मुग्धा' का सौन्दर्य अब उसे पूर्वपिक्षा कम आकर्षित कर पाता है। 'और भी शर्म है जमाने में मुहब्बत के सिवा' कुछ ऐसी ही अनुभूति उसे भी होती है—

यह काम काज दफ्तर फ़ाइल उचटा-सा जो
 भत्ता, वेतन
 ये सब सच हैं

भारती का काव्य : १८३

अंधी गलियों में पयश्छटों के गलत कदम
 या चाँदी की छाया में भर-भर आने वाली आँखें नम
 बच्चों की-सी दूधिया हँसी
 या मन की लहरों पर उतराते हुए कफ़न ।
 ये सब सच हैं ।

—ठण्डा लोहा

और यहीं से वह अपने-आपसे बाहर निकलकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयास करता लक्षित होता है । यहीं याद आते हैं 'ठण्डा लोहा' संकलन के कुछ वाक्य '...मेरे विकास और परिपक्वता के साथ उनके स्वर भी बदलते गए हैं । पर आप ज़रा ध्यान से देखेंगे तो सभी में मेरी आवाज़ पहचानी-सी लगेगी ।' 'ये गलियाँ भी थीं जिनसे होकर मैं गुज़र चुका ।' (भूमिका भाग) यहाँ पहुँचकर भारती का काव्य-व्यक्ति जन-व्यापी सच्चाई के प्रति अपने-आपको अर्पित कर देने को ही जीवन का लक्ष्य मानते लगता है । पर इस सत्यान्वेषण की दिशा भी स्पष्ट नहीं है । कभी तो वह सामाजिक सत्य को महत्त्वपूर्ण मानता है और कभी वैयक्तिक । कभी-कभी उसे उसका पिछला रूमानी संस्कार भी आकर्षित करता है । वह इन्हीं सारे मानसिक संघर्षों के बीच कभी इस छोर, कभी उस तट पर दिखलाई देता है ।

उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
 वैयक्तिक सीमा में बढ़
 जितना झूठा है यह दुख
 उतना ही झूठा है सुख
 सुख-दुख इन दोनों के पार—क्या पायेंगे प्रभु !
 क्या पायेंगे

कूड़े-से हमको तजकर तट के पास
 मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास
 सामूहिकता भी केवल
 साबित होगी जिस दिन छल
 अपनी वैयक्तिकता हार—क्या पाएँगे प्रभु !

अपने इन्हीं प्रश्नों का समाधान वह विभिन्न पौराणिक-ऐतिहासिक पात्रों-प्रतीकों के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है । इसीलिए वह कभी 'प्रमथ्यु गाथा' को दोहराता है तो कभी 'युयुत्सु' की मानसिक विकलता का सहारा लेता है । दोनों सत्य का आश्रय लेते हैं; सामूहिक विकास के आकांक्षी हैं । प्रमथ्यु अन्धकार में भटकती सृष्टि के लिए स्वर्ण से अग्नि चुराकर लाता है । परन्तु वह जिनके लिए प्रकाश की व्यवस्था करता है वे सब प्रमथ्यु की पीड़ा से प्रसन्न हैं । उसका दुख उनके लिए मात्र तमाशा है, करिश्मा है । प्रमथ्यु को बँधा हुआ तथा उसके हृदय-पिण्ड को गिद्ध द्वारा नोंच-नोंचकर खाता देखकर जनसाधारण की घोषणा है—

यह जो हम अब भी खड़े हैं
 प्रमथ्यु के आसपास
 इसलिए नहीं कि हम उसके अनुगामी हैं !
 हम हैं तमाशबीन
 देख रहे हैं कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से
 कैसे वह कंधे पर बैठा हुआ गिद्ध
 नोच-नोच खाता है उसका हृदय-पिण्ड ।

×

×

×

यह है करिश्मा और
 हम सब करिश्मों के प्यासे हैं
 चाहता अगर तो हममें से हर एक व्यक्ति
 अपने ही साहस से प्रमथ्यु हो सकता था
 लेकिन हम डरते थे
 ज्योति चाहते थे
 पर दण्ड भोगने से हम डरते थे

×

×

×

हम खुद क्यों लें कोई भी निर्णय ?

—सात गीत वर्ष

समूह के लिए वैयक्तिक उत्सर्ग के परिणाम की वेदना से अभिभूत प्रमथ्यु जनसाधारण की स्थिति से दुखी नहीं होता; वरन् उस दिन की आशा में सारी पीड़ा झेलता जाता है कि कभी तो इस जनसाधारण में आत्मविश्वास और आत्मशक्ति का उदय होगा । वह कहता है—

कटु मैं नहीं हूँ
 घृणा किससे करूँगा मैं ।
 ये जो जन हैं, साधारण जन हैं
 इनमें से एक-एक के अन्दर
 मूर्छित प्रमथ्यु कहीं बन्दो है
 अवसर जिसे मिला नहीं साहस कर पाने का ।
 कोई तो ऐसा दिन होगा
 जब मेरे ये पीड़ा सिक्त स्वर
 इनके मन को बेघ मूर्छित प्रमथ्यु को जगायेंगे
 उस दिन
 हाँ, उस दिन
 अकेला मैं रहूँगा नहीं ।

—सात गीत वर्ष [प्रमथ्यु गाथा]

‘प्रमथ्यु’ की भाँति ही ‘युयुत्सु’ भी सत्य और धर्म का ही आश्रय लेता है ।

भारती का काव्य : १८५

महाभारत युद्ध में वह अपने सौ भाइयों और माता-पिता तथा सारी कौरव सेना को त्यागकर पाण्डवों का पक्ष लेता है। उन्हीं की ओर से युद्ध भी करता है। पर युद्ध की समाप्ति पर न तो पाण्डवों से ही उसे यथोचित महत्त्व मिलता है और न प्रजा से ही। एक ओर अपने भाइयों का अधिक और दूसरी ओर पाण्डवों की ओर से उपेक्षा पाकर युयुत्सु प्रत्येक क्षण इन्हीं मानसिक उद्वेलनों से आक्रान्त, दुःखी और क्षुब्ध दीखता है। उसके अन्तर की कल्पना कितनी भयावह है—

मेरा अपराध सिर्फ इतना है
सत्य पर रहा मैं दृढ़
पर—अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।

—अन्धा युग

और सत्य की भी चरम परिणति आस्थाहीनता तथा अविश्वास में ही तो होती है। विदुर अन्त में इसी निष्कर्ष पर तो पहुँचते हैं—

सब के सब जैसे
उतर आये हैं अपनी धुरी से आज
एक-एक कर सारे पहिये हैं उतर गए जिससे
वह बिलकुल निकम्मी धुरी, तुम हो
बया तुम हो प्रभु ?

—अन्धा युग

धुरीहीनता की यही स्थिति सत्य के पक्षधर के लिए भी आस्थाहीनता का हेतु बनती है। सत्य की चरम परिणति भी तो अविश्वास और अनास्था में होती है। 'युयुत्सु' ने भी सत्य का ही पक्ष लिया था पर परिणाम के रूप में मिली उपेक्षा, प्रताड़ना और घृणा। इसी से अट्टहास करता हुआ वह कहता है—

आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अवस्थाभा को
जिसे नकली और खोटा समझकर मैं
कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले

युयुत्सु की यही आस्थाहीनता उसे कृशा के सारे योग-कर्म के बावजूद उनके प्रति निम्न विचार प्रकट करने को ही बाध्य करती है—

लेकिन मैं कहता हूँ
बंचक था, कायर था, शक्तिहीन था वह
बचा नहीं पाया परीक्षित को या मुझको
चला गया अपने लोक।

—अन्धा युग

युयुत्सु की यह अभिव्यक्ति अन्धा युग की विशेषता है, यानी ऐसे युग की जब

१८६ : आलोचना

क्या, क्यों और कैसे के प्रश्नवाचक चिह्न जीवन के प्रत्येक कार्य और परिणाम के बागे लगे हों। 'अन्धा युग' महाभारत की अन्तिम रात्रि की ही कथा-व्यथा नहीं; वह तो आज का भी इतिहास है। आज की वर्तमान विश्वस्थिति भी तो कुछ इतर नहीं। 'प्रमथ्यु' क्या पौराणिक कथा-चरित्र मात्र है ? क्या आज के 'प्रमथ्यु' की पीड़ा भी मात्र करिश्मा नहीं ? कवि ने इन पात्रों के माध्यम से कुछ ऐसे ही प्रश्नों को उभारते का प्रयत्न किया है ताकि आज का व्यक्ति आधुनिक जीवन-जगत् की यथार्थ स्थिति का यथोचित विश्लेषण कर सके।

सत्य और धर्माचरण का परिणाम आस्थाहीनता, उपेक्षा फिर... फिर तो कवि को मात्र अन्तःप्रेरणा और आत्म-विवेक ही आश्रय-आधार-स्वरूप दिखलाई देते हैं।

'कनुप्रिया' भी कनु से बार-बार अन्तःप्रेरणा की ही दुहाई देती है। आधुनिक जीवन और बाध से परिचित राधा एक आधुनिका की ही भाँति हर प्रकार से अपनी मनःस्थिति का प्रकाशन करती है। उसे आश्वासन, वायदे, कर्म, स्वधर्म अर्थहीन शब्द मात्र लगते हैं। शब्द जैसे अपने पारम्परिक अर्थ से च्युत हो चुके हैं। और यह राधा का पागलपन नहीं; 'जनूने इश्क' नहीं, बल्कि स्वानुभूति का यथार्थ प्रकाशन है।

एक बार विलायत के एक प्रेम-प्रसंग की चर्चा करते हुए डॉ० बच्चन ने बताया था। प्रेमी प्रेमिका से अनगिनत वायदे करता रहा, विवाह करने की संकल्प-इच्छा का बार-बार उद्घोष करता रहा। यदि विवाह सम्भव न हो पाया तो मृत्यु का आँगन ही एकमात्र आधार होगा—ऐसे अनेक वायदे प्रेमी ने दोहराये। पर आगे चलकर जब उसने किसी और से शादी कर ली तो प्रेमिका ने केवल एक वाक्य-भर कहा—*I have lost my faith in English language*—अंग्रेजी भाषा में मेरी आस्था नहीं रही। यानी जिस भाषा में इतना अधिक झूठ बोला जा सकता है, उसमें क्या आस्था और आज तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी ही आस्थाहीनता व्याप्त है। परम्परागत मूल्य अर्थहीन हो चले हैं। मान्यताएँ, वैयक्तिक-सामाजिक खोखली हो चुकी हैं। संकल्पों, आश्वासनों, विश्वासों का कोई रूप नहीं। सब कहीं एक अजीब स्थिति। न तो कोई किसी से सच बोलता है और न सच सुनना चाहता है। आधुनिकता का यह वर्तमान युग प्राचीन मूल्यों के विघटन और नवीन मूल्यों के स्थापन का है। भारती के कवि ने भी इसे जाना और परखा है। अन्तःप्रेरणा और आत्मविवेक की स्थापना कवि के ऐसे ही अनुभवों का परिणाम है।

राधा भी कृष्ण के द्वारा अभिव्यक्त शब्दों को मात्र थोथे शब्द-भर स्वीकारती है—

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व

शब्द, शब्द, शब्द

मेरे लिए नितान्त अर्थहीन हैं

मैं इन सबके परे अपलक तुम्हें देख रही हूँ

इस प्रकार मोटे तौर पर भारती के सम्पूर्ण काव्य को तीन खानों में बाँटा जा सकता है—

भारती का काव्य : १८७

- (अ) छायावादोत्तर व्यक्तिवादी काव्यधारा के प्रमुख कवियों वच्चन, नरेन्द्र शर्मा इत्यादि जैसी वैयक्तिक प्रणय-भावना से युक्त विरह-मिलन की अभिव्यक्ति;
- (ब) युग और बाह्य जीवन से प्रेरित रचनाएँ, जैसे निराला, सुभाष इत्यादि के प्रति लिखी कविताएँ और 'अन्धा युग' के कतिपय अंश;
- (स) नये मानव-मूल्यों और नई जीवन-स्थिति-स्थापना का प्रयत्न; पौराणिक पात्रों-प्रतीकों के माध्यम द्वारा ।

भारती की इन नवीन स्थापनाओं के पक्ष और विपक्ष में पिछले दिनों काफ़ी कुछ कहा गया है, कहा जा सकता है । उनके मानवतावाद वाले सिद्धान्त को लेकर भी कुछ प्रतिबद्ध खेमों से काफ़ी बौछारें हुई हैं । मैंने मात्र उनके काव्य का एक सहज लेखा-भर प्रस्तुत किया है । साथ ही मैं इतना और कहना चाहूँगा कि मुझे भारती का स्वर असामाजिक कहीं नहीं लगा । उनका वैयक्तिक विवेक काफ़ी अस्पष्ट और बूँधला-सा प्रतीत होता है, किन्तु एक बात उनमें प्रारम्भ से अन्त तक दीखी... वैयक्तिक मुक्ति के द्वारा दूसरों की मुक्ति की कामना और यह मुक्ति भी दायित्व-पूर्ण हो । 'मानव मूल्य और साहित्य' में अज्ञेय की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए भारती ने इसी व्यक्ति-मुक्ति और दायित्व की चर्चा की है—

दर्द सबको माँजता है

और जिन्हें वह माँजता है उन्हें वह सीख

देता है

कि सबको मुक्त रखें

—पृष्ठ १७६

प्रमथ्यु भी यही सोचता है, युयुत्सु भी प्रकारान्तर से इसी विचार की पुष्टि करता है । 'कनुप्रिया' सारी वैयक्तिक सुखाभिलाषा के बावजूद 'कनु' के विचारों की पुष्टि करने का प्रयास करती है—

और जब तुमने कहा था—'माथे पर पल्ला डाल लो'

तो क्या तुम चिंता रहे थे

कि अपने इसी निजत्व को, अपने आन्तरिक अर्थ को

मैं सदा मर्यादित रखूँ;

रसमय और पवित्र रखूँ

नव वधू की माँति

—कनुप्रिया

और यहीं याद आती हैं 'ठण्डा लोहा' की पंक्तियाँ—

प्रीति ही सब कुछ नहीं है

लोक की मरजाद है सबसे बड़ी ।

भारती वैयक्तिक मुक्ति में भी लोक-मर्यादा तथा लोक-दायित्व को भूल नहीं पाते और सम्भवतः कवि की यही सबसे बड़ी विशेषता उसे दूसरे समकालीन कवियों की अपेक्षा विशिष्ट और अद्वितीय का पात्र सिद्ध करने में पूर्णरूपेण सक्षम है ।

उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु'

फणीश्वरनाथ 'रेणु' उस स्वान्धोत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं जहाँ 'भारतमाता और भी ज़ार-बेजार रो रही है।' यों, यही समस्या प्रेमचन्द को भी भारतीय इतिहास की सदियों की ट्रेजडी से विरासत में मिली थी। उन्होंने अपने प्रारम्भिक आदर्शवाद के केंचुल को उतारकर अपने अन्तिम दिनों में इसी ट्रेजडी को सम्पूर्णता और विराटता में 'गोदान' के द्वारा अत्यंत ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया था। इसीलिए उच्छ्वसित राष्ट्रीयता और आदर्शवाद के रोमांटिक युग में भी प्रेमचन्द ने भारतमाता का 'सुजलां, सुफलां, शस्यश्यामलां' विजन (Vision) नहीं देखा। 'रेणु' भी प्रेमचन्द की ही तरह रूमानी नहीं हैं। किन्तु वे प्रेमचन्द से भिन्न इस बात में हैं कि उन्होंने टूटे हुए भारतीय ग्रामीण जीवन के आभ्यन्तरिक संगीत को पकड़ा है और टूटे हुए गाँवों और टूटे हुए लोगों की टूटी हुई जिन्दगी में वे एक अज्ञात किन्तु अनवरत, अप्रतिहत, प्रवहमान लय की खोज कर सके हैं। चतुर्मुखी हास से टूटकर भी ये गाँव मर क्यों नहीं गए हैं, इसे 'रेणु' के उपन्यासों से समझा जा सकता है।

वदलता हुआ ग्रामीण अर्थशास्त्र और जीवन

प्रेमचन्द ने सामंती व्यवस्था की सदियों पुरानी चक्की के नीचे दबकर भारतीय गाँवों का तार-तार बिखरते देखा था और उसी की करुणा की एक-एक बूंद निचोड़कर उन्होंने 'गोदान' की ट्रेजडी का निर्माण किया था। उनके उपन्यासों में भारतीय जीवन का यह चित्र उभरने लग गया था कि किस प्रकार सामंती व्यवस्था के उड़ते-टूटते पुर्जों का स्थान नया पूंजीवाद लेता जा रहा है। 'रेणु' के उपन्यासों की शुरुआत वहाँ से होती है, जहाँ से प्रेमचन्द के उपन्यासों का अंत होता है। 'रेणु' उस बिन्दु से खड़े होकर देख रहे हैं जहाँ से सारा भारतीय जीवन बेमानी लगता है। यह भारतीय जीवन एक अर्थहीन 'जुलूस' है। "यह जुलूस कहाँ जा रहा है, ये लोग कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं, क्या चाहते हैं..." इस महाकोलाहल में अपने मुँह से निकला हुआ नारा मुझे नहीं सुनाई पड़ता। चारों ओर एक बवण्डर मँडरा रहा है, घूल का।"^१ बदलते हुए अर्थशास्त्र ने जीवन-मूल्यों को बदल दिया है। 'रेणु' इन्हीं बदलते हुए जीवन-मूल्यों के कथाकार हैं। वे उस बदलते हुए भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं जो 'शस्य-श्यामला धरती की लाश'^२ है और जिस पर "....तालेवर के हल आस्मान में चलते हैं।"^३ जयरामसिंह थकी और उखड़ी हुई भाषा में पवित्रा से कहता है—"हाँ, मालिक की खेती की बात पूछती हैं तो खेती अच्छी है। और खेती अच्छी हो या खराब, मालिक को इससे क्या? एक मिल अररिया कोट में भी चलायेंगे। अब खेती में क्या

१. जुलूस, पृ० ५ (भूमिका)।

२. वही, पृ० १७८।

३. वही, पृ० १७९।

है? 'बिचनेस' और 'मिल' चलानेवाले के हल आस्मान में चलते हैं।" यही बदलता हुआ अर्थशास्त्र है जिसने भारतीय ग्रामीण जीवन में मूल्यों का संकट उपस्थित कर दिया है। रेणु ने अपने उपन्यासों में इसी उखड़े हुए समाज के उखड़े हुए लोगों की कथा लिखी है। एक जगह वे लिखते हैं—"चारों ओर धान और पाट के खेत हरे-भरे। लछमी खेतों में सजी-धजी खड़ी है धानी रंग की साड़ी पहनकर। मन्द-मन्द हासिनी। खेतिहर किसानों के बैठे-बैठे मलार गाने के दिन हैं? खेतों में लछमी हँसती है, घर में लछमी हँसती है।...लेकिन जब तालेवर गोड़ी का मिल चलने लगता है तो लछमी के चेहरे पर एक आंतक की छाया छा जाती है। हँसी बिला जाती है। गीत रुक जाता है।" यही भारतमाता का मैला आँचल है, जिसका महाकाव्य रेणु ने लिखा है। उनके सभी उपन्यास इसी महाकाव्य के अलग-अलग सर्ग हैं। इन सभी सर्गों में भारतीय ग्रामीण जीवन का जो चित्र उभरता है वह बड़ा ही सजीव है। रेणु ने इन चित्रों को उभारने के लिए रेखा और रंग दोनों का प्रयोग किया है। हम मानते हैं कि रेखाएँ कम तो नहीं हैं, किन्तु रंग कहीं-कहीं अधिक पड़ गए हैं। किन्तु ये तो मृत विकसनशील शिल्प के निर्माण की अनिवार्य प्रक्रियाएँ हैं।

उपन्यास महाकाव्य के रूप में

महाकाव्यों का स्थान अब उपन्यासों ने ले लिया है। महाकाव्य 'जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह' को चित्रित करने के लिए लिखे जाते थे। उनका विषय पूरा समाज ही होता है, किन्तु उपन्यास का विषय है व्यक्ति। यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष की कहानी है। यह केवल उसी समाज-व्यवस्था में विकसित हो सकता है, जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच का संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने समाज अथवा प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष छिड़ा हो। 'मोला आँचल' और 'परती : परिकथा' का परिवेश यही है। इन दोनों उपन्यासों में व्यक्ति का संघर्ष समाज और प्रकृति दोनों से है। गरीबी और जहालत से समाज का संतुलन बिगड़ गया है। मानवीय मूल्यों का वेहद ह्रास हुआ है। डॉ० प्रशान्त और वित्तन दोनों समाज और प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं। मलेरिया और परती प्रकृति है। 'गोदान' और 'कफन' तक आते-आते प्रेमचन्द के समाज का संतुलन इतना बिगड़ गया है कि व्यक्ति इस युद्ध में पछाड़ खाकर गिर पड़ता है। यही 'गोदान' की महाकाव्यात्मक ट्रेजडी है। प्रेमचन्द ने उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य लिखा, रेणु ने महाकाव्य की शैली में भारतीय जीवन का उपन्यास ही लिखा है— समाज और प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष की कहानी।

रेणु की यह महाकाव्यात्मक शैली क्या है? भाषा उन्होंने गाँवों से हू-ब-हू उठा ली। देशज शब्दों की मिठास को उन्होंने ठीक-ठीक पहचाना है। ये देशज शब्द केवल भाषा की आधारशिला ही नहीं हैं, उनका काम झरोखे और मेहराब भी बनाना है। उन्होंने लोक-जीवन की भाषा उठाकर हिन्दी के अभिजात किन्तु मृतवत औपन्यासिक गद्य को नयी ताजगी प्रदान की। भाषा के क्षेत्र में उनका योगदान उससे

ज्यादा है, जितना कि लोग सामान्यतया समझते हैं। अज्ञेय और जैनेन्द्र की अभिजात और गद्दी गई भाषा की तुलना में उसकी ताजगी हमें छूती है। रेणु के उपन्यासकार की शक्ति यहाँ देखने लायक है। भाषा की ताजगी के कारण अश्लील गालियाँ भी ब-खूबी बच गई हैं। लोकभाषा में अश्लीलता को वहन करने का जो सहज गुण होता है, वह परिनिष्ठित भाषा में अप्राप्य है। परिनिष्ठित भाषा जब समकालीन लोकभाषा के सम्पर्क में आती है तब उसमें नई ऊष्मा और प्राणवत्ता का संचार होता है। इस प्रकार रेणु ने भाषा के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक दायित्व को पूरा किया। हिन्दी-उपन्यास जो अज्ञेय, जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी की मृत और बनावटी भाषा से अवांछनीय रूप से प्रभावित हो रहा था, उसके लिए रेणु नियामत बनकर आए। भाषा जब जातीय संस्कृति का अपरिहार्य अंग बन जाती है, तब लेखक अनुवाद-शक्य नहीं रह जाता है। जिस प्रकार तुलसी, सूर या विद्यापति को अनुवादों के द्वारा ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता है, उसी प्रकार रेणु भी कदाचित् अनुवाद-शक्य नहीं हैं। प्रत्येक प्रतिभाशाली साहित्यकार की तरह वे भी अपनी भाषा और संस्कृति से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि अनुवादों में पहुँचकर वे बेमानी हो जाएँगे। यों, रूसी और रूमानियन भाषाओं में वे अनूदित हो चुके हैं; किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

केवल भाषा ही नहीं, बल्कि उपन्यास के तत्त्व भी रेणु ने गाँवों से ही उठा लिये हैं। उन्हीं की लोककथाओं, लोकगीतों, उन्हीं के पशुओं और पक्षियों की बोलियों और उन्हीं के पात्रों को लेकर उन्होंने अपने उस शिल्प का ईजाद किया जो शत-प्रतिशत उनका अपना ही है।^१ कोशीमैया और दुलारीदाय की कथा तथा सुन्नरिनैका और दंता राकस की लोककथाओं के साथ भारतीय ग्रामीण जीवन की युगीन ट्रेजडी को उन्होंने इतनी कलात्मकता के साथ गूँथ दिया कि उनका शिल्प महाकाव्यात्मक हो उठा है। लोकगीतों, लोककथाओं और लोकभाषा का उपयोग इन चीजों की प्रतिष्ठा के लिए नहीं किया गया है, बल्कि वे रेणु की अनुमति को रूप के घरातल पर उपस्थित करने के वस्तुगत प्रतिरूप (Objective correlative) हैं। लेकिन उसकी आभ्यन्तरिक शक्ति लय है, हालाँकि यह लय उस भारतीय जीवन की है जिसका तार-तार टूटकर बिखर गया है। 'मैला आँचल' में करुणा का जितना कवित्व है, उसमें अतिनाटकीय होने के खतरे बहुत थे। किन्तु, रेणु उससे अपने को बेलाग बचा ले गए हैं।

अज्ञेय और जैनेन्द्र ने समूचे कर्म-जगत् को व्यक्ति की चेतना में केन्द्रित कर दिया। इसके कुछ अच्छे भी नतीजे निकले कि हमारी भाषा में कुछ श्रेष्ठ मनो-विरलेपणपरक उपन्यासों का पहली बार प्रणयन हुआ। किन्तु, इसी के परिणामस्वरूप उनके उपन्यास महाकाव्य के गुणों से शून्य हो गए। प्रेमचन्द के लिए यह विभाजन

१. यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'रेणु' के आधिर्भाव के साथ ही एक पीढ़ी ऐसे कथाकारों की तैयार हो गई जिन्होंने आंचलिक भाषा का खुलकर उपयोग किया है। शैलेश मटियानी, विश्वजीत, राजेन्द्र अवस्थी 'वृषित', दिनेशचन्द्र झा, 'प्रवासी', मधुकर गंगाधर उल्लेख्य हैं।
२. आलोचना ३५ (स्वातंत्र्योत्तर विशेषांक; ३) में मधुकर गंगाधर के आक्षेप हमारे विवेचन के क्रम में कोई मानी नहीं रखते हैं।

कल्पनातीत था। यह विभाजन तो उस पूर्णतया विकसित पूँजीवादी समाज की देन है जो पाँचवें दशक तक पूरा विकसित हो गया था और जिसमें व्यक्ति को समाज से पृथक् करने की प्रक्रिया करीब-करीब पूरी हो गई थी। जैनेन्द्र और अज्ञेय के आविर्भाव को विदेशी प्रभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता है। 'नदी के द्वीप' चेतना के प्रवाह (Stream of consciousness) का पहला हिन्दी उपन्यास है। यह स्वयं भारतीय जीवन की आभ्यन्तरिक विसंगति का साहित्यिक प्रतिफलन है। इस विसंगति का एहसास प्रेमचन्द को अपने अंतिम दिनों में होने लग गया था। इसीसे 'गोदान' और 'कफन' की टूट-झट्टी घटित होती है। किन्तु, जैनेन्द्र और अज्ञेय इसी विसंगति की कोख से जन्मे हैं। रेणु के उपन्यास समाज और प्रकृति से व्यक्ति के संघर्ष के महाकाव्य हैं जहाँ टूटकर भी व्यक्ति पराजय स्वीकार नहीं करना चाहता है। रेणु की महिमा का मूल स्रोत इसी आस्था में खोजा जाना चाहिए।

'परती : परिकथा' सचमुच एक ऐसा उपन्यास है जो काव्य के स्तर पर पहुँच गया है। यह छटपटाती वेदना की पुकार है। यह एक ऐसी परती की कहानी है जो पिछले कई सौ वर्षों से मनुष्य के सब-कुछ करने वाले हाथों के निर्माण-परक स्पर्श से वंचित रही है। उसकी गोद में ऐसे मनुष्य हैं जो जाहिल और अपाहिज हैं, जिनकी आत्मा में मनुष्यता की कोई सुनहली किरण नहीं पहुँच पाती है जो आदमी के साथ आदमियत नहीं बरतते। मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रेम का भी कोई सम्बन्ध होता है, इसका उन्हें पता नहीं है। 'मैला आँचल' और 'परती-परिकथा' मानव-वेदना की ऐसी चीत्कार है जो साहित्य के इतिहास में बार-बार नहीं सुनी जाती है।

परती की खोज

'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' वस्तुतः दो उपन्यास नहीं हैं बल्कि वे एक ही उपन्यास के दो परिवर्तन-से लगते हैं। दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है 'परती'। यह 'परती' 'मैला आँचल' में ही है जो 'परती : परिकथा' का मुख्य प्रतिपाद बन गई है। रेणु ने समकालीन भारतीय जीवन का जो विज्ञान देखा है उसीका वस्तुगत प्रतिरूप (Objective correlative) है यह 'परती'। 'मैला आँचल' के दूसरे परिच्छेद में ही लेखक मेरीगंज गाँव का परिचय देते हुए लिखता है—“तड़बन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान है, जो नेपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खरम हुआ है। लाखों एकड़ जमीन। बंध्या धरती का विशाल अंचल ! इसमें दूब भी नहीं पतपती है। बीच-बीच में बालूचर और कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ।”^१ उसी प्रकार उपन्यास के अंत में जब ममता डॉ० प्रशान्त के साथ मेरीगंज आ रही है, तब लेखक लिखता है—“ममता बाहर की ओर देख रही है—विशाल मैदान। बंध्या धरती ! ... यही है वह मशहूर मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान—धूमिल अंचल। ... मैदान की सूखी हुई दूबों में चरवाहों ने आग लगा दी है—पंक्तिबद्ध दीपों जैसी लगती है दूर से। ... ‘तड़बन्ना’ के ताड़ों की फुनगी पर डूबते हुए सूरज की लाली क्रमशः मट-

१. मैला आँचल, पृ० ६ (प्र० सं०)।

१६२ : आलोचना

मेली हो रही है।”^१

यही परती ‘परती : परिकथा’ में हू-बहू आई है। ‘रेणु’ का वर्णन हू-बहू वही है। ‘परती : परिकथा’ की शुरुआत यहीं से है : “धूसक वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती”। धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफ़न की तरह फैली हुई हैं—वालूचरों की पंक्तियाँ। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया ज़िले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भू-भाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ़ वरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।”^२ यह ‘मैला आँचल’ वाली ही परती है—वही उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, वे ही वालूचर, और दूब भी नहीं पनपती है। और तो और, ‘परती : परिकथा’ की ‘सेमल-वनी’ भी वही है जिसकी चर्चा ‘मैला आँचल’ में यों हुई है : “कमला नदी के उस पार, अधपके रब्बी की फसिल के उस पार—सेमलवाड़ी के जंगल के उस पार आसमान लाल हो गया है।”^३ ‘परती : परिकथा’ में इसका उल्लेख यों हुआ है—“गाँव के दक्खिन हजारों सेमल के पेड़ों का बाग है, सेमल-वनी। फूलों के मौसिम में लाल आसमान को मैंने देखा है—अपलक नेत्रों से, अचरज-भरी निगाहों से। लाल आसमान।”^४ इस प्रकार ‘मैला आँचल’ और ‘परती : परिकथा’ दोनों का मूल विज़न (Vision) एक ही है।^५ मृण्मय समाज और संस्कृति का ही वस्तुगत प्रतिरूप है यह ‘परती’।

‘परती : परिकथा’ का वास्तविक नायक (या नायिका ?) स्वयं परती ही है। इस उपन्यास की समग्र शिल्प-योजना में इसी परती की व्यथा अन्तर्धारा की तरह व्याप्त है। उपन्यास का आरम्भ ही इसी परती से होता है—“धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती।”^६ और सम्पूर्ण पुस्तक का प्रतिपाद्य ‘व्यथा-भरी कथा वन्ध्या धरती की’ है और मानवीय प्रयत्न के स्पर्श से उपन्यास के अन्त में—‘आसन्न-प्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।’^७ अनेक लोक-कथाओं और लोकगीतों का आश्रय लेकर इसी आसन्नप्रसवा परती की कथा लिखी गई है। पुस्तक के सभी पात्र तो इतिहास की शक्ति की छोटी-बड़ी ऊर्मियाँ हैं, जो परती को गढ़ने में लगे हुए हैं। इतिहास मानवीय प्रयत्न से करवट ले रहा है, उसकी तन्द्रा टूट रही है। ‘मैला आँचल’ में ममता डॉ० प्रशान्त से कहती है—“कोई रिसर्च कभी असफल नहीं होता है डॉक्टर ! ... तुमने कम-से-कम मिट्टी को तो पहचाना है।

१. वही, पृ० ४०२ (प्र० सं)।

२. परती : परिकथा, पृ० १।

३. मैला आँचल, पृ० ३६८ (प्र० सं०)।

४. परती : परिकथा, पृ० १४।

५. रेणु के इस Vision की तुलना इलियट के ‘वेस्टलैंड’ के विज़न से की जा सकती है।

६. परती : परिकथा, पृ० १।

७. वही, पृ० ५२८।

...मिट्टी और मनुष्य से मुहव्वत ! छोटी बात नहीं ।" यह रिसर्च जितन पूरा करता है। डॉ० प्रशान्त और जितन मनुष्य ही हैं, इनकी अपनी खामियाँ और खूबियाँ हैं। उन्हें अनुवीक्षण यंत्र-जैसी आँखों से देखने-दिखाने की चेष्टा बचकानापन है।

जो सचमुच महान् लेखक है, उसके राजनीतिक विचार चाहे कुछ भी क्यों न हों—वह वास्तविकता के साथ भयानक तथा क्रान्तिकारी युद्ध में जूझे बिना कभी रह नहीं सकता। उसका लक्ष्य होता है वास्तविकता को बदलना। यही कार्य रेणु ने 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा' और 'जुलूस' में किया है। बाहर की परती नहीं, मन की परती मुख्य है। जितन सोच रहा है—"वेचारी जनता का क्या दोष ? ऊपर से थोपे हुए सुख को वे क्या समझें ?" मन की परती ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है, वीरान होती जा रही है। लगता है, मन को छूनेवाला मंत्र ही हम भूल गए हैं।" इसी परती को तोड़ना है। इसी परती को तोड़ने के लिए डॉ० प्रशान्त जितन के रूप में पुनर्जन्म-सा लेता है। यदि कला का मूल लक्ष्य 'सभी रूपों और मतों को हृदयंगम करनेवाली समझ हासिल' करना है, तो निःसन्देह इसमें रेणु को सफलता मिली है। इन सभी रूपों और मतों को हृदयंगम करनेवाली समझ को रेणु ने 'एलेगरी' (Allegory) का रूप दिया है। रेणु के सभी उपन्यास मूलतः 'एलेगरी' हैं। उनके शिल्प की यह एक ऐसी विशेषता है जिस पर विस्तार से विचार किया जाना चाहिए।

व्यक्तित्व का ध्वंस

महाकाव्य के रूप में रेणु के उपन्यासों की सबसे बड़ी कमी व्यक्तित्व का अभाव है। व्यक्तित्व या चरित्र का पूर्ण विनाश हो गया है। औसत परिस्थितियों में औसत व्यक्तियों को बिठा दिया गया है। इससे उपन्यासों के महाकाव्यात्मक गुणों का विनाश हुआ है, किन्तु इसके कुछ अच्छे नतीजे भी निकले हैं। समष्टि को ही औपन्यासिक पात्रता प्रदान करने का प्रयास किया तो बहुत बार गया है, किन्तु सफलता इसी उपन्यासकार तॉल्सताय और शोलोखोव तथा अमरीकी उपन्यासकार सिमलेयर लीविस और जॉन स्टाइनबेक को ही मिली। हिन्दी में इस असाध्य कार्य को प्रेमचन्द और उनसे भी अधिक रेणु ने सिद्ध किया है। श्रेष्ठ आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान के अनुसार, "कुदरत को आईना दिखाते हुए प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध के व्यापक समूह को 'गोदान' का पात्र और विषय बनाया था, उसी प्रकार 'परती : परिकथा' में बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के व्यापक जन-समूह को पात्र और विषय बनाया गया है।" "हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, राजनीति का हर दल उसमें अपने आचरण और अपनी वर्तमान भूमिका का सही चित्र देख सकता है।" "मैला आँचल' और 'परती : परिकथा'—इन दोनों उपन्यासों का नायक निश्चय ही कोई एक व्यक्ति नहीं है। 'मैला आँचल' का नायक 'भेरीगंज' गाँव ही है। यह उपन्यास एक छोटे-से भारतीय

१. मैला आँचल, ४०२, (पृ० सं०)।

२. परती : परिकथा, ४६५।

३. आलोचना के मान, पृ० १४।

गाँव के परिदृश्य पर ही विशाल भारतीय ग्रामीण जीवन को अपनी सारी खामियों और खूबियों के साथ उपस्थित करता है। ये सभी पात्र भारतीय ग्रामीण जीवन के किसी-न-किसी पक्ष के प्रतीक हैं। ये प्रतीक हैं निरक्षरता और विमूढ़ता के, ये प्रतीक हैं गरीबी और जहालत के, अकर्मण्यता और लक्ष्यहीनता के, ईर्ष्या और क्षुद्रता के, ये प्रतीक हैं उस निर्धन जीवन के जिसे ये भोगते हैं। इसलिए इस उपन्यास का नायक कोई पात्र नहीं है—डॉ० प्रशान्त भी नहीं। इसका नायक तो अंततः वह मिट्टी ही है जिससे मुहब्बत कर डॉक्टर का 'रिसर्च' सफल हो सका।

वैज्ञानिक सभ्यता का विधेयात्मक पक्ष

रेणु चिंतक हैं, एक ऐसे चिंतक जो सहज ही अपने चिंतन को कला का रूप दे सकते हैं। रेणु का कोई घिसा-पिटा जीवन-दर्शन नहीं है; हालाँकि यह कहना तो एकदम गलत है कि उनके पास जीवन-दर्शन का अभाव है। इस वैज्ञानिक सभ्यता के गुण-दोषों की परीक्षा उन्होंने बहुत बारीकी से की है। उन्होंने इस सभ्यता के केवल नकारात्मक पक्ष को ही नहीं देखा है। आजकल वैज्ञानिकों के काम का यह नकारात्मक पहलू ही उपन्यासकारों को प्रभावित करता है, किन्तु विज्ञान को जीवन की कायापलट करनेवाली एक शक्ति के रूप में, वैज्ञानिक के जीवन और काम के बीच भारी अन्तर्विरोध को, तथा पूँजीवादी समाज द्वारा उनके उपयोग को आज का उपन्यासकार नहीं देखता। 'रेणु' ने कला की इस सामग्री का बहुत अच्छा उपयोग अपने पहले दोनों उपन्यासों में किया है। 'मैला आँचल' के अन्तिम परिच्छेद में डॉक्टर एक 'फैटेसी' देख रहा है—
 "लेबोरेटरी ! ... विशाल प्रयोगशाला। ऊँची चहारदीवारियों में बंद-प्रयोगशाला।" ... साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं। ... गंजी खोपड़ियों पर लाल-हरी रोशनी पड़ रही है। ... मारामक विध्वंसक और सर्वनाश शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा। ... ऐटम, 'ब्रेक' कर रहा है। मकड़ी के जाल की तरह ... चारों ओर एकमत अन्धकार। सब वाष्प ! प्रकृति-पुरुष ... अंड-पिण्ड ...।" ... किन्तु डॉ० प्रशान्त इस भयावह फैटेसी में भी निराश नहीं है। वह देखता है—
 "मिट्टी और मनुष्य के भ्रमचिंतकों की छोटी-सी टोली अँधेरे में टटोल रही है।" ... अँधेरे में टटोलने के प्रयास की यह सार्थकता 'परती : परिकथा' में सिद्ध होती है। डॉक्टर राय चौधरी बड़ी ही ममता से कहता है—तुमीपार ले।

श्रेष्ठ कथाकार के गुण

जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी मानव को वास्तविक रूप में नहीं देख सके। उनके पात्र इतिहास के वास्तविक पुरुष और स्त्रियाँ नहीं हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि वे भारतीय उच्च-मध्यमवर्गीय लोग हैं, जिनको उन्होंने अपने ही रंग में

१. मैला आँचल, पृ० ४०७ (प्र० सं०)।
 २. वही, पृ० ४०९।

रंगकर पेश किया है। ठीक इसके विपरीत रेणु की कल्पना की उड़ान, काव्य-प्रनु-भूतियों को जगाने की क्षमता, अनगिनत घटनाओं को गढ़ने तथा पात्रों में अपनी जनता को अच्छी लगनेवाली मानवीय कमजोरियों और गुणों का चित्रण करने के सामर्थ्य ने उनके पाठकों को मुग्ध कर लिया। एक श्रेष्ठ उपन्यासकार के सभी गुण उनमें हैं—वे व्यंग्य के धनी हैं, उनकी कल्पना-शक्ति विलक्षण है, मिट्टी और मनुष्य से उन्हें गहरी सहृदयता है, अपने पात्रों को वे वास्तविक दुनिया में स्थापित भी कर पाते हैं, अथवा वों कहिए कि वास्तविक दुनिया से अपने पात्रों को वे सीधे उठा लेते हैं और सबसे बढ़कर यह कि अश्लीलता में रस लेने की कला से ये वाकिफ हैं। पश्चिमी देशों की 'क्रैयोलिक' नैतिकता के विपरीत इस देश में कभी किसी बड़े साहित्यकार पर अदालत में मुकदमा नहीं चलाया गया। दो-चार मुकदमे वैसे घटिया किस्म के लेखकों पर चले, जिनकी साहित्य के इतिहास में कोई हकीकत नहीं है। मुकदमे तो कुछ उन्हीं छूटमयों पर चले, जो जीवन की अश्लीलता नहीं, अश्लील जीवन के ही चित्रण को सब-कुछ समझ बैठे। व्यक्तिवादी धारा के उपन्यासकारों को अश्लीलता तो अच्छी लगती है, पर खुलेआम उसका सामना करने का उनमें नैतिक साहस नहीं है। इन उपन्यासकारों को भय समाज या अदालत से नहीं है, ये अपनी ही कृत्रिम नफासत से परेशान हैं। यही साहस रेणु को है, जिससे उनकी अश्लीलता को महत्ता मिल गई है। विराटता में लघुता के स्पर्श से गरिमा आती है, किन्तु लघुता विराटता से छूटकर क्षुद्रता में त्पान्तरित हो जाती है। साहित्य में अश्लीलता तब आती है जब जीवन की विराट धारा सूख जाती है। रेणु 'दीर्घतपा' में इस विराटता से छूट गए हैं। 'दीर्घतपा' की भूमिका में पंचकन्याओं पर अलग-अलग लिखने की उनकी प्रतिज्ञा भयंकर और घातक भी है। वे एक साथ ही उन पर नहीं लिख सके, यह इस बात का प्रमाण है कि वे अपने कथ्य के अनुकूल औपन्यासिक शिल्प का ईजाद नहीं कर सके। यह उनकी प्रतिभा की सीमा है। 'दीर्घतपा' बहुत ही घटिया किस्म की रचना है। रेणु को या तो अपने शिल्प को पकड़ने का प्रयास करना चाहिए या वे धीरे-धीरे चुक जाएँगे। बेलागुप्त की अन्तिम परिणति बड़ा ही मनोवैज्ञानिक निर्माण है, किन्तु यह उस वास्तविकता से हार जाना है जिसकी कुक्षि से अज्ञेय पैदा हुए हैं।

रेणु इस समस्या से जूझ रहे हैं कि ऐसे समाज को कलात्मक रूप और अभिव्यक्ति कैसे दी जाए, जो उन्हें स्वीकार नहीं है। प्रेमचंद ने इस समस्या का समाधान अन्त में 'गोदान' और 'कफ़न' में यथार्थ के सामने घुटने टेककर किया है, किन्तु यशपाल और रेणु के लिए समझौता करना असम्भव हो गया। वास्तव में 'गोदान', 'बूढ़ा-सच', 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' भारतीय जीवन की पुंजीभूत वेदना के महाकाव्य ही हैं। रेणु की महिमा इस बात में है कि अपने युग की सतही शराफ़त को भेदकर वे ओट में नहीं चले गए हैं, इसीलिए अपने युग के वीरत्व को वे ठीक-ठीक पहचान सके हैं। उनका वीरत्व इस बात में है कि जिस समाज-व्यवस्था में उनकी पैदाइश हुई है, उसके कमीनेपन को उन्होंने खुली आँखों देखा है और उस कमीनेपन के महावरे का ईजाद उन्होंने यों किया है—'तालेवर के हल आस्मान में चलते हैं।'

‘लोकायतन’

‘लोकायतन’ कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्तजी का राजकमल से प्रकाशित वृहत् काव्य है। यद्यपि लेखन की दृष्टि से यह कवि की ‘ग्राम्या’ की तरह लोक-सहज नहीं है, तथापि जीवन की दृष्टि से यह लोकभूमि पर ही आधारित है। इस काव्य के नाम-करण में गूढ़ व्यंजना है। ‘लोकायत’ चारवाक-दर्शन का शब्द है, बौद्ध धर्म में वह निषिद्ध है। किन्तु यह काव्य लोकायत नहीं, लोकायतन है, लोक के आयतन अथवा मृष्टि के विश्व-विस्तार में ही जीवन का उत्कर्ष करता है। इसका ध्येय है सदेह और सजीव मनुष्य का जीवन्त सांस्कृतिक निर्माण। इसी के लिए यह काव्य युग-युग के मूर्च्छित मनुष्य की चेतना अथवा स्वस्थ संवेदना को जगाता है और उसे ही जलाशय में जीवन की तरह लोक के आयतन में अमृत बनाकर प्राणान्वित एवं क्रियान्वित करता है।

अपने समकालीन वैज्ञानिक युग में आकर भी ‘लोकायतन’ का कवि आर्ष युग का आस्थावान है, अतएव अतीत की दिव्य मान्यताओं को अंगीकार करता है, किन्तु वह इस लोक की उपेक्षा करके स्वर्ग को किसी परलोक में नहीं देखता और न ईश्वर को मनुष्य से भिन्न किसी अलौकिक शक्ति में देखता है, न इन्द्रियों से भिन्न किसी अतीन्द्रिय की कल्पना करता है। कवि कहता है—

निरर्थक स्वर-विहीन संगीत,

इन्द्रियां ही ईश्वर की द्वार

स्वर्ग रख सका न जिसको बाँध

धरा पर करता वह अभिसार। (पृ० ३०८)

पृथ्वी पर ही ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए कवि ने यह रचनात्मक निर्देश दिया है—

प्रीति-ग्रन्थित हों खण्डित प्राण

जगत जीवन हो सांगिक छन्द। (पृ० २६४)

प्रीति से अखण्ड प्राण एवं सहयोग से सुसंगत लोकजीवन ही तो ईश्वर और स्वर्ग है। कवि इसी सुगठित निर्माण को भविष्य में देख रहा है—

ईश्वर ही जग अब, वही व्यक्ति,

जीवन सन अन्तःसंयोजित !

(पृ० ६५४)

जब सबका जीवन और मन अन्तःसंयोजित हो जाएगा तब ईश्वर ही विश्व और विश्व ही व्यक्ति हो जाएगा, समाज और व्यक्ति में भेद नहीं रह जाएगा। यह मध्ययुग के व्यक्तिवाद और आधुनिक युग के समाजवाद के आगे का अन्तःप्रेरित लोक-निर्माण है।

क्या कवि का वह अभीष्ट रचनात्मक युग स्वप्नमात्र है ? कवि कहता है— 'यह न काल्पनिक स्वर्ग मनःसंजित'। जो कवि ईश्वर और स्वर्ग को अलौकिक और पारलौकिक रूप में नहीं देखता वह केवल काल्पनिक द्रष्टा कैसे हो सकता है ! उसने तो एक युग के लोकोत्तर आनन्द और सौन्दर्य के प्रतीक स्वर्ग की अप्सरियों को भूतल पर लाकर, पृथ्वी के श्रम में उन्हें अधम दिखलाकर कल्पना के कला-विलास को नाटकीय ढंग से हास्यास्पद बना दिया है। सम्पूर्ण काव्य में यही स्वल्प अंश सर्वोत्तम है, इसमें कवि का अभीष्ट सब-कुछ आ जाता है।

कवि जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं करता, किन्तु अपने रचनात्मक दृष्टिकोण में सम्प्रति वह केवल भावुक नहीं, व्यावहारिक भी है। उसके जीवन-दर्शन को लोकात्म, अध्यात्म अथवा देहात्म सूक्ष्म कह सकते हैं। वह जड़ को ही चेतन, चेतन को ही जड़ मानता है, अतएव, सूक्ष्म को रूप और रूप को कर्म में जीवन्त देखना चाहता है। इसी का दृष्टान्त है कवि का यह काव्य-संस्थान 'लोकायतन'।

'लोकायतन' में पन्तजी के 'युगान्त' से लेकर 'स्वर्णकिरण' इत्यादि सभी कृतियों के मनन-चिन्तन का समावेश है इसमें 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' भी एकमेव हो गई है। इसे समझने के लिए पन्तजी के काव्य-संग्रह 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिका (चरण-चिह्न) से सहायता मिल सकती है और इस काव्य के प्रथम खण्ड के प्रथम सर्ग 'पूर्व-स्मृति' से भी, जिसमें 'आस्था' को रामकथा के पौराणिक रूपक में थोड़े में बड़ी काव्यकुशलता से निरूपित किया गया है। यह सर्ग अपने-आपमें सम्पूर्ण 'लोकायतन' भी है और उसका एक संकेत-बिन्दु अथवा भावात्मक भूमिका भी है। कहाँ पौराणिक युग का यह रूपक और कहाँ आधुनिक युग का यह काव्य ! किन्तु दोनों युग अविभाज्य हैं। उमा सीता से कहती है—

विश्वचेतना तुम प्रति युग से विकसित,

नये रूप का करने आयो स्वागत

'लोकायतन' में कवि ने उसी विश्वचेतना को गान्धी-युग की सार्वजनिक साधना में साकार किया है। गान्धीजी और उनके बाद के युग के वातावरण का इसमें बहुत मजबूत चित्रण हुआ है, इस चित्रण में पन्तजी के विद्व-भ्रमण के अनुभवों का भी समावेश है। कवि ने जीवन के सभी क्षेत्रों की प्रवृत्तियों और गतिविधियों को सजग दृष्टि से देखा-परखा है। अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों को उसने एक अक्षय सांस्कृतिक वैभव के रूप में मानवता को प्रदान किया है। यह काव्य हिन्दी ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य के लिए इस आत्मस्थ भारतीय कवि के सात्विक मनन-चिन्तन का अजख दान है।

'लोकायतन' का चित्रपट तो विस्तृत है ही, इसका आकार-प्रकार भी इतना

१६८ : आलोचना

वह है कि यह महाकाव्य-जैसा जान पड़ता है, किन्तु रूढ़ अर्थ में इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कथानक नाममात्र का है। इसे 'कामायनी'-जैसा गीत-काव्य का महाबन्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें संगीत की रागात्मकता का अभाव है। यद्यपि छन्दों और प्रसंगों में विविधता है, फिर भी ऐसी एकल्यता अथवा एकस्वरता आ गई है कि पाठक को विराम नहीं मिलता, वह ऊब जाता है। यदि कवि अपने 'पल्लव' के विशद काव्य 'परिवर्तन' की तरह 'लोकायतन' में भी लय-वैविध्य के लिए छन्दों को रसानुरूप ऋजु-कुञ्चित कर राग-भंगिमा दे देता तो इसमें बिना कथानक के भी औपन्यासिक रोचकता और नाटकीय वक्रता आ जाती।

'लोकायतन' चिन्तन और चित्रण-प्रधान काव्य है। यदि इसमें रागद्रवण भी होता तो पाठकों को रस-तारल्य मिल जाता। कवि ने यत्र-तत्र 'रे' के प्रयोग से रागो-द्रेक करना चाहा है, किन्तु भाषा, वातावरण और कथ्य कुछ ऐसा गद्यमय है कि 'लोकायतन' में 'रे' 'गुंजन' के 'रे' की तरह मार्मिक नहीं हो सका। वह प्रक्षिप्त हो गया है।

'लोकायतन' के आयतन और कवि के जीवन-दर्शन को उसी की दृष्टि से उपस्थित करके भी इन पंक्तियों के लेखक को उससे पर्याप्त सन्तोष नहीं है। यह अन्तश्चेतना का काव्य है, किन्तु अन्तश्चेतना के अनुरूप साधन चैतन्य नहीं हो सके। कथानक, वर्णन, साधन (जैसे सन्तति-निरोध), सब-कुछ बाह्य और अखबारी सतह का हो गया है। इनसे स्वतन्त्र रह जाती है कवि की अन्तश्चेतना। दो खण्डों में संयोजित सभी सर्ग एक ही अन्तश्चेतना के आख्यान-से हैं। उसका तो कोई रूप नहीं, वह तो आन्तरिक अनुभूति की तरह सूक्ष्म, अरूप और अदृश्य संज्ञा है, फिर भी कवि ने अनेक प्रतीकों, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं से उसे प्रत्यक्ष कर दिया है। 'पल्लव'-काल की पन्त की कल्पना-शक्ति अब भी 'लोकायतन' में उर्वरा है। 'छाया' और 'चांदनी' जैसी सूक्ष्म अनुभूतियों को जिस कवि ने 'पल्लव' और 'गुंजन' में सजीव और साकार कर दिया था, उसी कवि ने अन्तश्चेतना को भी प्राणान्वित और रूपायित कर दिया। स्थूल विषयों पर तो बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु अन्तश्चेतना को आलम्बन बनाकर इतने विपुल पृष्ठों में, इतनी उद्भावनाएँ और कल्पनाएँ पन्त-जैसे महा-प्रतिभाशाली कवि से ही सम्भव हो सकी हैं। कल्पना के क्षेत्र में आधुनिक कवियों में पन्त अद्वितीय हैं।

'लोकायतन' में पन्तजी सूक्ष्म को रूप तो दे सके, किन्तु रूप को यथानुरूप कर्म नहीं दे सके। अपने अभीष्ट भावी युग में पहुँचकर जीवन की रचनात्मक दृष्टि से वे कहते हैं—

यान्त्रिक उद्योग अपेक्षित
भारत को, किन्तु समान्तर
गृह-धन्धों की उन्नति से
अमरत रहते नारी-नर

लोकायतन : १६६

यद्यपि लोकायतन की स्थापना हिमांचल की ग्राम्यधरा के अंचल में हुई है
यद्यपि वहाँ गृहधन्धों से जीवन का कोई निर्माण नहीं मिलता । 'लोकायतन' के कर्म
क्षेत्र के लिए भी यही कहा जा सकता है—

जन छिन्नमूल पादप - से

गाँवों से पुर न समन्वित

(पृ० १६४)

साधन और साध्य में संगीत एवं अन्विति न होने के कारण 'लोकायतन' का
क्षेत्र भी छिन्न-भिन्न और निर्मूल हो गया है, उसकी कोई रचनात्मक परिणति
नहीं हो सकी है । कवि पन्तजी को 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु का हिमालय-प्रस्थान
क्षेत्र से पलायन जान पड़ता है । 'लोकायतन' के आरम्भिक सर्ग में उन्होंने
कहा है—

कैसे कह दूँ इड़ा-लुब्ध युग-मनु से

श्रद्धा-संग वह करे सेव-नग-रोहण,

आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को

जन-भूपथ पर करना सक्रिय विचरण

(पृ० ७)

किन्तु 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु तो उत्तरार्धिकार में एक सक्रिय रचनात्मक
क्षान्त छोड़ गए हैं, 'लोकायतन' में पन्तजी अपनी ही कवि-चेतना में सिमटकर रह
गए हैं, जैसे 'ग्राम्या' में अपनी 'बौद्धिक सहानुभूति' में । श्रद्धा और मनु तो हिमांचल
में वानप्रस्थ हो जाते हैं, किन्तु 'लोकायतन' जिस जीवन-स्रोत को प्रवाहित करने के
लिए हिमांचल में स्थित हुआ, उस केन्द्र से वह हिमजल की तरह भूलोक को सिंचित
कर कर्म-सुफल नहीं कर सका ।

सिद्धान्तों में मतभेद हो सकता है, पन्तजी ने आलोचकों को सिद्धान्तों की
दृष्टि से ही उत्तर दिया है, किन्तु मिशनरी प्रवृत्ति के कारण 'लोकायतन' नीरस दर्शन
हो गया है, ट्रेकट बन गया है ।

'लोकायतन' को कवि का अन्तरायण कह सकते हैं । इसमें 'लोक' नहीं, पन्त
है, यह जीवन-दर्शन और कथानक के रूप में उन्हीं का आत्माभिव्यंजन और मानसिक
युग-संचरण है । जैसा भी है, 'लोकायतन' का अपना वैशिष्ट्य है । यह अमृतपुत्र कवि
पन्त का शाश्वत और सामयिक प्रतिनिधित्व करता है ।

झूठा-सच : यशपाल की नवीन कृति

प्रेमचन्द परिवर्ती उपन्यास साहित्य में यशपाल का श्रेष्ठ स्थान है। उनका योगदान विशिष्ट है और समादर के साथ उल्लेखनीय है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' एवं 'मनुष्य' के रूप में उनके बहुपठित एवं बहुचर्चित उपन्यास हैं। इसी परम्परा में उनकी अभिनव औपन्यासिक कृति 'झूठा-सच' पाठकों के समक्ष आई है। यशपाल की प्रस्तुत रचना का मूल्यांकन करने के पूर्व उनकी विचारधारा और जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में विचार कर लेना उपयोगी होगा।

यशपाल की विचारधारा मार्क्सवादी अथवा समाजवादी सिद्धान्तों एवं दृष्टिकोण से प्रभावित है। उनके उपन्यास साहित्य का ताना-बाना उपर्युक्त दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। युग की समाजवादी चेतना ने यशपाल के दृष्टिकोण को प्रगतिवादी बनाया। इसीलिए उनकी रचनाओं में समाजवादी यथार्थ-विषयक तत्त्व सम्प्राप्त होते हैं।

'झूठा-सच' में जिस मानव-जीवन एवं समाज की परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उसका सम्बन्ध मध्यवर्ग से है। प्रस्तुत उपन्यास का पारायण करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसके समस्त पात्र बुद्धिजीवी हैं और उनके व्यक्तित्व पर मार्क्सवादी विचारधारा और सिद्धान्तों का स्वस्थ प्रभाव पड़ा है। इसी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से प्रस्तुत कृति में प्रायः प्रत्येक चरित्र के चित्रण, परिस्थितियों के विवेचन एवं विश्लेषण, जीवन-दर्शन की व्याख्या एवं घटनाओं के उद्घाटन को एक विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ दिया है। अन्य उपन्यासों की कथावस्तु के समान ही इस उपन्यास की कथावस्तु में भी राजनीतिक एवं रोमांस का सम्मिश्रण है। राजनीतिक विचारधारा पात्रों की व्यक्तिगत जीवनधारा को प्रभावित करती है। 'झूठा-सच' के पात्रों का चयन मध्य वर्ग से ही हुआ है। ये मध्यवर्गीय पात्र जीवन के प्रत्येक पक्ष में वैयक्तिक संस्कारों से प्रभावित हैं। परन्तु साथ ही वे समाजवाद से पूर्णतया प्रभावित हैं। सामाजिक जीवन में ये पात्र साम्यवादी दर्शन से प्रभावित हैं। प्रस्तुत उपन्यास के पात्रों में एक विशिष्टता है। यशपालजी के उपन्यासों के पात्र प्रायः क्रान्तिकारी दल की आतंकवादी विचारधारा से सम्पन्न रहे हैं। परन्तु प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा नहीं है। 'झूठा-सच' के पात्र प्रगतिशील मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में विश्वास रखते हैं। दुःख एवं शोषण से मानवता की उन्मुक्ति के हेतु आकांक्षी एवं प्रयत्नशील हैं परन्तु वे न क्रान्तिकारी हैं न आतंकवादी। यशपालजी के अन्य उपन्यासों के पात्रों की भाँति 'झूठा-सच' के पात्र भी अदम्य उत्साही, असामान्य सहनशील, अपने जीवन-दर्शन के परिपालनार्थ जीवन उत्सर्ग कर देने वाले, स्वतन्त्र, निर्भीक तथा परिस्थितियों का सामना करने में पूर्णतया सक्षम हैं। 'झूठा-सच' के नारी-पात्र आद्योपांत पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक संघर्षरत और आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। ये

नारी-पात्र मानव द्वारा प्रस्तुत की हुई विरोधी परिस्थितियों के स्वरूप में परिवर्तन समुपस्थित करती हैं और सामान्य तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए हर प्रकार से उद्योगशील हैं। देश के बटवारे के फलतः जो समस्याएँ, विपत्तियाँ और विपमताएँ समुपस्थित होती हैं, उनका सामना नारी-पात्र विशेष साहस के साथ करती हैं। सामान्य सामाजिक मान्यताओं के प्रति वे विद्रोह में अनुरक्त हैं और पुरुषार्थ में पुरुषों से पीछे नहीं हैं। उनमें हीनता का भाव कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता है। 'झूठा-सच' की समस्या प्रमुखरूपेण नारी से सम्बन्धित नहीं है, परन्तु उसकी समस्याओं में नारी-जीवन की विकृति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रस्त स्वतः आ जाते हैं। भारतीय नारी का जीवन अत्यन्त अभिशप्त है। आर्थिक रूप से वह आत्मनिर्भर नहीं है, वह भोग-विलास की वस्तु समझी जाती है, वह अधिका के अभिशाप से पीड़ित है, युगों से वह बहुशोषित है, सामाजिक जीवन में वह अत्यन्त पिछड़ी है। समाज में उसका अपना न अस्तित्व है न गौरव। उसे व्यक्तिगत के नाम से नहीं सम्बोधित किया जा सकता है, क्योंकि वह या तो किसी की पुत्री है या पत्नी, वह या तो कुमारी है या श्रीमती। वह तथाकथित शील, मर्यादा और परम्पराओं के बोझ होते-होते जीवन-लीला समाप्त कर देती है। उपर्युक्त समस्त दोषों एवं प्रवृत्तियों से प्रस्तुत उपन्यास के नारी-पात्र परिपीड़ित हैं। परन्तु वे समाज में पुरुष के समान अधिकार पाने के लिए, आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने के लिए और आत्म-निर्भर होने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे परम्परागत मानसिक बन्धनों और झूठी नैतिक धारणाओं को नहीं स्वीकार करती हैं। वह यह सिद्ध करने के लिए उद्यत है कि उसका सामाजिक रूप है, और इसके लिए मूल्य भी चुकाना पड़ता है। यशपालजी का विचार है कि "मनुष्य समाज परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है, बल्कि वह अपनी विचारधारा का स्रष्टा है।" इस दृष्टि से यशपालजी-सृजित नारी-पात्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नारी-पात्र स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करती हैं और जीवन को आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सुखमय और शान्तिमय बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अपने ग्रन्थ 'देखा, सोचा, समझा' में यशपालजी ने प्रसंगवश लिखा है—“समाज के जीवन में प्रायः घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण-पात्र में रखकर यह दिखाना चाहता हूँ कि किस प्रकार घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नए अनुभव कैसे नई विचारधारा को जन्म देते हैं।” (पृ० १०१) प्रस्तुत कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह कि उपन्यासकार नई विचारधारा को जन्म देने के लिए, उसका प्रचार करने के लिए अपनी कृतियों की रचना करता है, तथा द्वितीय यह कि घटनाएँ किस प्रकार हमारी विचारधारा—चिन्तन विचारधारा में परिवर्तन उपस्थित करती हैं। घटनाएँ हमारे जीवन की धारा में किस प्रकार नए मोड़ उपस्थित कर देती हैं। यशपालजी में नई विचारधारा, नयापन तथा घटनाओं के आधार पर जीवन में नए मोड़ देखने-दिखाने की प्रवृत्ति मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होने के कारण है। यशपालजी ने 'झूठा-सच' में घटनाओं का विश्लेषण एवं चरित्रों का अंकन भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया है। यह कहना असंगत न होगा

२०२ : १ **आलोचना**

कि 'झूठा-सच' की कथा घटनाओं के आधार पर ही अग्रसर होती है। देश के बटवारे के फलस्वरूप सैकड़ों समस्याएँ उठ खड़ी हुई और उन समस्याओं के कारण अनेकानेक घटनाएँ घटित हुई। घटनाओं और समस्याओं के आधार पर उपन्यास की सम्पूर्ण कथा आगे बढ़ती है। घटनाएँ ही मानव-समाज की परिस्थितियों को अनुकूल एवं प्रतिकूल तो बनाती ही हैं, वे मानव-जीवन के रूप-स्वरूप को परिवर्तित कर देती हैं। 'झूठा-सच' में एक भी पात्र नहीं है जो इस कथन या मान्यता का अपवाद हो।

यशपालजी का अनुभव अध्ययन-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उनकी लेखनी में विशाल एवं निर्बाध जीवन, परिस्थितियों का चित्रण करने की अद्भुत क्षमता है। उनमें सूक्ष्म चित्रण, सूक्ष्म वर्णन की अद्भुत क्षमता है। मानव-जीवन की एक-एक प्रवृत्तियों, भावनाओं और संस्कारजनित प्रतिक्रियाओं का उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है और अपने उपन्यासों की भूमिका में सफलतापूर्वक उतारा है। 'झूठा-सच' में मानव-जीवन के हर्ष-विषाद, सम्पन्नता-निर्धनता, प्रेम-घृणा, सन्तोष-असन्तोष आदि के शतशः सजीव चित्रों को अंकित किया है। उपन्यास में विषाद, दुःख, असन्तोष, ग्लानि से अभिशप्त मानव-जीवन के प्रचुर चित्र अंकित किये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जीवन में इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। देश के बँटवारे ने मानव-जीवन को अभिशप्त कर डाला। बँटवारे के फलस्वरूप मानव-जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करता है उनका वर्णन यशपालजी ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। दुर्भाग्य से लड़ता हुआ मानव प्रकृति के प्रकोपों से संघर्ष करने में साहस खो बैठता है। मानव-जीवन की आशा-निराशाओं, द्वन्द्वों और परिस्थिति-जन्य विषमताओं का वर्णन यशपालजी ने बड़ी सफलता से किया है। विभाजन के फलतः परिवारों का छिन्न-भिन्न होना, सन्तानों, बहू-वेष्टियों का खो जाना, अपहरण या बध हो जाना, शरणार्थी शिविरों में कपड़ा-भोजन, दूध बटने के दृश्य बड़े मार्मिक और प्रभावशाली हैं। घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें सजीव रखने के लिए बहुत-से पात्रों का आयोजन भी करना आवश्यक हो गया है। उपन्यास की प्रमुख कथा के प्रवाह में प्रासंगिक कथाएँ, गौण पात्र और अनेक लघु घटनाएँ बाधा उपस्थित करती हैं। राजनीतिक जीवन की असंगतियों, सामाजिक रूढ़ियों, प्रतिभाशाली लेखकों की दुर्दशा और 'तालीम के भी बाजार में ब्लैक', धार्मिक संकीर्णताओं, राजकीय कर्मचारियों की कर्तव्य-विमुखता आदि का चित्रण उपन्यास में बड़े विस्तार के साथ हुआ है।

'झूठा-सच' में कथाकार ने देश के विभाजन से पूर्व पंजाब प्रदेश की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। उपन्यास में पंजाबी समाज की मनःस्थिति एवं राजनीतिक आन्दोलनों को कथावस्तु की आधार-भूमि के रूप में लिया गया है। सम्पूर्ण कथा में कथाकार ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मध्यवर्गीय समाज की जीवन-शैली और परिस्थितियों में कैसे परिवर्तन समुपस्थित होते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में एक बात और बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त की गई है। मध्यवर्गीय समाज में पुरुष हर प्रकार से अपनी स्थिति को स्वतन्त्रता देना चाहता है स्त्री के लिए उसका निषेध करता है। साम्प्रदायिक पात्रविषय के प्रसारित हो जाने के पश्चात्

दोनों देशों में नरमेध और नारियों के अपमान का जो वर्णन उपन्यास में हुआ है वह प्रत्येक पाठक के हृदय पर आतंक की भावना समुत्पन्न कर देता है। इन समस्त वर्णनों की पृष्ठभूमि में एक बात बारम्बार हमारे मस्तिष्क में गूँज उठती है कि भारतीय नारी कितनी असहाय है। परन्तु अन्ततोगत्वा विजय नारी की ही होती है। उपन्यास के दूसरे भाग में लेखक ने राजनीतिक मतवादों और संघर्षों तथा सम्पूर्ण समाज में परि-व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार और दुराचार का रहस्योद्घाटन किया है। तथाकथित न्यायी नेताओं के अनाचार से जनता अत्यधिक परिपीड़ित और शोषित है। कांग्रेसी नेताओं के बाह्याडम्बरों, अनीति, असत्यप्रियता और बगुलाभगत रूप का चित्रण लेखक ने बड़े रोचक और प्रभावशाली ढंग से किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यशपालजी की सूक्ष्म दृष्टि से समाज और सामाजिकों का कोई भी दोष और अभाव छिप नहीं पाया है।

‘झूठा-सच’ में जिन समस्याओं को लिया गया है उस दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास अपनी कोटि का सर्वप्रथम और आज तक अकेला उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु बड़ी विस्तृत और व्यापक है। विभाजनजनित समाज और जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जिसका चित्रण इस उपन्यास में नहीं हुआ है। उपन्यास में विवरणों और इतिवृत्त्यात्मकता का बाहुल्य है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु का प्रसार लगभग तेरह सौ पृष्ठों में हुआ है, परन्तु पहले खंड के अन्त में पूरे उपन्यास का अवसाद-वेदना और निराशा ड्राइवर के दो वाक्यों में साकार हो उठी है—“मनुष्यों के देश धर्मों के देश बन गए ?” “रब्व ने जिन्हें एक बनाया था रब्व के बन्दों ने अपने वहम और जुलम से उसे दो कर दिया।” इन वाक्यों में सम्पूर्ण उपन्यास का सारांश आ गया है। इन पंक्तियों में समस्त पात्रों की मूक व्यथा साकार हो उठी है।

‘झूठा-सच’ यथार्थवादी उपन्यास है। इसमें यशपालजी की यथार्थवादी विचार-धारा व्यापक रूप से चित्रित हुई है। प्रस्तुत उपन्यास में घटना-विधान, दृश्य-विधान, पात्र एवं परिस्थितियाँ सभी कुछ अत्यन्त यथार्थ हैं। जीवन और समाज से सम्बन्धित जितनी भी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है वे सब यथार्थ हैं। ये यथार्थवादी चित्रण बड़े मार्मिक और सजीव हैं। देश के बँटवारे के फलस्वरूप जो लोमहर्षक वातावरण प्रतिध्वनित हो उठता है वह सजीव और प्रभावशाली इसलिए अधिक है कि उसका आधार यथार्थ है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ जाने के पश्चात् जान पड़ता है कि समाज में विघटन, विभंग, विच्छेद और विनाश के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। उपन्यास में सामन्ती व्यवस्था के फलस्वरूप जो शोषण और अन्याय एवं विषमता का प्रसार है वह भी बड़े यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है।

झूठा-सच की समस्या यथार्थ और जीवन है। इतने वृहदाकार उपन्यास में यशपालजी की पहुँच से मानव-जीवन की कोई महत्वपूर्ण और आवश्यक समस्या नहीं छूट पाई है। प्रेम, विवाह, शिक्षा, मरण, राजनीति, बेकारी, नौकरी, सामाजिक बन्धन आदि के आधार पर मानव-जीवन और मानव-समाज के अनेकानेक मर्मस्पर्शी चित्र

अंकित हुए हैं। सम्पूर्ण उपन्यास समस्यामूलक है। उपर्युक्त समस्याओं के आधार पर लेखक ने मानव-जीवन के बहुरंगे तथा विषादग्रस्त चित्रों को अंकित करने की चेष्टा की है। समस्याओं के हल प्रस्तुत करने के लिए, उनका सही-सही मूल्यांकन करने के लिए, उनका सांगोपांग विवेचन करने के लिए यशपाल ने घटनाओं को आकस्मिक मोड़ दिया है। उनका साधारण-से-साधारण तथा बड़े-से-बड़ा पात्र समस्याओं के हल को प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील और समर्थ है। 'झूठा-सच' के अधिकतर पात्र सामाजिक चेतना-सम्पन्न हैं और सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हैं।

उपन्यास का ताना-बाना सत्य तथा असत्य, 'झूठा-सच' के विवेचन से बना है। समाज की व्यवस्था, परिस्थिति और आधार में क्या झूठ है और क्या सच—इसको यशपाल ने निकट से देखने का प्रयत्न किया है। बहुत-कुछ जो हमें सामाजिक जीवन में विधि या कानून की दृष्टि से सच दृष्टिगत होते हैं वे वास्तव में झूठ हैं और जो झूठ प्रतीत होते हैं वे सच होते हैं। इस झूठ-सच का विवेचन लेखक ने नैयर के मुख से निम्नलिखित शब्दों में कराया है—“घटना तो सच-झूठ नहीं होती। झूठ या सच तो इसे व्यक्त करने की दृष्टि में या उसे सोद्देश्य बनाने में होता है।” इस उपन्यास में झूठा-सच का निर्देशन अनेक रूपों में हुआ है। उदाहरणार्थ तारा का सोमराज की पत्नी होना, कानून की दृष्टि से सत्य है। पर नैतिकता, न्याय की दृष्टि से झूठ है। इसी प्रकार उपन्यास में व्यक्त अनेक घटनाएँ, सामन्ती संस्कार जन-जीवन के प्रवाह को रोकने वाली शक्तियाँ तथा पूँजीवाद के आधार पर विरोधित व्यवस्था झूठ है और मानव की सामाजिक चेतना, सामूहिक जागरण आदि सत्य है।

'झूठा-सच' एक सफल उपन्यास है। इसकी सफलता इसके कौतूहल और रोचकता में सन्निहित है। उपन्यास की कथा पाठकों की चेतना और अनुभूति को जागृत करने में सहयोग देती है। उपन्यास के पात्र जयदेव, तारा, कनक, उर्मिला, सोमराज, हाफिज, असद, कृष्ण नारायण अवस्थी आदि सभी यथार्थ अनुभव के आधार पर सृजित पात्र हैं जो अपने-अपने वर्ग के प्रतीक हैं। ये व्यक्ति होने के बावजूद कर्ग हैं। रुढ़ियों-कुसंस्कारों और आर्थिक दुर्व्यवस्थाओं से ये सब अभिशप्त हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये समस्त पात्र बड़े रोचक तथा जीवन्त हैं। उपन्यासकार ने उनकी आन्तरिक मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला है। यशपालजी के अब तक लिखित उपन्यासों से यह श्रेष्ठ और सफल उपन्यास है।

यशपाल की वर्णन-शक्ति शक्तिशाली और गहरी है। 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या' तथा उनकी अन्य कृतियों का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों से यह बात छिपी नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास में यशपाल ने मानव की पार्श्विक प्रवृत्ति के फलस्वरूप विकसित और उत्पन्न बीभत्स चित्रण को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। लाशों पर मँडराते हुए गिद्ध, भयाकुल परिपीड़ित और शंकालु व्यक्तियों से लदी हुई ट्रेनें, अपमानित नारियों के दृश्य, नबू के घर तारा के साथ बलात्कार, शरणार्थी-शिविरों में समाज-सुधारकों की पशुता का प्रदर्शन, विपत्ति के समय में मानव-समाज की मनःस्थिति, गफूर का बन्दीगृह सब-कुछ बड़े सजीव बन पड़े हैं। इनके अतिरिक्त लाहौर के हिन्दू मोहल्लों

भूले विसरे चित्र : २०५

में विभाजन के दिनों में जो सनसनी, अशान्ति, अनिश्चितता साकार हो उठी थी, उसका भी चित्रण यहाँ पर लेखक ने बड़ी ही सजीव शैली में किया है। इन समस्त दृश्यों में मानव की मनोप्रवृत्तियों, समाज की बनती-बिगड़ी रूपरेखा आदि के दर्शन होते हैं।

कुल मिलाकर 'झूठा-सच' एक नई जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करता है। देश की एक महान् घटना को लेकर लिखा हुआ यह एक महान् उपन्यास है। जाने कितनी महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान इस वृहत् उपन्यास में किया गया है और मानव-जीवन के अनेक प्रश्नों को और भी लेखक ने अपने ढंग से इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। उसके एक-एक वाक्य में सत्य और गूढ़ तथ्य सचमुच चित्रित हुए हैं। यशपाल ने अपने पात्रों के द्वारा अनेक स्मरणीय कथनों को प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए प्रेम जीवन का यथार्थ व्यवहार है। वह केवल कल्पना और स्मृति में ही सफल नहीं हो सकता। जनता सदा मूक भी नहीं रह सकती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में ही नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

भूले विसरे चित्र

पचास वर्ष की दीर्घ अवधि की पटभूमि पर लिखा गया श्री भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'भूले विसरे चित्र' बहुवर्णी जीवन का मार्मिक चित्र अंकित करता है। कथा-पट पर दिल्ली-दरबार से भी पूर्व की स्थितियों से लेकर इलाहाबाद में नमक-कानून भंग किए जाने तक के अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक चित्र उभरते हैं और गाँव और शहरों की गलियों से गुजरते हुए बदले हुए जीवन-मूल्यों और पीढ़ियों के बीच हुए अन्तर को स्पष्ट करते हुए लुप्त हो जाते हैं।

पाँच खण्डों में विभक्त इस उपन्यास का केन्द्रवर्ती पुरुष है ज्वालाप्रसाद, किन्तु उससे सम्बद्ध रहकर भी कथा उसके पिता मुंशी शिवलाल से लेकर उसके पौत्र नवल तक की पूरी चार पीढ़ियों की इतिहास-कथा है। मोटे तौर पर सारी कथा एक परिवार—एक ऐसा परिवार जो निम्न स्तर से ऊपर उठा है और जिसने देश की अनेकानेक संघर्षपूर्ण स्थितियों को भोगा और अनुभव किया है—की कथा है। केन्द्रवर्ती पुरुष पर ध्यान दें, तो सारी कथा उसके उत्थान और परिस्थितियों में उसके टूट-बिखर जाने की कथा है, उस पुरुष की कथा है, जो परिस्थितियों का दासत्व स्वीकार न करते हुए भी उन्हें सहज-भाव से स्वीकार करता चलता है। प्रत्येक खण्ड में एक नया कथानायक सामने आता है और कथा को विकसित करता हुआ किसी ऐसे बिन्दु पर ले जाकर छोड़ देता है जहाँ से कथा-सूत्र दूसरे नायक के हाथ में पहुँच जाता है और फिर भी किसी-न-किसी घटना-सम्बन्ध से ज्वालाप्रसाद सारी कथा का संयोजक-

२०६ : आलोचना

सूत्र बना रहता है। कभी-कभी एक खण्ड की कथा उसी खण्ड में समाप्त नहीं होती, अगले खण्ड में कुछ दूर आगे बढ़कर समाप्त होती है। ज्वालाप्रसाद केन्द्र बनकर उपस्थित अवश्य होता है, किन्तु पहले दो खण्डों के पश्चात् उसका अस्तित्व छायामात्र सा रह जाता है। विशेषतः तीसरे और चौथे खण्ड में जहाँ कथा का नायक उनका पुत्र गंगाप्रसाद और उसका सहयोगी ज्वालाप्रसाद का ममेरा भाई ज्ञानप्रकाश प्रधान भूमिका का निर्वाह करता है। गंगाप्रसाद की मृत्यु पुनः ज्वालाप्रसाद को प्रधान पद पर प्रतिष्ठित कर देती है और अन्तिम खण्ड की कथा का प्रमुख पात्र नवल भले ही हो, किन्तु पारिवारिक दायित्व को सँभालनेवाला और जीवन का वास्तविक भोक्ता ज्वालाप्रसाद ही रहता है। पिछले पचास वर्ष जैसे ज्वालाप्रसाद में मूर्तित हो उठे हैं; एक टूटा हुआ व्यक्तित्व, एक हारा हुआ अस्तित्व प्रत्यक्ष हो उठता है।

प्रेमचंद का होरी परिस्थितियों से जूझकर टूटता है और एक गहरी निराशा के वातावरण में 'गोदान' की कथा समाप्त होती है। ज्वालाप्रसाद न होरी के समान जीवन-संघर्ष को भोगता है, न उसके समान टूटता ही है। कारण स्पष्ट है; होरी की कथा आद्यन्त, ऋण-भार से दबे विपन्न व्यक्ति की कथा है और ज्वालाप्रसाद की कथा नायब तहसीलदारी से आरम्भ करनेवाले समर्थ व्यक्ति की कथा है, जिसे परिस्थितियाँ चक्कर देती तो अवश्य हैं, किन्तु वैसी त्रासदायिनी नहीं बनती।

'गोदान' की कथा ग्रामीण जीवन को शहरी जीवन से जोड़ती है, परन्तु प्रधानतः ग्राम्य-जीवन की कथा ही बनी रहती है। 'भूले बिसरे चित्र' की कथा मूलतः ग्रामीण या अर्द्ध-ग्रामीण जीवन और उसकी समस्याओं से जुड़ी रहकर भी प्रधानतः और अन्ततः शहरी और राजनीतिक जीवन की कथा है। इस दृष्टि से प्रथम दोनों खण्ड केवल स्वयं एक-दूसरे से ही पृथक् नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण शेष तीनों खण्डों से भी पृथक् ही हैं। कथा जोड़नेवाले सूत्र तो केवल पात्रों के नाम हैं, जिनके सहारे घटनाएँ घटित होती हैं। निश्चय ही एकसूत्रता का निर्वाह एक कठिन कार्य था, जिसे लेखक ने सफलतापूर्वक निबाहा है।

प्रथम दो खण्डों की कथा में पहले में सक्रियता और दूसरे में स्थिरता पाई जाती है। तीसरे में कथा की स्थिरता बनी रहती है, किन्तु चौथे और पाँचवें खण्ड में घटनाओं में तीव्रता और सघनता के साथ परिवर्तन होता है। अभिप्राय यह कि अन्य खण्डों की अपेक्षा दूसरे-तीसरे खण्ड की कथा अलग-अलग एक-एक परिवार से सम्बद्ध होकर बहुत-कुछ आन्तरिक बन गई है, जबकि अन्य खण्डों की कथा का क्रिया-क्षेत्र समाज का खुला क्षेत्र है। प्रथम दो खण्डों की कथा में केवल कर्मशीलता का निर्वाह है और शेष खण्डों में कर्म बहुत-कुछ बौद्धिकता का आश्रय ग्रहण कर लेता है, संघर्ष वैचारिक-संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। पहली कथा में घटनाएँ-ही-घटनाएँ हैं; दूसरी कथा में घटनाओं के पीछे और उनके परिणाम पर विवेक और विचार की छाप है। वस्तुतः पचास वर्ष का अन्तर इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है। सामन्तशाही युग से कल्युग की ओर बढ़ती हुई कथा अन्ततः उससे भी आगे सत्याग्रह और स्वातन्त्र्य-युग की राजनीतिक परिणति को स्वीकार करती है, अतः घटनाओं से

वैचारिकता की ओर की यह यात्रा स्वाभाविक ही है।

शायद यह कहना आज कुछ विचित्र लगे कि 'भूले बिसरे चित्र' की कथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की कथा है, किन्तु यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि सारी कथा का विकास आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में हुआ है—आर्थिक स्थिति ने ही नए मोड़ लेकर धर्म, काम और मोक्ष (या त्याग-वृत्ति) की विविध भूमियों का उद्घाटन किया है। कथा के विस्तार में इसीलिए अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलू अपना रूप प्रत्यक्ष कराते हैं। मुंशी शिवलाल की पारिवारिक स्थिति, राधेलाल और उनके परिवार की अर्थ-लोलुपता, ज्वालाप्रसाद की पदावनति और प्रभुदयाल या जैदेई से उसका सम्बन्ध, राधाकिशन, संतो और कैलासो, सिद्धेश्वरी, बिन्देश्वरी और कामतानाथ, रिपुदमनसिंह, वरजोरसिंह सबकी परिस्थितियों को बनाने-बिगाड़ने वाला है अर्थ; कहीं रिश्वत का रूप धारण करके, कहीं ऊँचे समाज में बैठने का दम्भ लेकर कर्जभार से लद जाने, कहीं विलास-मग्न हो जाने, और कहीं विवाह-सम्बन्ध टूट जाने जैसे अनेक परिणामों का एकमात्र कारण है अर्थ। धर्म यद्यपि अपने साम्प्रदायिक रूप में ही इस उपन्यास में चित्रित हुआ है; वरजोर की ओर से प्रभुदयाल के अपमान का कारण वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता-हीनता का दम्भ है, कुएँ पर अच्छों के न चढ़ने देने और गंगाप्रसाद द्वारा गेंदालाल के तिरस्कार किए जाने के पीछे भी यही व्यवस्थागत संस्कार काम करता है, हिन्दू-मुस्लिम दंगे इसी साम्प्रदायिकता के कुपरिणाम हैं; तथापि इस बहाने लेखक को सामाजिक धरातल पर नवीन भारत में पनपे विचारों को प्रस्तुत करने और धर्म में साम्प्रदायिक रूप के प्रति पाठक में वितृष्णा जगाने में सहायता मिली है। ज्वालाप्रसाद को दाय-रूप में जो वंशगत संस्कार प्राप्त हुए हैं काम उनमें सर्वाधिक प्रबल है। परस्त्रीगमन जैसे उस कुटुम्ब का जन्मगत संस्कार ही है, गंगाप्रसाद तक की तीन पीढ़ियों में इसी की परिव्याप्ति है, साथ ही राधाकिशन, संतो, कैलासो तथा राजा-रानियों के खानदान केवल काम के पुतले हैं। स्वच्छन्द कामाचार नमुष्य की मौलिक वृत्ति के रूप में ही चित्रित हुआ है, जो समस्त विहित-अविहित कर्म कराता रहता है। अन्ततः नई पीढ़ी, गांधीयुग में चली पीढ़ी; इस सारी परम्परा को तिलाञ्जलि देकर स्वतन्त्र समाज के निर्माण की नींव डालती दिखाई पड़ती है। नारी-स्वातन्त्र्य और विवाह से मुक्ति इसकी चरम परिणति है, जिससे सम्बन्धित मुख्य पात्र हैं नवल और विद्या। सामन्तशाही से पूँजीवाद, कलियुग में व्यतीत होती हुई उपन्यास-कथा, इस प्रकार, राजनीतिक और स्वातन्त्र्यसत्तात्मक स्थिति पर आकर समाप्त होती है।

विभिन्न स्थितियों के संगठन के समान ही उपन्यास में एक और प्रकार का संगठन सहज ही लक्षित किया जा सकता है। उसे हम विभिन्न परिवारों का संगठन कहेंगे। कालिदास ने केवल 'रघुवंश' की कथा को काव्यरूप दिया था, किन्तु भगवती-चरण वर्मा ने 'भूले-बिसरे चित्र' में एक-साथ तीन परिवारों की कथा प्रस्तुत की है और बड़े कौशल से तीनों कथाओं को एकसूत्रित किया है। मुख्यकथा शिवलाल और उनकी अगली तीन पीढ़ियों की है जिसका प्रधान पात्र है ज्वालाप्रसाद। सहयोगी कथा

२०८ : आलोचना

के रूप में प्रथम महत्त्व की कथा है छिनकी और भीखू की, जो केवल दो पीढ़ियों की कथा होते हुए भी ज्वालाप्रसाद की कथा के विकास में जितनी सहायक है उससे कम उसके कमजोर पक्षों को, अपनी एकान्तनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और त्याग की भावना से, उद्घाटित करने वाली नहीं है। तीसरी कथा प्रभुदयाल, जैदेई और उसके पुत्र लक्ष्मीचन्द की कथा है। तीनों कथाओं का सहज विकास और उनकी परस्पर अन्विति प्रशंसनीय है, जिसमें जीवन की अनेक समस्याएँ (रिश्वत, कर्ज, कामाचार, आत्मसम्मान का झूठा दम्भ, टूटते रिश्ते, वर्ण-व्यवस्था, हिन्दू-मुसलिम समस्या, वेश्या-समस्या, राष्ट्रोत्थान, जनान्दोलन, दहेज और तलाक, स्त्री-स्वातंत्र्य और आत्मनिर्भरता आदि) प्रभावशाली ढंग से उभार पाएँ, और कहीं वातावरण चित्रण के द्वारा, कहीं घटनाओं की आकस्मिकता की नाटकीयतावश, कहीं घटनाओं को रहस्यात्मक सस्पेंसपूर्ण मोड़ देकर, कहीं व्यंग्य करके, कहीं दंगल और शास्त्रार्थ का आयोजन करके उन्हें शैलिक विशिष्टता के साथ प्रस्तुत किया जाए; ऐसी विस्तृत कथा उपस्थित करके वर्माजी ने निःसन्देह विषय और शिल्प को नवीन मोड़ दिया है। न्याय और सत्य, ममता और न्याय, कानून और नैतिकता अथवा न्याय और कानून के बीच उपस्थित होनेवाले द्वन्द्व का विभिन्न परिस्थितियों के माध्यम से दर्शन कराकर जीवन-संघर्ष को आँकने में लेखक सफल हुआ है।

वर्माजी के उपन्यास परिस्थिति और परिवेश को प्रधान स्थान देते हैं, पात्रों की सत्ता उनके प्रवाह में प्रवाहित होने मात्र की है। 'भूले विसरे चित्र' के पात्र भी उसी सचि में डले हुए हैं। उनमें ज्वालाप्रसाद के समान रिश्वत से दूर रहने, न्याय का मार्ग अपनाने और गंगाप्रसाद के समान आत्मसम्मान अथवा राष्ट्रसम्मान के लिए त्यागपत्र दे देने का विद्रोह साँस तो लेता है किन्तु विजयी नहीं हो पाता। पुरुष-पात्रों की अपेक्षा उनके स्त्री-पात्र अधिक सबल, आत्मविश्वासी और एकनिष्ठ दिखाई देते हैं; उच्चवर्गीय पात्रों की अपेक्षा निम्नवर्गीय पात्रों का चरित्र अधिक सन्तुलित और अधिक उज्ज्वल जान पड़ता है। जैदेई की अपेक्षा छिनकी (जो ज्वालाप्रसाद की दूसरी माँ होने का अधिकार प्राप्त कर लेती है), लक्ष्मीचन्द और गंगाप्रसाद की अपेक्षा भीखू अधिक उदात्त और अपने प्रति सम्मान जागृत करने वाले पात्र हैं। काम-तृप्ति की पात्र रहकर भी छिनकी इतनी सेवामयी, आत्मत्यागशील और विवेकशील है कि कुलीन सन्तो हो चाहे कैलासो या जैदेई हो या रानी कहलाने वाली देवी, उसके चरित्र की तुलना में सभी तुच्छ और क्षुद्रतम सिद्ध होती हैं। सन्तो के साथ लेखक की वैसी सहानुभूति नहीं है। दुर्बलताओं की शिकार ऐसी नारियों की कमी हमारे समाज में नहीं है, किन्तु लेखक उसे जिस ऊँचाई से खींचकर नीचे लाता है, वह जैसे एक सहजक्रम की उपेक्षा करना है। उसकी आन्तरिक द्वन्द्वहीनता चरित्र-चित्रण में कुछ प्रभाव का सृजन करती है। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि वर्माजी के चरित्र अपने-आपमें विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि और टाइप हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में घटना-विन्यास में वर्माजी का जितना कौशल दिखाई पड़ता है और अन्य सन्दर्भों में घटित घटनाएँ भी मुख्य कथा या भावी कथा की समानस्तरीय

धूप के धान : २०६

नकर जैसे उनके कथा-शिल्प में सौंदर्य ला देती हैं, वैसे ही उनकी वातावरण, भाव व पात्र के अनुकूल भाषा भी उनके उपन्यास की गरिमा बढ़ाने में सहायक होती है। उदाहरणतः, उपन्यास के आरम्भ में ही मैकूलाल महाजन और भूपसिंह की कथा प्रस्तुत आगे आनेवाली लाला प्रभुदयाल तथा वरजोरसिंह की कथा की पृष्ठभूमि या केत-कथा का उदाहरण बन जाती है। इसी प्रकार उनके इस्तगसे की भाषा और अभिव्यक्ति कचहरी की निश्चित भाषा के अनुकूल होने के साथ ही जालसाज शिवलाल चरित्रोद्घाटन में भी समर्थ है। वर्माजी अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग करने में दृढ़हस्त हैं। व्यंग में भाषा की वक्रता, वाक्य-गठन में स्वर की दृढ़ता, गम्भीर स्थिति साकेतिकता आदि गुण उनके इस उपन्यास में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। सरलता, स्पष्टता और अर्थगौरव के साथ ही नाटकीयता, चुटीले और चटकीलेपन के कारण इनके कथनों में स्वाभाविकता और आकर्षण दोनों का समावेश हुआ है। हिन्दी के अन्य अंग्रेजी का मेल नौकरशाही में पले व्यक्तियों का रूप उधारता है तो हिन्दी-हिन्दू का मिश्रण हिन्दू-मुसलमान के बीच सहज अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है और भोजपुरी का प्रयोग निम्नवर्गीय व्यक्तियों के लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति का सहारा बन जाता है। जैसे शराब, नाच और खानपान से ठाकुर परिवार का चित्र उभरता है वैसे ही उनकी आत्माभिमाप्ती प्रवृत्ति उनकी भाषा में झलक आती है।

इस प्रकार, 'भूले विसरे चित्र' कथ्य और शिल्प, भाषा और अभिव्यंग्य, दोनों नवीन दृष्टि का उन्मीलन करता है और हिन्दी-कथा-साहित्य में एक महत्वपूर्ण प्रति के रूप में सम्मान्य सिद्ध होता है।

कृष्णमार कुशर्मा

धूप के धान

'धूप के धान' श्री गिरिजाकुमार माथुर का तृतीय काव्य-संग्रह है। श्री माथुर के स्वयं के काव्य में ही नहीं, यह संग्रह सामयिक काव्य में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। गिरिजाकुमार माथुर के इस संग्रह से पूर्व दो संग्रह और प्रकाशित हुए हैं, एक 'मंजीर' और दूसरा 'नाश और निर्माण'। 'मंजीर' में कवि के छायावादी संस्कारों से युक्त कविताएँ हैं। 'नाश और निर्माण' में छायावादी संस्कारों के साथ सामाजिक चेतना के संकेत भी होते हैं। आशा और उल्लास के, आस्था और भविष्य के प्रति विश्वास के, अन्तर भी इस संग्रह में मुखरित हुए हैं। इस विचारधारा का परिपक्व रूप 'धूप के धान' में अभिव्यक्त हुआ है। प्रयोगवादी काव्यधारा के ज्ञापक प्रथम 'तार सप्तक' के कवि माथुर, इस काव्यधारा से कुछ अलग-से पड़ते हैं। वह इस अर्थ में कि वे प्रयोग को जीवन मानते हैं और वर्तमान सामाजिक यथार्थ को साहसपूर्वक झेलते हुए आस्था से जीते नहीं। मानव-जीवन की स्थापना में विश्वास उन्हें है। उन्होंने 'धूप के धान' के

२१० : आलोचना

‘निवेदनम्’ में मानव-मूल्यों के प्रति अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है—
 “आज के विरोधी मतवादों के समन्वय से भयरहित, कष्ट-त्रास-रहित, अर्थ-मुक्त मानवता के एक सर्वांगीण दर्शन की उत्पत्ति होगी जिसमें श्रद्धा, निष्ठा, आस्था, विनय, शील, प्रेम, जीवन-सम्मान, सामाजिक न्याय, अन्तःकरण की नैतिक स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित होगी।” (पृ० ११ ‘धूप के धान’)

प्रयोगवादी काव्यधारा में वास्तविक प्रयोगों के अतिरिक्त तथाकथित प्रयोग भी होने लगे थे। अपनी कमी को विशिष्ट वर्ग की वस्तु कहकर और अपने अज्ञान को नया प्रयोग कहकर गर्व भी किया जाता था। श्री गिरिजाकुमार माथुर प्रयोग की इस स्थिति को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कहा है—

“अध्ययन या अनुभव की कमी के कारण यदि छन्दों से भूलें हैं तो उन भूलों को नया प्रयोग या विशेष वर्ग के पाठकों की चीज कहकर रेखांक लाइज नहीं करना चाहिये।”

(पृ० १४, ‘धूप के धान’)

कवि, यदि वह है तो सामाजिक यथार्थ उसमें अभिव्यक्ति पायेगा ही। यह यथार्थ ओढ़ा हुआ अथवा मसीहाई का नहीं होगा वरन् कवि का भोगा हुआ, अनुभूत होगा। इसीलिए उसकी तीव्रता भी पाठक को प्रभावित करेगी, वह विशिष्ट वर्ग की नहीं होगी।

‘धूप के धान’ की कविताओं में यही तत्त्व है। प्रस्तुत संग्रह में कवि की सन् ४५ से लेकर ५३-५४ तक की कविताएँ हैं। यह समय भारतीय इतिहास का नवीन पृष्ठ है—ऐसा, जिसमें अनेक उथल-पुथलें हुई हैं। रूढ़ि और परम्पराओं का टूटना, नवीन आस्था और विश्वासों का जन्म और मानवता के नवीन मूल्यों के प्रति आग्रह, इस समय में विशेष रूप से सामने आया था। इस सबकी कथा ‘धूप के धान’ में व्यक्त है। जैसा कि मैंने कहा, ‘धूप के धान’ की कविताएँ ४ वर्गों में विभाजित हो सकती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) नवीन और आगत स्वतन्त्रता की अनुभूति से उत्पन्न उत्साह, आशा, विश्वास और निश्चय से गुम्फित भावना की अभिव्यक्ति वाली कविताएँ। इस वर्ग में, मैं ‘भोर : एक लैंडस्केप’, ‘युगारम्भ’, ‘एशिया का जागरण’, ‘पहिये’ आदि को रखता हूँ।

(२) दूसरा वर्ग उन कविताओं का है, जिन में कवि का उत्साह कुछ खण्डित हुआ है—सामाजिक यथार्थ की अनुभूति से। वह विश्वास और आशा, जो प्रथम वर्ग की कविताओं में थी, चोट खाती है। इस वर्ग में मैं, ‘प्रौढ़ रोमांस’, ‘शाम की धूप’ आदि कविताओं को रखता हूँ।

(३) तृतीय वर्ग है उन कविताओं का जिनमें कवि की रोमानी वृत्ति व्यक्त हुई है, मांसल सेक्स के प्रति आसक्ति प्रकट हुई है, जैसे ‘सावन के बादल’, ‘रात हेमंत की’, ‘धूप का ऊन’, ‘मुहूर्त ज्वलित श्रेयो’, ‘चाँदनी गरवा’ आदि।

(४) चतुर्थ वर्ग है उन कविताओं का, जिनमें कवि का चिन्तन, प्रति, गांधी के विचार

र लिखी गई कविता तथा इन्दुमती, इतिहास आदि ।

यहाँ इसी क्रम से इस काव्य-संग्रह का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

‘भोर : एक लैंडस्केप’ कविता का रचना-काल है, फरवरी १९४५ । प्रथम ९ पंक्तियों में व्यतीत होती रात्रि का सजीव अंकन है, विम्ब शैली का प्रयोग है । परन्तु, अन्तिम छः पंक्तियाँ स्वतन्त्र होते भारत की ओर संकेत करती हैं, युग की अधियारी रजनी मिटने की प्रसन्नता, जीवन के नये जागरण के प्रति उत्साह और सोती मानवता के उन्मुक्त होने की आशा व्यक्त की गई है—पंक्तियाँ हैं—

यह प्रथम प्रदोष निमिष है नये उजले का
जीवन के नये जागरण का
अब युग की अधियारी रजनी मिटने को है
जन रवि का अग्र प्रकाश चरण
अंकित हो रहा धरा के सँले आँचल पर
जिसमें मानवता छिपी धूप बन सोती है ।

(पृ० ३, ‘धूप के धान’)

‘युगारम्भ’ (अप्रैल ’४६) स्वतन्त्र भारत के नवयुग की आकांक्षा से पूर्ण कविता है । नवीन क्षितिज की कामना इससे व्यक्त की गई है । सदियों से परतन्त्रता-तिमिर में आवृत मानवता की स्वतन्त्रता की प्रशस्ति इस कविता में है । वास्तव में गुलामी की ओघ पीड़ा के उपरांत मिलने वाली स्वतन्त्रता की आशा अनेक, विचित्र भावनाओं को जन्म देती है । मानव-हृदय, विचित्र स्थिति में अपने को पाता है, उसे विश्वास और उत्साह के नवीन क्षितिज उदित जान पड़ते हैं । यही भावना ‘युगारम्भ’ कविता में व्यक्त हुई है—

यह विकास पंथ जमे,
शिला खण्ड धुल गये
तिमिर घिरे जन मन के
नये क्षितिज खुल गये ।

(पृ० ६, ‘धूप के धान’)

‘एशिया का जागरण’ कविता भी स्वतन्त्रता के अभिनन्दन का गीत है । इस लम्बी कविता में, गुलामी का इतिहास, स्वतन्त्रता-प्राप्ति करने के प्रयत्नों की, उत्साह की गाथा और अन्त में स्वतन्त्रता का अभिनन्दन निहित है । भारत की स्वतन्त्रता की गाथा ओज-पूर्ण शैली में कही गई है । इसका एक उद्धरण है—

मेरी गुलाम तलवारों का
है सामूहिक संकल्प जगा,
बन्धन टूटे, सीमा फेली
फिर जल-प्लावन सा कल्प जगा

(पृ० ११, ‘धूप के धान’)

मानवता के जागरण से उत्पन्न उत्साह के समक्ष ‘मनुज दासता के प्रहरी’ कब तक

रुक सकते थे। उनका दुर्ग ध्वस्त हुआ और एशिया की मिट्टी का प्रत्येक कण मुक्त
उठा, मुक्ति मिली, हम स्वतन्त्र हुए। आजादी का वन्दन हुआ—

नयनों में अग्नि शिखाएँ हैं

मुख पर मानवता का चन्दन

जनता जनार्दन आज बढ़ी

करने आजादी का वन्दन

(पृ० ६ 'धूप के धान')

अंग्रेजों के शासन ने इस देश में जो कुछ किया, किसीसे छिपा नहीं है। अपनी स्वाभिसिद्धि के लिए वे किसी भी सीमा तक उतरे, आपस में झगड़ा कराया, भेद की दीवारें उठायीं, जब-जब उनका दाव लगा, उन्होंने चाल खेली—इस सबका वर्णन 'एशिया का जागरण' कविता में है। जब उनके अत्याचार की सीमा हो गई तो—

मुड़ गये समय के चपल चरण

आया कृतान्त बन मुक्ति काल

मिट्टी का हर कण सुलग उठा

जल उठी एशिया की मशाल

'पहिये' शीर्षक कविता में, परिवर्तन—चिरपरिवर्तनशील सृष्टि का इतिहास है। विकास के क्रम में मानव की आदिम अवस्था से आज तक की कथा है। मानव के भविष्य में आस्था प्रकट की गई है। मानव का मानव पर शोषण समाप्त होगा, दुःख की सत्ता समाप्त होगी, युग-युग से पीड़ित मानवता मुक्त होगी। ऐसे भविष्य के प्रति विश्वास इस कविता में व्यक्त हुआ है। 'धूप के धान' की अधिकांश कविताओं में श्री माथुर के मानवतावादी स्वर मुखरित हुए हैं। इस उदात्त मानवतावाद का एक उद्धरण प्रस्तुत है—

बस इसीलिये होगा विनाश,

मानव का मानव पर

दुःख, दोहन, अनाचार

इसलिये कि एकता नहीं कभी गति का पहिया,

अविरल चलता विकास का क्रम

वह पास लिये आता मनुज समाज नया

जब दुःख की सत्ता मर जायेगी।

पोले बासी फूलो

(पृ० २१ 'धूप के धान')

इस प्रथम वर्ग की कविताओं में आशावादिता है, मानव के भविष्य के प्रति अटूट आस्था है। द्वितीय वर्ग की कविताओं में सामाजिक यथार्थ की तीव्र अनुभूति व्यक्त हुई है। 'प्रौढ़-रोमांस' ऐसी ही कविता है। इसमें जीवन की यथार्थता को प्रकट किया गया है। विरह का दुःख वास्तव में शारीरिक है। दैनिक जीवन की भट्टी में तप कर, यह सत्य कवि पर उजागर हो गया है। वह भी पहले यही समझा था कि कोमलभाव

मूल्यवान होते हैं, पर अनुभवों ने उसे सिखा दिया कि मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष अधिक कठिन हैं—बोझिल हैं। यह जीवन इतना सरल नहीं है, यहाँ पल-पल पर संघर्ष है। आशा और विश्वास भी संघर्ष से ही फलीभूत होते हैं—

पर ठोकर पर ठोकर खाकर हमने जाना

तोल तराजू के पलड़ों में

मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष

अधिक बोझिल हैं।

(पृ० २३, 'धूप के धान')

इसीलिए वह संघर्ष करता है, विरही बनकर आहें भरना उसे नहीं रुचता, अपने भजबल से मार्ग प्रशस्त करना उसे रुचिकर है। वह जानता है कि जीवन-मिठास का रस संघर्ष में है, कोरी रंगीन कल्पनाओं में नहीं, मिथ्या आदर्शों में नहीं। जैसा कि अन्य आलोचकों ने कहा है, श्री माथुर में एकांत वैयक्तिकता अथवा पलायन नहीं है, वरन संघर्षों में अनुरक्ति ही अधिक है। 'शाम की धूप' कविता सामाजिक यथार्थ का चित्रण है। कवि ने अत्यन्त कलात्मकता के साथ प्रसंग उठाया है। शाम की धूप मिली हवा, जो लहर-सी आकर लिपट जाती है, की बात से कविता प्रारम्भ हुई है, और धीरे-धीरे पूरा, सायंकाल का समाज, थका-हारा, बोझिल समाज, प्रत्यक्ष होने लगता है। सड़कों पर घर को लौटता शोर, रिक्शा और साइकिल की घण्टी की आवाजें। साइकिल के आगे लगी खाली टोकरी और खाली टिफिन। दफ्तर में खत्म न होने पर साथ लाई जाने वाली फ्राइलें, सब पर कवि की दृष्टि जाती है। यह मध्य-वर्गीय कहलाने वाले समाज का यथार्थ चित्रण है। अभाव-ही-अभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। शायद ही कोई ऐसी टोकरी हो जो फलों से अथवा अन्य किसी वस्तु से भरी हो, अन्यथा सभी रिक्त है। यह सामाजिक रिक्तता है जो व्यापक बनकर घुसी बैठी है। अन्न का अभाव, वस्त्र का अभाव, आवश्यक वस्तुओं की अलभ्यता ही आज का सामाजिक यथार्थ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तथा मिलने के प्रथम कुछ वर्षों में जो आशा-आकांक्षाएँ थीं, वे जैसे कुण्ठित हो जाती हैं। पर इस कुण्ठा के बावजूद, निराशा के बावजूद माथुर में हारने का, टूटने का भाव लक्षित नहीं होता। यही वह बिन्दु है जहाँ श्री माथुर अन्य नये कवियों से भिन्न हो जाते हैं। मन के हारने पर ही हार है। मन यदि नहीं हारा तो मानव का कुछ भी नहीं बिगड़ सकता, वह देर-सवेर लक्ष्य पा ही लेगा।

आज इंसान हो गया है कैद

पर न मन हार मान सकता है।

(पृ० ३० १, 'धूप के धान')

'धूप के धान' में तृतीय वर्ग उन कविताओं का है जिनमें कवि की रोमानी वृत्ति प्रकट हुई है। गिरिजाकुमार माथुर में यह रोमानी स्वर आरम्भ से ही रहा है और धूप के धान की कविताओं में भी है। मांसल सेक्स के कुछ चित्र इस प्रकार हैं। 'रात हेमंत की' कविता में रात को कामिनी कहा है, जो अपने कन्त की सेज को उष्ण करने के लिए

लिपटकर सो गई है, जिसके नयन स्नेह की लालिमा से रंजित हैं। भुज मिलन और तन गन्ध तथा नुकीले वक्ष की छुअन, उकसन, चुभन सभी कुछ कवि द्वारा वर्णित है—

नयन लालिम स्नेह दीक्षित,
भुज मिलन तन गन्ध सुरभित
उस नुकीले वक्ष की
वह छुअन, उकसन, चुभन अलसिन

(पृ० ५४, 'धूप के धान')
'हेमन्त की रात' का यह चित्रण कवि की अपनी अनुभूति और आसक्ति का परिणाम ही है। इसकी अधिक व्याख्या अपेक्षित भी नहीं है। 'सावन के बादल' कविता में शृङ्गार के प्रतीक ही हैं। नहाई हुई—'ऋतुमती वनस्पति', 'नितम्बिनी धरा', 'रसवती कुंवरि सी' और सबसे बढ़कर ये पंक्तियाँ—

चमक बिजलियों की पलक चाँदनी सी
खुले चाँद तन की झलक दामिनी सी
झुके मेघ गीले अधर ज्यों झुके हों
लिपटती हवा मस्त गजगामिनी-सी

(पृ० ४१ 'धूप के धान')
'चाँदनी गरबा' में चाँदनी भी मादक रूप में चित्रित है—कामिनी-रूप में प्रेषित है—
उड़ती भीनी गन्ध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुन्तल कामिनी
उभरे रोए छुवा गई है चाँदनी
सींग नुकीले चुभा गई है चाँदनी।

'सावन की रात' कविता भी इसी प्रकार की रोमानी प्रवृत्ति से पूर्ण है। अब थोड़ा शैली की दृष्टि से भी विचार किया जाए। शैली-शिल्प की दृष्टि से भी श्री माथुर विशिष्ट हैं। सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहते हुए भी श्री गिरिजाकुमार ने शिल्प की उपेक्षा नहीं की है। उनके शिल्प में विकास हुआ है। चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता, विम्ब आदि के बहुत सुन्दर उदाहरण धूप के धान की कविताओं में हैं। उपमानों की योजना नवीन होती हुई भी यथार्थ है। नवीनता के लिए नवीनता नहीं है। उदाहरण के लिए चाँदनी रात के इस दृश्य को लें। इसमें पूर्णचन्द्र से युक्त रात्रि का वर्णन है—यह वर्णन अनुभूतिजन्य होने के कारण ही इतना सच्चा बन पाया है। रात एकदम 'झकाझक' हो रही है—ऐसी उजली चाँदनी कि सुई में तागा पिरो लो, यहाँ तक कि सफ़ेद रात को दिन समझकर कौए बोलने लगे। सारे घर-द्वार जैसे सफ़ेद ताजे चूने से पुते हों—और आकाश में पूरा चाँद है—ऐसी रात को शब्द-शिल्पी श्री गिरिजाकुमार माथुर ने इस प्रकार उतारा है।

यह झकाझक रात

चाँदनी उजली कि सुई में पिरो लो ताग

चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग

धूप के धान : २१५

हो रही ताजी सकेदी नये चूने से
पुत रहे घर द्वार
चाँद पूरा साफ़

(पृ० ६४, 'धूप के धान')

कम-से-कम शब्दों में चित्र उतारने में श्री माथुर विशेष सिद्ध हैं। ऐसे चित्रों के लिए बहुत चुनाव की आवश्यकता है, शब्दों के भी और वर्ण्य के विशिष्ट अंगों के भी। 'हेमन्ती रात' को स्पष्ट करने के लिए—चाँद, ठण्डी, कँटीली हवा और ओस यही पर्याप्त है—

चाँद हेमन्ती
हवा बहती कटीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली

और इसका मन पर प्रभाव भी वर्णित है—

चाँदनी झूबी हवा सुधि गन्ध लाती।

(पृ० १११, 'धूप के धान')

श्री माथुर ने भाषा के प्रयोग भी किये हैं। एक प्रयोग है जनपदीय बोली के शब्दों के उपयोग का। जनपदीय बोली के शब्दों के प्रयोगों से तद्विषयक चित्र बहुत सफलता से अंकित हो पाए हैं। 'ढाक बनी' ऐसी ही कविता है। कुछ शब्दों का निर्माण भी किया गया है—जैसे नुकीले वक्ष के स्पर्श के लिए—'छुअत' 'उकसन' 'चुभन' आदि। ये शब्द न केवल चित्रांकन में समर्थ हैं, वरन् अनुभूति-प्रेषण में भी सफल हैं। एक और चित्र लें—धूप मिली हवा, छत पर बैठी ललनाओं के बाल उड़ाती है, आँचल भी उड़ाती है, आँचल जो सोंधे, तन-गन्ध भरे हैं—

कभी छत पर बैठी ललनाओं के
सोंधे तन—गन्ध भरे आँचल को
गोरे कन्धे से उड़ा देती है।

यह चित्र गोरे कन्धे ही नहीं, तन—गन्ध को भी स्पष्ट कर रहा है। चित्र-शिल्प, ध्वनि-शिल्प के अनेक उदाहरण 'धूप के धान' संग्रह में उपलब्ध हैं।

श्री माथुर ने छन्द के क्षेत्र में भी प्रयोग किये हैं। सबैया को तोड़कर नवीन छन्द का निर्माण किया है। उर्दू की छोटी बहर के आधार पर, लोकगीतों के आधार पर नवीन छन्द बनाये हैं। छन्द और उसके मूल तत्त्व—लय के प्रति श्री गिरिजाकुमार माथुर विशेष सतर्क रहे हैं।

अतः गिरिजाकुमार माथुर का यह संग्रह, वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से नई कविता में स्थान रखता है। नई कविता जब दुरूह हुई है, विशिष्ट वर्ग के पाठकों की चीज़ बनने लगी है। निराशा, कुंठा के स्वरो से संपृक्त हुई है। 'धूप के धान' की कविताओं ने नवीन आयाम प्रस्तुत किया है। संप्रेषण के नूतन स्तर प्रस्तुत किये हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में 'धूप के धान' कवि माथुर का तो प्रतिनिधि संग्रह है ही, नयी कविता का भी मूलवर्णन है।

२१६ : आलोचना

कोणार्क : शिल्प और मूल्य

कुँवरजी अग्रवाल

साहित्य की समीक्षा की तुलना में नाटक का मूल्यांकन इस अर्थ में भी अलग है कि लिखित साहित्य की विधाएँ प्रेषणीयता के लिए प्रस्तुत पूर्णरूप हैं जबकि नाटक का लिखित रूप कलारूप की पूर्णता नहीं है, हालाँकि एक स्तर पर अभिव्यक्ति की पूर्णता वह है। रूप की यह अपूर्णता लिखित नाटक को पूर्णता के साथ संप्रेषित होने में बाधा डालती है, क्योंकि रूप ही संप्रेषणीयता का मूलधार है। परिणाम यह होता है कि नाटककार की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर भी लिखित नाटक नाटक के बहुत-से सौन्दर्यात्मक मूल्य विहित ही रह जाते हैं और नाटककार के कृतित्व का मूल्यांकन कठिन हो जाता है। नाटक के लिखित रूप के समीक्षक की सबसे बड़ी समस्या इस अधूरे रूप के सहारे रूप की सम्भव पूर्णता का अनुमान और उसके आधार पर नाटककार के कृतित्व का मूल्यांकन करना है। ऐसी स्थिति में लिखित नाटक की समीक्षा एक हद तक संभावना या अनुमान का ही मूल्यांकन है।

कोणार्क के नक्शे के आधार पर नाट्य-सौन्दर्य के स्थापत्य को कल्पना में रूपायित करते समय कोणार्क भग्न-मन्दिर की भाँति रंग-सौन्दर्यभवन भी खण्डित ही बनता है। नाट्यानुभूति मानो रूप ग्रहण करना ही नहीं चाहती। निर्माण के लिए एकत्र उपकरण किसी अन्य उद्देश्य के लिए संकल्पित प्रतीत होते हैं। कोणार्क में रेडियो नाटक के उपकरण लेकर रंगमंचीय नाटक तैयार करने की कोशिश की गई है।

रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक के बीच माध्यम का अन्तर ऐसी विशिष्ट तकनीकी और सौन्दर्यशास्त्रीय स्थितियाँ उत्पन्न करता है कि दोनों परस्पर भिन्न स्वतन्त्र कलारूप बन जाते हैं और एक के सौन्दर्य नियम दूसरे पर लागू नहीं होते। जिन कारणों से एक माध्यम की रचना सशक्त हो उठती है वे ही कारण दूसरे माध्यम में उसे दुर्बल बना सकते हैं। कोणार्क ऐसी ही स्थिति का उदाहरण बनकर रह गया है। यही नियति हिन्दी के और भी अनेक प्रतिष्ठा-प्राप्त नाटकों की है।

दोनों कलारूपों के कुछ साम्याभासों ने कुछ हिन्दी नाटककारों को भ्रम में डाल दिया और वे गलत निष्कर्ष निकालने के लिए विवश हुए। रंगमंच के अभाव ने इसमें योग दिया और फलस्वरूप रंगमंच के लिए बेकार एवं रेडियोधर्मी न केवल तथाकथित एकांकियों की ही धूम मच गई बल्कि बहुत-से बड़े नाटकों पर भी रेडियो तकनीक का गहरा असर पड़ा और प्रसाद के नाटकों की अनभिनेयता का रोना रोते हुए भी बहुत-से नाटककारों ने ऊपरी दृष्टि से अभिनेय प्रतीत होने वाले किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त असमर्थ नाटक रच डाले। कुछ लोगों ने तो मूलतः रेडियो नाटक ही लिखा और कुछ परिवर्तन कर उसे रंगमंचीय नाटक के रूप में छपवा दिया।

दो माध्यमों के लिए लिखे जाने वाले नाटकों के बीच भ्रम पैदा होने का एक मुख्य कारण यह समझ वैधान है कि दोनों प्रकार के नाटक संवादों के सहारे ही चलते

कोणार्क : शिल्प और मूल्य : २१७

हैं और नाटककार का सबसे बड़ा कर्तव्य और अवसरसंवाद लिखना ही है। वास्तव में शेष रूप में कुछ रंगसंकेतों के अलावा दोनों प्रकार के नाटक एक समान ही जान पड़ते हैं। दूसरे, रंगमंचीय नाटक की तुलना में रेडियो नाटक साहित्य के अधिक निकट हैं जिससे साहित्यकारों ने अनायास ही इसकी तकनीकों को अपना लिया। नाटक की भ्रामक साहित्यिक समीक्षा ने इस स्थिति पर और रंग चढ़ाया। चरित्र-चित्रण, अंतर्द्वन्द्व, चरमोत्कर्ष, रसबोध और साहित्य की दार्शनिक मान्यताओं के चक्कर में फँसी हुई नाट्य-समीक्षा रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक के स्वरूपगत अन्तर को स्पष्ट न कर सकी। इनसे नाटककारों को नाटक की आन्तरिक बुनावट, अनुभूतियों के नाटकीय बिम्बों और माध्यम की शक्तियों को पहचानने में कोई सहायता न मिल सकी। अभिनेयता और अनभिनेयता के आधारहीन किन्तु व्यापक विवाद ने इतना जरूर किया कि नाटककार स्थूल रूप से अपने नाटकों के खेले जाने की परवाह करने लगे और कुछ अधिक सावधान नाटककारों ने नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी कुछ मोटी-मोटी बातों के व्यौरों का परिशिष्ट भी अपने नाटकों के साथ जोड़ना आरम्भ किया। किन्तु रंगमंच पर किसी कृति को उतार लेना एक बात और उसका उत्कृष्ट नाट्य-कलाकृति होना दूसरी बात।

कोणार्क सुविधापूर्वक रंगमंच पर खेला जा सकता है, इसका प्रमाण नाटक का परिशिष्ट और इसके अनवरत प्रदर्शन हैं। इसमें कोई नारी पात्र न आने से अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों के लिए यह नाटक बड़ा ही सुविधापूर्ण हो गया। इस दृष्टि से कोणार्क को इस बात का महत्वपूर्ण श्रेय है कि इसने बहुत-सी स्वल्प साधनों वाली अव्यवसायी मंडलियों को पूरा नाटक खेलने का अवसर दिया और इस प्रकार हिन्दी-रंगमंच के विकास के आधार को चौड़ा किया। यदि कहीं इसमें नाटकीय बिंबों की त्रिआयामात्मकता होती तो यह नींव गहरी भी हो जाती।

मूल नाटक को ध्वनिबिम्बों में रूपायित किये जाने के कारण कोणार्क त्रिआयामात्मक हो गया और रंगमंच का तीसरा आयाम चिपकाया हुआ निष्क्रिय तत्त्व मात्र लगने लगा। रंगमंच के नाटकीय बिम्बों का मूल उत्स जिस सौन्दर्यमूलक प्रत्यक्षीकरण और अनुभूति में निहित है, उसमें व्यक्ति अपने परिवेश के साथ घनिष्ठता के साथ जुड़ा रहता है और नाटक की प्रभाव-इकाइयाँ व्यक्ति एवं परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से बनती हैं। व्यक्ति और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया भी परिवेश के सक्रिय योगदान से संवलित रहती है। रंगमंचीय नाटककार की सफलता इस बात में है कि वह इस तात्कालिक परिवेश की सक्रियता को पहचाने और अपने नाटकीय बिंबों को इस प्रकार रूपायित करे कि व्यक्ति अपने परिवेश में से उगता-बढ़ता मालूम पड़े।

रेडियो नाटक के रूप में अभिनीति होने पर तो कोणार्क के व्यक्ति अपने वातावरण से जुड़े मालूम पड़ते हैं, लेकिन रंगमंच पर वे अपने तात्कालिक परिवेश से कटे हुए लगते हैं। वातावरण निर्जीव पृष्ठभूमि बनकर रह जाता है। कोणार्क में नाटकीय क्रिया का विकास पूर्णतया संवादों के सहारे होता है, क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र भाषिक है। अंगस्थितियाँ, मुख-मंडलीय भावाव्यक्तियाँ, आकस्मिक क्रियाएँ, गतियाँ, मंच-सामग्री और दृश्योपकरणों के द्वारा अभिनीति के विकास में सक्रिय

२१८ : आलोचना

योग नहीं देते, बल्कि अधिक-से-अधिक चित्रण (इलस्ट्रेशन) मात्र करके रह जाते हैं।

उपक्रम और उपसंहार को लेखक ने अपना नवीन प्रयोग माना है जिसमें संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पश्चिमी नाटकों के एपीलोग, प्रोलोग एवं कोरस के समन्वय का दावा किया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि रेडियो नाटक के लिए लिखी गई कमेंट्री को नाटककार ने ज्यों-का-त्यों लेकर और उसके दुर्बल चित्रण की व्यवस्था देकर उसे रंगमंच के लिए एक नवीन प्रयोग मान लिया है। वास्तव में नाटक के ये सर्वथा अकिंचन अंश हैं जो रेडियो की विधा में भले ही प्रभावशाली सिद्ध हों रंगमंच के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पश्चिमी प्रोलोग एपीलोग तथा कोरस में केवल स्वर नहीं रहता बल्कि व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को उसी प्रकार अभिव्यक्त करते हैं जिस प्रकार नाटक के अन्य पात्र। वे दर्शकों को अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के दृश्य और श्रव्य बिंबों से प्रभावित करते हैं, फलतः दर्शकों की नाटकीय अनुभूति अधिक समृद्ध होती है। प्रस्तुत प्रयोग में रंगमंचीय माध्यम की शक्तियों की अवहेलना हुई है। उपक्रम उपसंहार की भाषा भी उस काव्य-शक्ति से वंचित है जो कोणार्क मन्दिर की भव्यता के बिंब को रूपायित कर सकती।

रेडियो विधा के अनुकूल भाषा को मुख्य आधार बनाने का ही परिणाम यह हुआ कि मंच पर व्यक्ति जो कुछ भी कहते हैं उसकी अभिप्रेरणा स्थापित नहीं होने पाती और बोलने की अनिवार्य मनोवैज्ञानिक स्थिति के अभाव में संवाद में उस आकर्षण की कमी प्रतीत होने लगती है जो रंगशाला में दर्शकों को एक-एक शब्द पी जाने को विवश करता है। कथा के सूक्ष्म अंशों का संवाद में वितरण अकुशल, स्थूल, प्रत्यक्ष, और रूढ़ है। संवादों में गूढ़ सांकेतिकता और अन्तर्मन के उद्घाटनों के अवसरों का बहुत कम उपयोग हुआ है। तब भी कोणार्क के संवादों का गठन सुडौल और मितव्ययितापूर्ण हो पाया है, किन्तु रेडियो शिल्प के कारण उनकी गति अत्यन्त क्षिप्र है। संवादों के मध्य नाटकीय क्रिया का अवकाश नहीं।

भाषा के सम्बन्ध में कोणार्क के नाटककार को एक अभूतपूर्व सफलता मिली है। वे ऐतिहासिक नाटक की भाषा को कृत्रिमता की उस शृंखला से युक्त कर सके हैं जो हिन्दी नाटकों को असें से जकड़े रही है। ऐतिहासिक वातावरण के सृजन में भाषा की कृत्रिम संस्कृतमयता नाटक को उस प्रकार योग नहीं दे सकती जिस प्रकार कहानी या उपन्यास को देती है। वह तो विश्वासबोध और भावमग्नता को—जो नाटकीय अनुभूति के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं, कदम-कदम पर खण्डित करती जाएगी। कोणार्क में पुराने पारिभाषिक शब्दों और कुछेक अभिव्यक्तियों के लिए संस्कृत पदावली के उपयोग ने काल-बोध कराने में अद्भुत सफलता दी है।

भावानुभूति का तनिक-सा भी अवसर मिलते ही भाषा को बोझिल गद्य-काव्य बना डालने का जो शौक छायावादी नाटककारों और बँगला के अनुवादकों से शुरू हुआ वह अब तक काफी मात्रा में मौजूद है। कुछ संयत रहने पर भी कोणार्क का नाटककार इसका अपवाद नहीं। भावानुभूति के गहन क्षणों में भाषा का काव्यमय हो उठना अनिवार्य है किन्तु पद्य-विधान-विरुद्ध, कथोप-प्रवचन-प्रधान, भाषा-पारदश

होना चा

व्यापार-स

इससे न

गई बल्कि

कीय क्रि

रखा गय

को शैली

अवकाश

क्रियाओं

भी अधि

हिन्दी न

होता है

हैं कि उ

कारण

घनिष्ठत

पुरानी

बनाया;

बल्कि व

वास्तव

भूतियों

पड़ता है

सांस्कृति

है कि न

जीवन-

पौराणि

देने लग

'अंधायु

वाहक

उलझते

भी इति

की कुण

के आक

होना चाहिए ।

सम्भवतः रंगमंचीय सुविधा की भावना ने ही नाटककार को कोणार्क के व्यापार-स्थल के रूप में कमरे के अन्दर के हिस्सों को चुनने की प्रेरणा दी । किन्तु इससे न केवल इस नाटक की दृश्यपीठ-सम्बन्धी समृद्ध सम्भावनाएँ अत्यन्त सीमित हो गईं बल्कि वातावरण की निष्क्रियता का कारण बहुत दूर तक यही बना । यदि नाटकीय क्रियाओं का स्थान सीधे कोणार्क के निर्माण-स्थल पर शिखर की छाया में कहीं रखा गया होता तो इस भव्य मन्दिर का दबा हुआ व्यक्तित्व भास्वर हो उठता, निर्देशक को शैलीकरण और प्रतीक योजना का अवसर मिलता, दृश्यांकनकार की कल्पना को अवकाश मिलता, प्रकाश योजना विविधतामय हो पाती, और अभिनेताओं की गतियों, क्रियाओं और विभिन्न धरातलों की सुविधा मिलती । तभी दर्शकों के लिए दृश्य-तत्त्व भी अधिक सार्थक हो पाता ।

नाटक को ऐतिहासिक, पौराणिक, समस्या आदि वर्गों में बाँटने की जो प्रथा हिन्दी नाट्य-समीक्षा में चल पड़ी वह बहुत भ्रामक है । वस्तुतः नाटक केवल नाटक होता है । इतिहास, पुराण आदि नाट्य-विधा में आकर अपना रूप इस कदर बदल लेते हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । इस परिवर्तन का प्रधान कारण स्वयं नाट्य-कला की प्रकृति है जो अपने दर्शकों की तात्कालिक सन्तुष्टि से घनिष्ठता से जुड़ी रहती है । यही कारण है कि पुराने युग के सभी नाटककारों ने पुरानी ऐतिहासिक, पौराणिक कहानियों को ही मुख्य रूप से अपने नाटकों का विषय बनाया; फिर भी वे ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसन्धान की ओर कभी प्रवृत्त नहीं हुए, बल्कि कहानी के उपलब्ध प्रारूप को भी अपने लिए आवश्यक रूपों में बदल डाला । वास्तव में नाटककार सदा से यह महसूस करते आये हैं कि रंगशाला में दर्शक अनुभूतियों को जिस भव्य पैमाने पर जीना चाहता है उसके लिए समकालिक जीवन छोटा पड़ता है । दूसरी ओर शक्तिशाली सजीव अनुभूतियों का उद्गम-क्षेत्र समकालिक सांस्कृतिक आदतों-मान्यताओं के बहुत परे नहीं जा सकता । इसका परिणाम यह होता है कि नाटक में ऐतिहासिक-पौराणिक कथा के साँचे में नाटककार सदा समकालिक जीवन-मूल्यों को ही ढालता है । यही कारण है कि महाभारतकालीन शकुन्तला का पौराणिक आख्यान अभिज्ञान शाकुन्तल में गुप्तयुग की संस्कृति की इतनी गहरी झलक देने लगता है । समकालिक वैवाहिक जीवन का प्रतिबिम्ब ही वह मूल कारण है जिसमें 'अंधायुग' और 'आपाढ़ का एक दिन' प्रबुद्ध वर्ग में इतनी लोकप्रियता अर्जित कर सके ।

नाटक को अपने ऐतिहासिक अनुसन्धान और नवीन तथ्यों के उद्घाटन का वाहक बनाकर जिस व्यूह में प्रसादजी की प्रतिभा उलझकर रह गई उसमें स्वेच्छा से उलझते रहने की हिन्दी के कुछ नाटककारों ने परम्परा ही बना डाली । प्रसादजी फिर भी इतिहास के नाटकीय मूल्य के प्रति सजग रहे और अपने समकालिक परतन्त्र जीवन की कुण्ठा की निष्कृति अतीत गौरव के उद्घाटन में ढूँढ़ते रहे ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् गुजरे जमाने की रौनक में मन रमाए रखना पुनर्निर्माण के आकांक्षापूर्ण क्षणों में नाटककारों के लिए एक चुनौती बन गई ।

२२० : आलोचना

का समर्थन और नव-निर्माण के लिए पोषण प्राप्त करना था। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में इसीलिए कोणार्क का महत्त्व युग-प्रवर्तक का है कि इसमें पहली बार इतिहास के इस बदले हुए दृष्टिकोण का प्रतिफलन शक्तिशाली ढंग से हुआ है।

कला-समृद्धि से परिपूर्ण कोणार्क मन्दिर की भग्न-स्थिति, जनश्रुतियों और कातिपय ऐतिहासिक तथ्यों की प्रेरणा से नाटककार का सृजनशील मानस एक ऐसी कथावस्तु का ताना-बाना बुन सका जो आधुनिक मानस के लिए अर्थपूर्ण थी। गजदत्त मीनार की ऐकांतिक दुनिया से बाहर निकलकर, सामाजिक जीवन में सक्रिय हिस्सा लेने के लिए कलाकार को अछूत करना और प्रतिभा और कला सृजन-शक्ति को आवश्यकता पड़ने पर आत्म-रक्षार्थ न्याय-युद्ध में योगन्तरित करना कोणार्क का मूल स्वर है, जिसकी संगति करने वाले दूसरे स्वर, कलाकार की अपने उत्तराधिकारी की खोज (कला परम्परा का नवयुग में संक्रमण), और सौन्दर्य-सृजन के मूलस्रोत कोमल मानवीय अनुभूति (सृजन का रोमांटिक मनोविज्ञान) का उद्घाटन है। किन्तु नाटककार इन स्वरों में सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाया और विशु और धर्मपद के मानवीय विषय इन्हें ठीक से रूपायित नहीं कर सके। पूरा नाटक स्थायी भक्ति और राज्य-लिप्सा के संघर्ष के स्थूल विवरणों में उलझकर रह गया।

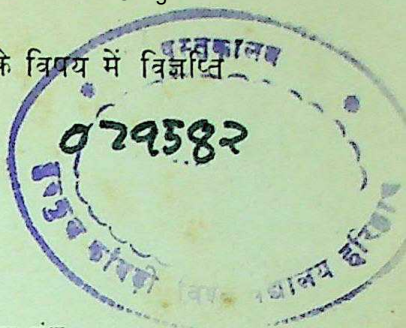
इस उलझाव का ही परिणाम है कि कोणार्क में उस गहरी नाट्यानुभूति का नियोजन नहीं हो सका जिसे प्रदान करना नाटककार का सबसे बड़ा कर्तव्य है। जन-रुचि को सन्तुष्ट करने की पतनोन्मुखी प्रवृत्ति कुछ निश्चित फार्मूलों को जन्म देती है जिसका उत्तरदायित्व व्यावसायिक भावना पर है। किन्तु जनता की आधारभूत मांगों को समझने की शक्ति नाटककार की पूंजी है। पैसे देकर रंगशाला में आने के लिए दर्शकों को नाटककार मजबूर कर सके, इसके लिए उसे दर्शकों को इस बात का प्रलोभन देना होगा कि वहाँ उसे एक विशिष्ट सन्तुष्टि प्राप्त हो सकेगी। दर्शकों को नाटक मूलतः कल्पनालोक में रमण करने का अवसर प्रदान करता है, वह उन्हें कल्पना के स्तर पर अनुभूतियों को जीने का मौका देता है। प्रत्येक युग और देश में यथार्थ परिवेश की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ विशेष प्रकार का काल्पनिक जीवन दर्शक चाहते हैं जिसके अनुसार नाटक की रूप-रूढ़ियाँ बनती हैं। ट्रेजेडी, कामेडी, मेलोड्रामा जैसे नाट्य-रूप और रस-सिद्धान्त एवं शृंगार की प्रमुखता देश-काल की ऐसी ही मांगों के परिणाम हैं। इन सभी रूपों में कुछ चुनी हुई गहरी जीवन-अनुभूतियाँ, कुछ चुने हुए व्यक्तियों के माध्यम से शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत की जाती रही हैं। इस प्रकार की किसी गहरी जीवन-अनुभूति को कोणार्क का कोई व्यक्ति साकार नहीं कर सका है।

रेडियो शिल्प के प्रतिमानों के आधार पर मूल्यांकन किये जाने पर कोणार्क अधिक उत्कृष्ट रचना प्रमाणित हो सकती है। इतिहास के प्रसंग से एक स्पन्दनपूर्ण जीवन की खोज और कोणार्क मन्दिर की कला-सम्पदा एवं सांस्कृतिक गौरव के साहचर्य के आकर्षण के कारण यह नाटक लोगों को आकर्षित करता रहेगा।

आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य व्यौरे के विषय में विज्ञापित

फार्म ४

[नियम ८ देखिए]



प्रकाशन का स्थान
प्रकाशन की अवधि
मुद्रक का नाम
राष्ट्रीयता
पता

दिल्ली
त्रैमासिक
श्रीमती शीला संघू
भारतीय
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६

प्रकाशक का नाम
राष्ट्रीयता
पता

श्रीमती शीला संघू
भारतीय
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६

संपादक का नाम
राष्ट्रीयता
पता

श्री शिवदानसिंह चौहान
भारतीय
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६

उन व्यक्तियों के नाम और पते,
जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा
उन भागीदारों अथवा शेयरहोल्डरों
के नाम और पते, जो पूँजी के एक
प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ्रैंज बाजार, दिल्ली-६

मैं श्रीमती शीला संघू इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो व्यौरे दिये
ए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) श्रीमती शीला संघू

प्रकाशक

(कवर २ का शेष)

- | | |
|--------------------------------|--------------------------------|
| — उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' | डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित २०० |
| विजेन्द्र नारायणसिंह १८८ | — भूले विसरे चित्र |
| • पुनर्मूल्यांकन | डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित २०५ |
| — 'लोकायतन' | — धूप के धान |
| शान्तिप्रिय द्विवेदी १९६ | कृष्णकुमार शर्मा २०६ |
| — झूठा-सच : यशपाल की नवीन कृति | — कोणार्क : शिल्प और मूल्य |
| | कुंवरजी अग्रवाल २१६ |



सर्वेक्षणमाला : एक नई पुस्तक माला

सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य सजग पाठक को साहित्य की प्रवृत्तियों, विधाओं और प्रमुख साहित्यकारों का परिचय देना है।

छायावाद
रहस्यवाद
प्रगतिवाद
प्रयोगवाद

हिन्दी उपन्यास
हिन्दी कहानी
हिन्दी नाटक
हिन्दी आलोचना

प्रेमचन्द
प्रसाद
निराला
पन्त



- विषय के विशेषज्ञ लेखक
- आकर्षक छपाई और साज-सज्जा
- राजकमल की गौरवपूर्ण परम्परा

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६

पटना-६



श्रीमती शीला संघू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८ फ्रेंच बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

वाट

यह पुस्तक विज्ञान संकाय
NOT TO BE LENT OUT

सन्दर्भ पुस्तक
REFERENCE BOOK

Composed
1999-2000

100

